अंक : 65, भाग : 1, वर्ष : 2019-20
Vol. : 65, No. : 1, Year : 2019-20

ISSN:0554-9884
U.G.C. Care List Journal
PRAJÑĀ in GROUP 'B'
Multidisciplinary (21) & Indian Language (45)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

● "मैं मालवीय जी से बड़ा देशभक्त किसी को नहीं मानता। मैं सदैव उनकी पूजा करता हूँ। जीवित भारतीयों में मुझे उनसे ज्यादा भारत की सेवा करने वाला कोई दिखाई नहीं देता।"

–महात्मा गांधी

● "मालवीय जी भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप थे। उन्होंने देश की उन्नति के लिए विज्ञान के प्रोत्साहन के साथ देशवासियों को प्रगतिशीलता की ओर प्रेरित किया। हिन्दू आदर्शों का नवीनीकरण तथा देश की भौतिक उन्नति में उनका प्रयोग मालवीय जी के जीवन का एक बहुत बड़ा कार्य है।"

–डॉ. सर. एस. राधाकृष्णन

● "शिक्षा, राजनीति और हिन्दू धर्म तथा संस्कारों के सुधार कार्य में उनकी कोई समानता नहीं कर सकता। इस क्षेत्र में वे एक असाधारण व्यक्तित्व थे।"

–डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 65, भाग 1

वर्ष 2019-20

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 65 No. 1, 2019-20
ISSN 0554-9884
U.G.C Care List Journal
PRAJÑĀ in GROUP 'B'
Multidisciplinary (21) & Indian Language (45)

© Banaras Hindu University
August, 2019

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो. राकेश भटनागर

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

प्रो. विजय कुमार शुक्ला
रेक्टर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रो. आर.के. जैन
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. प्रमोद कुमार जैन
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. अनिल कुमार त्रिपाठी
निदेशक, विज्ञान संस्थान

प्रो. रमेश चन्द
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

प्रो. ए. एस. रघुबंशी
निदेशक, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान

प्रो. सुजीत कुमार दुबे
निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

प्रो. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र 'विनय'
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रो. इनु मेहता
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रो. दिप्ती प्रकाश मोहन्ती
प्रमुख, दृश्य कला संकाय

प्रो. आर.पी. पाठक
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. रूद्र प्रकाश राय
प्रमुख, विधि संकाय

प्रो. राजेश शाह
प्रमुख, संगीत एवं मंच कला संकाय

प्रो. ओम प्रकाश राय
प्रमुख, वाणिज्य संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो. राधेश्याम राय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

प्रो. देवेन्द्र कुमार
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी0एच0यू0)

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. आनन्द प्रसाद मिश्र
भूगोल विभाग, विज्ञान संस्थान

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. सुमन जैन
महिला महाविद्यालय

डॉ. ज्ञान प्रकाश मिश्र
पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, कला संकाय

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

सम्पादक

प्रो. अशोक सिंह
प्रमुख, कला संकाय

मुख्य सम्पादक (मानद)

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय
इमरिटस प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी॥
बसी है गंङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर॥
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी। मधुर०॥
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा॥
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी। मधुर०॥
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी॥
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी। मधुर०॥
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले॥
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी। मधुर०॥
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी॥
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी। मधुर०॥
विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन॥
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
यह मालवी की है देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति॥
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी॥

- डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर

★

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारतरत्न पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

Kul-Geet

ENGLISH TRANSLATION

SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFUL,
THIS IS THE PRESIDING CENTRE OF ALL LEARNING.

RADIANT KASHI, WONDER OF THE THREE WORLDS
TREASURE-CHEST OF JNANA, DHARMA AND SATYA
NESTLING ON GANGA'S BANK, CENTRE FOR ALL DISCIPLINES.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

NO RECENT WORK OF BRICK AND STONE
PRIMORDIAL DESIGN OF DIVINITY ALONE
MANSIONS OF VIDYA, CENTRE FOR ALL CREATION.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

CLEAR HERE IS THE DOCTRINE PURE
TRUTH FIRST, THEN ONLY ONE'S SELF
HOME OF HARISHCHANDRA, TRUTH'S TESTING GROUND.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

THE VOICE OF GOD IN VEDIC RECORD
CONSTANT INSPIRATION FOR SOUL-ACCORD
WORK-SHOP OF VEDA VYASA, CENTRE FOR BRAHMA VIDYA.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

FIND HERE THE STEPS TO FREEDOM
TREAD HERE THE PATH OF DHARMA
FLAMING TRAIL BUDDHA'S AND SHANKARA'S CENTRE FOR PHILOSOPHER KINGS.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

LIFE-GIVING WATERS OF VARUNA AND ASSI
SUSTENANCE OF KABIR AND TULSI
FOUNTAINHEAD OF ELOQUENT SPEECH AND POETRY.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

MUSIC, ECONOMICS, OTHER ARTS SO MANY
MATHS, MINING, MEDICINE AND CHEMISTRY]
FRATERNAL FORUM OF EAST AND WEST, UNIVERSITY IN TRUEST SENSE.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

PATRIOTISM OF MALAVIYAJI
HIS INTREPIDITY AND ENERGY
ALL IN YOUTHFUL MANIFESTATION,
CENTRE FOR MEN OF ACTION

SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFUL,
THIS IS THE PRESIDING CENTRE OF ALL LEARNING.

Composed by the Eminent Scientist **Prof. Shanti Swarupa Bhatanagar, Deptt. of Chemistry, B.H.U.*

प्रो. राकेश भटनागर
कुलपति
Prof. Rakesh Bhatnagar Ph.D.
FNA, FASc, FNASc
Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
Banaras Hindu University
(Established by Parliament by Notification No. 225 of 1916)
Varanasi–221005 (INDIA)
Phone : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
E-mail : vc@bhu.ac.in
Website : www.bhu.ac.in

१७ अक्तूबर २०१९

शुभ-संदेश

भारत रत्न पूज्य महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा संस्थापित इस महान विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध शोध पत्रिका "प्रज्ञा" के वर्तमान अंक ६५, भाग-१, वर्ष २०१९-२० के प्रकाशन के अवसर पर मैं अपनी आन्तरिक प्रसन्नता व्यक्त करता हूँ। यह पत्रिका विगत ६१ वर्षों से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वैदुष्य-परम्परा का सफल निर्वहन करती चली आ रही है। यह प्रतिष्ठित पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त है। इस पत्रिका की विशिष्टता है कि इसमें प्रसिद्ध विद्वानों एवं प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे गये शोध प्रपत्र / लेख प्रकाशित होते हैं। यह पत्रिका प्रबुद्ध पाठक वर्गों में लोकप्रिय है। इस अंक में विविध विषयों पर लिखे गये स्तरीय लेख संकलित हैं।

इस प्रज्ञा के इस अंक के संकलन, सम्पादन एवं प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को बधाई देता हूँ तथा इसके सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(राकेश भटनागर)

सम्पादकीय

वर्तमान परिदृश्य में भारत एक सशक्त एवं सबल राष्ट्र के रूप में उभर रहा है। उसमें अपने सांस्कृतिक गौरव एवं स्वाभिमान का प्रबल बोध जागृत हो रहा है। वर्तमान प्रधान मंत्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में अखण्ड भारत का सपना साकार होने लगा है। उनके द्वारा जम्मू-कश्मीर से धारा 370 को समाप्त करना और मुस्लिम समाज में व्याप्त तीन तलाक की कुरीतियों को दूर करना युगान्तकारी घटनायें हैं। जिस सांस्कृतिक गौरव एवं भारतीय आध्यात्मिक चेतना के संरक्षण एवं सम्बर्धन हेतु भारत रत्न महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की थी, उसका उद्देश्य पूरा होता दिखायी दे रहा है। विज्ञान के क्षेत्र में भी देश आगे बढ़ रहा है, जिसका प्रतिफल चंद्रयान एवं मंगलयान के अभियान द्वारा पूरा हो रहा है। दूरदर्शी महामना ने बहुत पहले ही प्राची-प्रतिची के सुन्दर मेल से समन्वित इस विश्व प्रसिद्ध विद्या मंदिर की संस्थापना की थी। महामना के विचारों एवं संकल्पों के प्रचार-प्रसार हेतु सन् 1958 में 'प्रज्ञा' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और तब से लेकर आज तक यह प्रसिद्ध पत्रिका सफलतापूर्वक उनके उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न है। यह त्रैभाषिक पत्रिका है, जिसमें हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे गये विद्वानों के शोध-प्रपत्र/लेख प्रकाशित होते हैं।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक (अंक-65, भाग-1, वर्ष 2019-20) में कुल 47 (सैंतालिस) शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं। हिंदी भाषा में 25, संस्कृत भाषा में 07 एवं अंग्रेजी भाषा में 15 लेख लिखे गये हैं। इस अंक में हिंदी, संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक लेख लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त विधि, संगीत एवं मंच कला, आयुर्वेद, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, बौद्ध दर्शन, योग एवं विवेकानंद, पत्रकारिता एवं दूरदर्शन, यजुर्वेद, स्मृति एवं पुराण तथा दर्शन शास्त्र आदि के अनेक पक्षों से जुड़े हुए स्तरीय लेख संकलित हैं। आशा है कि सहृदय एवं प्रबुद्ध पाठक वर्ग ज्ञान एवं विज्ञान के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित इन लेखों से पर्याप्त लाभान्वित होंगे। 'प्रज्ञा' पत्रिका के अंक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वेबसाइट www.bhu.ac.in पर उपलब्ध है। पाठकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त है। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि 'प्रज्ञा' पत्रिका यू.जी.सी. की एप्रूब्ड लिस्ट में दो वर्गों में समाहित है—भाषा वर्ग क्रमांक सं. 45 एवं मल्टी डिस्पिलनरी वर्ग क्रमांक सं. 21 ।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक 65, भाग-1, वर्ष 2019-20 के प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं सर्वप्रथम विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं इस महान विश्वविद्यालय के यशस्वी एवं कर्मठ कुलपति प्रो. राकेश भटनागर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी ऊर्जावान प्रेरणा एवं सक्रिय मार्गदर्शन से हमें पर्याप्त शक्ति एवं सम्बल प्राप्त होता है। तद्नन्तर रेक्टर प्रो. विजय कुमार शुक्ल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके आत्मीयतापूर्ण व्यवहार एवं सक्रिय जीवन से हमें पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। इसके बाद कुलसचिव, डॉ. नीरज त्रिपाठी एवं वित्त अधिकारी, डॉ. अभय कुमार ठाकुर को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जो पत्रिका के प्रकाशन में हमेशा सकारात्मक सहयोग देते हैं। इस अंक के विद्वान लेखकों, संरक्षण मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के समस्त सहयोगियों के साधुवाद देता हूँ, जिनसे हमें काफी सहायता मिलती है। अन्त में मैं बी.एच.यू. प्रेस के प्रभारी प्रो. हीरालाल प्रजापति एवं उनके कर्मचारियों तथा 'प्रज्ञा' कार्यालय के समस्त सहयोगियों को भी धन्यवाद देता हूँ, जिनके सक्रिय योगदान द्वारा यह अंक पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो सका।

(प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय)
मुख्य सम्पादक (मानद), प्रज्ञा जर्नल
इमरिटस प्रोफेसर एवं पूर्वाध्यक्ष, हिन्दी विभाग एवं
पूर्व प्रमुख, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विषय-सूची

1. मुंशी प्रेमचन्द की प्रतिनिधि कहानियों में व्यक्त यथार्थ व उनकी अद्यतन प्रासंगिकता 1
शिव कुमार राय एवं प्रो. राधेश्याम राय

2. विनय पत्रिका में भक्ति का स्वरूप 6
प्रो. सुमन जैन

3. लोककवि गोस्वामी तुलसीदास विषयक रामविलास शर्मा का चिन्तन 10
डॉ. ऋतम्भरा तिवारी

4. वैश्विक शान्ति हेतु स्वामी विवेकानन्द के सार्वभौमिक धर्म की संकल्पना की उपादेयता 14
ज्योति बाला, विजेन्द्र सिंह एवं प्रो. प्रेम शंकर राम

5. आधुनिक भावबोध और अज्ञेय का काव्य 18
डॉ. सत्यपाल शर्मा

6. संस्कृत वाङ्मय में चम्पू काव्यों की परम्परा 22
निशा देवी एवं डॉ. ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य

7. आहार शुद्धौ सत्वशुद्धि 25
शनि शुक्ल, अमित कुमार एवं डॉ. नरेन्द्र शंकर त्रिपाठी

8. अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पुत्री के लिए प्रयुक्त शब्दों का विवेचन 29
नेहा मिश्रा एवं प्रो. विभा रानी दुबे

9. तुलसीदास की प्रासंगिकता : वर्ण व्यवस्था और स्त्री-मुक्ति के विशेष संदर्भ में 33
प्रो. अशोक सिंह एवं दीप्ति

10. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और बौद्ध धर्म 38
पूजा कुमारी एवं प्रो. सुमन जैन

11. भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की गुणवत्ता 41
सूर्य प्रकाश गोंड एवं डॉ. दीपा मेहता

12. स्वतंत्रता पूर्व भारत में 'मिशन पत्रकारिता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन (सन् 1780 - सन् 1947) 46
मीनाक्षी पाण्डेय एवं डॉ. नेहा पाण्डेय

13. नरेश मेहता के काव्य में प्रतीक विधान 51
डॉ. प्रेम निवास सिन्हा

14. अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' का समाजशास्त्रीय अध्ययन 58
श्रेयसी सिंह एवं डॉ. सत्यपाल शर्मा

15. कालिदास की कृतियों में आगमोक्त : आचार एवं व्रतोत्सव 61
डॉ. धीरज कुमार दुबे

16. यजुर्वेद में मन की गति का वर्णन 69
राकेश कुमार प्रजापति, डॉ. सुशील कुमार दूबे एवं डॉ. शंकर त्रिपाठी

17. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता और कवि केदारनाथ सिंह 73
प्रेमलता राय एवं डॉ. सत्यपाल शर्मा

18. साहित्यक रचनाओं के दूर-दर्शन द्वारा प्रसारण की सार्थकता पर डॉ0 माधवेन्द्र नाथ दुबे की जिज्ञासाओं पर वरिष्ठ चिन्तक विद्वानों की प्रतिक्रियाऐं 77
डॉ. माधवेन्द्र नाथ दुबे

19. सफलता का मूलमंत्र, आशावादी एवं सकारात्मक दृष्टिकोण : मनोवैज्ञानिक अध्ययन 90
डॉ. माया सिंह

20. शैली वैज्ञानिक अनुशीलन में शैली तात्त्विक सौन्दर्य के आधारभूत तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय और शब्दों (पदों) का चयन-कौशल 93
डॉ. मीनाक्षी दुबे

21. पूर्व-सोवियत और उत्तर-सोवियत समाज के पारिवारिक मूल्यों में बदलाव 96
नीरज धनकड़

22. नारी और याज्ञवल्क्यस्मृति 101
डॉ. पल्लवी त्रिवेदी

23. भारतीय समाज के पुनर्जागरण में स्वामी विवेकानन्द का योगदान 104
डॉ. धर्मजंग

24. अग्निपुराण के अनुसार रसस्वरूपविमर्श 110
वन्दना दंवी एवं प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी

25. प्राचीन एवं मध्यकालीन महत्त्वपूर्ण अवनद्ध वाद्य 114
डॉ. भीमसेन सरल

26. अलङ्कारात्मवादे साहित्यशास्त्रे ''**क्रान्तिपञ्चकम्**'' 119
प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी

27. मीमांसायां कर्मपदार्थस्य प्राधान्यम् 127
प्रो. सोमनाथ नेने

28. श्रीरामानुजदर्शनस्य रामानन्दतारिक्तदर्शनेषु प्रभाव : 133
प्रो. भगवत्शरणशुक्ल :

29. सांख्यदर्शने प्रकृतितत्त्वम् 142
डॉ. सिद्धिदात्री भारद्वाज

30. वेदेषु सप्तांगराज्ये राष्ट्रस्य स्वरूपमहत्वयों : प्रतिपादनम् 150
डॉ. सुरेशचन्द्रब्रह्मा एवं डॉ. माधवजनार्दनरटाटे

31. मानसिकरोगपरिशीलम् 153
अश्विनी पाण्डेय एवं डॉ. ब्रजभूषण ओझा

32. योगस्येतिहासः तत्सामान्यनिर्दशनञ्च 156
श्रीमणिकान्ततिवारी एवं प्रो. सुब्रहमण्यम् शर्मा

33. Breast Feeding and Weaning Practices During Early Childhood in Relation to Different Caste Group in Urban and Rural Area 162
Prof. B. B. Khare and Supriya Khare

34. Contemporary Issues of Law 170
Shambhu Sharan and Prof. B. Tripathi

35. Right to Health and Health Insurance 175
Prof. S. Tripathi and O. P. Tripathi

36. Devalued Black Womanhood: Capitalist Patriarchy and Sexism August Wilson's Ma Rainey's Black Bottom 182
P. Shushmita Vatsyayan and Prof.J. S. Jha

37. Customer Preference for Some FMCG Products (Soap, Shampoo and Detergent) in Varanasi 188
P. Khare, Prof. S. H. Ali and Prof. B. B. Khare

38. Historical and Cultural Dimensions of Mithalā Art History: an Overview 198
Dr. Vinay Kumar and Dr. U. K. Singh

39. The Historicity of Ancient Vaisali: A Literary and Archaeological Interpretation 202
Dr. Ashok Kumar Singh

40. Judicial Trend in the Implementation of the Pocso Act, 2012 207
S. Paswan and Prof. B. Tripathi

41. Youth Power: Need of Today's India 212
Dr. D. K. Singh

42. Food Processing Industry (FPI) 217
Dr. Vijay Kumar Singh

43. Bath Kund to Beget Son: Science or Belief 221
Dr. Kiran Mishra

44. Social Transformation and Agrarian Structure of India: a Sociological analysis 224
Dr. Dinesh Kuamr Singh

45. On Some Aspects of Vedāntism and Sūfism: A Study in Comparative Religion 228
Dr. Wahid Nasaru

46. Categorization of Microbes According to Tridosha Ayurveda 235
S. K. Maurya and Dr. N. S. Tripathi

47. Management of Rock Art Tourism 237
Dr. S. K. Tiwary

48. **''प्रज्ञा'': नियम एवं निर्देश** 149

आवश्यक सूचना : **''प्रज्ञा''** पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

मुंशी प्रेमचन्द की प्रतिनिधि कहानियों में व्यक्त यथार्थ व उनकी अद्यतन प्रासंगिकता

शिव कुमार राय एवम् प्रो. राधेश्याम राय***

उपन्यास सम्राट व हिन्दी कहानी के मेरुदण्ड, मुंशी प्रेमचन्द का नाम शायद ही कोई पाठक होगा जो न जानता होगा। मुंशी प्रेमचन्द का नाम जुबान पर आते ही पाठकों के मन में ग्रामीण सामाजिक चेतना के साथ-साथ गोबर, धनिया, भोला, होरी, घीसू, माधव, दुखी चमार, हीरा, मोती आदि पात्रों के नाम मन में आने लगते हैं। पाठको के मन में इस प्रकार ने नाम व विभिन्न ग्रामीण प्रतिबिम्बों का आना ही प्रेमचंद की कहानियों की विशेषता है। प्रेमचंद की कहानियों का मर्म बालकों से लेकर वृद्धजन तक जितने भी पाठक हैं बड़ी ही आसानी से पढ़ते व समझते हैं, इसका कारण कि प्रेमचंद अत्यंत ही सरल व सीधी भाषा का प्रयोग अपनी कहानियों में करते हैं, जिससे कि आम जन भी बड़ी आसानी से उसे समझ सकें।

मुंशी प्रेमचंद ग्रामीण पृष्ठभूमि से आते हैं, तथा उनका सम्पूर्ण जीवन गांव में ही बीता। जिसके कारण उनकी कहानियों पर भी ग्रामीण पृष्ठभूमि की छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है। प्रेमचंद के पूर्ववर्ती कहानिकारों की कहानियाँ, कहानी विधा की आरम्भिक कहानियाँ हैं, जिसमें कल्पना व मनोरंजन का भी समावेश है। लेकिन मुंशी प्रेमचन्द की कहानियाँ, कहानी विधा के दूसरे चरण में आती हैं। कहानी विधा में प्रेमचंद की कहानियों का आना, कहानी विधा के लिए एक स्वर्ण युग की शुरुआत है, जिसके कारण प्रेमचंद के नाम पर ही कहानियों का एक युग चल पड़ा और प्रेमचंद की परंपरा में आगे अनेक कहानीकार हुए।

प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन से जुड़ी समस्याओं का यथार्थपरक वर्णन मिलता है। इनकी कहानियॉं तत्कालीन समय (20वीं सदी का आरम्भ) में ग्रामीण समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं को प्रकट करती हैं। जिन मुद्दों को प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में उठाया वह आज भी संगत है। वे मुद्दे आज भी हमें सोचने पर बाध्य करते हैं भले ही वह साम्प्रदायिक मुद्दा हो, किसानों की समस्या हो, स्त्रियों की दशा हो, निम्न वर्ग की दयनीय स्थिति हो, छुआछूत की भावना हो, इन अनेक समस्याओं को उजागर करने में प्रेमचंद का प्रखर व्यक्तित्व व उनका आदर्शवादी दृष्टिकोंण दिखायी पड़ता है।

यह अत्यंत सोचने वाली बात है कि भारत को आजाद हुए लगभग 72 साल हो गये लेकिन आज भी वे समस्याएँ हमारे समाज में स्वरूप बदलकर और भी विकृत रूप में अपना विकराल रूप लिए आम जन को निगलने के लिए मुँह बाये खड़ी हैं। हाँ! सिर्फ अब अंग्रेजों का शासन नहीं रहा लेकिन उनका प्रतिरूप लिए पूँजीपति वर्ग जरूर है जो हर पल आम आदमी को, अपनी स्वार्थपूर्ण भावना के कारण निगलने को मुँह बाये अवसर की तलाश में लगे रहते हैं।

तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करती व आज के समय में प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रेमचंद की प्रतिनिधि कहानियों में नशा, ईदगाह, पूस की रात, नमक का दरोगा, सवा सेर गेहूँ, बड़े घर की बेटी, रामलीला, ठाकुर का कुआँ, दो बैलों की कथा, सद्गति, पंच-परमेश्वर, परीक्षा, कफ़न हैं। ये सभी कहानियाँ, भीष्म साहनी संपादित पुस्तक 'प्रतिनिधि कहानियाँ प्रेमचंद' में संग्रहित है।

प्रेमचंद की कहानी 'नशा' आम जन के प्रति संवेदनशीलता व सहानुभूति लिए हुए हैं। यह कहानी वर्ग भेद, जमींदारी व्यवस्था व जमींदारों की आम आदमी अर्थात् गरीबों के प्रति दुहरे विचारों को प्रकट करती है तथा आम आदमी को उनके भविष्य के प्रति सचेत करती है। इस कहानी में जमींदारों की गरीबों के प्रति विचारधारा को प्रकट करने के लिए प्रेमचंद ने 'ईश्वरी' तथा शोषण को अपनी नियति (भाग्य) मानने वाले गरीबों की, जमींदारों के प्रति विचारधारा को प्रकट करने के लिए 'मैं' नाम को चुना। कहानी में प्रेमचंद ने दिखाया है कि दिन-रात जमींदारों की सेवा में लगे रहने के बावजूद नौकरों, गरीबों व आसामियों के प्रति, उनका हृदय नहीं पिघलता हर पल नौकरों को डाँट पड़ती, उनपर धाक जमाया जाता है, मशीन की तरह उनसे दिन रात काम लिया जाता है। कहानी में 'मैं' नामक पात्र के द्वारा प्रेमचंद जमींदारों की शोषणवादी नीति की सच्चाई को प्रकट करते है।- ''हम दोनों में परस्पर बहसें होती रहती थीं। मैं जमींदारों की बुराई करता, उन्हें हिंसक पशु और खून चूसने वाली जोंक और वृक्षों की चोटी पर फलनेवाला बंझा कहता।''[1]

कहानी में जमींदारों की शोषणवादी नीति, जमींदारी को बनाये रखने वाली उनकी विकृत विचारधारा तथा आसामियों को उनकी स्थिति के लिए, उनकी नियति को वे (जमींदार) जिम्मेदार मानते हैं, जिसका खुलासा कहानी में उस समय होता है जब मैं ईश्वरी के घर जाने के लिए तैयार होता तब 'ईश्वरी' अपने यहाँ लोगों के रहन-सहन उनके सोच-विचार से 'मैं' को परिचित कराकर सावधान करता है और कहता है - ''लेकिन भाई एक बात का

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** वरिष्ठ आचार्य, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

खयाल रखना, वहाँ ज़मींदार की निंदा की तो मुआमिला बिगड़ जायेगा और मेरे घरवालों को बुरा लगेगा।

लोग तो आसामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने आसामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। आसामी भी यही समझता है। अगर उसे सुझा दिया जाये कि ज़मींदार व आसामी में कोई मौलिक भेद नहीं है तो जमींदार का कहीं पता न लगे।''[2]

लेकिन कहानी में आश्चर्य तो तब होता है जब 'मै' ईश्वरी के घर जाता है। वह हर समय जमींदारों की शोषणवादी नीति पर ईश्वरी से बहस करता है, लेकिन जब वहाँ पर (ईश्वरी के घर पर) उसे भी ईश्वरी के जैसा विलासी जीवन जीने को मिलता है, तो वह भी सभी नौकरों पर रोब जमाता, उन्हें डाँट डपट लगाता, जमींदारों को भलमानुष बताता और कहता है हमलोग (जमींदार) तो आसामियों को अपनी जमीन देने को तैयार बैठे हैं ज्यों ही स्वराज्य आया अपने सारे इलाके आसामियों के नाम हिब्बा कर देंगे। यहाँ पर प्रेमचन्द गरीबों को सचेत करते हैं, जिनके मन में इस तरह की लालसा उत्पन्न होती है। वह अपनी वास्तविकता से गुमराह हो जाता है क्योंकि उसके सर पर भी ज़मींदारों की तरह विलासी जीवन जीने का नशा चढ़ा रहता है।

यह कहानी आज के समय में भी प्रासंगिक है क्योंकि आज जमींदार तो नहीं है लेकिन उनकी जगह कुछ पूँजीपतियों ने ले रखा है जो गरीब तबके का अपनी स्वार्थी विचारधारा के चलते शोषण करते, काम के बदले उचित मजदूरी नहीं देते और उन्हीं आसामियों की तरह उन्हें भी डाँटते फटकारते है। उन्हें घृणित व अमानवीय कार्य करने को मजबूर करते हैं।

प्रेमचंद गांधीवादी आदर्शों व विचारों से प्रेरित थे तथा उनका यथार्थ पर विशेष जोर था। उनकी कहानियाँ मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, मजदूर वर्ग व ग्रामीण कृषक समूह से निकलकर आती है। इनके सम्बन्ध में प्रो0 बलराज पाण्डेय लिखते है- ''हिन्दी साहित्य में पहली बार मध्यवर्ग व निम्नवर्ग को प्रतिनिधित्व मिला। इसका पूरा श्रेय प्रेमचंद को जाता है। हालॉकि प्रेमचंद भी गांधीवादी विचारों से प्रभावित थे और इसलिए साहित्य में उन्होंने पात्रों का हृदय परिवर्तन कराकर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्थापना की।.....प्रेमचंद ने इतना जरूर किया कि साहित्य में शोषक और शोषित वर्ग का चित्रण कर शोषितों का पक्ष लिया तथा इस बात का पूरा समर्थन किया कि उन्हें भी अपना हक मिलना चाहिए। प्रेमचंद की रचनाओं में पात्र अधिकतर मजूदर वर्ग के ही रहे हैं और मजदूर वर्ग को उन्होंने पूरी सहानुभूति दी है।''[3]

मुंशी जी की कहानी 'ईदगाह' अत्यंत ही संवेदनशील व दिल को झकझोर देने वाली कहानी है। यह एक पाँच साल के छोटे से बच्चे की लेकिन गरीबों के जीवन से जुड़ी हुयी यथार्थ को प्रकट करती हुयी कहानी है। कहानी में प्रेमचंद ने दिखाया है कि गरीब परिवार में जन्म लेने वाले एक छोटे से बालक की, जिसका कोई सहारा नहीं, परिस्थितियों का मारा, उसकी कितनी आशाएँ आकांक्षाएँ होती हैं लेकिन पूरा न होने पर किसी बहाने आत्मसंतुष्ट होता है। वहीं एक दूसरा वर्ग है जिसके पास सब कुछ धन-दौलत है, लेकिन इतना संवेदनहीन है कि परिस्थितियों के मारे गरीबों की जरा भी सहायता नहीं करते। इस अमीर वर्ग का प्रतीक रूप मोहसिन, महमूद, सम्मी और नूरे हैं।

इस कहानी के माध्यम से प्रेमचंद ने इस बात को उजागर किया है कि त्यौहारों के अवसरों पर, जो खुशी का वक्त होता है, किस प्रकार गरीबों के लिए दुख व कष्टप्रद होकर ईद की जगह मुहर्रम की तरह हो जाता। कहानी में बूढ़ी दादी (अमीना) सोचती है ''रोजे बड़े बूढ़ों के लिए होंगे। इनके लिए तो ईद है। रोज ईद का नाम रटते थे। आज वह आ गयी। अब जल्दी पड़ी है कि ईदगाह क्यों नहीं चलते। इन्हें गृहस्थी की चिन्ताओं से क्या प्रयोजन? सेवैयों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैया खाएंगे। वह क्या जाने की अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायम अली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर की चौधरी आज आँखें बदल ले तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाये।''[4]

कहानी में प्रेमचंद ने इस बात की ओर इशारा किया है कि हामिद अपने स्वाभाविक तौर पर उत्पन्न तर्कों से मोहसिन, महमूद सम्मी और नूरे जैसे विरोधियों को परास्त कर अपने आपको विजयी समझता है। हालाँकि हामिद की आत्मसंतुष्टि स्वाभाविक है फिर भी उसे खिलौने, मिठाइयों की आशा जरूर रहती है। लेकिन जब मोहसिन उसे बताता है कि चौधरी साहब जैसे लोगों के पास बहुत से जिन्नात हैं, जिनके कारण उनके पास सब कुछ है, जो चाहे सो पा सकते हैं। तब हामिद को अपनी वास्तविकता का आभास होता है। ''मोहसिन- अब यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत से जिन्नात हैं। कोई चीज चोरी हो जाए चौधरी साहब उसका पता लगा लेंगे और चोर का नाम भी बता देगें.....अब उसकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है और क्यों उनका इतना सम्मान है।''[5]

जिस प्रकार हामिद की आशाएँ आकांक्षाएँ है, उसी प्रकार समाज में गरीबों व शोषितों की भी आशाएँ व आकांक्षाएँ होती हैं। हालाँकि हामिद की आत्मसंतुष्टि स्वाभाविक थी लेकिन शोषितों व गरीबों की आत्मसंतुष्टि अपनी इच्छाओं को दबाकर उत्पन्न हुयी मजबूरी है। प्रेमचंद इस कहानी को तत्कालीन समाज के यथार्थ को उजागर करने के लिए लिखी लेकिन आज के समय में यह कहानी बेहद प्रासंगिक है क्योंकि आज हमारे समाज में, गरीब तबके के लोगों की संख्या अत्यधिक है। जिनके पास खुद का घर नहीं, पहनने के लिए कपड़े नहीं, खाने को नहीं, भीख मांगकर, यहाँ तक की कूड़े में से कुछ खाने की चीज निकालकर किसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं। जीवन व्यतीत करने के लिए जरूरी भौतिक चीजों से वंचित होते हैं।

प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' का नाम लेते ही मन में हल्कू, जबरा कुत्ता का नाम व आर्थिक समस्या से पीड़ित व शोषित किसान का प्रतिबिंब मन में अनायास ही आ जाता है। हालांकि प्रेमचंद की यह कहानी तत्कालीन समाज में किसानों की दयनीय दशा को प्रकट करने के लिए लिखी गयी थी, लेकिन आज के समय में किसानों की दशा उससे इतर नहीं बल्कि उस समय की दशा से भी अधिक भयावह रूप लिए हुए है।

तत्कालीन समाज में किसानों की दशा को प्रकट करते हुए मुंशी प्रेमचन्द ने इस कहानी में दिखाया है कि किस प्रकार निम्न मध्यवर्गीय किसानो का जमींदारों द्वारा शोषण किया जाता है। जमींदारों के कर्ज तले वह इस कदर दबा रहता है कि वह एक किसान से मजदूर की स्थिति में आ जाता है। हल्कू की पत्नी मुन्नी कहती है ''मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मर कर काम करो उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए तो हमारा जनम हुआ है। पेट के लिए मजदूरी करो। ऐसे खेती से बाज आये। मैं रूपये न दूँगी-न दूँगी।''[6]

हल्कू एक गरीब किसान है जिसके पास थोड़ी सी जमीन होती है। जिससे उपजने वाली उपज से किसी प्रकार सिर्फ अपनी व पत्नी मुन्नी का पेट पालता है लेकिन एक बार सहना (गांव का एक सम्पन्न व्यक्ति) से वह कुछ पैसे उधार लेता है जिसे वह चुका नहीं पाता। खेत में साल भर दिनरात कड़कते जाड़े व गर्मी में मेहनत करता तो किसी प्रकार पेट पालता, जो बचता उधारी देने, मालगुजारी में चला जाता है। उसके पास ठण्ड से बचने को सिर्फ एक फटा कम्बल है, जाड़े में नीलगायों से खेत की रखवाली करते समय फटे कम्बल से उसकी ठण्ड न जाने पर जबरा कुत्ते को उसी फटे कम्बल में अपने शरीर से लगाकर सोता है। लेकिन इतनी कठिन परिस्थितियों में कड़ी मेहनत के बावजूद उसे मालूम होता है कि उससे अच्छी स्थिति एक सामान्य मजदूर की है। जिसे इतनी कड़े ठण्ड में खेत की रखवाली भी नहीं करनी पड़ती और दो वक्त की रोटी सुकून से उसे मिलती है।

एक रात पौष माह की कड़कड़ाती ठण्ड में जबरा के साथ हल्कू खेत की रखवाली करने जाता है और फटे कम्बल से ठण्ड न जाने पर सूखी पत्तियाँ इकट्ठा कर आग जलाता है और आग के पास ही कम्बल ओढ़कर लेटता है और उसे नींद आ जाती है, क्योंकि वह कई रात से ठीक से ठण्ड के कारण सोया नहीं रहता है। हल्कू के सो जाने पर नीलगाय उसकी सारी फसल नष्ट कर डालती हैं, लेकिन वह फिर भी सोया रहता है। मुन्नी के जगाने पर पेट दर्द का बहाना बनाता है लेकिन अन्दर से प्रसन्न होता है क्योंकि अब उसे इतनी ठण्ड में खेत की रखवाली नहीं करनी पड़ेगी। जब उसकी स्थिति से अच्छी स्थिति एक मजदूर की है तो वह भी अब मजदूरी ही करेगा। कहानी के अन्त में हल्कू जैसे किसानो के यथार्थ को प्रेमचंद ने इन पंक्तियों में दर्शाया है- ''दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी, पर हल्कू प्रसन्न था। मुन्नी ने चिंचित होकर कहा- अब मजदूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी। हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा रात की ठण्ड में यहाँ सोना तो नहीं पड़ेगा।''[7]

आज के समय में भी छोटे किसानों की यही दशा है, जो महंगे बीज, खाद, जुताई आदि के कारण कर्ज तले दबा हुआ है। कर्ज लेकर किसी प्रकार जुताई बुआई करता है लेकिन जिस मात्रा में वह खेती में निवेश करता, उतना उसे लाभ नहीं मिलता। उपज के समय फसल की उचित कीमत नहीं मिलती और कर्ज तले दबता चला जाता है। हल्कू के समय मजदूरी करके किसी प्रकार पेट पाला जा सकता था लेकिन आज के समय में मजदूरी भी नहीं मिलती और न ही मजदूरी करके पेट पाला जा सकता है, अतः किसान आत्महत्या कर ले रहा है। प्रेमचन्द की यह कहानी आज के अन्नदाता किसानों की स्थिति को देखते हुए अत्यंत प्रासंगिक है।

प्रेमचंद की कहानी 'नमक का दरोगा' एक आदर्शोन्मुख यथार्थ पर आधारित कहानी है। यह कहानी 1914 में प्रकाशित हुई तब देश में अंग्रेजो का शासन था और प्रकृति प्रदत्त नमक पर सिर्फ अंग्रेजो का अधिकार था, उनके अलावा और किसी को नमक के व्यवहार पर रोक लगा दी गयी तब चोरी-छिपे नमक का व्यापार होने लगा था।

यह कहानी एक तरफ तत्कालीन समाज में फैले घूसखोरी, भ्रष्टाचार व अराजकता के वातावरण को प्रकट करती है तो दूसरी ओर उसी वातावरण में सत्यनिष्ठा, ईमानदारी व प्रतिबद्धता पर आधारित एक पुलिस ऑफिसर की कहानी है। जिसे चारों तरफ व्याप्त इन अराजक तत्वों के खिलाफ खड़ा होना पड़ता है और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है लेकिन अन्त में विजय धर्मनिष्ठा की ही होती है। कहानी में पं0 अलोपीदीन एक भ्रष्ट व्यापारी है, जो चोरी छुपे नमक का व्यापार करता है। पैसों के दम पर वह सबको अपने आगे झुका देता है। लेकिन वंशीधर जैसे ईमानदार ऑफिसर को तमाम कोशिशों व पैसों की लालच देने के बावजूद नहीं झुका पाता है, लेकिन चारों तरफ फैले भ्रष्टाचार व घूसखोरी के कारण कोर्ट भी पं0 अलोपीदीन को बाइज्जत बरी कर देती है और वंशीधर को नौकरी से बेदखल कर दिया जाता है, जिसके कारण वंशीधर को समाज के साथ ही घर वालों की भी आलोचना सहनी पड़ती है लेकिन वे विचलित नहीं होते हैं। कहानी के अन्त में प्रेमचन्द ने एक आदर्शवादी सन्देश देते हुए दिखाया है कि वंशीधर की ईमानदारी से प्रभावित होकर अलोपीदीन जैसे भ्रष्ट व्यापारी भी वंशीधर के सामने नतमस्तक हो जाते हैं और वंशीधर को अपनी सारी जायदाद का मैनेजर बना देते हैं।

''अलोपीदीन ने कलमदान से कलम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बाले, न मुझे विद्वता की चाह है, न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्य कुशलता की। इन गुणों के महत्व का परिचय खूब पा चुका हूँ। अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है जिसके सामने योग्यता व विद्वता की चमक

फीकी पड़ जाती है। यह कलम लीजिए, अधिक सोच विचार न कीजिए दस्तख़त कर दीजिए, परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला बेमुरौवत, उद्दंड, कठोर परन्तु धर्मनिष्ठ दरोगा बनाए रखे।''[8]

प्रेमचंद की कहानी 'सवा सेर गेहूँ' और 'सद्गति' तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की गरीबों के प्रति शोषणवादी नीति के साथ ही उनके संवेदनहीन, अमानवीय प्रवृत्ति तथा उनके द्वारा धर्म के नाम पर फैलाये गये छल प्रपंच, ढ़ोग व छुआछूत को प्रकट करती है।

'सवा सेर गेहूँ' कहानी में विप्र जी, शंकर नामक एक गरीब किसान के शोषण के लिए धर्म के नाम पर डराकर इस प्रकार जाल बिछाते हैं कि बेचारा शंकर, विप्र जी से लिये गये सवा सेर गेहूँ के बदले अपनी जान तक कुर्बान कर देता है लेकिन विप्र जी के अनुसार अभी भी मूलधन बचा ही रहता है। जबकि साल में वह दो बार खलिहानी विप्र जी को देता है उसका उनकी नजर में कोई मोल नहीं। जबकि शंकर ने उनका सवा सेर गेहूं खलिहानी में ही बढ़ाकर दे भी दिया रहता है। सात साल के बाद अपने सवा सेर गेहूँ के बदले सूद वगैरह लगाकर विप्र जी शंकर से पांच मन अनाज की मांग करते हैं तब शंकर कहता है- ''महाराज, नाम लेकर मैंने तो उतना आनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानी में सेर-सेर दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन मांगते हैं मैं कहाँ से दूंगा? विप्र- लेखा जौ-जौ बखसीस सौ-सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहो हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दू, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।''[9]

बेचारा शंकर व उसके जैसे अनेक गरीब किसान जो किसानी से सिर्फ अपना पेट ही पाल पाते हैं, इन अमानवीय संवेदनहीन ब्राह्मणों के बिछाए जाल में फँसकर अपना जीवन उनकी गुलामी में बिता देते हैं। फिर भी कर्ज न चुका पाने के कारण उनके बच्चे उनकी गुलामी करते हैं। विप्र जी, कर्ज न चुका पाने के कारण, शंकर से जीवन भर गुलामी करवाते हैं। वे कहते भी हैं- ''गुलामी समझो, चाहे मजदूरी समझो। मैं अपने रूपये भराए बिना तुमको कभी न छोड़ूगाँ। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ! जब कोई नहीं रहेगा तब की बात दूसरी है।''[10]

इसी प्रकार की हालत सद्गति कहानी में दुखी चमार की होती है जिसमें पं0 घासीराम दुखी को बेगार में इतना काम सौंपे देते हैं कि बेचारा करते करते थक जाता है और अन्त में एक ऐसी लकड़ी की गाँठ देते है जिसे वह चीरते-चीरते उन्हीं की चौखट पर मर जाता है। और पं0 घासीराम उसके शव को हाथ तक नहीं लगाते और रस्सी में बाँधकर गाँव के बाहर कर देते हैं जहाँ उसकी लाश को गीदड़, कौवे और कुत्ते नोचते है।

यह कहानी तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों के मन में व्याप्त छुआछूत, ढोंग उनकी शोषणवादी नीति उनके अमानवीय व असंवेदनशील हृदय के यथार्थ को प्रकट करती है। अगर हम आज के समाज की बात करें तो आज भी ज्यादातर ग्रामीण समाज में नीची समझी जाने वाली जातियों के प्रति उच्चवर्ग व ब्राह्मणवादी दृष्टिकोंण में कोई खास बदलाव नहीं दिखायी पड़ता है। कहानी में प्रेमचंद ने जिस लकड़ी की गाँठ की बात की है वह एक यथार्थ है जिसे दुखी चीरता हुआ मर जाता है। लेकिन प्रतीक रूप में वह गाँठ कोई मामूली गाँठ नहीं बल्कि उच्चवर्गीय समाज व ब्राह्मणवादियों के मन में बैठे हुए छुआछूत व शोषणवादी नीति की गाँठ है, जिसमें दुखी जैसे दीन-हीन, गरीब व निम्न वर्ग के लोगों के लाख प्रयास के बावजूद उसमें दरार नहीं पड़ती अर्थात् उनके विचारों में जरा भी संवेदनशीलता नहीं आती, लेकिन दुखी के मरने के साथ ही उस गाँठ अर्थात छुआछूत व शोषणवादी नीति में सिर्फ दो फाट होते हैं और उसका अस्तित्व वही गुण लिए विद्यमान होता है।

दुखी के तथा चिखुरी के लाख प्रयास के बावजूद जब गाँठ में दरार तक नहीं पड़ती दुखी तब सोचने लगा ''बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी की फाड़े नहीं फटती। कहीं दरार तक नहीं पड़ती। मैं कब तक इसे चीरता रहूँगा।''[11]

'पंच-परमेश्वर' तथा 'बड़े घर की बेटी' में प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख रहा है। ये उपदेशपरक व सामाजिक विघटन के प्रति व्यक्ति को सचेत करती हुयी, आज के समय में भी अपनी प्रासंगिकता को लिए हुए है। पंच-परमेश्वर कहानी में प्रेमचंद ने इस बात से आगाह किया है कि निजी वैयक्तिक चेतना से प्रेरित व अपनी स्वार्थी भावना के चलते किस प्रकार दो गहरे मित्रों (जुम्मन शेख व अलगू चौधरी) में मन-मुटाव व विलगाव पैदा होता है और दोनों एक दूसरे के दोस्त से दुश्मन बन बैठते हैं, लेकिन जब दोनों को अपनी स्वार्थपूर्ण भावना से ऊपर उठकर धर्म व न्याय के मार्ग पर चलने के लिए पंच-परमेश्वर के सदस्यों के रूप में चुना जाता है, तब उन्हें अपने कर्तव्यों का आभास होता है और फिर से दोनों आपस में गले मिल जाते है। यहाँ पर प्रेमचंद ने धर्म व न्याय को वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठाकर सर्वश्रेष्ठ घोषित कर आदर्शवाद का संदेश दिया है।

इसके साथ ही इस कहानी में तत्कालीन समाज में असहाय वृद्धों की दुर्दशा को भी प्रकट किया गया है, जो आज के समय की भी सच्चाई है अन्यथा वृद्धाआश्रम की जरूरत न पड़ती। आज के समय में उपभोक्तावादी मानसिकता के चलते व्यक्ति निरन्तर संवेदनहीन व अमानवीय होता जा रहा है, जब तक माँ-बाप के पास धन-दौलत या किसी के स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए कुछ भी है, तब तक उनकी खूब सेवा की जाती है लेकिन जब स्वार्थी व्यक्ति धन दौलत प्राप्त कर लेता या उनकी जायदाद अपने नाम कर लेता तब उसी माँ-बाप के प्रति उसकी बनावटी संवेदना, मानवता खत्म हो

जाती है और बात-बात पर उन्हें प्रताड़ित करता व उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देता है।

'बड़े घर की बेटी' कहानी में प्रेमचंद ने संयुक्त परिवार के टूटने के कारण व टूटने से बचाने का रास्ता सुझाकर एक संदेश दिया है और वास्तव में बड़े घर की बेटी कैसी होती है उसके गुणों की ओर इशारा किया है। यह एक आदर्श को स्थापित करती हुयी कहानी है। डॉ0 सरोज गुप्त लिखती है- ''बड़े घर की बेटी शीर्षक कहानी में संयुक्त परिवार के मध्ययुगीन ढ़ाचे के टूटने का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसके रूप में प्रेमचंद के समय का यथार्थ इस कहानी में अवश्य उभरा है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन अन्त में संयुक्त परिवार की दीवारों का टूटने से बच जाना व्यक्ति चेतना से प्रेरित होते हुए भी आनन्दी का भारतीय आदर्शों की शरण लेना और इस प्रकार असत् पर सत् की विजय दिखाना आदर्शवाद की ओर स्पष्ट संकेत है।''[12]

'ठाकुर का कुआँ' और 'कफ़न' तत्कालीन समाज में व्याप्त छुआछूत की चरम पराकाष्ठा से पर्दा उठाती हुयी तथा जमींदारों या उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के शोषण पर आधारित यथार्थ को प्रकट करती कहानी है। 'ठाकुर का कुआँ' कहानी में जोखू व उसकी पत्नी गंगी जैसे लोगों को गंदे पानी पीने को मजबूर होना पड़ता है, तो कफ़न कहानी में घीसू और माधव जैसे लोगों को बुधिया के कफ़न के लिए मिले पैसे से अपनी भूख मिटाने को मजबूर होना पड़ता है। हालाँकि प्रेमचंद ने तत्कालीन समाज के यथार्थ को प्रकट करने के लिए इस प्रकार की यथार्थवादी तथा 'बड़े भाई साहब', 'नमक का दरोगा', 'बड़े घर की बेटी', 'पंच-परमेश्वर' तथा 'परीक्षा' जैसी आदर्शवादी कहानियाँ लिखीं। लेकिन आज के समाज में भी घीसू, माधव, बुधिया, दुखी, हल्कू, जोखू, गंगी का मिलना आम बात है, जो शिक्षा, स्वास्थ, शुद्ध पेय जल, और तमाम जरूरत की भौतिक चीजों से वंचित हैं। उनकी स्थिति प्रेमचंद के पात्रों से भी ज्यादा दयनीय दिखायी पड़ती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रतिनिधि कहानियाँ : प्रेमचंद, संपादक-भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0 21-22
2. वही, पृ0 22
3. कहानी आन्दोलन की भूमिका. प्रो0 बलराज पाण्डेय, हिन्दी विभाग, का0हि0वि0वि0, वाराणसी, पृ0 19
4. प्रतिनिधि कहानियाँ : प्रेमचंद, संपादक-भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0 29
5. वही, पृ0 32
6. वही, पृ0 42
7. वही, पृ0 47
8. वही, पृ0 55
9. वही, पृ0 57
10. वही, पृ0 61
11. वही, पृ0 113
12. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में विचार तत्व, डॉ0 सरोज गुप्ता, भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ0 102

●

विनय पत्रिका में भक्ति का स्वरूप

*प्रो. सुमन जैन**

'भक्ति' शब्द 'भज' धातु 'क्तिन' प्रत्यय लगने से बना है। संक्षिप्त 'हिन्दी शब्द सागर' में इसके अनेक अर्थ मिलते हैं- आराधना, सेवा, भजन, विश्वास, उपचार, आश्रय लेना, आश्रित होना, आराध्य देवता का नाम जपना तथा उसका बारम्बार स्मरण और ध्यान करना।''[1] कहा जा सकता है कि भक्ति व्यक्ति के अपने आराध्य के प्रति असीम स्नेह का भाव है। किन्तु सामान्यतः भक्ति शब्द का प्रयोग ईश्वर प्रेम के संदर्भ में किया जाता है। इस मनोवृत्ति से ईश्वर का दर्शन, मनन, उपासना, गुणगान, सुयश युक्त चरित्रों का गुणगान हाथों से भी हरिप्रतिमा और भी गुरू सन्तों की पूजा सेवा चरणों से परिक्रमा आदि भक्ति के कार्य व्यक्ति से जुड़े हुए हैं। भक्ति की परिभाषा ईश्वर से ही सम्बन्धित भिन्न-भिन्न रूपों से की गई है यथा-

''सा त्वास्मिन परमप्रेमस्वरूपा''।[2]

''या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी

त्वामनु स्मरतः सा मे हृदयान्माप्रार्पतु॥''[3]

''स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्ति रिव्युच्यते बुधैः।''[4]

''क्लेश धनी शुभदा मोक्षलघुता कृत् सुदुर्लभा

सान्दशनन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥''[5]

अर्थात् क्लेशों का नाश करने वाली, कल्याणदायिनी मोक्ष से भी महत्त्वपूर्ण, दुर्लभ, गाढ़े आनन्द की भूमिका से युक्त और श्रीकृष्ण को आकर्षित करने वाली वृत्ति ही भक्ति है।

भक्ति की विविध शास्त्रीय और लोक परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भक्ति ईश्वर के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण की संज्ञा है। वैदिक, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में भक्ति का लोक स्वरूप परिव्याप्त है। वही भक्ति भाव तुलसी की विनय पत्रिका में सम्पूर्णतः विराजमान है। भारतीय संस्कृति और शास्त्र में नवधा की चर्चा होती है। स्मरण, कीर्तन, श्रवण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भक्ति।

गोस्वामी तुलसीदास की विनय पत्रिका भक्ति की गीता है। अमुक कृति में गोस्वामी जी ने अपना हृदय अपने आराध्य के समक्ष सम्पूर्णतः खोल कर समर्पित कर दिया है। भक्ति की अद्भुत त्रिवेणी गोस्वामीजी ने प्रवाहित किया है। गोस्वामीजी किसी भक्ति या नवधाभक्ति की चर्चा विनय पत्रिका में नहीं करते बल्कि अपने गुणों को स्पष्टतः व्यक्त करते हुए प्रभु के चरणों में अर्पित कर देते हैं-

''श्री रघुबीर की यह बानि।

नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥

परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कॉनि?

लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि॥

गीध कौन दयालु, जो बिधि रच्यो हिंसा सानि?

जनक ज्यों रघुनाथ ताकहँ दियो जल निज पानि॥

प्रकृति-मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन-खानि।

खात ताके दिये फल अति रूचि बखानि बखानि॥

रचनिचर अरू रिपु विभीषन सरन आयो जानि।

भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि॥

कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि।

किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि॥

राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि।

भजहि ऐसे प्रभहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि॥''[6]

अर्थात प्रभु श्रीराम का तो यही रूप बानि है, वर्ण है, स्वभाव है कि वे मन से विशुद्ध और अनन्य प्रेम समझकर नीच से भी नेह करते है, उसे अपना लेते हैं। प्रभु राम का जीवन इन प्रमाणों से भरा हुआ है, फिर तो तुलसीदास राम के प्रेम का एक-एक प्रमाण गिनाने लगते हैं। गुह निषाद महान, नीच और पापी था, उसकी क्या इज्जत थी परन्तु भगवान ने उसका प्रेम पहचान कर उसे हृदय से लगा लिया। इसी तरह हिंसक गीध, नीच शबरी, खल विभीषण सभी को आदर सत्कार दिया। इन सभी प्रमाणों से सिद्ध है कि श्रीराम जी स्वभाव से ही कृपालु, कोमल, गरीबों का हित करने वाले हैं। इसलिए तुलसीदास ने स्वयं को भी श्रीराम के चरणों में समर्पित कर दिया है। तुलसी की भक्ति रागानुरागा भक्ति है, दास्य भक्ति है। इसलिए उनकी भक्ति प्रपत्तिस्वरूपा हो गई है। प्रपत्ति के संदर्भ में कहा गया है- भगवद्स्वरूप प्राप्य वस्तु की इच्छा करने वाले

* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी

उपायहीन व्यक्ति की पर्यावसायिनी निश्चयात्मिका में वृद्धि ही प्रपत्ति का स्वरूप है।'' तथा अनन्य साध्य भगवतप्राप्ति में महाविश्वास पूर्वक भगवान को ही एकमात्र उपाय समझकर प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्तिभाव है और यही शरणागति है।

शरणागत का अर्थ ही होता है शरण में आया हुआ। जब भक्त भगवान को ही उपेय और उपाय मानकर उनकी शरण में चला आता है फिर उसे अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती भक्त 'मा शुचः' हो गया। उसने अपने समस्त धर्मों का परित्याग कर दिया वह चिन्तामुक्त हो गया। इसलिए भगवान राम ने समुद्र तट पर वानरों से कहा- ''जो मेरी शरण में आकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहता है उसे अभयदान देता हूँ।'' ऐसा व्रत है-

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वभूतोभ्यो ददाम्येत्द्व्रतं मम।''[7]

इन्हीं भावों के कारण भक्त उपायन्तरों का परित्याग कर एकमात्र ईश्वर के चिन्तन में अपने को तल्लीन कर लेता है। उसे न सांसारिक ईषणाओं की आकांक्षा रहती है और नहीं उसकी युक्ति की चिन्ता रहती है। उसका एकमात्र काम्य ईश्वर भक्ति प्राप्ति है। तुलसीदास ने भी इसी प्रपत्तिभाव से लिखा है-

''विस्वास एक राम-नाम को।

मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को।।

पढ़िबो पर्‌यो न छठी छ मत रिगु जजुर अथर्वन साम को।

ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को।।

करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।

ग्यान विराग जोग जप तप, भय लोभ मोह कोह काम को।।

सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन-ग्राम को।

बैठे नाम-कामतरू-तर डर कौन घोर धन धाम को।।

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर पर धाम को।

तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलामको।।''[8]

मुझे तो एकमात्र राम का ही विश्वास है। यह मन इतना कुटिल है कि (राम के अतिरिक्त) कही अनत नहीं लगता। छः शास्त्र न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा वेदान्त तथा चार वेद ऋक, यजु, अथर्व, साम ये पढ़ना हमारी छठी (भाग्य) में नहीं है। व्रत, तप, तीर्थ, आदि नाम सुनकर हमारा मन डर जाता है। कौन इन साधनों में मर-मरकर, पच-पचकर अपनी काया क्षीण करे। जो राम नाम रूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हैं, उन्हें घनघोर घटा (तमोमय अंधकार) अथवा तेज धूप (विषयों की चकचौंध) का क्या डर है, तुलसीदास को तो इस संसार में रामजी का गुलाम होकर जीना नीक (सुखमय) लगता है। कहा जा सकता है कि तुलसी को संसार के समस्त वैभव से भिन्न एकमात्र रामगुलाम का गुलाम होना ही श्रेष्ठतम है। फिर उसे दैहिक, दैविक, भौतिक तापों का क्या भय जीव जैसे ही राम के शरण में आता है उसके समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं। रावण के कष्ट से पीड़ित, अपमानित होकर विभीषण राम की शरण में आया, राम ने वैसे ही उसे टीककर लंकाधिपति बना दिया। द्रौपदी जैसे ही प्रभु को आर्त होकर पुकारती है प्रभु ने त्यों ही उसके कष्ट को दूर कर दिया। गजराज ने जैसे ही प्रभु को पुकारा त्यों ही वे दौड़े हुए आये। भक्ति और शरणागत में पार्थक्य है। भक्ति जहां साधनरूप है, वही प्रपत्ति साध्य या फलरूपा कहलाती है। भक्ति और प्रपत्ति दोनों में भगवद् अनुगृह प्रेम का प्रकर्ष होता है और दोनों का फल भगवान की प्राप्ति है। किन्तु भक्ति में साधन विशेष का स्वीकार्य है। प्रपत्ति में भगवत्सेवा, भगवान का जप, तप, कीर्तन आदि का निषेध नहीं परन्तु यह कार्य आवश्यक भी नहीं है। पांचरात्र के लक्ष्मी संहिता में प्रपत्ति के छः अंगों का वर्णन मिलता है। (1) अनुकूल्य का संकल्प (2) प्रतिकूल्य का वर्णन (3) रक्षिष्यतीति विश्वास (4) गोप्तृत्व वरण (5) आत्मनिक्षेप (6) कार्पण्य।

विनय पत्रिका प्रपत्ति के भाव से परिपूर्ण है। इसके सभी पदों में भक्ति का पक्ष सन्निहित है। भक्त अपने आराध्य की शरण में जाने पर आत्महितार्थ अनुकूल सत्कार्यो का संकल्प लेता है, आत्मा के प्रतिकूल वृत्ति भाव का परित्याग करता है। वह ईश्वर के चरणों में देह, गेह, नेह समर्पित कर देता है। उसके मन में रंचमात्र भी अहं नहीं होता। शरणागत का यह भाव और रूप अत्यन्त मूल्यवान है। विनय पत्रिका का रचनाकार लिखता है-

''अबलौं नसानी अब न नसैहौं।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।।

पायेउँ नाम चारू चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।

स्यामरूप सुचि रूचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं।।

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौ।

मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।।''[9]

तुलसीदास प्रभु की कृपा से जब स्वयं को चेता तो पाया कि अभी तक का जीवन (आयु) तो नष्ट हो गया, परन्तु अब इसे नष्ट नहीं होने दूँगा। हम अब श्रीरामचन्द्र जी कृपा से माया रूपी रात्रि से जग गया हूँ। अब जागने पर पुनः मायारूपी बिछौना नहीं बिछाऊँगा। मुझे रामनाम रूपी सुन्दर चिन्तामणि मिल गयी है। अब इसे हृदयरूपी हाथ से कभी गिरने नहीं दूँगा। जब तक मैं इन्द्रियों के वश में था तब तक इन्द्रियों ने मनमाना नाच नचाकर मेरी बड़ी हंसी उड़ाई। परन्तु अब इन्द्रियों से स्वतंत्र होने पर उनसे अब अपनी हंसी नहीं उड़वाऊँगा। अब रघुपति का चरण-कमल छोड़कर अन्यत्र नहीं जाऊँगा। कवि के मन का यह अद्‌भुत संकल्प है। प्रभुराम के चरणों का अनुराग अब उसे डिगा नहीं सकता।

''महाराज रामादरयो धन्य सोई।

गरूअ, गुनरासि, सरबग्य, सुकृति, सूर, सील-निधि साधु तेहि- सम न कोई॥

उपल, केवट, कीस, भालु, निसिचर, सबरि, गीध सम-दया-दान-हीने।

नामलिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुनगान कीने।

मंदमति, कुटिल, खल तिलक तुलसी सरिस, भो न तिहूँ लोक तिहूँ काल कोउ।

नामकी कानि पहचानि पन आपनो, ग्रसित कलि-ब्याल राख्यो सरन सोऊ॥''[10]

तुलसी को अपने राम पर अगाध विश्वास है, कवि ने राम विश्वास दर्शाने के लिए पूरी विनय पत्रिका उदाहरणों प्रतीकों, बिम्बों, शब्दों, अलंकारों से पूर दिया है। तुलसी कहते हैं राम ने जिसको आदर दिया वह श्रेष्ठ हो गया। बड़े उदार है हमारे राम बड़े भारी अर्थात् महिमान्वित, गुणों का भंडार, सर्वज्ञ पुण्यवान, वीर, सुशील, साधु है। अद्वितीय है राम। उनकी करूणा सब पर सम है। अहिल्या, निषाद, वानर, रीक्ष, राक्षस, गिद्ध, शबरी ये सभी शम, दया, दम और दान से रहित थे परन्तु श्रीराम के स्मरण से प्रभु राम ने इन्हें ऐसा पवित्र बना दिया कि संसार अब इनका स्मरण कर भव सागर से पार हो जाता है। तुलसी के राम शक्ति, शील, सौन्दर्य के स्वामी हैं उनका सौन्दर्य अपरम्पार है-

''है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।

सुभग सरोरूह लोचन, सुठि सुन्दर स्याम॥

सिय-समेत सोहत सदा छबि अमित अनंग।

भुज बिसाल सर धनु धरे, कटि चारू निषंग।

बलिपूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति।

सुमिरन ही मानै भलो, पावन सब रीति॥

x x x x x x x x

को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव ।

तुलससिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव॥''[11]

कोसलपति रामजी सबसे नीक (अच्छे सर्वश्रेष्ठ) हैं। शब्दों का ऐसा सरलतम प्रयोग राम के सौंदर्य रूपराशि को श्रेष्ठतम बना देता है। उनके कमल के समान नेत्र हैं और शरीर परमसुन्दर श्यामवर्ण है। उनके साथ माता सीता सर्वदा शोभायमान रहती हैं। उनके रूपराशि के समक्ष करोड़ों कामदेव बलिहारी हैं उनकी भुजायें विशाल है उसमें धनुष बाण सुशोभित हैं और कटि में सुन्दर तरकश धारण किये हुए हैं। वे सिर्फ प्रेम चाहते हैं और रामजी प्रेममय हैं। देवाधिदेव महादेव उनकी अर्चना करते हैं फिर तो मैं भी स्वयं (तुलसीदास) उन्हीं भगवान राम की अर्चना करता हूँ। 'गीतावली' में कवि तुलसीदास विभीषण के द्वारा इसी प्रकार के भाव व्यक्त करवाते हैं-

''महाराज राम पहँ जाउँगो।

सुख स्वारथ परिहरि करिहो सोई ज्यो साहिबहि सुहाउँगो।

सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं निपरिहि सकुचाउँगो।

x x x x x x x x

तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहों उबरी जूठनि खाऊँगो।''

तुलसी ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' भक्ति को मानवता के श्रेष्ठ मूल्य में स्थापित किया। उनकी भक्ति कर्मकाण्ड वैयक्तिक भक्ति नहीं अपितु वह समाजनिष्ठ है। लोकमंगल की भावना सर्वोपरि है। तुलसी भक्ति समाज में घटित हो रहे सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के बीच भारतीय अस्मिता की रक्षा एवं प्रतिष्ठा का सबसे कारगर माध्यम है। उनका राम मात्र लोक नायक ही नहीं वह वनवासी, राजाराम, लोकाराध्य, सर्वलोकवासी है। तुलसी की भक्ति समरस है। लोक वेद के प्रति, समरस भाव लिए लोक चेतना को जीवंत कर देता है। उसमें जीवटता आ जाती है। लोक, समाज, वेद का कितना भी खंडन करो वह खंडित नहीं हो सकता क्योंकि रामचरित के साथ मानस जोड़ने का यही तुलसी चिंतन है।

सम्पूर्ण विनय पत्रिका में भाव भक्ति केन्द्रित है। भाव वहीं श्रेष्ठ है जब हम सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध हो उसमें मूल्य संरक्षण हो। तुलसी ने भक्ति की बड़ी अच्छी व्याख्या की है जो अवर्चनीय है जिसका सार सम्पूर्ण विनय पत्रिका में आलोकित है-

''प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसर रति मम कथा प्रसंगा॥

गुरू पद पंकज सेवा तीसर भगति अमान।

चौथि भगति मम गुन गन करइ निरंतर गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।

छठ दम शील विरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।

आठव जठा लाभ संतोषा। सपनेहूँ नहिं देखइ पर दोषा।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥''

तुलसी की यह नवधा भक्ति श्रेष्ठ है। यहां कोई कर्मकांड नहीं है। लेकिन विनय पत्रिका दास्य भक्ति से सराबोर है। दास्य भक्ति भक्त को कभी छोटा नहीं बनाती। स्वामी के पास माथा इसलिए झुका कि संसार में कहीं और यह मस्तक न झुके।

''रावरो कहावौं गुन गावौं राम रावरोई।

मान्यौ मैं न दूसरो, न मानत न मानिहौं।''

भक्त की यह दीनता सिर्फ भगवान के प्रति है अन्यत्र नहीं है।

संदर्भ सूची

1. हिन्दी शब्द सागर पृ0 876 पाँचवां संस्करण, 2000 वि0
2. नारद भक्ति सूत्र, संख्या-3
3. विष्णु पुराण 1/20/19
4. गीता पर रामानुज भाष्य, 6 अध्याय, श्लोक
5. श्री हरिभक्ति रसामृत, सिन्धु : प्रथम लहरी पूर्व विभाग, श्लोक 13।
6. विनय पत्रिका पद संख्या 215 पृ0 269
7. बाल्मीकि (6118133)
8. विनय पत्रिका पद संख्या 155 पृ0 200
9. विनय पत्रिका पद संख्या 105 पृ0 137
10. विनय पत्रिका पद संख्या 106 पृ0 138
11. विनय पत्रिका पद संख्या 107 पृ0 139

●

लोककवि गोस्वामी तुलसीदास विषयक रामविलास शर्मा का चिन्तन

*डॉ0 ऋतम्भरा तिवारी**

तुलसीदास डॉ0 शर्मा के अत्यन्त प्रिय और आदर्श कवि हैं। डॉ0 शर्मा अति क्रान्तिकारी मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा तुलसी पर लगाए गए आरोपों का अपने सूक्ष्म मूल्यांकन-विश्लेषण तथा तार्किक चिन्तन से खण्डन करते हैं तथा तुलसी को सामन्त विरोधी, लोकवादी, प्रगतिशील कवि के रूप में स्थापित करते हैं। उन्होंने तुलसीदास पर कई महत्वपूर्ण लेख लिखे और अपनी मान्यताओं को उसमें प्रस्तुत किया है।

शर्माजी की मान्यता है कि तुलसीदास भारतवर्ष के अमर कवि हैं। उनकी इस मान्यता के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों ने विरोध व्यक्त किया है। डॉ0 शर्मा के अनुसार तुलसी-साहित्य से विरोध प्रकट करने वालों में दो तरह के आलोचक हैं- पहली तरह के आलोचक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखकर इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली और राम, सीता आदि के चरित्रों द्वारा हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के लिये अमर आदर्शों की प्रतिष्ठा कर दी। दूसरी तरह के आलोचक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के छिन्न-भिन्न होने के समय फिर ब्राह्मणवाद का समर्थन किया, नारी की पराधीनता को आदर्श रूप में रखी और जनता को भक्तिरूपि अफीम की घुट्टी देकर सुला दिया।''[1] रामविलास जी के अनुसार ये दोनों ही तरह के आलोचक तुलसीदास की विचारधारा को प्रगतिविरोधी सिद्ध करते हैं और ऐसा करके वे हिन्दीभाषी जनता को तुलसीदास की सांस्कृतिक विरासत से वंचित करते हैं। देश की सामाजिक प्रगति में तुलसीदास का क्या स्थान है, उन्हें प्रगति का समर्थक कवि कहा जाय या प्रतिक्रिया का, हिन्दू समाज पर जो उनके धर्म और नीति की गहरी छाप है, उससे देश का मंगल हुआ है या अमंगल आदि प्रश्नों को लेकर आलोचकों में यथेष्ट मतभेद रहा है। डॉ0 शर्मा ने अपने सुचिन्तित विवेचन द्वारा इन सभी प्रश्नों का तर्कसंगत उत्तर दिया है।

तुलसी-साहित्य के सामाजिक महत्व के विवेचन से पहले उन्होंने प्रथमतः इस प्रश्न पर विचार किया है कि महान साहित्यकार किसे कहें ? वे लिखते हैं- ''प्रत्येक कवि और महान लेखक अपने युग से प्रभावित होता है; युगसत्य उसकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है, युगसत्य की व्यंजना से कवि अपने युग को भी प्रभावित करता है; उसके परिवर्तन में, उसकी प्रगति में उसका हाथ होता है। ऐसा कवि और लेखक ही महान साहित्यकार हो सकता है।''[2] इस कसौटी पर रामविलास जी ने गोस्वामी तुलसीदास का मूल्यांकन करते हुए- तुलसीदास का युगसत्य क्या है, क्या वे अपने युगसत्य से प्रभावित थे, क्या उनका साहित्य उस युग को प्रतिबिम्बित करता है, उनके साहित्य का समाज पर पड़ने वाला प्रभाव समाज की प्रगति में साधक है या बाधक आदि प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया है।

डॉ0 शर्मा के अनुसार तुलसीदास के युगसत्य को जानने के लिये उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। तुलसीदास का काल मुगल-साम्राज्य के वैभव का काल था। अकबर और जहाँगीर उनके समकालीन शासक थे। अकबर ने अपने शासनकाल में इस्लाम की धर्मान्धता और कट्टरपन को गहरी चोट पहुँचाई थी तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया था। तुलसीदास को हिन्दू धर्म का उद्धारक कहने वाले आलोचकों को डॉ0 शर्मा का यह तर्क है कि- ''जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम की रक्तरंजित प्रगति को रोकने के लिये रामचरितमानस की रचना की, उन्हें यह न भूलना चाहिए कि कट्टर मुल्ला और मौलवी अकबर पर यह दोष लगाते थे कि उसने इस्लाम से मुँह फेर लिया है।''[3] उनके इस तर्क से यह स्पष्ट है कि अकबर जिसकी स्वयं धर्म नीति उदार थी उससे हिन्दू-धर्म की रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। रामविलास जी लिखते हैं- ''वास्तव में गोस्वामीजी ने हिन्दू-धर्म की रक्षा की, परन्तु अकबर और इस्लाम से नहीं; उन्होंने उसकी रक्षा की उसके अपने आन्तरिक शत्रुओं से, मत-मतान्तर, द्वेष, कलह, अन्धविश्वास से।''[4]

रामविलास जी के अनुसार मध्यकालीन भारत में मुख्य समस्या मालगुजारी वसूल करने की व्यवस्था थी। किसानों से मनमाना कर वसूल किया गया जिससे उनकी दशा और बदतर होती चली गई। मुख्य उत्पादक शक्ति किसान थे और उनके उत्पादन से लाभ उठाने वाले हिन्दू और मुगल सामन्त थे। उस समय मुख्य संघर्ष इन्हीं दोनों वर्गों (किसानों और सामन्तों) के बीच था। अकबर से जैसे-जैसे हम औरंगजेब की ओर बढ़ते है वैसे-वैसे संघर्ष और तीव्र होता जाता है, लेकिन अकबर से पहले विभिन्न युद्धों के कारण तथा औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति के कारण यह वर्ग संघर्ष दबा-दबा रहता है। वह अपने स्पष्ट रूप में उभरकर सामने नहीं आता। रामविलास जी के अनुसार यही कारण है कि मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में वर्ग संघर्ष का स्पष्ट चित्रण नहीं मिलता। वह सामन्तों और राजाओं के विरूद्ध किसानों के अधिकार की माँग करते दिखाई नहीं देते, परन्तु इतना अवश्य है कि वर्ग संघर्ष की रूपरेखा न होते हुए भी यह संघर्ष विद्यमान था और इस संघर्ष की

* पूर्व सिनियर रिसर्च फेलो, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सम्प्रतिः पूर्व कैम्पस, अनहुई यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्नालॉजी, मानशान् सिटी, अनहुई प्रोविन्स, चीन।

छाया मध्यकालीन महान कवियों की रचनाओं में भी उपस्थित था।''[5] डॉ0 शर्मा ने उदाहरण स्वरूप तुलसीदास की यह पंक्ति उद्धृत की है जो उस समय के उसी वर्ग-संघर्ष को और उसके प्रति उनकी जागरूकता को व्यक्त करता है-

''खेती न किसान को भिखारी को न भीख बली,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।''[6]

रामविलास जी के अनुसार तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में युगसत्य का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कलियुग का वर्णन करके वास्तव में उन्होंने अपने समय की दुरवस्था का ही चित्रण किया है, और आदर्श रूप में उन्होंने उस रामराज्य की कल्पना की है, जिसकी उन्हें कामना थी। डॉ0 शर्मा के अनुसार वास्तविकता और कल्पना के ऐसे ''कन्ट्रास्ट'', ऐसी तीव्र विषमता किसी भी दूसरे कवि के चित्रण में दिखाई नहीं देती है। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त तुलसीदास ने अपनी अन्य रचनाओं में दुष्ट शासकों के प्रति अपने वाग्बाणों की वर्षा की है। उन्होंने भविष्यवाणी की है कि रावण और कौरवों के समान ही इन शासकों का भी अंत होगा-

''राज करत बिनु काज ही, करें कुचालि कुसाज।

तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज॥

राज करत बिनु काज ही, करहिं जो कूर कुठाट।

तुलसी ते कुरूराज ज्यों, जइहैं बारह बाट॥''[7]

तुलसीदास का शोषण करने वाले शासकों के प्रति यह दृष्टि अन्यत्र भी अनेक जगह दिखाई पड़ती है। वे साधारण जनता का शोषण करने वाले शासकों और शोषित जनता के कष्टों के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए लिखते हैं-

''तुलसी जगजीवन अहित, कतहूँ काउ हित जानि।

सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक घन दानि॥''[8]

कुछ आलोचकों ने तुलसीदास द्वार रामचरितमानस में वर्णित वर्ण-व्यवस्था और स्त्री की स्थिति को लेकर उनकी विचारधारा को प्रतिक्रियावादी सिद्ध करते हुए उन्हें कटघरे में खड़ा किया है। कलियुग के वर्णन में वर्णाश्रम-धर्म के नष्ट होने पर तुलसीदास द्वारा क्षोभ प्रकट करने के सम्बन्ध में रामविलास जी का मत है कि- ''जब उत्तरकाण्ड में हम तुलसी को इस बात पर क्षोभ प्रकट करते देखते हैं कि शूद्र ब्राह्मणों की बराबरी करने लगे हैं, तब हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि या तो उनके विचारों में अन्तर्विरोध है या फिर पुरोहितों का चमत्कार है, जिन्होंने अपने काम की बातें मिलाकर रामचरितमानस को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की।''[9] डॉ0 शर्मा का मानना है कि रामचरितमानस के कुछ अंशों के आधार पर तुलसीदास की प्रगतिशील विचारधारा को खण्डित नहीं किया जा सकता। वे स्पष्ट रूप से यह घोषित करते हैं- ''तुलसी का साहित्य उनके विचारों को अलग करके महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।''[10] उनका मानना है कि तुलसी-साहित्य के विषय में प्रतिक्रियावादी विचार व्यक्त करने वाले लोग उनके विचारों को संदर्भ से काटकर प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं- ''स्त्रियों, शूद्रों आदि के सम्बन्ध में तुलसी के प्रतिक्रियावादी विचार मुझे प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं, क्योंकि उनके शेष ग्रन्थों में कहीं उस तरह के विचार व्यक्त नहीं किए गए। सम्भवतः प्रतिक्रियावादियों ने मानस का प्रचार देखकर उनमें वे विचार जोड़ दिए।''[11]

तुलसीदास की विचारधारा में मनुष्य बड़ा होता है, अपनी मनुष्यता के कारण न कि जाति या पद से। उन्होंने ब्राह्मणों की पुरोहिताई की निन्दा की है। संस्कृत की तुलना में लोकभाषा को महत्व दिया है तथा संस्कृत द्वारा होने वाले पुरोहिती-'' शोषण पर कठोर प्रहार भी किया है, जो तुलसीदास की प्रगतिशील विचारधारा का द्योतक है न कि प्रगति विरोध का। प्रमाण रूप में डॉ0 शर्मा तुलसीदास के इस पद को उद्धृत करते हैं-

विप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यो, हठि सबसों बैर बढ़ावौं।

ताहू पर निज मति विलास सब संतन साँझ गनावों॥''[12]

डॉ0 शर्मा ने बलपूर्वक अपनी इस मान्यता को स्थापित किया है कि तुलसी का साहित्य वैचारिक रूप से प्रगतिशील है। वे हरगिज यह मानने को तैयार नहीं हैं कि तुलसी ने वर्णवाद, जातिवाद, भाग्यवाद को मजबूत किया है। तुलसीदास को अपने जीवनकाल में जातिप्रथा के ठेकेदारों का कोपभाजन बनना पड़ा था, फिर क्यों वे उन्हीं के पक्ष का समर्थन करेंगे। इसलिये डॉ0 शर्मा ने कहा है- ''तुलसी के राम भक्तों को मुक्ति देते समय जाति-पाँति का विचार नहीं करते। जाति-पाँति पर निर्भर धर्म शास्त्र एक ओर है, तुलसी की भक्ति, जो सभी के लिये मुक्ति का द्वार खोलती है दूसरी ओर है।''[13] रामविलास जी के अनुसार तुलसीदास के काव्य का मूल मंत्र था- 'जाति-पाँति पूँछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई'[14] इसी मंत्र की सिद्धि करने वाले वाल्मीकि की चर्चा भी करते हैं जो मरा मरा का जाप कर मुनि हो गया।

इसी प्रकार स्त्री सम्बन्धी उनकी विचारधारा का स्पष्टीकरण उनके इसी पद से हो जाता है, जहाँ वे पतिभक्ति को पराधीनता का रूप समझकर उसपर आँसू बहाते हैं और लिखते हैं-

''कत विधि सृजी नारि जग माहीं।

पराधीन सपनेहुँ सुख नहीं।[15]''

तुलसीदास ने पराधीन जनता को भक्ति की बूटी देकर मोह-निद्रा में सुला दिया जैसे आरोपों का खण्डन करने के लिये डॉ0 शर्मा ने तुलसीदास के भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण पर विस्तार से विचार किया है। उनका मानना है कि आरोपों को निराधार सिद्ध करने के लिये तुलसीदास की भक्ति के स्वरूप को जानना आवश्यक है। तुलसीदास की भक्ति का दृढ़ आधार उनका ज्ञान है। उन्होंने साधारण जनता के लिये भक्ति मार्ग का प्रतिपादन अवश्य

किया है, लेकिन वे ज्ञानी नहीं थे या सन्त-योगी जिसे ज्ञान कहते हैं उन्हें प्राप्त नहीं था ऐसा नहीं है। उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र प्रत्येक धारा के दार्शनिक तत्व मिलते हैं लेकिन वे किसी दर्शन विशेष की सीमाओं में बँधते दिखाई नहीं देते, जो शर्मा जी के मतानुसार उनके ज्ञान की मौलिक विशेषता कही जा सकती है। एक और विशेषता उनके ज्ञान की है, जो उन्हें संसार से जोड़ती है और वो है उनकी 'लोकधर्मिता'। शर्मा जी ने इन दोनों ही विशेषताओं का विस्तार से विवेचन किया है।

ब्रह्म, जीव, जगत के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में विविध दृष्टिकोण दिखलाई पड़ते हैं, लेकिन इनके प्रति तुलसीदास के विचारों में तारतम्य है। तुलसीदास के लिये ब्रह्म व्यक्त और अव्यक्त, सगुण और निर्गुण दोनों है। इस कारण उनके लिये ब्रह्म की सत्ता परोक्ष सत्ता मात्र नहीं है वह प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी है। रामविलास जी लिखते हैं- ''तुलसी जिस राम या ब्रह्म के उपासक हैं, वह परोक्ष सत्ता नहीं है। वह उनके लिये प्रकट सत्य है। साथ ही उनका ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्ता मात्र नहीं है। वह परोक्ष भी है और प्रत्यक्ष भी। इसलिये तुलसीदास न विशुद्ध निर्गुणवादी हैं, न विशुद्ध सगुणवादी।''[16] इस सम्बन्ध में तुलसीदास की यह उक्ति प्रसिद्ध है-

'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'

अकथ अगाध अनादि अनूपा॥[17]

जगत के सम्बन्ध में तुलसीदास का दार्शनिक दृष्टिकोण 'लोकोन्मुखी' है। सांख्य-पातंजल के मतानुसार संसार सत्य है, क्षणिकवादी बौद्धों के अनुसार संसार असत्य है तथा न्याय वैशैषिक दर्शनों के अनुसार वायु, तेज, जल और पृथ्वी अनित्य है और आकाश, काल, दिक् और नित्य है। रामविलास जी के अनुसार बौद्ध और वेदान्ती दार्शनिक जहाँ संसार को मिथ्या और दुख का कारण बतलाते थे, वहीं तुलसीदास ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अलखवादियों का खण्डन किया है और संसार को झूठा कहने वालों को गँवार कहा है। प्रत्यक्ष जगत जो दिखाई देता है जो सगुण है वह परोक्ष और निर्गुण सत्ता से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। प्रत्यक्ष जगत जो स्थिर दिखाई देता है वह परोक्ष रूप से प्रतिक्षण गतिशील है, वह शक्ति और ऊर्जा का मूर्त रूप है। इन दोनों की एकता ही जगत या संसार का मूल कारण है। इस न्याय से तुलसीदास के लिये प्रत्यक्ष या व्यक्त जगत ब्रह्ममय है और सत्य है- ''सिया राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।''[18]

शर्मा जी के अनुसार जीव को लेकर तुलसीदास का मत वेदान्ती नहीं है। उन्होंने जीव को ब्रह्म का अंश मानकर चेतन और अविनाशी माना है। संसार के जड़ चेतन सभी को राममय स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं- ''जड़ चेतन जगजीव जत, सकल राममय जानि।''[19] तुलसीदास का दर्शन जीवन की स्वीकृति का दर्शन है। जीव के जीवत्व का विनाश करके मोक्षलाभ करने का दर्शन नहीं है। वह सत्य और अविनाशी है- ''ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।''[20] इस प्रकार तुलसीदास के ब्रह्म, जगत और जीव के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए वे स्पष्ट लिखते हैं- ''वह (तुलसीदास) भक्त होने के साथ दार्शनिक कवि भी हैं। उनके लिये ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों है; ब्रह्म संसार से परे नहीं है, वह प्रत्यक्ष जगत में व्याप्त है। संसार को रचने वाली शक्ति विद्या है, अविद्या नहीं है; वह मनुष्य के लिये श्रेयस्करी है। राम ब्रह्म हैं तो सीता आदिशक्ति हैं। जीव ब्रह्म का ही अंश है।''[21]

शर्मा जी का मानना है कि दुख का तुलसीदास की भक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन्होंने अपने लोकोन्मुखी दर्शन के कारण ही अपने तथा दूसरे के कष्टों का यथार्थ चित्रण किया है। संसार में दरिद्रता को तुलसीदास ने मनुष्य के कष्टों का सबसे बड़ा कारण माना है, जिसका वर्णन उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में किया है। डॉ0 शर्मा के अनुसार तुलसीदास अपने समय की आर्थिक स्थिति के प्रति सचेत रचनाकार थे। उन्होंने पेट की आग को बड़वाग्नि से भी बड़ा बताया है। दरिद्रता को रावण बताया, जिसने सारे संसार को दबा रखा है। तुलसीदास जी लिखते हैं-

''तुलसी बुझाई एक राम घनश्याम ही तें।

आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की॥''[22]

इस प्रकार शर्मा जी के अनुसार तुलसीदास ने देश की दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। अपने लोकोन्मुखी दर्शन के कारण ही वे अपने दुखों के साथ दूसरों के दुख का भी यथार्थ वर्णन कर सके। शर्मा जी ने सही लिखा है कि- ''सम्भवतः दुख की यह अतल गहराई देखे बिना कोई बड़ा कवि हो नहीं सकता। तुलसी ने उसे देखा था और उनके दुख का स्मरण इसलिये आवश्यक है कि हम आज के युग में उनकी भक्ति को कल्पना-विलास न समझ लें। भक्ति उनकी जीवन-साधना की गाढ़ी कमाई थी, विषम सामाजिक परिस्थितियों में वह उनका एकमात्र सम्बल थी। इस दुखानुभूति ने उनकी भक्ति का साधारणीकरण कर दिया। जिस करूणरस को भवभूति ने सभी रसों का स्रोत कहा था, उसने तुलसी की भक्ति को मानवमात्र की सम्पत्ति बना दिया।''[23] उन्होंने दुख का ही नहीं, संसार के अनेक व्यापारों, मानवजीवन के अनेक पक्षों का चित्रण किया है। संसार में जीव को कैसे जीना चाहिए इसके लिये तुलसीदास की रचनाओं में व्यावहारिक ज्ञान की सैकड़ों बातें भारी पड़ी हैं, जो उनके लोकोन्मुखी होने का अनिवार्य परिणाम है।

शर्मा जी के अनुसार तुलसी की भक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध सामाजिक उत्पीड़न से है चाहे वो गरीब हों, समाज के दलित प्राणी हों, स्त्रियाँ हों या नीच समझे जानेवाले लोग हों सभी से उनका आत्मिक लगाव है। उनके अनुसार तुलसीदास की भक्ति के सभी अधिकारी हैं, जिसमें वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं किया गया है, उनकी भक्ति पुष्प के उस सुगन्ध की

भाँति है जो अपने सुगन्ध को सर्वत्र बिना किसी भेद-भाव के बिखेरता है तथा जो सूर्य के उस प्रकाश की भाँति है, जिसका प्रकाश अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा आदि भावनाओं से रहित सभी को समान रूप से प्राप्त होता है। तुलसी की भक्ति उसी प्रकाश और सुगन्ध की भाँति है और इसी कारण लोकवादी चेतना से युक्त है, जिसे रामविलास जी की सूक्ष्म और पारखी दृष्टि पहचान सकी। वे लिखते हैं- ''तुलसी की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जो 'अति अघरूप' समझे जाते हैं, उन ''आभीर, जवन, किरात, खस, स्वपचादि'' के लिये भी वह कहते हैं कि राम का नाम लेकर वे भी पवित्र हो जाते हैं। उससे उनकी भक्ति का जनवादी तत्व अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। जिन तमाम लोगों के लिये पुरोहित वर्ग ने उपासना और भक्ति के द्वार बन्द कर दिए थे, उन सबके लिये तुलसी ने उन्हें खोल दियां''[24]

तुलसीदास राम के परम भक्त हैं, वह राम जो ऊँच-नीच के भेद-भाव की क्षुद्र मानसिकताओं से ग्रसित नहीं थे, वह सामन्तवादी, जनविरोधी, स्वार्थी, अन्यायी, दंभी नहीं थे। तुलसी के राम जब इस प्रकार के दुर्भावनाओं से मुक्त थे, तो विचार करना चाहिए कि उन्हीं राम के परम भक्त तुलसीदास जनविरोधी, सामन्ती व्यवस्था के समर्थक कैसे हो सकते थे? इस विषय में डॉ0 शर्मा लिखते हैं- ''तुलसी आत्मकेन्द्रित व्यक्ति न थे। उन्हें जितना अपने दुख का ज्ञान था, उतना ही दूसरों के दुख का भी। उन्होंने राम में जितनी करूणा की कल्पना की थी, वह सब उनके हृदय में विद्यमान थी। तुलसी की यह विराट मानवीय सहानुभूति उनकी भक्ति का अभिन्न अंग है।''[25]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामविलास शर्मा जी तुलसीदास को न केवल हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करते हैं अपितु वे उन्हें भारत का प्रतिनिधि कवि कहते हैं। वर्णवादी व्यवस्था का चित्रण करने के साथ-साथ उन्होंने भक्ति का विस्तृत एवं उदार मार्ग दिखाया है। उनकी दृष्टि लोकोन्मुखी रही है। इसलिए उन्हें लोककवि कहना अत्यन्त उचित एवं सार्थक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, 1981, पृ0 74
2. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'भाषा युगबोध और कविता', वाणी प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, आवृत्ति 2014, पृ0 32
3. वही, पृ0 33
4. वही, पृ0 33
5. वही, पृ0 35
6. वही, पृ0 35
7. वही, पृ0 36
8. वही, पृ0 36
9. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, 1981, पृ 79
10. वही, पृ0 79
11. सं0 डॉ0 नामवर सिंह, 'आलोचना', जून-मार्च, अप्रैल-जून, 1982, पृ0 44
12. वही, पृ0 33
13. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, 1981, पृ 78
14. वही, पृ0 78
15. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'भाषा युगबोध और कविता', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, आवृत्ति 2014, पृ0 37
16. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, 1981, पृ 60
17. वही, पृ0 60
18. वही, पृ0 60
19. वही, पृ0 60
20. वही, पृ0 64
21. वही, पृ0 73
22. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'भाषा, युगबोध और कविता', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, आवृत्ति 2014, पृ0 39
23. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, 1981, पृ 72
24. वही, पृ0 78
25. वही, पृ0 69-70

●

वैश्विक शान्ति हेतु स्वामी विवेकानन्द के सार्वभौमिक धर्म की संकल्पना की उपादेयता

ज्योति बाला, विजेन्द्र सिंह** एवम् प्रो. प्रेम शंकर राम****

वर्तमान वैश्विक मानव समाज सभ्यता के विकास क्रम में उच्च से उच्चतर की ओर अग्रसर है। इस विकास क्रम में विश्व की विशाल जनसंख्या, पृथ्वी पर संसाधनों की सीमित उपलब्धता और पर्यावरणीय समस्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषय बाधा पहुँचाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि विश्व का प्रत्येक व्यक्ति न केवल इन समस्याओं से निपटने हेतु एकता और सम्बद्धता का परिचय दे बल्कि वैश्विक स्तर पर एक होकर समस्त मानवता के विरूद्ध उत्पन्न हो रहे चुनौतियों का समाधान ढूँढे। लेकिन वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। आज वैश्विक स्तर पर अनेकों समुदाय वास्तविक चुनौतियों से लड़ने के बजाय धर्म, जाति, प्रजाति और सम्प्रदाय को लेकर संघर्षरत हैं। हम पूर्णतः यह नहीं कर सकते कि विश्व में हो रहे सभी संघर्षों का आधार जातिय संघर्ष ही होता है। इनमें से अनेक संघर्षों का आधार आर्थिक एवं राजनीतिक भी है। लेकिन सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो इन संघर्षों में जातीय अथवा धार्मिक द्वेष प्रकट अथवा अप्रकट रूप में अवश्य दिखाई पड़ेगा। *''अनुभविक अनुसंधानों से यह बात स्पष्ट होता है कि वर्तमान युग के दो-तिहाई युद्ध धर्म, जातीयता और राष्ट्रीय पहचान जैसे मुद्दों को लेकर हो रहे हैं।''* (चटोपाध्याय--) यद्यपि वैश्विक स्तर पर राज्यों एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा शान्ति हेतु अनेकों प्रयास किये जा रहे हैं परन्तु वैश्विक शान्ति का मुद्दा ज्वलन्त रूप में बना हुआ है। क्योंकि शान्ति की स्थापना केवल युद्ध का विराम नहीं हो सकता। शान्ति की स्थाई स्थापना के लिए सामाजिक एवं वैचारिक संरचना में बदलाव लाना होगा। जब तक शान्ति स्थापना को स्थाई नहीं बनाया जायेगा तब तक शान्ति की समस्या और शोध से जुड़े प्रश्नों की प्रासंगिकता बनी रहेगी। वैसे तो विश्व में अनेकों महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने अनुसार विश्व को शान्ति का मार्ग बताया। लेकिन भारत की मातृभूमि ने एक ऐसे महान व्यक्ति को जन्म दिया जिसने विश्व के सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों को अपनी विशिष्ट पहचान खोये बिना आपसी प्रेम एवं एक-लक्ष्य मानवता धर्म की ओर प्रेरित किया। उस महान व्यक्ति का नाम है- स्वामी विवेकानन्द। स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा प्रस्तुत सार्वभौमिक धर्म की संकल्पना को न केवल पश्चिमी समाज ने सुना बल्कि सम्पूर्ण विश्व धर्म समाज द्वारा सराहा गया। क्योंकि स्वामी जी ने सम्पूर्ण प्रकृति में विभिन्नता के गुण को न केवल स्वीकार किया बल्कि उसे उच्चतम विकास हेतु आवश्यक बताया। स्वामी जी ने इस विभिन्नता के साथ ही सब व्यक्तियों में कुछ समान लक्षणों की ओर भी संकेत किया जो कि मानवता के प्रेम एवं शान्तिपूर्वक व्यवहार हेतु पर्याप्त आधार बना सकता है। अतः यह प्रश्न अतिमहत्त्वपूर्ण हो जाता है कि क्या स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा प्रस्तुत 'सार्वभौमिक धर्म' की अवधारणा वर्तमान वैश्विक शान्ति की स्थापना हेतु प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है? उपरोक्त प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने हेतु शोधार्थी द्वारा विवेकानन्द जी के साहित्यों एवं शान्ति से सम्बन्धित अन्य लेखों को आधार बनाया गया है। इस प्रकार विभिन्न सम्बन्धित साहित्यों से प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण के उपरान्त वैश्विक शान्ति हेतु विवेकानन्द जी के सार्वभौमिक धर्म की उपयोगिता पर विचार किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द के 'सार्वभौमिक धर्म' की संकल्पना

मानव समाज के लिए 'धर्म' शब्द एक चिर परिचित शब्द है। इस शब्द ने ही विश्व समुदाय को शान्ति और संघर्ष के जटिलतम उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। मानव समाज में शान्ति के प्रसार हेतु धार्मिक व्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जबकि वैश्विक संघर्ष में भी धर्म का ही प्रधान योगदान रहा है। दुनिया में धर्म और सम्प्रदायों के आधार पर लोग आपस में बट हुए हैं। ये सभी सम्प्रदाय अपने-अपने धर्म को महान एवं दूसरों के धर्म को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे वातावरण में स्वामी जी द्वारा ऐसे धर्म का प्रसार करना जो समस्त मानवता को एक ही ईश्वर का अंश होने की अनुभूति कराये, एक अद्वितीय प्रयास है। स्वामी विवेकानन्द जी का सार्वभौमिक धर्म अन्य धर्मों की तरह विशिष्ट सिद्धान्तों की सीमा रेखा नहीं बनाता बल्कि सभी धर्मों के उभयनिष्ठ लक्षणों को प्रकाशित करके सब में एकता और सहयोगिता की भावना का विकास करता है। स्वामी जी ने सभी धर्मों की मूल आत्मा को स्वीकार किया। उनका मानना था कि *''जिन महापुरुषों ने पहले अपने हृदय में इस महान तत्त्व की उपलब्धि की थी, उन्होंने इस वाक्य की रचना की है। उस समय बहुत से लोग इसका अर्थ समझते थे। आगे चलकर मूर्ख लोगों ने इन बातों को लेकर उनसे खिलवाड़ आरम्भ कर दिया और धर्म को केवल शब्दों का खेल बना दिया। उसे जीवन परिणत करने की वस्तु ही नहीं रखा। धर्म को केवल शब्दों का खेल बना दिया। उसे जीवन परिणत करने की वस्तु ही नहीं रखा। धर्म अब पैत्रिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, देशी धर्म इत्यादि के रूप में परिणत हो गया है।''* (वि0सा0, 2016 भाग-3, पेज सं0- 40-141) जिसके कारण सर्वधर्म समन्वय की संकल्पना एक कठिन कार्य हो गया है। स्वामी जी ने धर्म के तीन

* सहायक आचार्य, शिक्षा संकाय, डी0डी0यू0,गोरखपुर
** शोध छात्र, शिक्षा संकाय, का0हि0वि0वि0,वाराणसी
*** आचार्य,शिक्षा संकाय, का0हि0वि0वि0,वाराणसी

भाग बताये- दर्शनिक, पौराणिक और अनुष्ठानिक। दार्शनिक भाग में धर्म का मूल तत्त्व, उद्देश्य और उनको प्राप्त करने का साधन निहित होता है। पौराणिक भाग स्थूल उदाहरणों के माध्यम से दार्शनिक भाग को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। अनुष्ठानिक भाग धर्म का स्थूल भाग है, जिसमें पूजापाट, आचार, अनुष्ठान इत्यादि वस्तुएँ आती हैं। सभी धर्मों में ये तीनों भाग होता है लेकिन सब धर्मों का अपना-अपना दार्शनिक, पौराणिक एवं आनुष्ठानिक भाग होता है। जिसके आधार पर एक धर्म अपने को श्रेष्ठ और अन्य को तुच्छ बताते हैं। ऐसे में इन धर्मों के बीच सार्वभौमिक तत्त्वों की बात करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। हम लोग विश्व बंधुत्व की बात तो बहुत करते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि इस भावना से कोषों दूर हैं। विवेकानन्द जी कहते हैं कि *''जो लोग यथार्थ कर्मी हैं और अपने हृदय में विश्वबंधुत्व का अनुभव करते हैं किन्तु उनके क्रियाकलाप, गतिविधि और सारे जीवन के ऊपर ध्यान देने से यह स्पष्ट समझ में आ जायेगा कि उनका हृदय सचमुच ही मानव जाति के प्रति बंधुत्व से परिपूर्ण है, वे सबसे प्रेम और सहानुभूति रखते हैं।''* (वि0सा0, 2016, भाग-3, पृ0सं0 144-145)

स्वामी जी ने विभिन्न धर्मावलम्बियों में कठोर असमानता के होते हुए भी मनुष्यत्व रूपी समान तत्त्व की पहचान की। स्वामी जी ने कहा कि *''मैंने जिस काले या गोरे स्त्री पुरुष को देखा उन सबके मुख पर सामान्य रूप से मनुष्यत्व का अमूर्तभाव है, मैं उसे पकड़ या दृष्टिगोचर भले न कर सकूँ, फिर भी मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि वह है। यदि किसी वस्तु का असंदिग्ध अस्तित्व है तो इसी मानवीयता का, जो हम सब में व्याप्त है।''* (वि0सा0, 2016, भाग-3, पृ0सं0 145) विश्व धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है, जो ईश्वर के रूप में अनन्तकाल से सभी धर्मों में व्याप्त है और अनन्त काल तक व्याप्त रहेगा। स्वामी जी का मानना है कि हमारे बाहरी कार्यों में केवल भेद है, ईश्वर में हम सब एक हैं। विवेकानन्द जी धर्मों में विभिन्नता को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अगर सभी लोग एक ही प्रकार से विचार करने लगे तो समाज का विकास ही रूक जायेगा। स्वामी जी ने कहा है कि *''हमको यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव की अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्तर प्रकृति सत्य है। हमको यह सीखना होगा कि किसी भी विषय को सैकड़ों प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर यह एक ही वस्तु रहती है।''* (वि0सा0, 2016, भाग-3, पृ0सं0 146) ईश्वर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। प्रत्येक दर्शन पौराणिक कथाओं तथा कर्मकाण्डों के माध्यम से भी सभी धर्मावलम्बी एक ही ईश्वर की ओर बढ़ रहे हैं। विवेकानन्द जी कहते हैं कि सब धर्मों को एक दूसरे के नजदीक लाने का यह पहला प्रयास नहीं है। पहले भी ऐसे अनेकों प्रयास किये गये हैं। *''परन्तु उनको एकत्र करने का उन्होंने ऐसा उपाय नहीं दिखाया जिसमें वे इस समन्वय के भीतर रहते हुए भी अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकें। वही उपाय यथार्थ में कार्यकारी हो सकता है, जो किसी धर्मावलम्बी व्यक्ति की विशिष्टता को नष्ट न करते हुए उनको औरों के साथ सम्मिलित होने का पथ बता दे।''* (वि0सा0, 2016, भाग-3, पृ0सं0-147) स्वामी जी का मानना था कि संसार में अलग-अलग मन और संस्कार के लोग वर्तमान हैं। उन सभी व्यक्तियों का समन्वयीकरण असम्भव है। अतः यदि किसी धर्म को अधिकांश लोगों के लिए उपयोगी बनना है तो उसे उस सभी वर्गों के लिए उपयोग बनाना होगा वर्ना वह धर्म सीकुड़ जायेगा। स्वामी जी कहते हैं कि मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब प्रकार की मानसिक अवस्था वाले लोगों के उपयोगी हो, इसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे। इस प्रकार *''विवेकानन्द जी कहते हैं कि चारों तरफ सम्भाव से विकास लाभ करना ही मेरे कहे हुए आदर्श हैं और भारतवर्ष में जिसे हम योग कहते हैं उसी के द्वारा इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मी के लिए यह मनुष्य जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा और परमात्मा का योग है, भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान का योग और ज्ञानी के लिए बहुत्व के बीच एकत्वानुभूति योग है।''* (वि0सा0, 2016, भाग-3, पृ0सं0-151) इस प्रकार विवेकानन्द जी का यह सार्वभौमिक धर्म विश्वसमुदाय को प्रेम, एकता और दैवीय अनुभूति की ओर प्रेरित करता है। यह अवश्य ही मानवता के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

शान्ति की अवधारणा एवं वैश्विक स्थिति

यद्यपि शान्ति एवं संघर्ष दोनों शब्द विश्व समुदाय के लिए चिर परिचित हैं लेकिन मानव समाज ने हमेशा शान्ति को संघर्ष पर प्राथमिकता दी है, क्योंकि *''शान्ति न केवल युद्ध की अनुपस्थिति को समाहित करता है बल्कि साकारात्मक जीवन पुष्टि, जीवन समृद्धि हेतु मूल्यों एवं समाजिक संरचना की स्थापना भी कर सकता है।''* (ब्रास एण्ड वेवल, 2002, पृ0सं0-3) हालाँकि 'शान्ति' क्या है? इस प्रश्न को लोग अपनी परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार परिभाषित करते हैं। अक्सर संघर्षों के कारण शान्ति की समस्या उत्पन्न होती जबकि कई संघर्षों को शान्ति हेतु उपकरण भी बताया जाता है। 'शान्ति' शब्द को लोग अपने-अपने अनुसार परिभाषित करते रहे हैं। किसी को आराम से सोने में शान्ति मिलती है, तो किसी को दिन-रात जाग कर अपने लक्ष्य प्राप्त करने में शान्ति मिलती है। कोई अपने से भिन्न जातियों का नास करके शान्ति प्राप्त करता है, तो अन्य कुछ लोग विभिन्न प्राणियों की सेवा करके शान्ति प्राप्त करते हैं। लेकिन शान्ति की कोई भी सर्वस्वीकृत परिभाषा मानवता के प्रति हिंसा पर आधारित नहीं हो सकती। विश्व के सभी धर्म 'शान्ति' के इसी स्वरूप का समर्थन करते हैं। किसी भी धर्म का मौलिक स्वरूप हिंसा नहीं बल्कि शान्ति की ओर उन्मुख होता है। *''ताओइज्म' के संस्थापक और 'ताओ-दे-चिंग' के लेखक चीनी दार्शनिक लाओ-त्-जू (6वीं सदी वी0सी0ई0) इस बात पर बल*

देते हैं कि सैन्य बल प्रयोग का रास्ता मनुष्यों द्वारा नहीं अपनाया जाना चाहिए।'' (ब्रास एण्ड बेबल, 2002, पृ0सं0-4) एक अन्य चीनी दार्शनिक मो-त्-जू (468-401 वी0सी0ई0), जिन्होंने युद्ध का विरोध एवं अन्य सभी प्रकार के मानवीय सदगुणों एवं प्रेम का समर्थन किया है, ने कहा कि *''जो दूसरों को प्रेम करते हैं वे दूसरों से भी प्रेम पायेंगे। दूसरों के लिए अच्छा करो दूसरे भी तुम्हारे लिए अच्छा करेंगे। लोगों से नफरत करोगे तो लोग भी तुमसे नफरत करेंगे। उनको दुःख पहुँचाओगे तो वे भी तुम्हें दुखित करेंगे। उसमें कठिनाई क्या हैं?''* (ब्रास एण्ड बेबल, 2002, पृ0सं0-5) इस प्रकार देखा जाय तो अनेको दार्शनिक जो किसी न किसी धर्म और विचारधारा का समर्थन करते हैं, सदैव शान्ति की ही सराहना किये हैं। लेकिन इतिहास गवाह है इस बात के लिए कि धर्म और विचारधाराओं की टकराहट ने ही शान्ति के लिए सबसे बड़ी चुनौती पेश की है। 'शान्ति' की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसे नकारात्मक एवं सकारात्मक शान्ति के रूप में देखा जा सकता है। नकारात्मक शान्ति की अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के यथार्थवादी दृष्टिकोण पर आधारित है, जिसके अनुसार युद्ध की अनुपस्थिति ही शान्ति है। जबकि सकारात्मक शान्ति की अवधारणा, जिसे नार्वेजीयन शान्ति अनुसंधानकर्ता जॉन गाल्टन ने विकसित किया, न केवल युद्ध की अनुपस्थिति को बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में शोषण को खत्म करने को शान्ति कहता है। *''नकारात्मक शान्ति साधारणतया युद्ध की अनुपस्थिति को शान्ति के रूप में उल्लेख करता है। यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें कोई संरचित सैन्य हिंसा क्रियाशील न हो।.....सकारात्मक शान्ति युद्ध की अनुपस्थिति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा की अनुपस्थिति से भी अधिक है। यह एक सामाजिक हालात को संकेत करता है, जिसमें शोषण निम्न स्तर पर अथवा पूर्णतः खत्म हो और जिसमें न तो वाह्य हिंसा हो और न ही संरचनात्मक सूक्ष्म असाधारण हिंसा हो।''* (ब्रास एण्ड बेबल, 2002, पृ0सं0-6)

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शान्ति से तात्पर्य न केवल युद्ध अथवा संघर्षों का विराम है बल्कि शान्ति का तात्पर्य ऐसी सामाजिक वातावरण से है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकता जैसे भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, अधिकार और न्याय के साथ परस्पर सहयोग की भावना से रहता है। वर्तमान वैश्विक समाज को अगर शान्ति के उपरोक्त ढाँचे में रखकर देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि वैश्विक मानव समुदाय निरंतर संघर्षशील हैं। विश्व समुदाय में शान्ति की स्थापना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। मानव समुदाय भूखमरी, अशिक्षा, मानवीय जीवन हेतु संसाधनों की कमी एवं पर्यावरणीय चिंताओं को लेकर जूझ रहा है। जबकि मानव समाज का एक बड़ा भाग इन मौलिक चिंताओं पर ध्यान न देकर अपनी धार्मिक, जातीय एवं प्रजातीय अस्तित्व को लेकर संघर्षरत है। पूरे विश्व में और खास करके विकासशील देशों में प्रजातीय संघर्षों में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई है। *''तात्कालिक वर्षों में परम्परागत रूप के राज्यों के बीच होने वाले संघर्षों में कमी आयी है जबकि राज्यों के भीतर होने वाले संघर्षों में बढ़ोत्तरी हुई है और खास करके तीसरी दूनिया के देशों में।''* (स्टावेनहेगन, 2016)

आधुनिक वैश्विक समाज में 9/11 जैसी वारदात, सीरीया-जार्डन, इजरायल-फिलिस्तीन संघर्ष, म्यामार में रोहिग्या मुसलमानों के प्रति हिंसा, श्रीलंका में तमिल संघर्ष इत्यादि अनेकों उदाहरण हैं, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धर्म और प्रजातीय द्वेष के नाम पर हो रहे हैं। *''आज आतंकवाद एक प्रजातीय प्रवृत्ति बन गई है। यह पीड़ित के धर्म, प्रजाती और राष्ट्रीयता के आधार पर हमला करता है। जब विचारधारा इस प्रवृत्ति को अपनाती है कि 'हमारा खून' अन्य लोगों के खून से अधिक लाल है तब वह प्रजातीय अभिवृत्ति को अपना लेती है। यही प्रजातीवाद आगे धर्म में और अनियंत्रित होकर घोर राष्ट्रवाद में बदल जाता है।''* (टारलोव, 2015)

अतः वैश्विक स्तर पर शान्ति के समक्ष अनेकों चुनौतियाँ हैं। वैश्विक शान्ति की स्थापना के लिए न केवल प्रत्यक्ष संघर्ष को रोकना होगा बल्कि सामाजिक संरचना और मनुष्यों के दिमागी स्वरूप में भी सुधारात्मक बदलाव लाने होंगे।

वैश्विक शान्ति के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के सार्वभौमिक धर्म की उपादेयता का विश्लेषण

यद्यपि आज का वैश्विक समाज परम्परागत समाज से अधिक विकसित और तार्किक है। फिर भी समस्त मानव समाज के समक्ष उपस्थित मौलिक चुनौतियों को अनदेखा कर धर्म एवं प्रजातीय द्वेष के कारण आपस में ही युद्धरत है। जिससे मनुष्य स्वयं मानवता के विरुद्ध हो गया है। वर्तमान विश्व में धार्मिक और जातीय संघर्षो के कारण लाखो लोगों को सम्पत्ति और जान गवानी पड़ती है। यह संघर्ष जिन क्षेत्रों में घटित होता है वहाँ की पूरी सामाजिक संरचना ही अस्त-व्यस्त हो जाती है। जिसके कारण शान्ति की संकल्पना विखण्डित हो जाती है। वैसे तो किसी भी राज्य के भीतर शान्ति की स्थापना का कार्य उक्त राज्य का ही होता है। राज्य अधिकांशतः बल प्रयोग को ही शान्ति हेतु हथियार बनाते हैं, जिसके कारण शान्ति की स्थापना अस्थाई रूप में होती है। स्थाई शान्ति की स्थापना हेतु व्यक्ति के मानसिक संरचना एवं समाज की संरचना में सकारात्मक बदलाव लाने होंगे। व्यक्ति को यह अहसास कराना होगा कि तुम जानवरों के वंशज नहीं बल्कि ईश्वर के अंश हो। तुम घृणा के लिए नहीं, प्रेम के लिए सराहे जाओगे। विश्व समुदाय को यह बताना होगा कि विभिन्न धर्मों के बीच केवल समभाव नहीं बल्कि स्वीकृति भी लानी है। सभी धर्मों को बताना होगा की तुम्हारा लक्ष्य अलग-अलग नहीं बल्कि तुम सब एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हो। अतः समस्त मनुष्यों में समभाव का आरोपण ही स्थाई शान्ति की स्थापना कर सकती है और इस जटिल कार्य को करने में विवेकानन्द जी का 'सार्वभौमिक धर्म' पूर्णतः सक्षम है, क्योंकि यह समभाव में भी सभी

धर्मों की विशिष्टता को स्वीकार करता है। यह धर्म व्यक्ति को अपना ध्यान अपने भीतर की ओर मोड़ने की ओर प्रेरित करता है जहाँ प्रेम, समभाव, कल्याण, विश्वबंधुत्व एवं समस्त ईश्वरीय गुण विद्यमान है।

निष्कर्ष

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में वैश्विक शान्ति की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आज वैश्विक स्तर पर अनेकों संघर्ष जारी है, जिससे भारी स्तर पर आर्थिक, समाजिक एवं मानवीय क्षति हो रही है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इन सभी संघर्षों का कारण धार्मिक अथवा जातीय ही है लेकिन इन संघर्षों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक अथवा जातीय कारणों को ढूँढा जा सकता है। शान्ति की स्थापना केवल युद्ध का विराम नहीं हो सकता। शान्ति की स्थाई स्थापना के लिए सामाजिक एवं वैचारिक संरचना में बदलाव लाना होगा। समस्त मनुष्यों में समभाव का आरोपण ही स्थाई शान्ति की स्थापना कर सकती है और इस जटिल कार्य को करने में विवेकानन्द जी का सार्वभौमिक धर्म पूर्णतः सक्षम है। क्योंकि यह समभाव में भी सभी धर्मों की विशिष्टता को स्वीकार करता है। यह धर्म व्यक्ति को अपना ध्यान अपने भीतर की ओर मोड़ने की ओर प्रेरित करता है जहाँ प्रेम, समभाव, कल्याण, विश्वबंधुत्व एवं समस्त ईश्वरीय गुण विद्यमान है। विवेकानन्द जी का 'सार्वभौमिक धर्म' विश्व के सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों को विश्वबंधुत्व, प्रेम एवं एकत्व का मार्ग प्रशस्त करता है। वैश्विक समाज में इन्हीं मूल्यों की कमी के कारण शान्ति को चुनौती मिलती है। अगर स्वामी जी के 'सार्वभौमिक धर्म' से विश्व समुदाय का परिचय कराया जाय तो निश्चित रूप से यह धर्म शान्ति को स्थाई रूप से स्थापित करेगा। विवेकानन्द जी का यह धर्म व्यक्ति के मस्तिष्क और सामाजिक संरचना में स्थाई एवं दूरगामी सकारात्मक परिवर्तन लाने में पूर्णतः सक्षम है। अतः शिक्षा एवं संचार के अन्य सभी माध्यमों द्वारा स्वामी जी के 'सार्वभौमिक धर्म' से विश्व समुदाय का परिचय कराया जाना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. *स्वामी विवेकानन्द साहित्य* (2016), खण्ड-3, प्रकाशक- स्वामी तत्त्वविदानन्द, अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मयावती, चम्पावत, उत्तराखण्ड, हिमालय।
2. *स्वामी विवेकानन्द साहित्य* (2014), खण्ड-11, प्रकाशक- स्वामी तत्त्वविदानन्द, अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मयावती, चम्पावत, उत्तराखण्ड, हिमालय।
3. Barash, D.P. & Webel, C.P. (2002). *Peace and conflict studies.* New Delhi : SAGE Publications.
4. Tarlow, P.E. (2015). Religion, *Violence and terrorism.* Retrieved on 10/08/2018 from https://www.palermo.edu/Archivors_content/2015/economics/journal-tourism/ediuon12/04_Religion_violence_and_terrorism.pdf.
5. Stavenhagen, R. (2016). *Ethinic conflicts and their impact on International society.* Paper published by black well publisher, oxford. Retrieved on 10/08/2018 from www.homepage. vnivie.ac.at>~preessh2>files.
6. Chattopadhyay, I. (--). *Universal religion of Vivekanand : A way out of religious dissension.* Retrieved on 12/08/2018 from www.epp.edu/~jet/documents/JET/jet14/chattopadhyay_73-79pdf

●

आधुनिक भावबोध और अज्ञेय का काव्य

*डॉ0 सत्यपाल शर्मा**

अज्ञेय आधुनिक काल के हिन्दी के प्रतिनिधि कवि हैं। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता के साथ-साथ उन्होंने कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समीक्षा और यात्रा-वृत्तांत भी लिखा। बीसवीं सदी के मध्य में वे अपने रचनात्मक उत्कर्ष पर हैं। अज्ञेय अपने रचनात्मक और वैचारिक वैविध्य के चलते आधुनिक काल के सर्वाधिक विवादास्पद रचनाकार भी हैं। उनको व्यक्तिवादी और अहंवादी समझा गया जबकि साम्यवादी और राष्ट्रवादी गतिविधियों के कारण कई साल उन्हें जेल में भी गुजारना पड़ा। कम्युनिस्ट आन्दोलन से जुड़े होने के बावजूद वे बाद में कम्युनिस्टों के बीच अछूत हो गये। विवादों के बावजूद हिन्दी-साहित्य में प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय ही हैं। अज्ञेय का समूचा काव्य आधुनिकता बोध से ओत-प्रोत है।

हिन्दी कविता के इतिहास में अज्ञेय का स्थान युग प्रवर्तक का है। जब हिन्दी-साहित्य में छायावाद और प्रगतिवाद चरम पर प्रतिष्ठित था, उन्होंने दोनों प्रवृत्तियों का निषेध किया। छायावाद की कल्पनाप्रवण वायवीयता साहित्य को जनजीवन और समाज से ऊपरी तौर पर दूर कर रही थी। दूसरी तरफ प्रगतिवादी काव्य मार्क्सवाद से इतना प्रभावित था कि कविता राजनीति और विचारधारा का पर्याय बनने लगी थी। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद की कमी को दूर करके प्रगतिवाद ने साहित्य को जन-जीवन और समाज से जोड़ने का महत्वपूर्ण काम किया। परन्तु इसका नकारात्मक असर यह पड़ा कि साहित्य लेनिन के 'पार्टी लिटरेचर' की डिमांड को हूबहू पूरा करता दिखाई पड़ने लगा। विचारधारा और प्रतिबद्धता के नाम पर पार्टी और व्यक्ति के समर्थन में लगाये जाने वाले नारे भी कविता समझे जाने लगे। ऐसी स्थिति में अज्ञेय ने प्रगतिवाद की इस परिणति का गम्भीर विरोध किया। इस विरोध का परिणाम था 1943 ई. में सात कवियों के संयोग और सहयोग से अज्ञेय के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'तारसप्तक'।

तारसप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने स्पष्ट किया कि इसमें संकलित कवियों में पर्याप्त मतभेद है लेकिन जो बात उन्हें आपस में जोड़ती है, वह यह है कि वे राही नहीं बल्कि राहों के अन्वेषी हैं। अज्ञेय के शब्दों में- ''वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं- राही नहीं, राहों के अन्वेषी।''[1] संकलित कवि कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं, जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं। इस तरह ये कवि कविता के द्वारा सत्य का संधान करना चाहते हैं। प्रयोग उनका साध्य नहीं बल्कि साधन है, सत्य को जानने का साधन। अज्ञेय की इस दृष्टि पर वैज्ञानिक दृष्टि का प्रभाव देखा जा सकता है। साथ ही विश्व में चल रहे कलावाद (Art for Art's Sake), प्रतीकवाद का प्रभाव भी। पाश्चात्य में कविता की स्वायत्तता हेतु चलाये गये आन्दोलन जिस रूप में विकसित हुए हिन्दी में वही आन्दोलन रूप बदलकर प्रयोगवाद के रूप में सामने आया। प्रयोगवाद हिन्दी कविता को मार्क्सवादी विचारधारा और छायावादी कुहासे से मुक्त कर उसे स्वायत्त करना चाहता था।

कविता की स्वायत्तता का यह आन्दोलन पुराने प्रतीकों का विरोध करते हुए नये प्रतीक विधान गढ़ता है। अज्ञेय की कविता 'कलगी बाजरे की' प्रयोगवाद का घोषणापत्र जान पड़ती है-

''हरी बिछली घास
डोलती कलगी छरहरी बाजरे की
अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
*** * ***
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।''[2]

अज्ञेय की कविता आधुनिक भाव बोध की कविता है। आधुनिक काल में विज्ञान के विकास के साथ भौतिक विकास तेजी से होता है। नगरीकरण और औद्योगीकरण आधुनिक काल की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। आधुनिक भौतिक विकास ने मानव-पर्यावरण और प्रकृति को क्षति पहुँचाने का भी काम किया है।

''पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी सी घाटी में
ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।
*** * ***
उद्यम की कड़ी कड़ी में बँधते जाते मुक्तिकाम
मानव की आशाएँ ही पल-पल
उसको छलती जाती हैं।''[3]

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, का0हि0वि0वि0, वाराणसी

ध्यातव्य है कि यह कविता अज्ञेय ने जापान प्रवास के दौरान जापान में ही लिखी थी। जापान औद्योगिक विकास में तेजी से बढ़ रहा था। अज्ञेय उसके दुष्प्रभावों को देख रहे थे। यह जापान और भारत ही नहीं बल्कि दुनिया के हर विकसित या विकसित हो रहे देश पर लागू होती है।

आधुनिक भावबोध का अनिवार्य लक्षण है बौद्धिकता। आधुनिक काल का कवि हृदयगत अनुभूति की जगह बौद्धिकता को महत्व देता है। बौद्धिक दृष्टिकोण के चलते आधुनिक कवि ने अनेक परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों के प्रति सन्देह भी व्यक्त किया और उसका विरोध भी किया। बौद्धिकता के कारण संशय का स्वर उपजता है-

क्या करूँ आराधन उस देवता की

जो कि मुझको सिद्धि तो क्या दे सकेगा

जो कि मैं ही स्वयं हूँ।

ऐसा नहीं है कि आधुनिक कवि अनुभूति को नकारता है। असल में वह आयातित अनुभूति की जगह अनुभूति की प्रामाणिकता पर जोर देता है-

''अच्छे

अनुभव की मुट्ठी में तपे हुए कण दो कण

अंतर्दृष्टि के

झूठे नुस्खे, वादे, रूढ़ि, उपलब्धि पराई के प्रकाश से।''[4]

आधुनिक युग के कवि को एक नहीं दो-दो विश्व युद्ध देखने को मिले। दो विश्व युद्धों की विभीषिका ने मानव-जीवन के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया था। विज्ञान के फलस्वरूप परमाणु बम के आविष्कार ने मनुष्य की गर्वोक्ति को बढ़ाया, उससे ज्यादा और जल्दी ही अपनी लघुता का अहसास कराया। प्रकृति पर विजय की घोषणा करने वाला मनुष्य अचानक स्वयं को परिस्थितियों, राजनीति और नियति का दास समझने लगा। यह अनायास नहीं है कि द्वितीय विश्व युद्ध के आस-पास समूचे विश्व के कवि प्रायः एक जैसी मानसिकता वाली कविताएँ लिख रहे थे। आशा की जगह निराशा, हताशा, कुण्ठा, अवसाद, पीड़ा और मोहभंग ने मनुष्य को जकड़ लिया।

उपरोक्त परिस्थिति ने मनुष्य को लघुता का एहसास कराया। काव्य में इसकी परिणति लघुमानव के रूप में हुई। कवि जीवन के हर क्षण को जी लेना चाहता है क्योंकि जीवन का क्या ठिकाना? इस मानसिकता से क्षणबोध विकसित हुआ-

''आज के इस विवक्त अद्वितीय क्षण को

पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात कर लें।''[5]

दुःखबोध आधुनिक मनुष्य की भयावह सच्चाई है। टूटते मानवीय मूल्य, बदलती सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने मनुष्य में अवसाद पैदा किया। चिन्तनधर्मी कवि इस अवसाद से ही जीवन-दर्शन ग्रहण करता है-

''दुःख सबको माजता है

और

चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु

जिनको मांजता है

उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।''[6]

दुःख की यह सीख समूची मानवता के लिए कल्याणपरक है। आधुनिक सभ्यता में पल-बढ़ रहे मनुष्य में दिनोंदिन जहर घुलता जा रहा है। वह मानवीयता, दया, परोपकार, भाईचारे को भूलकर स्वार्थ की अंधी दौड़ में भागे जा रहा है। अज्ञेय ने आधुनिक नगरीय सभ्यता के मनुष्य पर व्यंग्य करते हुए लिखा-

''साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं

नगर में बसना

भी तुम्हें नहीं आया।

एक बात पूछूँ (उत्तर दोगे?)

तब कैसे सीखा डसना

विष कहाँ से पाया?''[7]

आधुनिक सभ्यता में भौतिक विकास ने मनुष्य को कितना संवेदनहीन बना दिया, इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति होती है अज्ञेय की कविता 'सोन मछली' में। बनावट की दृष्टि से यह कविता जापानी हाइकू कविता जैसी है। उल्लेखनीय है कि अज्ञेय जापान प्रवास के दौरान (अप्रैल 1957 से जनवरी 1958) तक जापानी संस्कृति से गहरे रूप में प्रभावित हुए थे। 1959 में प्रकाशित उनके संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में यह प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। 'हिरोशिमा' कविता इसका स्पष्ट प्रमाण है। 'सोन मछली', 'साम्राज्ञी का नैवेद्य दान', 'औद्योगिक बस्ती' आदि कविताओं में भी इसे देखा जा सकता है। जापानी हाइकू कविता की तर्ज पर अज्ञेय ने हिन्दी में अनेक कविताएँ लिखीं।

यह आधुनिक युग के मनुष्य की विडम्बना है कि हम प्राकृतिक सौन्दर्य की उन्मुक्तता को भी कैद करके देखना चाहते हैं। हम अपने सौन्दर्य बोध के लिए प्राकृतिक उन्मुक्तता का दोहन कर रहे हैं-

''हम निहारते रूप

काँच के पीछे

हॉफ रही है मछली

रूप तृषा भी (और काँच के पीछे)

है जिजीविषा''[8]

यह आधुनिक मनुष्य के शौक पर व्यंग्य ही नहीं बल्कि कुठाराघात है। हम अपने सौन्दर्य-सुख के लिए मछली के जीवन (प्राकृतिक उन्मुक्तता) को काँच की दीवारों के पीछे कैद कर देते हैं। हम- वह आधुनिक मनुष्य जो किसी भी हद तक जाकर अपनी स्वतन्त्रता (या स्वच्छन्दता) को पाना चाहता है। क्या यह विडम्बना नहीं कि अपनी स्वतन्त्रता की चाह रखने वाले ही प्राकृतिक स्वतन्त्रता की खुलेआम खिल्ली उड़ा रहे हैं, महज अपने शौक को पूरा करने के लिए। यह छोटी सी कविता समूचे आधुनिक चिन्तन और जीवन-शैली पर मार्मिक ढंग से सवाल खड़ा कर सोचने के लिए बाध्य करती है।

अज्ञेय की कविता पर मार्क्सवाद का भी प्रभाव है। वह शोषितों के प्रति सहानुभूति रखते हुए शोषकों के प्रति घृणा का भाव रखते हैं और शोषण का विरोध करते हैं-

''हरे भरे हैं खेत

मगर खलिहान नहीं

बहुत महतो का मान

मगर दो मुट्ठी धान नहीं

भरी हैं आँखें

पेट नहीं

भरे हैं बनिये के कागज, टेंट नहीं''[9]

और

''बह चुकी बहकी हवायें चैत की

कट गईं पूलें हमारे खेत की,

कोठरी में लौ बढ़ाकर दीप की,

गिन रहा होगा महाजन सैंत की।''[10]

अज्ञेय की कविता में व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व चरम पर है। असल में यह द्वन्द्व आधुनिक युग का द्वन्द्व है। आधुनिक विकास प्रक्रिया ने मनुष्य को व्यक्तिवादी बनाया जबकि पारम्परिक रूप से वह सामाजिक जीवन जी रहा था। अज्ञेय पर तमाम आरोप लगाये हैं लेकिन उनकी कविता 'यह दीपक अकेला' और 'नदी के द्वीप' का ठीक से विश्लेषण करें तो पता चलता है कि अज्ञेय वैयक्तिकता के तरफदार हैं लेकिन समाज के विरोधी नहीं हैं। असल में वे वैयक्तिकता का पूर्ण विकास चाहते हैं। इसके बाद उसे समाज हित में लगाना चाहते हैं। यह जरूरी भी है क्योंकि वैयक्तिक विकास के अभाव में हम समाज की जरूरी सेवा नहीं कर सकते। अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' का द्वीप जहाँ व्यक्तिवादिता का प्रतीक है, वहीं यह भी कहता है-

''किन्तु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं

स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।

कितु हम बहते नहीं क्योंकि बहना रेत होना है।

हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।

*** * ***

नदी तुम बहती चलो

*** * ***

यदि ऐसा कभी हो,

तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से अतिचार से

तुम बढ़ो प्लावन तुम्हारा घरघराना उठे

तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर

फिर छनेंगे हम/जमेंगे हम/कहीं फिर पैर टकेंगे।

कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।

मातः उसे फिर से संस्कार तुम देना''[11]

इसी तरह 'यह दीप अकेला' कविता का दीप व्यष्टि का प्रतीक है लेकिन समष्टि (पंक्ति) के लिए अज्ञेय 'दीप' का समर्पण कर देते हैं। अज्ञेय पर व्यक्तिवादी होने का आरोप लगाने वालों को यह कविता स्वयं जवाब दे देती है-

''यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता, पर

इसको भी पंक्ति को दे दो।''[12]

अज्ञेय ने 'असाध्य वीणा' जैसी लम्बी कविता लिखी। इसमें रचना प्रक्रिया की सफलता के लिए सम्पूर्ण समर्पण की बात कही गई है। असाध्य कार्य भी सध जाता है यदि साधक साध्य कर्म के प्रति अपने आपको पूरी तरह तल्लीन और समर्पित कर दे। हाइकू जैसी छोटी कविता में जीवन के किसी छोटे, क्षण अनुभव या घटना के माध्यम से बड़ा जीवन दर्शन या बड़ी समस्या प्रस्तुत करने में अज्ञेय माहिर हैं। एक उदाहरण देखिए-

''उड़ गई चिड़िया

काँपी, फिर

थिर

हो गयी पत्ती''[13]

यह कविता परम्परा और परिवर्तन के बीच विकास या जीवन गति को रेखांकित करती है। अज्ञेय की खूबी यह है कि विषय चाहे

जो हो, उसके बीच से वे कोई न कोई जीवन दर्शन खोज लेते हैं या गढ़ लेते हैं।

जापान की एक घटना है। जापान की साम्राज्ञी कोमियो नारा (जापान की प्राचीन राजधानी) के प्रसिद्ध मन्दिर अमिदाजी जाते समय इस असमंजस में पड़ गईं कि महाबुद्ध को क्या दान करें? वे खाली हाथ ही महाबुद्ध के पास गईं। इसे अज्ञेय ने अहिंसा के जीवन-दर्शन से जोड़ दिया-

''हे महाबुद्ध/मैं मन्दिर में आई हूँ/रीते हाथ

फूल मैं ला न सकी/औरों का संग्रह

तेरे योग्य न होता...

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली/जो फूल जहाँ हैं

जो भी सुख/जिस भी डाली पर

हुआ पल्लवित, पुलकित/मैं उसे वहीं पर

अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल

अर्पित करती हूँ तुझे।

हे विगतागत के वर्तमान पद्मकोश

हे महाबुद्ध!''[14]

यह जापान की साम्राज्ञी की भावना थी या नहीं, निश्चित नहीं लेकिन उनके असमंजस को कवि चिन्तक अज्ञेय ने बड़ी बारीकी से उस जीवन सत्य और मानव सत्य से जोड़ दिया जो सिर्फ भारत का नहीं, जापान का नहीं बल्कि विश्व मानव का सत्य हो सकता है, बल्कि होना चाहिए। यह अहिंसा महाबुद्ध के माध्यम से, साम्राज्ञी के असमंजस से, भारतीय कवि के चिन्तन से क्या आज भी विश्व की समूची मानवता को सन्देश देने के लिए प्रासंगिक नहीं है?

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. तारसप्तक, अज्ञेय (सम्पादक), भारतीय ज्ञानपीठ, 1998, पृ. 1
2. सन्नाटे का छन्द, अज्ञेय, सम्पादक : अशोक वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 48-49
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक, 1995, पृ. 634
4. काव्य निधि, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद (सम्पादक), संजय बुक सेण्टर, 1992, पृ. 93
5. वही, पृ. 93
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 628
7. काव्य निधि, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, पृ. 95
8. सन्नाटे का छन्द, अज्ञेय, पृ. 87
9. वही, पृ. 83-84
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 635
11. सन्नाटे का छन्द, अज्ञेय, पृ. 50-51
12. वही, पृ. 61
13. वही, पृ. 97
14. वही, पृ. 89

●

संस्कृत वाङ्मय में चम्पू काव्यों की परम्परा

निशा देवी[*] एवम् डॉ0 ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य[**]

चम्पू काव्य का एक भेद है। काव्य दो प्रकार का होता है- दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य में रूपक (नाटक), उपरूपक (नाटिका) के अन्तर्गत कई भेद होते है। श्रव्यकाव्य तीन प्रकार का होता है- गद्य, पद्य और मिश्र। इसमें मिश्र काव्य को ही चम्पू काव्य की संज्ञा दी जाती है। यह चम्पू शब्द गत्यर्थक चुरादि गण के 'चपि' धातु से बना है। 'चपि' धातु में 'उ' प्रत्यय लगाकर 'चम्पयति' 'चम्पति'- इस प्रकार व्युत्पत्ति की गई है। पाणिनि सूत्र 'इदितौनुम् से नुम् होकर चम्प्+ऊ 'चम्पू' शब्द बना है। 'चम्पू' शब्द गत्यर्थक है। हरिदास भट्टाचार्य ने चम्पू शब्द की व्युत्पति इस प्रकार की है- ''चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मितीकृत्य प्रसादयतीति चम्पूरिति'' (सहृदयों को चमत्कृत करके पवित्र करने वाला तथा विस्मित करके प्रसन्न करने वाला काव्य चम्पू है।) इस प्रकार देखते हैं कि गतिशीलता बनी रहने के कारण ही यह काव्य चम्पू काव्य कहा गया।

चम्पू काव्य के लक्षण- इस चम्पू काव्य का लक्षण आचार्यों ने गद्य पद्य का मिश्रण बतलाया है। सबसे पहले सप्तम् शतक में आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि गद्यपद्यमयी कोई रचना चम्पू कहलाती है-

''गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते''[1]

आगे चलकर हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में चम्पूकाव्य का लक्षण लिखा है-

''गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः।''[2]

अर्थात् अंक और उच्छ्वास से युक्त गद्यपद्यमयी रचना चम्पू कहलाती है।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने चम्पूकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है- **''गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।''**[3]

अर्थात् गद्यपद्यमय काव्य चम्पू कहलाता है।

चम्पू काव्यों की परम्परा

चम्पू काव्य का आरम्भ- श्रव्य काव्य के गद्य-पद्य मिश्रित शैली में रचना का आरम्भ वैदिक काल से ही हो चुका था। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तरीय, मैत्रायणी तथा कठ संहिताओं में इस शैली का स्पष्टतया प्रयोग किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ के उपाख्यानों में भी यह शैली स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इस शैली का उत्कृष्ट उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में मिलता है- **''हरिश्चन्द्रो ह वैधस, ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस। अस्य ह शतं जाया बभुवुः।**

तासु पुत्रं न लेभे। तस्य ह पर्वतनारदौ गृह उषतुः। स ह नारदं पप्रच्छ इति।''[4]

इस उपाख्यान को भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाओं एवं काव्यों में अपनाई गई जिसे मिश्रित शैली का प्राचीनम् रूप ही कहा जा सकता है। इसमें जिस विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है वे सभी विशेषताएँ चम्पू काव्यों में उपलब्ध होती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही कठ,प्रश्न, मुण्डक आदि उपनिषदों में भी यह शैली दिखलाई पड़ती है। यज्ञोपाख्यानरूप केनोपनिषत् के प्रथम खण्ड का गद्यात्मक तृतीय मन्त्र अपना एक अलग महत्त्व रखता है। जो साररूप में इस प्रकार है-

''न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नो मन्त्रो नो विद्यो न विसानिमोः .....।''[5]

पद्य में इसी का विस्तार प्रस्तुत किया गया है, जैसे -

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

तदेव ब्रह्मा एवं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[6]

इसी प्रकार कठोपनिषद् में भी कथावस्तु को गद्य पद्यरूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें यमनचिकेतोपाख्यान का प्रारम्भ गद्य से होता है-

ऊँ उशन् ह वै वाजश्रव सः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस। तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु श्रद्धाददविशेश सोऽमन्यत।।1।।1।1-2।[7]

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति तादृत्। 1।1।3[8]

स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसि इति।

द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामिति।। 1।1।4[9]

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कठोपनिषद् का प्रबन्ध शैली में किया गया उपर्युक्त आरम्भ कथावतार या कथा की भूमिका के रूप में है इस प्रकार के कथा की प्रवृत्ति पौराणिक चम्पूकाव्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। मुख्य कथा का प्रारम्भ नचिकेता के अर्न्तद्वन्द्व से होता है-

बहुनामेमि प्रथमो बहुनामेमि मध्यमः।

किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति॥ 1।1।5[10]

वेदाङ्ग काल में ग्रन्थों का प्रणयन सूत्र शैली में किया जाने लगा। ये सूत्र यद्यपि गद्य में ही लिखे गये, किन्तु उनका स्वरूप संक्षिप्त हो गया। सूत्रशैली के बाद स्पष्टतः जातक ग्रन्थों में मिश्र शैली मनोहर रूप में दिखाई पड़ती है। प्रथम शताब्दी में निबद्ध जातक कथायें उस युग की मिश्र शैली मनोहर रूप में दिखाई पड़ती है। प्रथम शताब्दी में निबद्ध जातक कथायें उय युग की मिश्र शैली की एकमात्र प्रबन्धात्मक स्वरूप प्रस्तुत करती है।

प्रथम या द्वितीय शताब्दी में विरचित 'अवदानशतक' भी मिश्रशैली में ही निबद्ध है। आर्यसूर के 'जातकमाला' की रचना-शैली भी मिश्र ही है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से जातक कथायें भले ही प्राचीन हो, किन्तु संस्कृत की मिश्र शैली में रचित ये रचनाएँ गद्य और पद्य को समान रूप से वर्णन का मुख्य आधार बनाकर दोनों के प्रौढ़ एवं कवित्वपूर्ण रूप को दर्शाते हुए भविष्य में निबद्ध की जाने वाली मिश्र शैली की कृतियों के लिए पथप्रदर्शिका सिद्ध होती है।

(ख) चम्पूकाव्यों का उत्कर्ष

चम्पूकाव्यों के बीज यत्र-तत्र वैदिक संहिताओं में मिलते है, परन्तु उपलब्ध चम्पू साहित्य की परम्परा ईसवी सन् के दशम शतक से आरम्भ होती दिखलाई पड़ती हैं बाण और सुबन्धु के बाद दो सौ वर्षों तक उनकी गद्य शैली का लेखन बन्द सा रहा। उस गद्य शैली को पुनरूज्जीवित करने का श्रेय चम्पूकारों को ही प्राप्त है। दशम शती में त्रिविक्रमभट्ट ने 'नलचम्पू' रचना की तथा जैन चम्पूकार सोमदेव और हरिश्चन्द्र ने यथाक्रम 'यशस्तिलकचम्पू' और 'जीवन्धरचम्पू' की रचना करके उस गद्य लेखन शैली को पुररूज्जीवित किया। एकादश शतक में अनन्तभट्ट ने 'चम्पूभारत' की तथा भोजराज ने चम्पूरामायण की रचना करके उस गद्य शैली को आगे बढ़ाया। आगे बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में सोमेश्वर ने 'कीर्तिकौमुदी' के नाम से चम्पूकाव्य की रचना की। चौदहवीं शती में 'चौलचम्पू' की रचना कवि विरूपाक्ष ने की और पन्द्रहवीं शती में रघुनाथ दास द्वारा रचित 'मुक्ताचरित' नामक चम्पूकाव्य की रचना हुई। सोलहवीं शती में चम्पूकाव्यों की रचना अधिक हुई। इस काल में नारायणभट्टतिरी नामक एक कवि ने 21 चम्पूकाव्यों की रचना की। इसी शती में एक स्त्री कवि तिरूमलाम्बा ने वरदाम्बिकापरिणयचम्पू की रचना की। सोलहवीं शतीं चम्पूकाव्यों के विषय-विस्तार के लिए क्रान्ति का समय था। इसलिए इस काल को चम्पूकाव्यों का स्वर्ण-युग माना जा सकता है। लगभग 200 चम्पूकाव्य इसी काल में लिखे गये है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में भी चम्पूलेखन का उत्साह कम नहीं पाया जाता है। इस शती में दर्शन शास्त्र को आधार बनाकर विद्वान लोग चम्पू काव्यों की रचना करने लगे थे। चिरंजीव भट्टाचार्य कृत 'विद्वन्मोदतरंगिणी' चम्पूकाव्य तो पूरा दर्शन शास्त्र ही है।

बीसीवीं शती में भी चम्पूकाव्य की परम्परा अक्षुण्ण पाई गई। इस शती में दो विदुषी स्त्री लेखिकायें भी चम्पूकाव्य के लेखन-क्षेत्र में दिखलाई देती है, जिनके नाम है- रमाबाई और ज्ञानसुन्दरी। रमाबाई ने 'लक्ष्मीश्वरचम्पू' की रचना की तथा ज्ञानसुन्दरी ने 'श्रीहालास्यचम्पूप्रबन्ध' की रचना की।

इस प्रकार हम उपलब्ध चम्पू की परम्परा को एक सहस्त्र वर्ष पुरानी पाते है, जो अबाध गति से आज तक चली आ रही है।

(ग) चम्पूकाव्यों का मूल स्त्रोत

संस्कृत वाङ्मय में गद्य-पद्य का समिश्रण प्राचीन काल से ही पाया जाता है। चम्पू काव्य के मूल स्त्रोत रामायण, महाभारत, भागवतपुराण आदि रहे हैं। इनमें से रामायण और महाभारत पर आधारित चम्पूकाव्यों में से कुछ तो उनकी समग्र कथा का स्पर्श करते है, कुछ उपाख्यानों पर आधारित हैं, कुछ पात्र विशेष के चरित्र को प्रस्तुत करते है। इनके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं तो कुछ किंवदन्तियों अथवा काल्पनिक कथाओं पर निर्भर हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि चम्पूकाव्यों के मूल स्त्रोत के आधार पर उपलब्ध चम्पूकाव्यों का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है-

रामायणाश्रित चम्पू

रामायण के आधार पर लगभग 36 चम्पूओं की रचना उपलब्ध हैं। इन सभी चम्पूओं में सर्वविश्रुत रामायणचम्पू भोजराज की लेखनी से प्रसूत है। उनका समय ग्याहरवीं शती का मध्य भाग है। 'रामायणचम्पू' का आधार महर्षि वाल्मीकि रामायण है। 'रामायण-चम्पू' किष्किन्धा काण्ड तक ही रचा गया था किन्तु पिछले काल के अनेक कवियों ने युद्धकाण्ड की पूर्ति कर चम्पू को सम्पूर्ण किया।

महाभारत पर आधारित

महाभारत का कथानक अत्यन्त विस्तृत है इसके कथानक पर आधारित प्रकाशित एवं अप्रकाशित चम्पूओं की संख्या 27 है। इसमें से कुछ ही पूरी कथा स्पर्श कर पाते हैं। किसी विशिष्ट कथानक तथा उपाख्यानों पर आधारित चम्पूओं की संख्या अधिक हैं।

श्रीमद्भागवत पर आधारित

भगवान श्रीकृष्ण की सरस, लौकिक एवं अलौकिक लीलायें अनेक लेखकों का सदैव से आकर्षण का कारण रही हैं। अतः भागवत पर आधारित चम्पूओं की संख्या 45 है।

शिवपुराण पर आधारित

शिवपुराण पर आधारित चम्पू ग्रन्थों की संख्या 18 है, जिनमें 'नीलकण्ठ दीक्षित' के 'नीलकण्ठविषयचम्पू' की ख्याति अखिल भारतीयता से मण्डित है। इस चम्पू में वर्णित समुद्र मंथन की कथा शिवपुराण का नितान्त लोकप्रिय आख्यान रहा है।

अन्य पुराणों पर आधारित

पौराणिक आख्यानों पर रचित चम्पू ग्रन्थों की संख्या लगभग 28 हैं। इनमें प्रह्लाद के चरित पर आधारित सूर्यकवि प्रणीत 'नृसिंहचम्पू', भागवत कथा पर नारायणभट्ट रचित ''मत्स्यावतार प्रबन्ध'' महाभारत की कथा पर ''राजसूय प्रबन्ध'' ''पा÷चाली स्वयंवर'' अग्नि की पत्नी स्वाहा एवं चन्द्रमा के प्रणय के वर्णन पर आधारित 'स्वाहासुधाकरचम्पू' आदि है।

जैन पुराणों पर आधारित

जैन पुराणों पर आधारित चम्पूओं की संख्या 6 है। इसमें 'यशस्तिलकचम्पू' एक प्रौढ़ ग्रन्थ माना जाता है। इस वृहद् जैन चम्पू काव्य के प्रणेता सोमदेवसूरि अपने पाण्डित्य तथा शास्त्रीय विद्वता के कारण विद्वद्गोष्ठी में अप्रतिम माने जाते थे। इस ग्रन्थ में इन्होंने उस युग की धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया हैं। 'नीतिवाक्यमत' उनकी दूसरी सूत्रात्मकरचना है। जैन पुराणों पर आधारित अन्य रचनाओं में हरिश्चन्द्र प्रणीत 'जीवन्धरचम्पू' है।

ऐतिहासिक एवं सामान्य व्यक्तियों के चरित्र पर आधारित

ऐतिहासिक एवं सामन्य व्यक्तियों के चरित्र पर आधारित चम्पू ग्रन्थ 48 है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग से सम्बद्ध अनेक चम्पूओं की सत्ता है, जिनमें दो प्रमुख है- 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू' तथा ''आनन्दरंगविजयचम्पू''। 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू' की लेखिका तिरूमलाम्बा दक्षिण के विजयनगर के सम्राट अच्युतराय की पट्टमहिषी थी, जिन्होंने अपने पतिदेव की वरदाम्बिका नामक सुन्दरी से प्रणय की कथा का वर्णन किया है। यह चम्पू स्तवकों में विभक्त न होकर एक ही प्रकरण वाला रूचिर ग्रन्थ है।

तीर्थ-यात्राओं पर आधारित चम्पू

इनकी संख्या तीन है इनमें प्रमुख हैं- समरपुंगव दीक्षित का यात्रा- प्रबन्ध। प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने अपने भ्राता की तीर्थ-यात्रा का विस्तार से वर्णन किया है। इसमें उत्तर भारत में तीर्थों की अपेक्षा दक्षिण भारत के तीर्थों का विस्तार से वर्णन है।

स्थानीय देवताओं के चरित्र एवं महोत्सवों पर आधारित चम्पू

इनकी संख्या 25 है। अहोबलसूरि रचित 'विरूपाक्षमहोत्सवचम्पू' में उस समय के विशाल धार्मिक महोत्सव का जीता जागता मोहनीय वर्णन है।

वरदाभ्युदयचम्पू

वेंकटाध्वरी प्रणीत इस चम्पू में लक्ष्मी और नारायण के विवाह का वर्णन है।

अष्टमीमहोत्सवचम्पू

यह नारायण भट्ट की रचना है, इसमें अष्टमी महोत्सव का वर्णन है।

गोपाल चम्पू

यह जीवगोस्वामी (17वीं शती) कृत चम्पू है, इसमें भगवान श्रीकृष्ण की समग्र लीलाओं का वर्णन है।

आनन्दकन्द चम्पू

मित्रमिश्र कृत इस चम्पू में भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है।

दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित

दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित चम्पूओं की संख्या दो है जो द्वैत, अद्वैत व जैन दर्शन पर आधारित है। इस परम्परा में चिरंजीवभट्टाचार्य की विद्वन्मोदतरंगिणी है।

किंवदन्तियों एवं काल्पनिक कथाओं पर आधारित चम्पू-

किंवदन्तियों एवं काल्पनिक कथाओं पर आधारित 5 चम्पू हैं। जिसमें बाणेश्वरविद्यालंकार रचित 'चैत्रचम्पू', चिरञ्जीवभट्टाचार्य रचित 'माधवचम्पू' आदि प्रमुख है।

इस प्रकार हम देखते है कि गद्य-पद्य मिश्रित शैली की परम्परा वेदों से प्रारम्भ होकर ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों आदि में प्रयुक्त होती हुई पौराणिक जीवन्धर आदि चम्पूकाव्यों तक चली आयी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. काव्यादर्श, 1।31
2. काव्यानुशासन
3. साहित्य दर्पण। 7।336
4. ऐतरेय ब्राह्मण। हरिश्चन्द्रोपाख्यान
5. केनोपनिषत। प्रथम खण्ड। तृतीय मन्त्र
6. केनोपनिषत्।
7. कठोपनिषद्। यमनचिकेतोपाख्यान
8. कठोपनिषद्।1।1।3
9. कठोपनिषद्।1।1।4
10. कठोपनिषद्, 1।1।5

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धि

शनि शुक्ल,[*] अमित कुमार[*] एवम् डॉ0 नरेन्द्र शंकर त्रिपाठी[**]

आहार जीवन का आधार है। प्रत्येक प्राणी के जीवन के लिए आहार आवश्यक है। अत्यंत सूक्ष्म जीवाणु से लेकर बृहत्काय जंतुओं, मनुष्यों, वृक्षों तथा अन्य वनस्पतियों को जीवन-यापन के लिये आहार ग्रहण करना पड़ता है। आहार या भोजन के तीन उद्देश्य हैंः (1) शरीर को अथवा उसके प्रत्येक अंग को क्रिया करने की शक्ति देना, (2) दैनिक क्रियाओं में ऊतकों के टूटने फूटने से नष्ट होने वाली कोशिकाओं का पुनर्निम्रण और (3) शरीर को रोगों से अपनी रक्षा करने की शक्ति देना। अतएव स्वास्थ्य के लिए वही आहार उपयुक्त है जो इन तीनों उद्देश्यों को पूरा करें।

''आहार शुद्धो, सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः''[1]

छांदोग्य उपनिषद् में वर्णित मंत्र का तात्पर्य यह है कि आहार की शुद्धि के द्वारा अन्तःकरण एवं बाह्यकरण की शुद्धि सहजतया की जा सकती है तथा करण शुद्ध होने पर विवेक बुद्धि ठीक काम करती है।

व्युत्पत्ति एवं पर्याय

आहार शब्द स्वयम् में व्यापक अर्थ को धारण करने वाला है। संस्कृत साहित्य में 'आहार' शब्द की अनेक व्युत्पत्ति तथा उसके अनेक पर्यायों का वर्णन प्राप्त होता है-

1. **पाणिनि :**पाणिनि के अनुसार 'आङ्' उपसर्गक 'हृ हरणे' धातु में घय् प्रत्यय लगाने से 'आहार' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है भोजन करना।

2. **शब्द कल्पद्रुम :** ('आङ्' + हृ + घय्)

3. **अमर कोश :** अमर कोश के रचयिता ने निम्न शब्दों का उल्लेख आहार के संदर्भ में किया है। जग्धि, भोजन, जेमन, लेपः, निघषः, न्यादः।

4. **हलायुध कोश :** जग्धि, जेमन, न्यादः निघषः, प्रत्यवसानँ, भक्षणम्, आदि पर्यायो का वर्णन हलायुध कोश में प्राप्त होता है।

''आहियते शरीरमनेनेति आहारः'' अर्थात् जिसका ग्रहण किया जा सके ही आहार है, ''आहियते गलाद् अधोनिधते इत्याहारः।

शंकराचार्य द्वारा कृत उपनिषदिक भाष्य में आचार्य शंकर ने भोक्ता के द्वारा भोग्य शब्दादि को भी आहार शब्द का द्योतक स्वीकार किया है।

लोक व्यवहार में आहार शब्द भोजन मात्र को इंगित करता है, अतः यहाँ आहार शब्द के लोक व्यवहार अर्थ, अर्थात् भोजन रूपी अर्थ को ग्रहण कर चर्चा की जा रही है।

योग एवं आयुर्वेद शास्त्रों में आहार को विशेष रूप से वर्णित किया गया है।

योग

अभक्षस्य निव्रित्या तु विशुद्धम् हृदयम् भवेत्।

आहारशुद्धोचित्तस्य त्रिशुद्धिर्भवति स्वतः।[2]

अर्थात् अभक्ष्य आहार के परिहार द्वारा अन्तःकरण (चित्त) की शुद्धि होती है, अतः आहार शुद्धि का विशेष महत्व है। आहार की शुद्धि होने पर चित्त स्वयम् ही शुद्ध हो जाता है।

योग शास्त्र में आहार अत्याहार एवं मिताहार द्विविध आहारो कि चर्चा की गयी है।

अत्याहार; प्रजल्पः च प्रयासो नियमग्रहः।

जनसंगः च लौल्यम् च षड्भिर्योगो विनश्यति।।[3]

(अति+आहार) अर्थात् योग सफलता के मूल बाधक के रूप में प्रथम अत्याहार को बताया गया है, अत्याहार का तत्पर्य आवश्यक से अधिक भोजन ग्रहण से है, तथा अधिक भोजन का ग्रहण योग सिद्धि में बाधक है।

मिताहारम् बिना यस्तु योगारम्भम् तु कारयेत्।

नानारोगो भवेत्तस्य किंचिद्योगो न सिद्धयति।।[4]

मिताहार के बिना जो योगाभ्यास किया जाता है उससे व्यक्ति के शरीर में विविध प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त साधक को योग सिद्धि भी प्राप्त नहीं होती। स्वामी स्वात्माराम ने योग साधनोपयोगि मिताहार को परिभाषित करते हुए लिखा है-

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।

भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।[5]

स्निग्ध अर्थात् घृत आदि से युक्त मधुर तथा कटु कषाय लवण आदि से आयुक्त तथा भोजन जो उदर के चौथाई भाग को खाली रखते हुए लिया जाता है तो उसे मिताहार कहते हैं।

* शोध छात्र, क्रियाशारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, (आई0एम0एस0), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** असिस्टेंट प्रोफेसर (स्टेज-3), क्रियाशारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, (आई0एम0एस0), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अन्नेन पूरयेदर्ध तोयेन तु त्रितियकम्।

उदरस्य तुरीयांस संरक्षेद्वायुचारणे।।[6]

उदर के अर्ध भाग को भोज्य पदार्थ तथा अग्रिम भाग को जल के द्वारा परिपूर्ण करना चाहिए तथा अंतिम भाग को वायु संचरन के लिये रिक्त छोड़ देना चाहिए।

पुनः आहार को अपथ्य तथा पथ्य द्विविध रूप में ग्रहण किया गया है।

योग में अपथ्य

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकम्, सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमपत्स्यान्।

आजादिमासदधितक्रकुलत्थकोलपिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः।।[7]

जो लोग योग साधना में शीघ्र सफलता चाहते हैं उन्हें निम्नलिखित पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये- कड़वा, खट्टा, तीखा, नमक, दाहक पदार्थ हरे शाक कांजी या वेर तेल तिल सरसों और राई मद्य मछली मांस दही मट्ठा कुलथी कोल (काली मिर्च) खली हींग लहसुन प्याज आदि।

भोजनमहितम् विद्यात्पुनरुष्णीक्रितम् रुक्षम्।

अतिलवणमम्लयुक्तम् कदशनम्।।[8]

पुनः गरम किया गया, रुखा, अधिक नमक युक्त, खटाई से युक्त, विकार युक्त शाक प्रधान भोजन आदि अहितकर भोजन है अतः इनका त्याग करना चाहिये।

पथ्याहार

गोधूमशालि- यव- षाष्ठिकशोभनान्न, क्षीराज्यखण्ड नवनीत- सितामधूनि।

शुण्ठीपटोलकफलादिकपंच शाकम्, मुद्गादिदिव्यमुदकम् च यमींद्र पथ्यम्।।[9]

गेहूँ, शालि (पुराना चावल), जौ, (षाष्ठिक) साठी चावल, प्रशस्त अन्न, दूध, घी, नवनीत, शक्कर, मधु, सोंठ, अदरख, परवल आदि के पाँच फल (परवल, लौकी, तुरई, कुष्माण्ड, खीरा), मूंग, मसूर आदि दालें, वर्षा का जल यह सब (यमिंद्र पथ्यम्) संयमी योग साधक के लिये पथ्य आहार हैं, जो योगी के लिये हितकारी हैं।

पुष्टम् सुमधुरम् स्निग्धम् गव्यम् धातुप्रपोषणम्।

मनोभिलषितम् योग्यम् योगी भोजनमाचरेत्।।[10]

योग साधना करने वाला (योगी) बलदायक मधुर घी और धातुओं को पुष्ट करने वाला रुचिकर और अनुकूल भोजन करे।

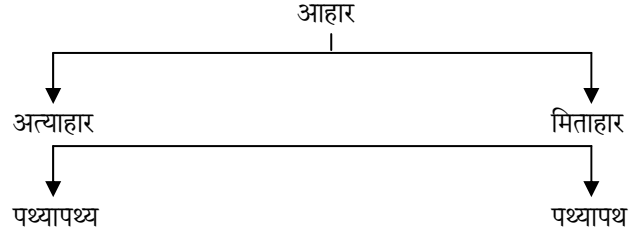

आयुर्वेद

आयुर्वेद के अनुसार शरीर का पोषण पंचभौतिक आहार से होता है, **''पंचभूतात्मकमके देहे ह्याहारः पांचभौतिकः''**[11] पांचभौतिक शरीर द्वारा ग्रहणीय आहार सम्यक् पाचनोपरांत अपने-अपने पंचभौतिक गुण वाले शरीर के अंगों या धातुओं को पोषित करते हैं।

पाश्चात्य विज्ञान ने पंचमहाभूतो कि सत्ता अस्विकार करते हुए ऑक्सीजन, कार्बनडाई आदि तत्वों से जगत एवं शरीर की रचना स्वीकार किया है, तथा यह सारे तत्व ही हमारे शरीर में प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेड, लवण एवं जल के रूप में विद्यमान हैं, ऐसा स्वीकार किया है।

ग्रहणीयदृष्टि से भोजन के- भक्ष्य, भोज्यम, लेह्यम्, चोष्यम्, पेयम रूप पाँच भेद हैं।

भक्ष्य- ग्रहण करने योग्य कोमल पदार्थ

भोज्यम्- ग्रहण करने योग्य कठोर पदार्थ

लेह्यम्- चाटने योग्य भोजन

चोष्यम् – चूसने योग्य भोजन

पेयम्- पीने योग्य

शरीर का पोषण सर्वगुण से युक्त आहार द्वारा होता है तथा जठराग्नि में पाक के उपरांत रस स्वरूप में यही आहार शरीरावस्थित सप्त धातुओं का पोषण करता है। आचार्य चरक द्वारा त्रिस्तम्भो में आहार सर्वप्रथम आगणित है।

''त्रय उपस्तम्भा इति- आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति''।[12]

त्रिविध प्रधान स्तम्भ वात- पित्त- कफ के अनन्तर, उपस्तम्भो में आहार की चर्चा प्रथम की गयी है, क्यों कि रस, वातादि दोष तथा सप्त धातुओं के निर्माण हेतु आहार ही मुख्य है। आहाराभाव में शरीराभाव कि स्थिति साधारणतया देखी जा सकती है।

''प्राणाः प्राणभ्रितामन्नमन्नम् लोकोभिधावति''[13]

अर्थात् अन्न (आहार) ही सभी प्राणियों का प्राण है, इसलिए प्राणीमात्र इसे ग्रहण करने हेतु आतुर रहते हैं।

''तुष्टिः पुष्टिर्बलम् मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठित्''[14]

शारीरिक वर्ग, प्रसन्नता, सुख, पुष्टि, बल, मेधा, यह सब अन्न के द्वारा प्राप्य है।

लौकिकम् कर्म यद् त्रित्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्।

कर्मापवर्गे यच्चोक्तम् तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्।।[15]

लौकिक कर्म, वैदिक कर्म तथा मोक्ष साधन परक कर्म यह सब अन्न के ही अधीन है, अर्थात् अन्न ग्रहणान्तर प्राप्त ऊर्जा के बिना यह कर्म सम्भव नहीं हैं अतः अन्न (आहार) सर्वश्रेष्ठ है।

आहार ग्रहण विधि

चरक द्वारा रचित चरक संहिता के विमान स्थानान्तर्गत द्वितीय अध्याय में त्रिविधकुक्षीय की व्याख्या की गयी हैं।

त्रिविधम् कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुन्ज्यनः, तद्यथा कमवकाशांशं मूर्त्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातविश्वलेश्लेष्मणाम्। एतावतीं घाहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति॥[16]

चरक संहिता विमानस्थान अध्याय

आहार ग्रहण करते समय कुक्षि (उदर) में तीन प्रकार के अवकाश धारण करने चाहिए। प्रथम भाग को द्रव्य (ओदनादि) से परिपूर्ण करे, द्वितीय भाग को द्रव (क्षीरादि) पदार्थों के द्वारा परीपूर्ण करना चाहिए तथा अंतिम भाग को वात-पित्त-कफ हेतु रिक्त रखना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥[17]

युक्त = यथायोग्य आहार ग्रहण, यथायोग्य विहार, कर्मों में यथा-योग्य चेष्टा करना, तथा यथायोग्य शयन एवं जागरण दुःखो का नाशक तथा योगसिद्धि प्रदायक होता है।

''आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः''[18]

श्रीमद्भगवद्गीता में सत्विक-राजसिक-तमसिकाश्रित्य त्रिविध व्यक्तित्व तथा तत्-प्रकृति के अनुसार प्रिय त्रिविध आहार की चर्चा की गयी है।

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृदया आहाराः सात्विकप्रियाः॥[19]

सात्विक पुरुष प्रिय आहार स्वीकार किया गया है जो ''आयु, सत्व, बुद्धि, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला, रस-युक्त, चिकने और स्थिर (जिस भोजन का सार शरीर में बहुत काल तक रहता है, उसको स्थिर रहने वाला कहते हैं) तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगे''।

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।

आहार राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥[20]

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार को राजसिक पुरुष-प्रिय आहार स्वीकार किया गया है।

यातयाम गतरसम् पूति पर्युषितम् च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यम् भोजनम् तामसप्रीयम्॥[21]

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है, तथा जो अपवित्र भी है, वह आहार तामसिक पुरुष को प्रिय होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में शास्त्र निहित उपवासादि का पालन तथा अन्य का निषेध करते हुए कहा गया है-

कर्शयन्तः शरीरस्थम् भूतग्राममचेतसः।

मा चैवान्तः शरीरस्थम् तांविध्यासुरनि निस्चयान्॥[22]

जो शरीर रूप से स्थित भूतसमुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश (शास्त्र से विपरित उपवासादि से शरीर को सुखाना तथा भगवत अंश जीवात्मा को क्लेश देना) करने वाले हैं। उन अज्ञानियों को तू असुर स्वभाव वाला जान।

विषम परिस्थितियों में भक्षाभक्ष्य विचार

साधक को अन्न के विषय में भक्षाभक्ष्य का विचार रखना चाहिए या नहीं, तद् विषयक चर्चा आचार्य शंकर द्वारा ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्यायान्तर्गत की गयी हैं।

''सर्वान्नानुमतिः च प्राणात्यये तद्दर्शनात्''[23]

प्राणात्यये = अर्थात् अन्नाभाव में प्राणाभाव की स्थिति होने पर ही, सर्वान्नानुमतिश्य = (सर्व अन्न अनुमति च) सर्व प्रकार के अन्न को ग्रहण करने की अनुमति, तद्दर्शनात् = श्रुतियों में देखी गयी हैं।

छांदोग्य उपनिषद् में-

''मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायणा इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास''[24]

ओलापात होने से कुरू देश में खेती के चौपट हो जाने पर वहाँ ग्राम के भीतर उषस्ति अपनी पत्नी के साथ दुर्गति की अवस्था में रहता था, उसने घुने हुए चने खाने वाले एक महावत से चने प्रदान करने की याचना की। जूठा होने के कारण महावत उषस्ति को चने नहीं देना चाहता था, किंतु आग्रह करने पर महावत ने वे चने उसे दे दिये तथा पीने के लिये पास में रखे जल को लेकर बोला भाई ''यह अनुपान भी लो''। इस पर उषस्ति ने बोला- ''इसे लेने से मेरे द्वारा निश्चय ही उच्छिष्ट जल पीया जायेगा''?

महावत ने कहा- ''क्या ये चने भी उच्छिष्ट नहीं है?

उषस्थि ने कहा ''इन्हें बिना खाये तो मैं जीवित नहीं रह सकता था, किंतु जलपान तो मुझे यथेच्छ मात्रा में मिलता है'' इस प्रकार का उत्तर देकर चने खाकर वह बचे हुए चनों को अपनी पत्नी के लिये ले आया।

उपसंहार

''श्रुति में वर्णित यह कथा इस बात की पुष्टि करती है कि प्राण संकट की स्थिति होने पर अपवित्र तथा उच्छिष्ट अन्न भक्षण किया जा सकता है, किंतु साधारण परिस्थिति में मनुष्य को अपने आचरण तथा आहार की पवित्रता के संरक्षण सम्बन्धित नियम का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये''। जीवन में स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मन की अवस्थिती को बनाये रखने हेतु संतुलित आहार का ही सेवन करना चाहिये। आहार शरीर में शक्ति प्राप्त करने का प्रमुख साधन है त्रि उपस्तम्भ आहार निद्रा ब्रम्हचर्य में आहार को प्रथम स्थान दिया गया है आहार शरीर ही नहीं मानसिक तथा अध्यात्मिक शक्ति के लिए भी अत्यंत उपयोगी है, आहार पञ्चभौतिक षड् रसात्मिक के साथ-साथ मानसिक (सत्व रज तम) को भी प्रभावित करने वाला कारक है, इस प्रकार से हम यह कह सकते है कि ग्रहण किया गया आहार शारीरिक दोषों अर्थात् वात पित्त कफ को ही नहीं ठीक करता बल्कि सत्व रज तथा तम जैसे मानसिक रोगों का भी नियंत्रण करता है।

सन्दर्भ

1. छान्दोग्य उपनिषद् 7/26/2
2. पाशुपत ब्राह्मण घेरण्ड-संहिता
3. हठयोगप्रदीपिका 1/15
4. घेरण्ड-संहिता 5/16
5. हठयोगप्रदीपिका 1/60
6. घेरण्ड-संहिता 5/22
7. हठयोगप्रदीपिका 1/61
8. हठयोगप्रदीपिका 1/63
9. हठयोगप्रदीपिका 1/64
10. हठयोगप्रदीपिका 1/66
11. सुश्रुत संहिता 46/533)
12. चरक संहिता 11/35
13. चरक संहिता 27/349
14. चरक संहिता 27/350
15. चरक संहिता 27/50
16. चरक संहिता पृ0सं0 686-687
17. भगवद्गीता 6/17
18. भगवद्गीता 17/7
19. भगवद्गीता 17/8
20. भगवद्गीता 17/9
21. भगवद्गीता 17/10
22. भगवद्गीता 17/6
23. ब्रह्मसूत्र 3/4/28
24. छान्दोग्य उपनिषद् 9/10/1

सन्दर्भ ग्रन्थ

- छान्दोग्य उपनिषद्
- पाशुपत्य ब्राह्मण
- हठ योग प्रदीपिकाः परमहंस स्वामी अनन्त भारती, चौखम्भा ओरियन्टालिया पृ0सं0 ISBN No. 978-81-89469-52-8पृ0सं0 8,16,33,34,35
- घेरण्ड संहिता चौखम्भा ओरियन्टालिया ''पल्लवी'' हिन्दी व्याख्या, पृ0सं0 56,57
- चरक संहिता-सविमर्श 'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या, चौखम्भा, पृ0 सं0 686-687
- श्रीमद्भगवद्गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर (1566)- ISBN No. 81-293-1238-7
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - गीताप्रेस, गोरखपुर पृ0 सं0 96, 253, 254, 255

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पुत्री के लिए प्रयुक्त शब्दों का विवेचन

नेहा मिश्रा एवम् प्रो. विभा रानी दुबे***

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्याकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं जिनकी रचना अभिज्ञानशाकुन्तलम् विश्वप्रसिद्ध नाट्यग्रन्थ है। जो कि भारतीय मनीषियों के मानस पटल पर ही नहीं बल्कि विदेशी मनीषियों के भी मानस पटल पर अङ्कित है। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिज्ञानशाकुन्तल में महाकवि कालिदास ने पुत्री के लिए विविध अभिधानों का प्रयोग किया है उन अभिधानों की अन्वर्थता को व्याख्यायित करना ही हमारे शोध पत्र का विषय है। वे अभिधान निम्न प्रकार से प्रस्तुत किये जा रहे है-

1- दुहिता

राजा दुष्यन्त महर्षि कण्व के आश्रम में एक तपस्वी से जब पूछते हैं कि क्या यहाँ महर्षि कण्व हैं? तब तपस्वी उत्तर देता है कि इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।[1]

अर्थात् महर्षि कण्व इस समय अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि सत्कार में नियुक्त करके इसके प्रतिकूल भाग्य के शमन हेतु सोमतीर्थ गये हैं।

यहाँ महाकवि कालिदास ने पुत्री के लिए दुहितृ शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् यहाँ दुहितृ शब्द के प्रयोग से महाकवि शकुन्तला में दुहितृत्व लाना चाहते थे।

द्वयोः कुलयोः हितकरत्वेन इति दुहिता।[2] अर्थात् जो पिता एवं पति दोनों कुल के लिए हितकारिणी हो।

महर्षि व्यास ने भी महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में शकुन्तला के लिए दुहितृ शब्द का प्रयोग किया है-

महर्षि कण्व की उक्ति है-

निर्जनेऽपि महारण्ये शकुनैः परिवारितम्।

आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम्॥[3]

अर्थात् महर्षि कण्व ने पक्षियों से घिरे हुये उस कन्या को पुत्री के पद पर प्रतिष्ठित किया यहाँ पुत्री के लिए दुहिता शब्द का इसलिए प्रयोग है क्योंकि महर्षि कण्व उस कन्या को इस तरह से संस्कारित करना चाहते थे जो दोनों कुलों के लिए हितकारिणी हो। अर्थात् पिता कुल तथा पति कुल दोनों का हित करने वाली हो।

2- कन्या

अनसूया – गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः सङ्कल्पः।[4]

यहाँ अनसूया प्रियंवदा से कह रही कि कन्या गुणवान् वर को दे देना चाहिए यह तो माता-पिता का प्रथम सङ्कल्प होता है यहाँ कन्या शब्द के प्रयोग का अभिप्राय है- अविवाहिता पुत्री। अर्थात् अविवाहिता पुत्री के लिए तो माता-पिता का प्रथम सङ्कल्प होता है कि वे उसे किसी गुणवान् वर को सौंप दें।

यदि यहाँ कन्या शब्द के अतिरिक्त अन्य शब्द का प्रयोग करते तो यह अभिप्रेत अर्थ द्योतित न होता।

कन्या - कन् + यक् + टाप्[5]

जैसे महर्षि व्यास को कानीन कहा जाता है क्योंकि सत्यवती जब कन्या अवस्था में थीं अविवाहित थीं तभी सत्यवती व महर्षि पराशर से महर्षि व्यास का जन्म हुआ था।

3- तनया

अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।

स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥[6]
यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्या

कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्ति कलुष श्चिन्ताजडंदर्शनम्।

वैक्लव्यं मम् तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः

पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः॥[7]

अर्थात् महाकवि कालिदास ने यहाँ पुत्री के लिए तनया शब्द का प्रयोग किया है। तनया शब्द तनु विस्तारे धातु से कयन् प्रत्यय के योग से बना है।

तनोति विस्तारयति कुलम् – तन् + कयन् = तनय। 1 पुत्र, 2 सन्तान, लड़का या पुत्री[8] अजाऽऽद्यतष्टाप्[9] सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय-तनय + टाप् > आ तनया।

अर्थात् कुल का विस्तार करने वाली पुत्री। यहाँ महाकवि कालिदास शकुन्तला में दुष्यन्त के कुल का विस्तार करने वाली।

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोध निर्देशिका, संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इस भाव को लाना चाहते थे। शकुन्तला ने भरत जैसे पुत्र को जन्म देकर दुष्यन्त के कुल का विस्तार किया। इसी अभिप्रेत अर्थ के द्योतन के लिए महाकवि ने यहाँ पुत्री के लिए तनया शब्द का प्रयोग किया है। यदि यहाँ तनया के स्थान पर कन्या, दुहिता, जाता, बाला आदि शब्द रखते तो यह अभिप्रेत अर्थ न द्योतित होता।

4- सुता

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।

मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनूषि चूतशरश्च निवेशितः॥[10]

यहाँ महाकवि ने पुत्री के लिए सुता शब्द का प्रयोग किया है सु + क्त। जन्म दिया गया, उत्पादित, पैदा किया गया, पुत्र।[11]

सुत शब्द से अजाऽऽद्यतष्टाप्[12] सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् (आ) प्रत्यय सुत + टाप् = (आ) = सुता = पुत्री। महाकवि ने शकुन्तला को जन्म दिया गया अर्थात् मेनका और विश्वामित्र के द्वारा उत्पन्न शकुन्तला। इस अभिप्राय से सुता शब्द का प्रयोग किया है। इस अभिप्राय का द्योतन अन्य बाला, अपत्य, दुहिता आदि शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता था।

5- अपत्य

सुरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।

अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्॥[13]

यहाँ महाकवि ने पुत्री के लिए अपत्य शब्द का प्रयोग किया है।

न पतन्ति पितरोऽनेन – नञ् + पत् + यत्- सन्तान, बच्चे, प्रजा, सन्तति।[14]

जो पितरों को उनके स्थान या मर्मादा से भ्रष्ट न करे। शकुन्तला में इस अपत्यत्व भाव को लाने के लिए ही महाकवि ने यहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है। शकुन्तला ने इस अपत्यत्व को सार्थक किया भरत जैसे पुत्र को जन्म देकर। जिससे भारत देश का नाम पड़ा इससे उनके पितरों के यश में वृद्धि हुयी। इस प्रकार शकुन्तला ने अपत्यत्व धर्म को भी सार्थक किया।

6- बाला

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति में विदितम्।

अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम्॥[15]

बाल + टाप् बाल शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में अजाऽऽद्यतष्टाप्[16] सूत्र से टाप् प्रत्यय। बाला शब्द बना।

1. लड़की, कन्या

2. सोलह वर्ष से कम आयु की युवती।

3. तरुणी युवती।[17]

अर्थात् शकुन्तला 16 वर्ष से कम आयु की है वह अभी युवावस्था में प्रवेश ही कर रही हैं यहाँ राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए बाला शब्द का प्रयोग किया है जिससे उनका श्रृंङ्गारिक भाव द्योतित हो रहा है वे शकुन्तला को एक मुग्धा नायिका के रूप में सम्बोधित कर रहे हैं। मुग्धा नायिका का लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इस प्रकार से दिया है-

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रसौ वामा।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥[18]

अर्थात् जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम भावना का आरम्भ हो चुका हो जिसे रतिलीला में झिझक होती हो जिसका प्रणयकोप कोमलता लिये हो और अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम प्रकाशन में विवश रहा करें। दुष्यन्त शकुन्लता के इस मन की भावनाओं को जान रहे हैं कि वह उनके ऊपर आसक्त है लेकिन वह लज्जा के कारण प्रेम प्रकाशन में विवश हैं वह अपने पिता महर्षि कण्व के पराधीन है। इसी अभिप्राय से राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए बाला शब्द का प्रयोग किया है।

7- वत्सा

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे

विभवगुरूभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं

मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥[19]

यहाँ महाकवि ने शकुन्तला के लिए वत्से सम्बोधन का प्रयोग किया है। यह उक्ति महर्षि कण्व की है।

वत्सः - वद् + सः = वत्सः

1. बछड़ा, 2. लड़का (यह शब्द इस अर्थ में बहुधा सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होता है। वात्सल्य द्योतक शब्द मेरे प्रिय मेरे लाल आदि शब्दों में व्यवहृत)[20] इसी वत्स शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय हो जाता है। अजाऽऽद्यतष्टाप्[21] सूत्र से टाप् प्रत्यय वत्स + टाप् > आ = वत्सा।

वत्से इस शब्द के प्रयोग से एक पिता का पुत्री के प्रति स्नेहाधिक्य द्योतित हो रहा है। स्नेह के कारण ही महर्षि कण्व शकुन्लता की विदाई के समय अत्यन्त ही करुणा से आर्द्र हो जाते हैं यह सोचकर कि आज शकुन्तला पतिगृह जा रही है स्नेह भाव के कारण ही उन्होंने कहा कि जब मुझ वनवासी की यह स्थिति है तो गृहस्थ लोगों की क्या स्थिति होती होगी।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया-

कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडंदर्शनम्।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदंस्नेहादरण्यौकसः,

पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेषदुःखैर्नवैः॥[22]

उन्होंने स्नेह के कारण यह भी कहा कि-

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन

स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

सामान्य प्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया

भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः।।[23]

सा अर्थात् वह शकुन्तला मा अर्थात् नहीं अन्य अर्थात् अन्य दारेषु अन्य पत्नियों के समान नहीं देखी जानी चाहिये। अर्थात् यह तुम्हारे द्वारा विशेष रूप से देखी जानी चाहिये क्योंकि बन्धु बान्धवों के द्वारा कराया गया विवाह नहीं है बल्कि तुमने अपने प्रेम के कारण इससे विवाह किया है उस स्नेह को याद करना।

यहाँ महर्षि कण्व के हृदय में शकुन्तला उनके निःश्वास की तरह हैं यह उनके वत्से इस सम्बोधन से द्योतित हो रहा है।

अकथितं किञ्चित् नामक ग्रन्थ में कहा भी कहा गया है कि स्नेह के बिना इस पृथ्वी पर कभी भी सुख नहीं है पशु पक्षियों का भी हृदय स्नेह से ही बँधा होता है।

स्नेहोऽपराश्रय इति प्रथितं हि लोके

स्नेहं विहाय भुवि नास्ति सुखं कदापि।

स्नेहेन बद्धहृदयाः पशुपक्षिणोऽपि

जीवन्ति चान्यभुवनान्यपि जीवयन्ति।।[24]

8- जाते

गौतमी – जाते !

ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञागमनाऽसि तपोवनदेवताभिः।[25]

यहाँ गौतमी ने शकुन्लता को ''जाते'' इस सम्बोधन से सम्बोधित किया है इसका अभिप्राय यह है कि उनका शकुन्तला से अतिशय स्नेह है उन्होंने शकुन्तला को बाल्यकाल से ही पाला है अतः वह उनके लिए बेटी के समान हैं और उसमें उनका स्नेहाधिक्य है।

जाता

जन + क्त अस्तित्व में लाया गया, जन्म दिया गया।

जन् – तः = पुत्र, बेटा।

नाटकों में प्रायः स्नेह या प्रेम के द्योतक अर्थ में प्रयुक्त होता है[26] स्त्रीत्व की विवक्षा में अजाऽऽद्यतष्टाप्[27] सूत्र से टाप् प्रत्यय होकर जात + टाप् > आ = जाता।

यहाँ गौतमी ही शकुन्तला की पालयित्री माँ है उन्होंने ही शकुन्तला का पालन पोषण किया। इसी अभिप्रेत अर्थ के द्योतन के लिए यहाँ जाते! सम्बोधन का प्रयोग है।

9- अर्थ

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।

जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।[28]

यहाँ महर्षि कण्व ने शकुन्तला को परकीय धन कहा है महर्षि कण्व शकुन्तला को उसके पतिगृह भेजकर कह रहे हैं कि पुत्री तो पराया धन है जिसे उसके स्वामी को समर्पित कर देने पर मेरा मन धरोहर लौटा देने वाले व्यक्ति की भाँति अत्यन्त ही निश्चिन्त हो गया है। इस अभिप्राय से यहाँ पुत्री को महाकवि ने ''अर्थ'' कहा है।

10- वधू

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन

स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

सामान्य प्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया

भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः।।[29]

यहाँ महाकवि ने शकुन्तला के लिए वधू शब्द का प्रयोग किया है। यह महर्षि कण्व की उक्ति है महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उनके लिए वधू शब्द का प्रयोग करते है इस शब्द के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि शकुन्तला विवाहिता है और वह पति के घर जा रही है तो उस 'वधूत्व' भाव को लाने के लिए ही महर्षि कण्व ने यहाँ शकुन्तला को वधू शब्द से सम्बोधित किया है। जिससे अभिप्रेत अर्थ द्योतित हो रहा है।

इस प्रकार हमारे विवेच्यग्रन्थ अभिज्ञानशाकुन्तलम में महाकवि कालिदास ने पुत्री के लिए दुहिता, कन्या, तनया, सुता, अपत्य, बाला, वत्सा, जाते, अर्थ, वधू इन अभिधानों का प्रयोग किया है जिसकी अन्वर्थता को सिद्ध करना ही हमारे शोध पत्र का विषय था।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है कि शब्द में अर्थ की अभिव्यक्ति प्रदान करने की सामर्थ्य निहित हो ऐसे शब्द और अर्थ महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य है।

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।[30]

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, व्याख्याकार डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, सपना अशोक प्रकाशन पृ.सं. 22
2. प्रो0 गोपबन्धु मिश्र प्रणीत, अकथितं किञ्चित् (द्वितीयक स्रोत), प्रकाशन संस्कृत भारती, उ0प्र0, वाराणसी, पृ0 सं0 10
3. महाभारत/1/72/14
4. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, व्याख्याकार डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, सपना अशोक प्रकाशन पृ.सं. 135
5. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश

6. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान. 1/28
7. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान. 4/6
8. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश
9. अष्टाध्यायी 4/1/4
10. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./6/8
11. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश
12. अष्टाध्यायी/4/1/4
13. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./2/8
14. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश
15. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./3/2
16. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./4/1/4
17. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश
18. साहित्यदर्पण/3/58
19. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./4/19
20. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश
21. अष्टाध्यायी 4/1/4
22. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./4/6
23. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान./4/17
24. प्रो. गोपबन्धु मिश्र प्रणीत अकथितं किञ्चित्, प्रकाशन संस्कृत भारती, उ0प्र0, वाराणसी, पृ. 89
25. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, व्याख्याकार डॉ. उमेश प्रसाद सिंह, सपना अशोक प्रकाशन पृ.सं.162
26. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश
27. अष्टाध्यायी 4/1/4
28. महाकवि कालिदास प्रणीत, अभिज्ञान0 4/22
29. वहीं 4/17
30. आचार्य आनन्दवर्द्धन प्रणीत ध्वन्यालोक 1/8

●

तुलसीदास की प्रासंगिकता : वर्ण व्यवस्था और स्त्री-मुक्ति के विशेष संदर्भ में

प्रो. अशोक सिंह एवम् दीप्ति***

तुलसीदास मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसी का समस्त काव्य विशेषत: 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'कवितावली' महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। तुलसीदास हिन्दी के जितने बड़े कवि हैं उनके अन्तर्विरोध भी कमोबेश उतने ही बड़े हैं। जिस कवि में जितने अन्तर्विरोध होते हैं वह अपने युग का उतना ही महान कवि होता है। कबीर और तुलसी इसके जीवंत उदाहरण हैं।

नि:सन्देह तुलसीदास विश्वकवि और लोकप्रिय कवि हैं। कविता के क्षेत्र में, लोक-साहित्य में तुलसी का काव्य अन्यतम और उत्कृष्ट है किन्तु उनकी प्रासंगिकता उनके समस्त काव्य की संभावनाओं, सीमाओं और अंतर्विरोधों पर निर्भर करती है।

भारतीय संस्कृति, समाज एवं इतिहास में तुलसी भक्ति के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक आदर्श तो स्थापित करते हैं किन्तु वहीं अक्सर वर्ण-व्यवस्था और स्त्री-मुक्ति के संदर्भ में सदैव प्रश्नांकित और विवादित भी ठहरते हैं।

शास्त्रमत और लोकमत में तुलसीदास

संसार में प्रत्येक वस्तु की निर्मिति की एक विशेष संरचना होती है जिसे पारिभाषिक शब्दों में शास्त्र कहा जाता है। इस प्रकार से कविता का भी एक शास्त्र होता है। किसी भी रचना के दो आधार स्तम्भ होते हैं एक, उसकी अर्न्तवस्तु और दूसरा उसका शिल्प (जिसे आज भाषा कहा जाता है)। इन दोनों में ही तुलसी का साहित्य बेजोड़ है। तुलसी के काव्य में शास्त्रगत और लोकमत का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। इसे हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ''समन्वय की विराट् चेष्टा''[1] कहा है।

शास्त्रगत और लोकमत के समंवय को लेकर तुलसीदास की बहुत आलोचना की जाती है। इस संदर्भ में डॉ० नामवर सिंह के मत में भक्ति के उदय से संबंधित निम्न टिप्पणी सार्थक प्रतीत होती है जो अप्रत्यक्ष रूप से तुलसी के सगुण-निर्गुण समंवय की ओर संकेत करती है- ''भक्ति के उदय को जो शास्त्र का आधार लेकर प्रस्फुटित हो रही थी उसे लोक की ओर स्वाभाविक रूप से बाह्य होकर झुकना पड़ा । यह स्वाभाविक है स्वत: स्फूर्त नहीं अर्थात् विवशता अधिक है।''[2]

इस संदर्भ में गजानन माधव मुक्तिबोध का 'मध्ययुगीन भक्ति का एक पहलू' शीर्षक लेख भी उल्लेखनीय है।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का इस विषय में दूसरा विचार है। वे कहते हैं-

''शास्त्रीयता को लोकग्राह्य कैसे बनाया जाए, यह तुलसी की मुख्य रचना-समस्या है जिसमें वे हर दृष्टि से सफल हुए हैं। 'भाखा' में काव्य-रचना करके वे लोक में प्रिय होते हैं और शास्त्रीय मर्यादा का निर्वाह करके क्रमश: पंडितों में।''[3]

उन्होंने तुलसीदास को मानव-मन और रचना-कर्म की सूक्ष्म गहराइयों तक पैठ बनाने वाला कवि कहा है। अनेक विद्वान तुलसी के काव्य को ''काव्यमयकान्तासम्मित उपदेश''[4] कहते हैं।

तुलसीदास के शास्त्रमत और लोकमत को लेकर चाहें जितनी भी आलोचना-प्रत्यालोचना हो किन्तु निर्विवादित रूप से यह सत्य है कि तुलसीदास का लोकमत, लोकधुन और लोक-संस्कृति से गहरा लगाव है। इस संदर्भ में लोकप्रसिद्ध गायिका मालिनी अवस्थी की निम्न टिप्पणी उपयुक्त है-

'''रामचरितमानस' लिखने की प्रेरणा हो न हो, मुझे लगता है तुलसीदास को लोक साहित्य से ही मिली है जिस पर किसी एक लेखक की मुहर नहीं हैं।''[5]

डॉ मैनेजर पाण्डेय के अनुसार- ''तुलसी के काव्य का दूसरा पक्ष वह है जिसके आगे पीछे कोई शास्त्र नहीं है वहाँ लोक-जीवन का व्यापक अनुभव है। उनका अपना चिन्तन है और गहरी सहृदयता है।''[6]

हिन्दी आलोचना में तुलसीदास

हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० रामविलास शर्मा आदि आलोचकों ने अपने-अपने स्तर पर तुलसीदास का उचित मूल्यांकन किया है। इनमें आचार्य शुक्ल अग्रणी हैं। शुक्ल जी ने अपनी ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचनात्मक विवेक से नि:सन्देह तुलसीदास का बेहतरीन मूल्यांकन किया है किन्तु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि स्थान - स्थान पर यह प्रतीत होता है कि

* प्रोफेसर,डीन, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तुलसी राम के भक्त हैं और शुक्ल जी तुलसी के अंधभक्त हैं। उन्हें तुलसीदास के वर्ण-व्यवस्था और स्त्री-मुक्ति वाले संदर्भ से असुविधा तो जरूर होती है लेकिन वे इस उलझन को उनके बचाव-पक्ष में विलीन कर देते हैं।

परवर्ती आलोचकों ने भी आचार्य शुक्ल की तुलसी संबंधी आलोचना को समर्थित ढंग से विस्तार दिया है। जहाँ एक ओर डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी उनके काव्य-कौशल पर ही मुग्ध होते रहते हैं वहाँ दूसरी ओर डॉ० रामविलास शर्मा भक्तिकाल के कबीर, जायसी, सूर तथा मीरा आदि के महत्वपूर्ण अवदान को उपेक्षित करके तुलसीदास को ही एकमात्र भक्ति-आन्दोलन का निर्माता बताते हैं। इन दोनों से आगे जाकर दृष्टि डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी के तुलसी-संबंधी मूल्यांकन पर जाकर ठहरती है तो वहाँ भी ''तुलसी की कविताई''[7] और ''तुलसी के राम''[8] को कैसे वाल्मीकि और भवभूमि के राम से श्रेष्ठ सिद्ध करें, इसी की चिंता अधिक दिखलायी देती है।

इस प्रकार से अब तक तुलसीदास का मूल्यांकन एकपक्षीय और अधूरा ही हुआ है। इस एकपक्षीयता और अधूरेपन को डॉ० शिवकुमार मिश्र ने पूरा किया है। जिस प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में तुलसी पूर्णता के कवि हैं ठीक उसी प्रकार मिश्र जी का तुलसी संबंधी मूल्यांकन पूर्णता की ओर अग्रसर मूल्यांकन है। वे न केवल उनके लोकप्रिय कवि होने, उनकी संभावनाओं, सीमाओं और अन्तर्विरोधों के कारणों की सुसंगत तरीके से तलाश करते हैं अपितु साथ ही साथ आलोचकों की तुलसी संबंधी आलोचना की भी बेहतरीन आलोचना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार –

''किसी भी रचनाकार पर और यदि वह बड़ा रचनाकार है, तो खासतौर पर, कोई भी निर्णायक अभिमत तब तक नहीं दिया जाना चाहिए जब तक उस रचनाकार को उसकी समग्रता में, उसके संपूर्ण विकास-क्रम के साथ देखा और परखा न जाय। उसकी रचनायात्रा के किसी खास-पहलू पर, या उसकी किसी एक ही रचना पर आधारित निर्णय प्राय: उसे आधा-अधूरा, अप्रामाणिक रूप से ही जानना होगा।''[9]

इसके प्रश्चात् डॉ० नित्यानन्द तिवारी द्वारा भी किया गया तुलसी संबंधी मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत वे ''तुलसीदास को संघर्ष और तनाव का बड़ा कवि'' मानते हुए उन्हें उत्तर-आधुनिक चश्में से देखने वाली आलोचना दृष्टि के विरोध में दिखलायी देते हैं। उनके अनुसार ''तुलसी में मध्यकालीन और आधुनिक के बीच क्या जोड़ने वाली या मध्यकाल से आधुनिक युग तक आने वाली परिवर्तित होते हुए भी जो निरंतरता है, या तो हम उसे खोजें तब तुलसीदास की प्रासंगिकता की बात होगी।''[10] अन्यथा आज की समस्याओं को उनके साहित्य में खोजेंगे तो फिर वह तुलसी का टेक्स्ट होगा या नहीं किन्तु वह हमारा टेक्स्ट जरूर हो जाएगा।

तुलसीदास का वर्णव्यवस्था संबंधी दृष्टिकोण

प्राय: तुलसीदास पर वर्णव्यवस्था के समर्थक तथा स्त्री – स्वतन्त्रता के विरोधी होने के आरोप लगाए जाते हैं। नि:सन्देह इस बात से इंकार नही किया जा सकता। ये दोनों ही मुद्दे तुलसीदास के अन्तर्विरोध भी हैं और सीमाएँ भी किन्तु तुलसी समर्थक आलोचक अक्सर कुतर्कों के माध्यम से तुलसीदास का बचाव करते है। इस संदर्भ में डॉ० शिवकुमार मिश्र की निम्न टिप्पणी उपयुक्त प्रतीत होती है-

''खेद का विषय है हिन्दी में अभी भी गोस्वामी जी या उनके 'रामचरितमानस' के नाम मात्र से विहवल होकर उनकी चर्चा करने वाले तथाकथित समीक्षकों का ही बाहुल्य है, उनके युग के तथा स्वत: उनके वैचारिक अन्तर्विरोधों के बीच से उनकी सीमाओं तथा उनकी शक्ति की पड़ताल करने के प्रयास कम हुए है।''[11]

उन्होंने आगे एक ओर महत्त्वपूर्ण कथन कहा है- ''स्त्रीमुक्ति-दलितमुक्ति-दबी कुचली अस्मिताओं के हमारे समय के मुक्ति अभियानों और उनसे जुड़े विमर्शों में गोस्वामी तुलसीदास का समाज दर्शन अप्रासंगिक है।''[12]

मिश्र जी ने अपनी पुस्तक ''भक्ति-आंदोलन और भक्तिकाव्य'' में तुलसीदास के चार महत्वपूर्ण रूपों- 'व्यक्ति', 'भक्त', 'कवि' तथा 'लोकव्यवस्थापक' की विशद व्याख्या की है। उनके मत में तुलसीदास को लोक-व्यवस्थापक रूप से उपजी उनकी विवादास्पद धारणाओं ने उनके 'व्यक्ति' 'भक्त' और 'कवि' रूप की पारदर्शी, प्रशस्त, महनीय और लोकप्रिय छवि को आहत और क्षतिग्रस्त किया है।

उनके लोक-व्यवस्थापक रूप से उन पर पुरानपंथी, यथास्थितिवादी होने जैसे आरोप लगते हैं। डॉ० मिश्र ने तुलसीदास के लोक-व्यवस्थापक रूप से जुड़ी उनकी विवादास्पद सामाजिक सोच के पहलुओं को आचार्य शुक्ल के लिखे हुए को आधार-प्रमाण मानकर तुलसी-संबंधी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं-

- तुलसीदास को आर्यशास्त्रानुमोदित, वेदविहित वर्ण तथा आश्रम-व्यवस्था पूरी तरह मान्य है।
- वर्णाश्रम-व्यवस्था पर किसी भी तरह की आपत्ति को वे लोक-विरोधी मानते हैं।

- लोकधर्म का आदर्श उनके अनुसार तभी स्थापित होगा जब विविध वर्णों के लोग अपने-अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पूरी तरह निर्वाह करेंगे। ऐसा न करने वाले वे किसी भी वर्ण के हो, उनकी कठोर आलोचना के पात्र बने हैं।

- वे चाहते हैं कि वेद शास्त्र-विहित वर्णव्यवस्था अपने चरम आदर्शीकृत रूप में लोगों के आचरण में उतरे।

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर मिश्र जी ने अपना यह मत स्थापित किया है कि लोक-व्यवस्थापक के अपने इस रूप में तुलसीदास कभी-कभी इतने अनुदार और कट्टर हो गए हैं कि जिन्हें 'डिफेंड' करने में, शुक्ल जी जैसे उनके पक्षधर आचार्य को भी असुविधा होती है। मसलन, गोस्वामी जी की यह उक्ति उनके अपने लिखे हुए के विरोध में ही जाती है कि – ''पूजिय विप्र सील गुन हीना । सुद्र न गुन-गन-ज्ञान-प्रवीना।''[13]

केवट-शबरी प्रसंग आदि की चर्चा कर कुछ लोगों ने शूद्रों के प्रति तुलसीदास जी की उदार, भेदभावरहित मनोभूमि की ओर ध्यान खींचा है। इस बारे में डॉ० मिश्र का कहना है कि-

''केवट-शबरी आदि तभी तक गोस्वामी जी की संवेदना के दायरे में है। जब तक वे रामभक्त हैं और वर्णधर्म के अनुकूल आचरण करते हैं अन्यथा इसके प्रतिकूल वे तुलसी की संवेदना के पात्र नहीं रहते।''[14]

इस रूप में तुलसी के लोक-व्यवस्थापक रूप में उनकी सामाजिक सोच के अनेक पहलू न केवल तुलसी की वैचारिक सीमाओं को रेखांकित व प्रश्नांकित करते हैं अपितु उन्हें अप्रासांगिक भी ठहराते हैं। इसी बिन्दु पर कबीर तुलसी से एक कदम आगे रहते हैं और आधुनिक युग के समकालीन और प्रासंगिक कवि ठहरते हैं।

तुलसीदास का स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण

जिस प्रकार वर्णव्यवस्था वाले मुद्दे पर कबीर तुलसी से एक कदम भले ही आगे हैं ठीक उसी प्रकार स्त्री-संबंधी मुद्दे पर तुलसी, कबीर से एक कदम आगे हैं। डॉ० शिवकुमार मिश्र के शब्दों में-

''कबीर के आध्यात्मिक चिन्तन में नारी का न केवल वजूद है अपितु वह हेय मानी गई है किन्तु तुलसी में नारी की निंदा तो है किन्तु नारी-चरित्रों का उज्ज्वल आख्यान भी मिलता है।''[15]

तुलसीदास के नारी-चरित्रों के उज्ज्वल आख्यानों की पड़ताल करें तो यह कहने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए कि तुलसी के यहाँ नारी-चरित्र के उज्ज्वल आख्यान भी वहाँ ही प्रस्तुत हुए हैं जहाँ ''स्त्रियाँ वेद-शास्त्र विहित समाज-व्यवस्था में, उसके आचरण से संबंधित जो भी विधि-विधान तथा निर्देश हैं, उसके कर्त्तव्यों का जो प्रावधान है, स्त्री के लिए निर्दिष्ट जो मर्यादाएँ हैं, उनके दायरे में रहें, उनके अनुकूल आचरण करें।''[16]

कहना न होगा ऐसी स्त्री ही गोस्वामी जी के लिए आदर्श स्त्री है और ''महावृष्टि चलि फूटि किआरी, जिमि सुतंत्र होई बिगरहि नारी'' तथा ''केहि विधि सृजी नारि सृजी जग माहीं, पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'' जैसी पंक्तियों की रचना करने वाले तुलसीदास की स्त्री-दृष्टि में भी अन्तर्विरोधी प्रवृत्ति दिखलायी देती है।

डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रन्थों के विभिन्न प्रसंगों में ऐसी उक्तियाँ है जो किसी भी देशकाल की नारी के प्रति न्याय नहीं करती। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चरित्र, बुद्धि-विवेक, आचार-व्यवहार सभी की निंदा की है।[17]

डॉ० नगेंद्र के उपर्युक्त मत को यदि पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता तो पूरी तरह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता क्योंकि तुलसीदास द्वारा चित्रित स्त्री-पात्र विचार तथा व्यवहार में आदर्शवाद में डुबे हुए हैं।

तुलसी के स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण को आचार्य शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' में ''तुलसीदास को वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानने''[18] की सलाह दी है। रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा रामविलास शर्मा इस विषय पर मौन रहे हैं और डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने तुलसी के स्त्री-सम्बन्धी दृष्टिकोण में ''धार्मिक करूणा का आग्रह देखा है तथा इसे युगीन ऐतिहासिक वैचारिक सीमा''[19] कहा है। डॉ० नित्यानंद तिवारी ने तुलसी पर ''समाज की संरचना में निहित कॉमनसेंस''[20] के दबाव की बात कहकर तुलसी के स्त्री संबंधी पारंपरिक व अन्तर्विरोधी दृष्टिकोण का बचाव किया है।

अन्य विद्वानों ने भी तुलसीदास के पक्ष में अपने-अपने ढंग से बहुत सी दलील दी हैं- मसलन तुलसी की तमाम उक्तियाँ (''शुद्र, गँवार, ढोल, पशु नारी''.....) प्रसंग विशेष के तहत औरो के द्वारा कही गई है, उन्हें गोस्वामी जी का विचार न समझना चाहिए। ऐसे विद्वान अक्सर ''कत विधि सृजी नारि जग माही.....'' की पंक्तियाँ उद्घृत करते हैं किन्तु इन पंक्तियों में स्त्री-मुक्ति की चिंता बिल्कुल नहीं दिखायी देती ।

डॉ० शिवकुमार मिश्र ने तुलसीदास के स्त्री पराधीनता वाले प्रसंग को एक तरंग भर कहा है जिसमें स्त्री-स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं उठाया गया है।

प्रस्तावित शोध-पत्र के विषय पर कार्य करने की रूचि का सम्बन्ध इस प्रश्न से भी जुड़ा है कि आखिर दार्शनिक-शास्त्रीय-लौकिक ज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान तुलसीदास नारी-पराधीनता के

मूल कारणों को पहचानने में असमर्थ सिद्ध कैसे हुए? स्त्री-संबंधी परम्परावादी मानसिकता से बाहर भी स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकता है ये देखना तुलसीदास जैसे विश्वकवि-लोकप्रिय कवि के लिए इतना कठिन क्यों था? यदि तुलसीदास की दृष्टि में स्त्री के प्रति पारंपरिक दृष्टि न होकर एक स्वतंत्र, उदात्त, मानवीय तथा बौद्धिक पक्ष से युक्त स्त्री की छवि का तत्कालीन समाज में प्रचार-प्रसार होता तो सामन्ती समाज में पितृ-सत्तात्मक ढाँचे को तोड़ना काफी हद तक सरल होता जिसे आज भी कई परिवारों में स्त्रियों के संदर्भ में पोषित किया जाता है।

यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उठाया जा सकता है कि मध्य-कालीन कवियों में स्त्री के प्रति स्वतंत्र, मानवीय दृष्टिकोण की अपेक्षा कैसे की जा सकती है किन्तु जहाँ ये बात जितनी सच है वहाँ ये भी बात उतनी ही सच है कि क्यों नहीं इन मध्यकालीन कवियों से अपेक्षा की जाएँ? तुलसीदास मध्यकाल के कोई छोटे-मोटे गौण कवि नहीं थे। अपने समय में भी और आज के समय में भी वे साधारण व विद्वान समाज दोनों के बीच काफी चर्चित, लोकप्रिय कवि रहे हैं।

वर्णव्यवस्था और स्त्री-मुक्ति के संदर्भ में तुलसीदास की प्रासंगिकता व अवलोकन करने के बाद निम्न तथ्य उभरकर सामने आते हैं-

- तुलसीदास मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक हैं। उन्होंने मानव-जीवन की समग्रता को विविधता तथा व्यापकता से रोचकपूर्ण ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। आज भी उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'रामचरितमानस' को कविता का मानक माना जाता है। 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली' में उनका संपूर्ण जीवन-दर्शन आत्मकथात्मक ढंग से व्यक्त हुआ है।

- लोक-समाज एवं संस्कृति आज भी सत्यमेव जयते की पुष्टि तुलसीदास द्वारा रचित एवं निर्मित राम के मानवीय चरित्र में ही करती है। भक्ति का सार्वदेशिक-लोकतांत्रिक अधिकार समस्त भारतवर्ष को तुलसीदास ही प्रदान करते है। तुलसीदास की प्रासंगिकता का इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण क्या होगा?

- किसी भी कवि का मूल्यांकन उसकी रचनाओं की संभावनाओं और सीमाओं के संतुलित अवलोकन से होता है। तुलसीदास समर्थक आलोचक प्राय: इस मूल्यांकन में यह संतुलन ही नहीं अपनाते हैं अपितु इसके स्थान पर वे कवि-संबंधित विवादित मुद्दों के बचाव में उतरने की कोशिश करते हैं। यह न तो किसी कवि का सही मूल्यांकन है न ही साहित्य के इतिहास का।

- तुलसीदास की प्रासंगिकता को आज वर्तमान समय में उनके वर्णव्यवस्था तथा स्त्री-संबंधी वैचारिक अन्तर्विरोधों के पड़ताल के संदर्भ में समझने की आवश्यकता है किन्तु इन वैचारिक अन्तर्विरोधों को ही एकमात्र महत्त्व देकर उन्हें उपेक्षित और खारिज नहीं किया जा सकता।

- निर्विवादित रूप से यह सत्य है कि संयुक्त परिवार जैसा तुलसी निर्मित आदर्श तो आज प्राय: देखने को नहीं मिलता किन्तु तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का पाठ या किसी भी काण्ड की पंक्तियाँ आज के एकल परिवारों को भी कुछ समय के लिए आन्तरिक शांति, साहस, आत्मशक्ति का अहसास अवश्य कराती है। तुलसीदास की प्रासंगिकता का ये भी एक कालजयी उदाहरण है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ० 20
2. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली, 2017, पृ० 30
3. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ० 67
4. चतुर्वेदी, संतोष कुमार (सं०), भक्तिकाल का आधुनिक संदर्भ, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2016, पृ० 80
5. अवस्थी, मालिनी, राम: साहित्य, कला एवं परम्परा (विषय पर महिला महाविद्यालय में इतिहास विभाग द्वारा आयोजित कार्यशाला से उद्घृत टिप्पणी),समय-3:00
6. पाण्डेय, मैनेंजर, ''भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य'', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ०21
7. त्रिपाठी, विश्वनाथ, लोकवादी तुलसीदास, राधाकृष्ण, नयी दिल्ली, 2008, चतुर्थ अध्याय का शीर्षक, पृ०15
8. यथावत, प्रथम अध्याय का शीर्षक, पृ० 108
9. मिश्र, शिवकुमार, भक्तिआन्दोलन ओर भक्तिकाव्य, लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 197
10. तिवारी, नित्यानंद, मध्यकालीन साहित्य पुनरावलोकन, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2015, पृ०17
11. मिश्र, शिवकुमार, भक्तिआंदोलन और भक्तिकाव्य, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 199
12. यथावत् – पृ० 200
13. यथावत्, पृ० 202
14. यथावत्, पृ० 205
15. यथावत्, पृ० 210
16. यथावत्, पृ० 220
17. नगेन्द्र, आस्था के चरण, नई दिल्ली, 1969, पृ० 39
18. शुक्ल, रामचंद्र, गोस्वामी तुलसीदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० 100

19. त्रिपाठी, विश्वनाथ, मीरा का काव्य, नयी दिल्ली, वाणी-प्रकाशन, 2015, पृ० 13

20. तिवारी, नित्यानंद, मध्यकालीन साहित्य पुनरावलोकन, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2015 पृ० 100

सहायक ग्रन्थ सूची

- शर्मा, रामविलास, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, 1981
- सिंह, गोपेश्वर, भक्ति आंदोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2017

वेबसाइट स्रोत

- बनर्जी, सारदा, कबीर-तुलसी के काव्यों में स्त्री-विरोध (आलेख) http://www.pravakta.com/Abbivyaktikaapnamanch.posted on August 17, 2013 by & Filed under आलोचना, एक्सीस्ड, फरवरी 23, 2017
- 'मानव', सुशील कुमार, कबीर की स्त्री - विरोधी रचना : एक विश्लेषण (आलेख) http://www.Sahityashilpi.com/2015/07 एकसीस्ड, फरवरी 24, 2017

●

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और बौद्ध धर्म

पूजा कुमारी एवम् प्रो. सुमन जैन***

बौद्ध धर्म भारत की श्रमण परम्परा से निकला धर्म और दर्शन है। सात दिन और सात रात अखण्ड समाधि रहने के बाद आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ। उस दिन से गौतम 'तथागत' हो गये। परन्तु संसार उन्हें 'बुद्ध' (जिसे बोध अथवा ज्ञान प्राप्त हो गया हो) के नाम से ही अधिक जानता है। उनके बोध-प्राप्ति से सम्बन्धित होने के कारण गया 'बोध गया' और वह वट वृक्ष जिसके नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बोधि-वृक्ष से प्रख्यात हुए।''[1] ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी में गौतम बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म की स्थापना हुई। महात्मा बुद्ध 80 वर्ष की अवस्था तक घूम-घूम कर धर्म प्रचार करते रहे। उनके शिष्य भी उन्हीं के समान भिन्न-भिन्न टुकड़ियों में बँट कर यत्र-तत्र धूमते और धर्म-प्रचार करते थे। महात्मा बुद्ध के कुछ अनुयायी ऐसे थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वता, सदाचारिता और अनन्य श्रद्धा के कारण तथागत के ऊपर स्थायी प्रभाव डाला था और परमप्रिय बन गये थे जो निम्न हैं- आनन्द, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, उपालि, सुनीति, देवदत्त, बिम्बिसार आदि।''[2] इस धर्म में त्रिरत्न, चार आर्यसत्य, अष्टांगिक मार्ग पंचशील और निर्वाण पाने का तरीका बताया गया है।''[3] चार आर्यसत्य (1) **दुःख-**संसार में दुःख है। (2) **दुःख-समुदय** -दुःख का मूल कारण तृष्णा है। (3) **दुःख-निरोध** -दुःख के निवारण है। (4) **दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा-अष्टागिकमार्ग** निवारण के लिए अष्टांगिक मार्ग है। **अष्टांगिक मार्ग-** अष्टांगिक मार्ग को ही बीच का मार्ग कहा जाता है। सम्यक दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। **त्रिरत्न-** जो बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग है- बुद्ध, धम्म और संघ। मानव कल्याण तथा विश्वशान्ति के आदर्शों की स्थापना के लिए गौतम बुद्ध ने पंचशील या पंचसूत्र का सिद्धान्त दिया है। इसके बाद निर्वाण की बात बताएँ है। **निर्वाण** शब्द का शाब्दिक अर्थ- **''बुझा हुआ''** किन्तु श्रमण विचार धारा में (संस्कृत- निर्वाण, पालि-निब्बान) पीड़ा या दुःख से मुक्ति पाने की स्थिति है। यह बौद्ध धर्म का परम लक्ष्य है। बाद में बौद्ध धर्म दो सम्प्रदाय में विभक्त हो गया था- **हीनयान और महायान।** हीनयान को श्रावकयान भी कहा गया है। इसका लक्ष्य केवल अपने लिए अर्हत्व की प्रप्ति है। ये बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए दक्षिण की तरफ गए। महायान को एकयान, अग्रयान, बोधिसत्वयान एवं बुद्धयान भी कहा गया है। इसका लक्ष्य सब प्राणियों के उद्धार के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति है। बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के लिए महायानियों ने उत्तर की ओर पदार्पण किया जो सांस्कृतिक बदलाव के फलस्वरूप व्रजयान शाखा के रूप में सामने आया।

रामस्वरूप चतुर्वेदी जी के अनुसार

''पुनर्जागरण दो जातीय संस्कृतियों की तकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है। भारत के सदर्भ में पुनर्जागरण 19वीं शती के आरंभ से माना जाता है। नयी योरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट के फलस्वरूप।''[4] हिन्दी साहित्य में इसी समय से (1850 ई0 के बाद) आधुनिक काल की शुरूआत माना जाता है। उस समय तक बौद्ध धर्म भारत में लुप्त प्राय हो चुका था। तब उस समय बौद्ध धर्म के तीर्थस्थलों, स्मारकों व पाली एवं संस्कृत बौद्ध साहित्य का पुनरूद्धार जेम्स प्रिंसेप और अलेक्जेन्डर कंनिघम जैसे पुरातत्वविद् और संस्कृत के महान विद्वान मैक्समूलर के प्रयासों से बौद्ध धर्म का पुनर्जागरण हुआ।

कोई भी जागरण या पुनर्जागरण हो जनमानस को प्रभावित करता है उसी प्रकार बौद्ध धर्म के पुनर्जागरण ने भी हिन्दी समाज के जनमानस को प्रभावित किया। आधुनिक युग के रचनाकार बौद्ध धर्म से आधार रूप में प्रेरणा लेते है पर उनकी रचनाओं पर बौद्ध धर्म का प्रभाव कम दिखायी पड़ता है। इसका प्रमुख कारण है उस समय बौद्ध धर्म और बौद्धधर्मग्रन्थों की अनुपलब्धता।

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्यकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा आदि की कुछ रचनाएँ बौद्ध दर्शन से प्रत्यक्षतः संबंध रखती है।

हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े आलोचक **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने एडविन अर्नाल्ड द्वारा रचित **'द लाईट आफ एशिया'** का अनुवाद **'बुद्धरचित'** नाम से किया है। जो मूलतः गौतम बुद्ध के जीवनी की एक रूप रेखा प्रस्तुत करती है। 'बुद्धरचित' की भूमिका में इस उदाहरण द्वारा शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है कि बौद्ध धर्म और गौतम बुद्ध की स्मृति किस तरह जनता के हृदय से दूर हो रही थी। 'बुद्धरचित की भूमिका' (वक्तव्य) **''रामकृष्ण की इसी लीलाभूमि पर भगवान बुद्धदेव भी हुए है जिनके प्रभाव से**

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

एशियाखंड का सारा पूवार्द्ध भारत को इस गिरी दशा में भी प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता चला जा रहा है। रामकृष्ण के चरितगान का मधुर स्वर भारत की सारी भाषाओं में गूँज रहा है। पर बौद्ध धर्म के साथ ही गौतम बुद्ध की स्मृति तक जनता के हृदय से दूर हो गई है।''[5]

जयशंकर प्रसाद कृत **'इरावती'** उपन्यास की मुख्य भूमिका एक महाधर्म की पतनोन्मुख अवस्था से सम्बन्धित है। अम्बात्य कुमार वृहस्पति मित्र अपनी हिंसात्मक प्रकृति का प्रकाशन 'इरावती' में स्थल-स्थल पर करता है। ऐसा प्रतीत होता जैसे वह अंहिसा का एक विपर्याय बनकर आया है। मौर्य साम्राज्य का यह प्रतिनिधि प्रियदर्शी अशोक की तुलना में उसका विरोधी प्रतीत होता है- **''धर्म के नाम पर शील का पतन, काम सुखों की उत्तेजना और विलासिता का प्रचार तुमको भी बुरा नहीं लगता न! स्वर्गीय देवप्रिय सम्राट अशोक का धर्मानुशासन का स्वप्न नहीं था। सम्राट उस धर्म विजय को सजीव रखना चाहते थे किन्तु वह शासकों की कृपा से चलने पावे तक तो।''**[6] देव मन्दिरों में विलासिता का वातावरण, धर्म की पतनावस्था को घोषित करता है।

चिन्तन और सृजन के विलक्षण प्रतिभा वाले **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** के उपन्यास **'चार चन्द्रलेख'** की कथावस्तु का काल उस समय का है जब बौद्ध धर्म का तांत्रिक सम्प्रदाय चर्मोत्कर्ष पर था, तो इस उपन्यास की कथा वस्तु का एक बड़ा भाग है। तांत्रिक बौद्ध दर्शन के साथ किंवदंतियों को मिलाकार द्विवेदी जी ने बौद्ध धर्म में आई विकृतियों को भी दिखाता है।"[7]

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने दो उपन्यासों **'सिंह सेनापति'** तथा **'जय यौधेय'** की कथावस्तु में बौद्ध मतों का साम्यवादी विचारधारा के साथ समन्वय किया है। **'सिंह सेनापति'** में लिच्छवी के प्रजातंत्र के सामाजिक विशेषताओं का चित्रण है। इस उपन्यास में जिस काल का वर्णन है उसका प्रमाण इसकी भूमिका में है- **''मैं मानव समाज की उषा से लेकर आज तक के विकास को बीस कहानियों (वोल्गा से गंगा) में लिखना चाहता था। उन कहानियों में एक इस समय (बुद्ध काल) की भी थी। जब लिखने का समय आया तो मालूम हुआ कि सारी बातों को कहानी में नहीं लाया जा सकता, इसलिए 'सिंह सेनापति' उपन्यास के रूप में आपके सामने उपस्थिति हो रहा है।''**[8] इनमें नायक सिंह सेनापति बुद्ध और संघ की शरण में चला जाता है। **''भत्ते! भगवान के बारे में मैंने जैसा सुना था, उससे कहीं श्रेष्ठ आपको पाया। मैं बुद्ध धर्म-संघ की शरण में आता हूँ, आज से भत्ते! भगवान्, मुझे अपना श्रावक (अनुयायी) समझे, और कल संघसहित माध्याह्न का मेरा भोजन स्वीकार करें।''**[9]

'जययौधेय' जो गुप्तकाल की घटनाओं पर आधारित है। इस उपन्यास के बारे में राहुल जी का विचार है- **''इस उपन्यास के शरीर में ऐतिहासिक सामग्री ने अस्थि पंजर का काम किया है, मांस मैंने अपनी कल्पना से पूरा किया है।''**[10] बौद्ध भिक्षुओं में जाति भेद नहीं था। इसका भी खुलासा किया गया है- **''श्रमणों- बौद्ध भिक्षुओं में सभी जाति-वर्ग के लोग रहते हैं, इसलिए उनकी बड़ी संख्या स्थानीय लोगों से भी पूरी हो सकती है। यद्यपि, भिक्षु आपस में खाने-पीने आदि का कोई भेद नहीं रखते।''**[11] संघ के अधिकार पर भी बात की गयी है- **''एक आदमी भिक्षु नहीं बना सकता। भिक्षु बनाने का अधिकार संघ को है।''**[12] इस उपन्यास में अनित्यवाद और अनात्मवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि की गयी है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार **आचार्य चतुरसेन** की रचना **'बोधिवृक्ष की छाया'** में बौद्ध धर्म के तीन शलाका पुरूष बुद्ध, अशोक और हर्षवर्धन के जीवनवृत्त को प्रस्तुत करती है। इनकी अन्य रचना **'वैशाली के नगर वधू'** जिसका कथानक बौद्ध की समकालीन राजनर्तकी **अम्बपाली** पर आधारित है। वज्जी गणतंत्र में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति खासकर सुन्दर स्त्रियों की स्थिति का और वहाँ के विचित्र कानून का वर्णन किया गया है कि –**''उस गणतन्त्र में जो कन्या सर्वाधिक सुन्दर होती थी, वह किसी एक पुरूष की पत्नी न होकर 'नगरवधू' घोषित की जाती थी और उसपर सम्पूर्ण नागरिकों का समान अधिकार रहता था। उसे 'जनपद कल्याणी' की उपाधि प्राप्त होती थी।''**[13] इस उपन्यास के अंतिम अध्याय में अम्बपाली का गौतम बुद्ध के शरण में जाना और बौद्ध संघ को अपनाने का वर्णन किया गया है- **''तब आनन्द के साथ देवी अम्बपाली ने भगवान के निकट आ परिक्रमा कर अभिवादन किया और बुद्धाञ्जलि सन्मुख खड़ी हो''-**

''बुद्धं सरणं गच्छामि!

संघं सरणं गच्छामि!

धम्मं सरणं गच्छामि!

तीन महावाक्य कहे!''

भगवत् ने उसे प्रव्रज्या दी; उपसम्पदा दी।

.....कुछ देर मौन रहकर भगवान ने फिर कहा- ''जा अम्बपाली तुझे उपसम्पदा प्राप्त हो गई। अपना और प्राणिमात्र का कल्याण करे।''[14]

मार्क्सवादी चिन्तक **यशपाल** के ऐतिहासिक उपन्यास **'दिव्या'** की कथा वस्तु हर्षवर्धन काल से संबंधित है। भौतिकवादी

दर्शन पर आधारित इस उपन्यास में पतनोन्मुख बौद्धकालीन समाज का चित्रण है। मोह, माया से विरक्ति का उपदेश और बौद्ध धर्म ग्रहण करने का आशीर्वाद देते है भिक्षु पृथुसेन- **''देवी, तथागत की कृपा से तुमने आसक्ति और मोह के भ्रम को जानने का अवसर पाया है। देवी शान्ति वैभव में नहीं, शान्ति प्रभुता में नहीं, शान्ति भोग में नहीं, शान्ति तृप्ति में नहीं। देवी, शान्ति केवल अनासक्ति में है। चिरन्तन सुख केवल निर्वाण में है। देवी संसार के पीड़ित समाज से प्रताड़ित जन बुद्धि की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं। देवी, उस अपार करूणा की शरण ग्रहण करो!''**[15] दिव्या ने भिक्षु से प्रश्न किया कि नारी का भिक्षु के धर्म में क्या स्थान है? तो भिक्षु पृथुसेन बताते हैं कि- **''देवि, भिक्षु का धर्म निर्वाण है नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु धर्म में नारी त्याज्य है।''**[16]

प्रगतिशील रचनाकार **रांगेय राघव** ने अपने उपन्यास **'यशोधरा जीत गई'** में बुद्ध और यशोधरा को माध्यम बनाते हुए नारी जीवन धर्म को तत्कालीन परिस्थितियों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन किया है।''[17]

स्वतंत्रता के बाद भारत में सामाजिक और राजनितिक नवजागरण के लिए पं0 जवाहर लाल नेहरू, लोहिया और अम्बेडकर के विचारों के कारण बौद्धधर्म एक बार फिर चर्चा में आया है। अम्बेडकर की चिन्तन शैली तथा उनकी पुस्तक **'बुद्ध और उनका धम्म'** बौद्ध धर्म की नई अवधारणा प्रस्तुत करती है। बुद्ध के जातिगत श्रेष्ठता के विरोधी मूलक स्वर ने दलित साहित्य को प्रभावित किया है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म से हिन्दी कथा साहित्य को एक नई गति मिली है। बौद्ध दर्शन मानव को आत्मग्राही दृष्टि और आत्मकेन्द्रिता से मुक्त कर उसे परहित में समर्पित करता है साथ ही जीवन का एक नया अर्थ देता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 विमलचन्द्र पाण्डेय- प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, 18- सी. सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-211001, संशोधित संस्करण 2002 पृ0सं0 197
2. वही, पृ0सं0 199
3. वही, पृ0सं0 201, 202
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी-हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, 22वाँ संस्करण 2011, पुनर्मुद्रण 2016,17 पृ0 79
5. आ0 रामचन्द्र शुक्ल- बुद्धचरित की भूमिका (वक्तव्य)- चिन्तामणि (भाग तीन), अनुप्रकाशन जयपुर, संस्करण 2004, पृ0सं0 205
6. जयशंकर प्रसाद- इरावती, bharatdiscovery.org/india/ इरावती (उपन्यास)
7. आ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी- चारू चन्द्रलेख, राजकमल पेपरबैक्स, 1963 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण 2010
8. राहुल सांस्कृत्यायन- सिंह सेनापति, किताब महल, संस्करण 2014, भूमिका
9. वही, पृ0सं0 171
10. राहुल सांस्कृत्यायन- जययौधेय, किताब महल, संस्करण 2015, प्राक्कथन
11. वही, पृ0सं0 111
12. वही, पृ0सं0 118
13. आचार्य चतुरसेन- वैशाली की नगरवधू, राजपाल, संस्करण 2016, पृ0सं0 10
14. वही, पृ0सं0 448
15. यशपाल- दिव्या, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2018, पृ0सं0 200
16. वही, पृ0सं0 200
17. रांगेय राघव- यशोधरा जीत गई, राजपाल, संस्करण 2013

●

भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की गुणवत्ता

सूर्य प्रकाश गोंड एवम् डॉ0. दीपा मेहता***

मानव समाज का विकास तभी सम्भव है जब उसने सम्यक् शिक्षा ग्रहण की हो। भारत में यदि शिक्षा की गुणवत्ता पर दृष्टिपात करें तो सर्वप्रथम हमारे दृष्टिपथ में वैदिक-काल की शिक्षा की छवि स्पष्ट परिलक्षित होती है, जहाँ यह देखने को मिलता है कि गुरुकुल पद्धति में शिष्यों की संख्या सीमित थी। उनकी प्रतिभा के आधार पर उनकी उपस्थिति होती थी। तात्पर्य यह है कि छात्रों की संख्यात्मकता पर नहीं अपितु गुणात्मकता पर ध्यान दिया जाता था। शिक्षा की गुणात्मकता का अर्थ किस रूप में लिया जाता है? छात्रों की संख्या के आधार पर या शिक्षण गतिविधि के आधार पर यदि हम शिक्षण संस्थाओं की शिक्षण व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो शिक्षा की गुणवत्ता अधिकाधिक रूप से छात्रों की संख्या, अध्ययन शुल्क, अप्रशिक्षित शिक्षकों, भव्य शिक्षण संस्थानों जो की आकर्षण का केन्द्र बने हुये हैं उन पर आधारित हो चुकी है। छात्रों को जो बुनियादी शिक्षा और जीवन यापन के लिये शिक्षा से प्राप्त होने वाले कौशल हैं वह प्रदान करने में शिक्षण-संस्थान असमर्थ से प्रतीत हो रहे हैं। शिक्षण-संस्थानों में शिक्षा की गुणवत्ता की कमी प्रमुख रूपों में यह देखने को मिलती है कि जब छात्र प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने हेतु विद्यालय में प्रवेश करता है तो उसके पाठ्यक्रम में कुछ पुस्तकें ऐसी उसे अध्ययन करायी जाती हैं जिसमें सूचनाओं का, तथ्यों की सही-सही जानकारी नहीं दी जाती है और पुस्तकों के साथ-साथ शिक्षक भी यह जानने का प्रयास नहीं करते कि पुस्तक में लिखी सामग्री की सत्यता है भी कि नहीं। वह भी उन्हीं पुस्तकों का आधार लेकर छात्रों को ज्ञान देते रहते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण कर रहे बालक –बालिका अबोध होते हैं उन्हें वहीं सत्य प्रतीत होता है कि उनके अध्यापक जो ज्ञान प्रदान कर रहे हैं वह अक्षरशः सत्य है। दूसरा कारण यह है कि शिक्षण संस्थानों में यदि कोई ऐसा शिक्षण संस्थान है जहाँ उत्तम शिक्षा प्रदान की जाती है परन्तु उन शिक्षण संस्थानों के अध्ययन शुल्क अधिक होने से सामान्य परिवारों के बच्चे उन शिक्षण संस्थानों में प्रवेश नहीं ले पाते और गुणात्मकताविहीन शिक्षण संस्थानों का आश्रय लेकर अपनी शिक्षा को किसी प्रकार पूर्ण करते हैं, जिससे भविष्य में यही गुणवत्ताविहीन शिक्षा जीनव-यापन में उनके लिये बाधा पैदा करती है।

ऐसे बालकों के लिये प्रारम्भिक शिक्षा अर्थहीन हो जाती है। क्योंकि उन्होंने जिन गुणवत्ताविहीन विद्यालयों में अपने अध्ययन को पूर्ण किया वहाँ पर उन्होंने केवल उन पाठ्यक्रमों को एक तोते की भाँति रटकर मात्र परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है। वास्तविकता तो यही है कि केवल पाठ्यक्रम को रटकर परीक्षा उत्तीर्ण करना ही पर्याप्त नहीं अपितु भावी जीवन हेतु स्वयं को तैयार करना है। वर्तमान सरकार का इस ओर ध्यान गया है कि शिक्षा की गुणवत्ता किस प्रकार बढ़ायी जाये। क्योंकि गुणवत्तायुक्त शिक्षा के बिना किसी भी बालक का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं और यही बालक देश का भविष्य होते हैं और यदि इनका सर्वांगीण विकास नहीं हो सका तो देश का सर्वांगीण विकास भी असम्भव है।

वर्तमान में बालकों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान की जाये इसके लिये विभिन्न नीतियों, कार्यक्रमों, विभिन्न क्षेत्रों, विषय विशेषज्ञ विचारकों के कार्य, उनके विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अनुसन्धान से सम्बन्धित विचार भी ग्रहण किये जा रहे हैं। भारतीय शिक्षा प्रणाली पर यदि हम दृष्टि डाले तो देखते हैं कि भिन्न-भिन्न बालकों का अलग-अलग स्वभाव शिक्षा प्रक्रिया में व्यवधान उपस्थित करता है। आवश्यक है कि शिक्षा प्रक्रिया को संचालित करने से पूर्व बालकों की प्रकृति को समझें तत्पश्चात् शिक्षा प्रणाली को क्रियान्वित करें। भारतीय शिक्षा के अन्तर्गत औपचारिक, अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध है। औपचारिक शिक्षा- जहाँ निश्चित स्थान, समय, भौतिक संसाधन, मानवीय संसाधन के अन्तर्गत शिक्षा प्रदान की जाती है। अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था इसके विपरीत होती है। शिक्षण संस्थानों में विभिन्न सामाजिक स्तर, वर्ग, जाति, धर्म, जनजाति, लिङ्ग से बालकों का आगमन होता है। इन शिक्षण संस्थानों का मुख्य उद्देश्य इन विभिन्न स्तर के आये हुये बालकों का सामाजिक स्तर पर समानता लाना है। वर्तमान में इस हेतु विद्यालयों में अत्याधुनिक प्रशिक्षणयुक्त बुनियादी शिक्षा से जुड़े हुये योग्य एवं सक्षम शिक्षकों को रखा जा रहा है जिससे बालकों का उचित सर्वांगीण विकास हो सके। ये शिक्षक बालकों के सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि को ध्यान रखते हुये उनको शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। लेकिन अब भी ज्यादातर ऐसे विद्यालय हैं जहाँ बुनियादी शिक्षा का अभाव, प्रशिक्षणविहिन शिक्षक, निरुत्साह युक्त शिक्षक हैं जहाँ बालक शिक्षा ग्रहण करते हुये शिक्षा सम्बन्धी अनेकानेक समस्याओं से संघर्ष करता रहता है। अतः ऐसे उन शिक्षण संस्थानों पर सरकार का ध्यान आकृष्ट करना होगा तभी शिक्षा की गुणवत्ता को पूर्णरूप से प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुणवत्तायुक्त शिक्षा का तात्पर्य प्रशिक्षित शिक्षक उचित सुगम्य तथ्यपूर्ण पाठ्यक्रम, बुनियादी ढांचा, समावेशी शिक्षा है। समावेशी शिक्षा का तात्पर्य एक ही छत के नीचे

* वरिष्ठ शोधछात्र, शिक्षा संकाय, (कमच्छा) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** असोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, (कमच्छा) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सभी तरह के विद्यार्थी एक साथ शिक्षा ग्रहण करें विद्यालय सरकारी हो या गैर सरकारी विद्यालय दोनो में ही गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की व्यवस्था हो। यद्यपि इन विद्यालयों में जब-जब सर्वेक्षण किया गया तब-तब यहाँ शिक्षक-स्तर, बालक-स्तर , विद्यालय-स्तर तथा शिक्षा-स्तर पर विभिन्न प्रकार की समस्यायें अब भी बहुतायत रूप से मौजूद हैं उनकी ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करना होगा न कि निजी कम्पनियों का। क्योंकि ये निजी कम्पनी यदि इस स्तर पर कोई सुधार करती भी हैं तो किसी न किसी स्वार्थपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुये । अतः ध्यातव्य है कि हम निजी कम्पनियों के पाश में नहीं पड़कर सरकारी सहायता के लिये प्रयासरत रहें।

शिक्षा की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिये अनेकानेक योजनाओं और अधिनियमों को संचालित किया गया है। इनमें राष्ट्रीय पाठ्यक्रम फ्रेमवर्क 2005 अधिनियम बना, इसमें पाठ्यक्रम को महत्त्व प्रदान किया। पाठ्यक्रम ऐसा जो बालकों की सुविधानुसार हो जो उनमें भय उत्पन्न नहीं करे ऐसा वातावरण प्रदान करे जो उन्हें शिक्षा ग्रहण करने के प्रति आत्मविश्वास से पूर्ण कर दे। योजना पत्रिका के अनुसार-''फ्रेमवर्क (एन.सी.एफ.),2005 में इस बात को स्वीकार किया गया है कि हमारे पाठ्यक्रम और स्कूल बच्चों में पढ़ाई के प्रति रूचि जगाने और बच्चों को स्कूल में बरकरार रखने में असफल रहे हैं। यह भी प्रमुख रूप से कहा जाता है कि गुणवत्ता के मुद्दे को स्कूली बच्चों का सर्वांगीण विकास सुनिश्चित करने तथा उनके ज्ञान और अनुभवों का निर्माण करने की दिशा में प्रयास करना चाहिये।''[1]

शिक्षा की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिये बच्चों के लिये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा सम्बन्धित अधिनियम 2009 में आया जिसे 'शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009' कहा गया। बच्चों के लिये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार (RTE) प्रशंसनीय है जिसने वर्ष 2009 में शिक्षा को एक मौलिक अधिकार बनाया। यह अधिनियम 6-14 वर्ष की आयुवर्ग के बालकों के लिये निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को सुनिश्चित करता है। इस पर योजना पत्रिका में यह वाक्य देखने को मिलता है-''इस अधिनियम में स्कूलों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सुनिश्चित करने के लिये कई प्रावधान हैं जैसे विद्यार्थी शिक्षक अनुपात (पीटीआर) से सम्बन्धित मानदण्ड और मानक, इमारत और बुनियादी ढांचा, स्कूल के कार्य दिवस, शिक्षक के कार्य के घण्टे,जनगणना, संसद राज्य विधायिका एवं स्थानीय निकायों के चुनाव और आपदा राहत के अतिरिक्त गैर शिक्षक कार्य के लिये शिक्षकों की तैनाती का निषेध, योग्य और प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति और शारीरिक दण्ड एवं मानसिक उत्पीड़न का निषेध, शिक्षकों द्वारा बच्चों के दाखिले की प्रक्रिया की स्क्रीनिंग, कैपिटेशन फीस, शिक्षकों द्वारा निजी शिक्षण और मान्यता रहित स्कूलों का संचालन का निषेध। हालांकि इस अधिनियम के प्रावधान मूलरूप से सराहनीय हैं, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें पूरी ईमानदारी और जवाबदेही के साथ लागू किया जाये।''[2]

शिक्षा के गुणवत्ता सुधार के लिये इन अधिनियमों के सरकार के द्वारा कई योजनायें संचालित की गयी। जैसा कि पहले ही लेख में उल्लिखित है कि शिक्षा के द्वारा ही सामाजिक कल्याण सम्भव है। सामाजिक कल्याण सम्बन्धित कार्यों की आधारशिला शिक्षा ही है। सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली को दृढ़ बनाये रखने के लिये अब तक सरकार द्वारा जिन योजनाओं को संचालित किया गया उसका यहाँ नामोल्लेख करना अत्यावश्यक हो जाता है । प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्चतर शिक्षापर्यन्त जो भी योजनायें संचालित हुयीं उनसे सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक रूप से पिछड़े विद्यार्थियों के लिये लाभप्रद रही। शिक्षा सम्बन्धित पाठ्यक्रम और शैक्षणिक प्रकियाओं में सुधार पर बल प्रदान करती है। ऐसे ही कुछ उदाहरण हमारे समक्ष बालिकाओं के लिये आते हैं यथा- **'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ अभियान'**। इसके अन्तर्गत उन विद्यालय के प्रबन्धकों को पुरस्कृत किया जाता था जो बालिकाओं के अध्ययन पर बल प्रदान करते थे और उस अध्ययन में निरन्तरता बनाये रखने के लिये पूर्णरूप से प्रयासरत रहते थे। ऐसी ही एक योजना **'उड़ान'** आयी यह प्रयास केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड **(CBSE)** की थी। इस योजनान्तर्गत इस विषय पर बल दिया गया कि शिक्षा ऐसी हो जो ज्ञानात्मक के साथ-साथ व्यावहारिक भी हो । तात्पर्य यह है कि जो अल्पसंख्यक, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति वर्ग के विद्यार्थी हैं उनको विज्ञान और गणित की शिक्षा से इस प्रकार से शिक्षित करना जिससे वह व्यवसाय के क्षेत्र में अग्रसर हो सकें और अपने जीवन को सफल बना सकें। योजना पत्रिका में उद्धृत- ''उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के भौगोलिक अलगाव और उसके कमियों को देखते हुये उस क्षेत्र में रहने वाले विद्यार्थियों के लिये भी कई योजनायें हैं। इस व्यापक समूह तक पहुँच बनाने और शैक्षणिक कार्य को अधिक गतिशील बनाने के लिये तकनीक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है और विद्यार्थियों को शिक्षा के अवसर मुहैया करा रही है। स्वयं (स्टडी वेब्स ऑफ एक्टिव-लर्निंग फार यंग एस्पायरिंग माइंड्स) के तहत आई.आई.टी., आई.आई.एम., केन्द्रिय विश्वविद्यालयों जैसे संस्थानों के प्रोफेसर विद्यार्थियों को मुफ्त ऑनलाइन शिक्षा प्रदान कर रहीं हैं।[3]

शिक्षा की गुणवत्ता में डिजिटल लाइब्रेरी की संकल्पना- भारत में डिजिटल लाईब्रेरी की अवधारणा की शुरुआत 1990 के दशक के मध्य में शुरू हुई। हालांकि शुरुआत में इस दिशा में कुछ ही पुस्तकालयों ने पहल शुरू की। भारत में अभी भी डिजिटल लाइब्रेरी का कार्यक्रम विकसित होने के दौर में है। डिजिटल लाइब्रेरी में सूचना और ज्ञान की उपलब्धता को बढ़ाने की क्षमता है ये समय और जगह की बाधाओं को भी दूर करते हैं। डिजिटल लाइब्रेरी ऐसी लाईब्रेरी है जहाँ किताबों और अन्य पठन

सामग्री को डिजिटल स्वरूप में रखा जाता है और कंप्यूटर द्वारा उपलब्धता मुहैया कराई जाती है।[4]

लाइब्रेरी का डिजिटलीकरण-भारतीय डिजिटल लाईब्रेरी (DLI) भारतीय डिजिटल लाईब्रेरी (DLI) मुफ्त में उपलब्ध वैसी दुर्लभ किताबों का संग्रह है, जिसे भारत में मौजूद विभिन्न लाईब्रेरी से संग्रह किया गया है। सन् 2000 में भारतीय डिजिटल लाईब्रेरी की परियोजना की शुरुआत हुई और इसका इरादा मानव जाति के सभी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक, कला सम्बन्धी और वैज्ञानिक कार्यों को डिजिटल रूप में संरक्षित करना, इसे इन्टरनेट के जरिये शिक्षा के लिये मुफ्त में उपलब्ध कराना और भावी पीढ़ियों को इसकी पहुँच सुनिश्चित करना था। इस सपने को साकार करने की दिशा में 10 लाख किताबों की संग्रह वाली डिजिटल लाईब्रेरी तैयार करना था, जो मुफ्त में पढ़ने के लिये उपलब्ध हो सके। ये सभी किताबें मुख्यतौर पर भारतीय भाषाओं में थी। भारतीय डिजिटल लाईब्रेरी में फिलहाल 550603 किताबें हैं। इस परियोजना की फंडिग इलेक्ट्रानिक्स और सूचना प्रौद्योगिकी विभाग, संचार और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय भारत सरकार द्वारा की जा रही है। भारतीय डिजिटल लाईब्रेरी की मेजबानी भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलुरु द्वारा की जा रही है।[5]

इंफॉर्मेशन (सूचना) और लाईब्रेरी नेटवर्क-(INFLIBNET) इंफॉर्मेशन और लाईब्रेरी नेटवर्क विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) का स्वायत्त अन्तर विश्वविद्यालय केन्द्र है यह यूजीसी द्वारा 1991 में शुरू किया गया प्रमुख राष्ट्रीय कार्यक्रम है और इसका मुख्यालय गुजरात विश्वविद्यालय कैंपस अहमदाबाद में है। इंफॉर्मेशन और लाईब्रेरी नेटवर्क भारत में विश्वविद्यालयों की लाईब्रेरी के आधुनिकीकरण में शामिल है।[6]

शोधगंगा- भारतीय शोध प्रबंधों का संग्रह- 1 जून 2009 को जारी यूजीसी की अधिसूचना के मुताबिक विश्वविद्यालयों में शोधकर्ताओं के लिये शोध प्रबन्ध को इलेक्ट्रॉनिक यानी डिजिटल संस्करण में सौपना अनिवार्य कर दिया गया है। इसका मकसद भारतीय थीसिस को शोध सम्बन्धी अन्य सामग्री की दुनिया भर के अकादमिक समुदाय के लिये उपलब्धता सुनिश्चित करना है।[7]

शोधगंगोत्री- शोधगंगोत्री, शोधगंगा के लिये पूरक का काम करती है। शोधगंगा जहाँ भारतीय विश्वविद्यालयों को सौपी गयी पूरी थीसिस का संग्रह है, वहीं 'शोधगंगोत्री' शोधार्थियों द्वारा पीएचडी के लिये रजिस्ट्रेशन की खातिर विश्वविद्यालयों को सौंपे गये शोध के विषय से सम्बन्धित ब्यौरे (सिनॉप्सिस) का संग्रह है।[8]

विद्वतापूर्ण सामग्री के हेतु राष्ट्रीय लाईब्रेरी तथा सूचना सेवा आधारभूत संरचना योजना पर यूजीसी इम्फोनेट डिजिटल लाइब्रेरी कंसोर्शियम, आईएनडीइएसटी - एआईसीटीई कंसोर्शियम, आईएनएफएलआईबीएनईटी केन्द्र तथा आईआईटी दिल्ली द्वारा सम्मिलित रूप से कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। इसके अन्तर्गत प्रमुख सुविधायें प्रदान की जाती हैं-

1. विद्यालयों को चयनित ई-संसाधनों की उपस्थिति। एन लिस्ट योजना आईएनएफएलआईबीएनईटी केन्द्र के द्वारा इंस्टाल सर्वर के माध्यम से छात्र-छात्राओं, अनुसंधानकर्ताओं, अध्यापकों को ई-संसाधन की सुविधा प्रदान की जाती है इसमें उपयोगकर्ता यूजरआईडी बनाकर संसाधन का लाभ उठा सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर विषय सम्बन्धित सामग्री वेबसाइट से डाउनलोड कर सकते हैं।

2. मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा ई-शोधसिन्धु का गठन किया गया इसमें 3 प्रोग्राम सम्मिलित हैं यूजीसी इम्फोनेट डिजिटल लाइब्रेरी कन्सोर्शियम, एनएलआईएसटी तथा आईएनडीईएसटी-एआईसीटीई कन्सोर्शियम। इसमें 15 हजार करोड़ से भी ज्यादा नई और पुरानी पत्रिकाओं, सन्दर्भित पुस्तिकाओं, उद्धरणों, तथ्यों से सम्बन्धित डेटाबेस सम्मिलित होगा।

इन सभी परियोजनाओं का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक आयु वर्ग के बालक-बालिकाओं विशेषतः ज्ञान और सूचना में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को तैयार किया जाता है। प्रत्येक विश्वविद्यालय के पास बौद्धिक गतिविधियों और पाठ्यक्रमों का अपना भण्डार होता है जिसे डिजिटल किया जा रहा है। जो एनडीएल का मॉडल आईडीआर पर आधारित है जिसमें छात्र सुविधानुसार इसे प्राप्त करने के लिये स्वतंत्र होंगे।

इन योजनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी योजनायें हैं जिनसे विद्यार्थी पुस्तकीय सामग्री का भी लाभ प्राप्त कर सकें जैसे- 'नेशनल ई लाईब्रेरी' को विकसित किया गया है। इसके माध्यम से विश्वविद्यालयों और विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं में अथाह उपलब्ध पुस्तकीय सामग्री को डिजिटल किया जा रहा है जिससे उसका लाभ विद्यार्थी सहज रूप से लैपटॉप, स्मार्ट फोन और टैबलेट जैसे उपकरणों से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार पुस्तकीय सूचनायें सरलता के साथ जनमानस तक पहुँच जाती है। योजना पत्रिका के अनुसार-''नेशनल छात्रवृत्ति पोर्टल को एण्ड टू एण्ड स्कॉलरशिप प्रोसीजर के लिये वन स्टॉप सॉल्यूशन के रूप में परिकल्पित किया गया है जहाँ से विद्यार्थी भारत सरकार के द्वारा प्रदान की गयी छात्रवृत्ति के लिये आवेदन कर सकते हैं और लाभ की सुविधा प्राप्त कर सकते हैं।''[9]

ऐसी कुछ अन्य योजनाओं के विषय में डाटा प्रस्तुत करते हुये योजना पत्रिका में यह अंश उद्धृत है-'' स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (**NCERT**) की राष्ट्रीय परिषद् के माध्यम से वार्षिक राष्ट्रीय मूल्यांकन सर्वेक्षण (**NAS**) का संचालन करने का प्रस्ताव रखा है। साथ ही मंत्रालय देश में स्कूली शिक्षा डाटा के विभिन्न स्रोतों को केन्द्रीयकृत करने के लिये व्यय पोर्टल को विकसित करने जा रहा है

और शिक्षक शिक्षण संस्थानों के लिये एक पोर्टल की शुरुआत करने वाला है जो उनके कार्य में पारदर्शिता और ग्रेडिंग को सुनिश्चित करेगा। देश भर में लगभग 20 करोड़ बच्चों की निगरानी करने वाली एक प्रणाली को भी शुरू किया जा रहा है जो एक से दूसरी कक्षा में जाने पर बच्चे की प्रगति पर नजर रखेगा और ड्रॉप आउट्स को चिह्नित करेगा''।[10]

विद्यालयी शिक्षा और बाह्य वातावरणों को ध्यान में रखते हुये कि उनमें सम्यक् सन्तुलन स्थापित किया जा सके उसके लिये 2005 में **NCF** का विचार सामने आया। इसी भावना को और अधिक सुदृढ़ करने के लिये मानव संसाधन विकास मंत्रालय के द्वारा राष्ट्रीय आविष्कार अभियान का निर्माण (**RAA**) किया गया। इसके अन्तर्गत बच्चों को प्रोत्साहित किया जाता रहा कि गणित विज्ञान रुचिकर विषय है। उन विषयों का अध्ययन करने के पश्चात् कुछ कारगर कार्य किया जा सकता है अतः इन विषयों को इस प्रकार बच्चों के समक्ष उपस्थापित करें जिससे बच्चों में भयावह स्थिति नहीं उत्पन्न हो अपितु वह विषय उनके जीवन के लिये उपयोगी हो सके। एक अन्य योजना **NCERT** द्वारा प्रारम्भ हुयी-ई पाठशाला इसके द्वारा शिक्षण संस्थानों की शिक्षण पद्धति की गुणवत्ता को सुधारने का नया प्रयास प्रारम्भ हुआ। इसमें विद्यालयी विद्यार्थी को गुणवत्तापूर्ण शिक्षण-संसाधनों की निःशुल्क और सहज सुविधा प्रदान करने का पूर्णरूप से प्रयास किया गया।

इस प्रकार प्रारम्भिक स्तर से लेकर उच्च स्तर पर्यन्त विद्यालयी शिक्षा की गुणवत्ता पर अनेकानेक प्रयास हुये। सेमेस्टर पद्धति, ग्रेडिंग प्रणाली कक्षा 8 की परीक्षा को भी बोर्ड से जोड़ना अर्थात् यदि बच्चा कक्षा 8 में उचित अध्ययन नहीं करने से परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर पा रहा है तो अनुत्तीर्ण घोषित करना जैसे अनेकों प्रयास हुये। यद्यपि शिक्षण संस्थानों में शिक्षकों के प्रशिक्षण में विद्यार्थियों की बुनियादी शिक्षा पर गुणवत्ता हेतु सुधार किया गया परन्तु ध्यान देने की आवश्यकता यह है कि जब शिक्षक शिक्षार्थी को शिक्षा प्रदान करते हैं तो उनके मार्ग में अनेकों संरचनात्मक बाधायें उपस्थित हो जाती हैं अतः विद्यालयी संस्था और सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शिक्षकों की शिक्षा सम्बन्धी बाधाओं को दूर करें क्योंकि एक शिक्षक द्वारा उचित या अनुचित रूप से प्रदान की गयी शिक्षा में अन्तिम रूप से वहीं शिक्षक उत्तरदायी होता है। अतः ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि शिक्षक समस्त बाधाओं से रहित होकर उचित शिक्षा बालकों को प्रदान कर सके। यदि थोड़ी समस्या शिक्षक के समक्ष उपस्थित हो जाये तो शिक्षक में इतनी योग्यता एवं धैर्य होना चाहिये कि स्वयं वह इन अल्प समस्याओं को अपने बुद्धि के उचित प्रयोग से दूर कर सके। हम देखते हैं कि जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने में शिक्षकों तक बालक नहीं पहुँच पाता तब वहाँ उसे टैबलेट, स्मार्टफोन की सुविधा प्रदान की जाती है। यद्यपि ये उपकरण उनकी सहायता तो करते हैं तथापि अल्पायु के ये बालकों के लिये हानिकारक हो सकते हैं अतः उनके अध्ययन के समय इनकी विशेषरूप से देखभाल करनी चाहिये जिससे ये उन उपकरणों का दुरुपयोग न कर सकें।

ध्यातव्य है कि छात्र गणित, विज्ञान, अंग्रेजी शिक्षा को ग्रहण करते-करते इतने मशीनी रूप में अपने व्यक्तित्व को न ढाल लें कि वो अपने सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, नैतिक विषयों से विमुख एवं अपरिचित हो जायें। भारत का बहुमूल्य धन भारतीयों का चारित्रिक आदर्श और उनकी विद्वत्ता है। अतः पाश्चात्य शिक्षा अंग्रेजी जहाँ बालकों के सर्वांगीण विकास में सहायक है वहीं सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, नैतिक शिक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि इस शिक्षा के माध्यम से बालक अपने देश की धरोहर, संस्कृति को भली-भाँति परिचित हो सकता है तथा उसके सम्पोषण, संरक्षण, संवर्द्धन के प्रति जागरुक रह सकता और समय पर आवश्यक निर्णय ले सकता। लार्ड मैकाले इस बात से भली-भाँति परिचित था कि भारत की रीढ़ की हड्डी उसकी आध्यात्मिक, सांस्कृतिक विरासत है और इसका संरक्षण भारत की पुरातन शिक्षा व्यवस्था गुरुकुल पद्धति कर रही है अतः सर्वप्रथम उस शिक्षा-व्यवस्था को नष्ट करके अंग्रेजी शिक्षा को सर्वोच्च बताना होगा। जिससे वह पूरी तरह से अपनी संस्कृति अपने आत्मगौरव को भुला दें। एक स्थान पर उसने अपने विवरण-पत्र में कहा-'' भारत में शिक्षा का उद्देश्य अंग्रेजी माध्यम से यूरोपीय साहित्य तथा विज्ञान का प्रचार करना है। अपने विचारों के क्रियान्वयन के लिये उसने केवल उच्च वर्ग की शिक्षा का प्रस्ताव किया। उच्च वर्ग की शिक्षा का समर्थन करते हुये मैकाले ने तर्क दिया है कि-

''अपने सीमित साधनों में हमारे लिये यह असम्भव है कि जनसमान्य को शिक्षा देने का प्रयास करें। वर्तमान में हमें अपने प्रयास एक ऐसे वर्ग को बनाने में करना चाहिये जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित लाखों लोगों के बीच दुभाषियों का काम कर सकें तथा जो रंग और रूप में भारतीय हो परन्तु रुचि, विचार, आदर्श तथा बुद्धि में अंग्रेज हो। इस वर्ग पर हम देशीय भाषाओं को परिष्कृत करने तथा पाश्चात्य शब्दावली के वैज्ञानिक पदों से सम्बन्धित करने एवं विशाल जनसंख्या तक ज्ञान पहुँचाने का कार्य छोड़ देंगे।''[11]

इस प्रकार लार्ड मैकाले ने अपने विवरण पत्र में प्राच्य भारतीय शिक्षा और साहित्य का अत्यधिक विरोध किया तथा एक रणनीति से अंग्रेजी माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान तथा विज्ञान की प्रबल प्रशंसा की। इसके लिये उसने अनेक तर्क प्रस्तुत किये। संस्कृत, अरबी, फारसी भाषा साहित्य उसकी दृष्टि में निकृष्ट पिछड़ी भाषायें थीं। उसने अंग्रेजी साहित्य को उपर्युक्त साहित्य से उत्कृष्ट बताया और कहा-

''एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक आलमारी का साहित्य भारत व अरब के सम्पूर्ण साहित्य के समान महत्त्व रखता है।''[12]

लार्ड मैकाले की इस नीति से स्पष्ट है कि अंग्रेजी साहित्य ही उत्कृष्ट है। परन्तु अंग्रेजी –साहित्य से अधिक आवश्यक है कि संस्कृति, सभ्यता, नैतिक, ऐतिहासिक शिक्षा सम्बन्धी उत्कृष्ट पुस्तकों का अध्ययन बालक करें इसके लिये पुस्तकालयों को समृद्ध किया जाये। शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिये परीक्षा को प्रोत्साहन दिया जाये। परीक्षा के माध्यम से जहाँ स्मरण शक्ति को प्रोत्साहित किया जाये वहीं ज्ञान, सृजनात्मक शक्ति को। बोध, कौशल गुणवत्ता हेतु जहाँ शिक्षक का दायित्व है वहीं अभिभावकों की भी महती भूमिका है। अभिभावकों को भी अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति जागरुक रहना चाहिये उनमें आचरण, नैतिकता, चरित्र, प्रकृति संरक्षण व राष्ट्र प्रेम जैसे गुणों को विकसित करने हेतु अभिभावक निरन्तर तत्पर रहें।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नवानी,डी.(2016.जून). समकालीन भारतीय सन्दर्भ में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा.योजना, (60) पृष्ठ 40
2. नवानी,डी.(2016.जून). समकालीन भारतीय सन्दर्भ में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा.योजना, (60) पृष्ठ 40
3. नवानी,डी.(2016.जून). समकालीन भारतीय सन्दर्भ में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा.योजना, (60) पृष्ठ 40
4. मंडल,ए. (2018.दिसंबर). भारत में डिजिटल लाईब्रेरीः एक निर्णायक बदलाव.योजना,(62)12 पृष्ठ 45-46
5. मंडल,ए. (2018.दिसंबर). भारत में डिजिटल लाईब्रेरीः एक निर्णायक बदलाव.योजना,(62)12 पृष्ठ 46
6. मंडल,ए. (2018.दिसंबर). भारत में डिजिटल लाईब्रेरीः एक निर्णायक बदलाव.योजना,(62)12पृष्ठ 46
7. मंडल,ए. (2018.दिसंबर). भारत में डिजिटल लाईब्रेरीः एक निर्णायक बदलाव.योजना,(62)1212पृष्ठ 46
8. मंडल,ए. (2018.दिसंबर). भारत में डिजिटल लाईब्रेरीः एक निर्णायक बदलाव.योजना,(62)12 पृष्ठ 46
9. नवानी,डी.(2016.जून). समकालीन भारतीय सन्दर्भ में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा.योजना, (60) पृष्ठ 40
10. नवानी,डी.(2016जून). समकालीन भारतीय सन्दर्भ में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा.योजना, (60) पृष्ठ 40
11. गुप्ता.एस.पी. एवं गुप्ता. ए. (2010). भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें. इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन. पृष्ठ-47
12. गुप्ता.एस.पी. एवं गुप्ता. ए. (2010). भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें. इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन. पृष्ठ-45

http://mhrd.gov.in/school-education

http://mhrd.gov.in/schemes-school

https://www.scholorships. gov.in/

●

स्वतंत्रता पूर्व भारत में 'मिशन पत्रकारिता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन (सन् 1780-सन् 1947)

मीनाक्षी पाण्डेय एवम् डॉ0 नेहा पाण्डेय***

वर्तमान युग सूचना क्रांति का है। किसी भी प्रकार की सूचना एवं सामग्री माउस की एक क्लिक पर कहीं भी भेजी जा सकती है। तकनीकों से भरे इस युग में हमारे आस-पास सूचनाओं का अंबार है, विडंबना यह कि सूचनाएँ तो अपार हैं परन्तु सूचनाओं का विश्वसनीय स्तर गर्त में जा चुका है। सूचनाओं के इस समुद्र से उच्च कोटि की विश्वसनीय, सार्थक एवं मूल सूचनाओं को प्राप्त करना एक चुनौती बन गया है। सूचनाओं एवं समाचारों को संप्रेषित करने वाली इकईयाँ। आए दिन सवालों के कटघरे में नजर आती हैं। वर्तमान परिदृश्य में मीडिया व्यवसाय बन चुका है, कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा। आज समाचारों को मसालेदार बना कर लोगों के बीच बेचा जा रहा है। खरीदफरोख़्त के इस बाजार में मीडिया कर्मियों एवं समाचारों की निलामी हो रही है।

इससे इतर समाचार पत्रों का शुरूआती दौर शुचिता, सम्मान और साहस से भरा है। तत्कालीन दौर में पत्रकारिता व्यवसाय ना हो कर 'मिशन' थी। 'मिशन'- स्वतन्त्रता प्राप्ति का, गुलामी की जंजीरों को तोड़ने का, लोगों में आत्मविश्वास तथा ऊर्जा का समावेश कर आजादी की चिंगारी को धधकती हुई अग्नि में परिवर्तित करने का, लोगों के सामाजिक तथा बौद्धिक विकास का।

जहाँ एक ओर हमारे क्रांतिकारी एवं अहिंसावादी आंदोलनकारी देश पर अपना सर्वस्व निछावर कर रहे थे वहीं पत्रकारिता आम जन मानस को एकत्रित करने के साथ ही उनमें स्वतंत्रता प्राप्ति की अग्निशिखा को अनवरत प्रज्जवलित रखने का कार्य कर रही थी। उस समय के निर्भीक संपादकों ने अत्यन्त कष्ट सहते हुये अपनी लेखनी से अंग्रेजों की नाक में दम कर रखा था। महादेवी वर्मा द्वारा कहे गये शब्द, ''पत्रकारों के पैरों के छालों से इतिहास लिखा जाता है'[1], उस समय के संपादकों एवं पत्रकारों की भूमिका को निःसदेह सच्चे अर्थों में परिभाषित करते हैं।

भारत में पत्रकारिता की शुरुआत

भारत में पत्रकारिता की शुरुआत करने वाला एक अंग्रेज था जिसका नाम जेम्स आग्स्ट्स हिक्की था। हिक्की ने 29 जनवरी 1780 में भारत में सर्वप्रथम 'बंगाल गज़ट' नामक एक साप्तहिक पत्र निकाला था। इसे कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर या 'हिक्की गज़ट' के नाम से भी जाना जाता है। हिक्की द्वारा समाचार पत्र निकालने के इस ऐतिहासिक कृत्य ने भारतीय पत्रकारिता की नींव रखी। लोगों को अपनी बातों को कहने का एक तकनीकी और प्रभावशाली मार्ग मिला। 'हिक्की गज़ट' के बाद भारत में कई समाचार पत्र निकलने लगे। अंग्रेजों ने हिक्की को तो जेल में डाल दिया परन्तु उसके द्वारा लाये गये सैलाब को ना रोक पाये। इसके बाद कई अंग्रेजों ने समाचार पत्र निकाले। 1785 तक सभी पत्र बंगाल से ही निकल रहे थे।

सन् 1785 में एक नया मोड़ आया जब मद्रास से रीचर्ड जाह्नस्टोन ने 'मद्रास कुरियर' निकाल कर एक और नई शुरूआत की। तत्पश्चात 1789 में बम्बई से 'बाम्बे हेराल्ड', 1790 में 'बाम्बे कुरियर', 1791 में 'बाम्बे गज़ट' जैसे पत्रों का प्रकाशन होने लगा। 'बाम्बे कुरियर' समाचार पत्र में पहली बार गुजराती भाषा में विज्ञापन निकला।[2] इन पत्रों के प्रकाशन द्वारा भले ही स्वतंत्रता प्राप्ति का आव्ह्न ना हुआ हो, भले ही इन समाचार पत्रों द्वारा 'मिशन पत्रकारिता' का उद्घोष प्रस्फुटित ना हुआ हो परन्तु इन समाचार पत्रों ने भारतीय पत्रकारिता का दिशा निर्देशन जरूर किया। अब समाचार पत्र बंगाल से निकल कर भारत के अन्य राज्यों में भी निकलने लगे थे। भारत के बुद्धिजीवियों को समाचार पत्रों का महत्व समझने में देर नहीं लगी। इसी दौरान अंग्रेजों ने भी समाचार पत्रों से आए खतरों को भाँप लिया और समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगाना शुरू कर दिया। 1795 में मद्रास सरकार ने 'सेन्सरशिप एक्ट' पारित कर दिया। जो उस समय कुछ समाचार पत्रों पर लगाया गया परन्तु 1799 में इस एक्ट को भारत में छपने वाले समस्त समाचार पत्रों पर लगा दिया गया। इस एक्ट के तहत किसी भी समाचार को प्रकाशित करने से पूर्व उस सामाग्री की फ्रुफ शीट जमा करनी पड़ती थी।[3] इसके बाद लार्ड विल्सन ने भी समाचार पत्रों पर नियंत्रण करने की कोशिश की।

भारतीयों के द्वारा पत्रकारिता का शिलान्यास

1816 में गंगा किशोर भट्टाचार्या (कुछ लोगों के अनुसार गंगाधार भट्टाचार्या) तथा हरूचन्द्र राय ने कलकत्ता से 'बंगाल गज़ट' का प्रकाशन किया। और यहीं से भारत में भारतीयों के द्वारा पत्रकारिता का शिलान्यास हुआ। इसके बाद तो भारतीयों में एक नये उल्लास और उम्मीदों की लहर उमड़ पड़ी।

इसाई धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से ईसाई मिशनरियों ने 1818 में सीरामपुर से बंगाली में मासिक पत्र 'दिग्दर्शन' का प्रकाशन किया। यह भारतीय भाषा में छपने वाला प्रथम पत्र माना जाता है।[4] ईसाई मिशनरियों ने 'फ्रेण्ड ऑफ इण्डिया' नामक

* शोध छात्रा, पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** असिस्टेंट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

समाचार पत्र भी निकाला। इन समाचार पत्रों में हिन्दू धर्म की आलोचना के साथ ईसाई धर्म का प्रचार किया गया।

मिशन पत्रकारिता की शुरूआत

'मिशन'- सामाजिक और बौद्धिक विकास का

साम्प्रदायिकता की दोगली भावना के जवाब में राजा राम मोहन राय ने अपनी कलम की धार पैनी की और 1821 में बंगाली भाषा में संवाद कौमुदी निकाला। 1822 में मिशनरियों को करारा जवाब देने के लिये उन्होंने अंग्रेजी तथा बंगाली दोनों भाषाओं से 'ब्राह्मोनिकल मैगजीन' का प्रकाशन किया। इस पत्र में वह 'शिव प्रसाद सिंह' के नाम से लिखते थे। इन पत्रों के द्वारा उन्होंने समाज में विकास का मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश की। इन पत्रों में उन्होने विधवा विवाह, सती प्रथा जैसे मुद्दो पर लिखा। आगे चलकर उन्होने 1822 में ही फारसी में 'मिरातुल अखबार' निकाला। इस पत्र में उन्होने लिखा कि ''मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि जनता के सामने एक बौद्धिक निबन्ध उपस्थित करूँ जो उनके अनुभव को बढ़ाये और सामाजिक प्रगति में सहायक हो।''[5] यह न केवल पत्रकारिता के प्रति उनके उद्देश्य को प्रदर्शित करता है बल्कि राष्ट्र के प्रति उनकी कर्तव्यनिष्ठा एवं समर्पण का द्योतक भी है। उनकी देश भक्ति मात्र अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीतियों के विरूद्ध लिखने में नहीं थी अपितु समाज में व्याप्त बुराइयों एवं कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेकने की भी थी। एक स्वस्थ समाज का स्वप्न देखने वाले राय साहब ने अपने जीवन काल में बहुत कष्ट झेले परन्तु अपने मार्ग पर डटे रहे।

अंग्रेजों ने राजा साहब के पत्रों के साथ ही अन्य समाचार पत्रों की व्यापकता और प्रभावों को समझ लिया और 1823 में गवर्नर जनरल एडम ने 'लाइसेंस प्रथा' के कानून जारी किये, जिसका प्रभाव 'मिरात-उल-अखबार' पर पड़ा और वह बंद हो गया।

भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में एक अविस्मरणीय क्षण 1826 में 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन के साथ आया। 'उदन्त मार्तण्ड' कलकत्ता से निकलने वाला पहला हिन्दी समाचार पत्र था। जिसके संपादक युगल किशोर शुक्ल थे। 1827 तक इस प्रकार कई समाचार पत्र छपते रहे। पूरा भारतीय प्रेस इस समय तक दो खेमों में बट चुका था। एक खेमा स्वतंत्रता सेनानियों का था जो स्वतंत्रता प्राप्ति तथा भारतीय समाज के उत्थान के लिय अवाजें उठा रहा था तो दूसरी तरफ अंग्रेजों द्वारा संचालित पत्र थे जो अंग्रेजों के पक्षधर थे।

1829 में राजा राम मोहन राय ने 'बंगदूत' नामक पत्र निकाल कर पुनः अंग्रेजों के कानों में कीलें पिघला दी। पत्र का प्रकाशन उन्होंने बंगाली, हिन्दी और फारसी में किया तथा 'बंगाल हेराल्ड' समाचार पत्र का अंग्रेजी में। इन पत्रों की सहायता से उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर कड़ा प्रहार किया। उन्होंने सर्वप्रथम प्रेस का समाज के प्रति क्या कर्तव्य होता है इसका बोध कराया। 1835 में समाचार पत्रों को नियंत्रित करने के लिये चार्ल्स मेटकॉफ ने 'रजिस्ट्रेशन ऑफ द प्रेस एक्ट' पास किया। परन्तु वह दौर था मिशन का, एक जुनून का, इसे रोक पाना अंग्रेजों को बस की बात न थी। अंग्रेजी सरकार समाचार पत्रों को रोकने के कानून बनाती रही और भारतीय उसी उत्साह से पत्र निकालते रहे।

अब तक भारत में समाचार पत्रों का विकास कई क्षेत्रों कलकत्ता, मद्रास मुम्बई तक हो चुका था। अंग्रेजी, बंगाली, फारसी तथा हिन्दी जैसी भारतीय भाषाओं में पत्र निकल चुके थे फिर भी रिक्तता थी। बनारस से 1845 में 'बनारस अखबार' के प्रकाशन के साथ यह रिक्तता भी समाप्त हुयी और भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में एक नये युग का आविर्भाव हुआ । हिन्दी क्षेत्र से निकलने वाला यह पहला हिन्दी साप्ताहिक पत्र था। इसके प्रकाशक राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थट्टे थे।

अब तक वह जमीनी वातावरण तैयार हो चुका था जहाँ से भारतीय पत्रकारिता के योद्धा अंग्रेजों से सीधी टक्कर ले सकें। अभी तक की भारतीय पत्रकारिता का मूल 'मिशन' सामाजिक और बौद्धिक विकास था लोगों की आन्तरिक इच्छा शक्ति और स्वाभिमान की चिन्गारी को सुलगाना था। इसी दौरान भारतीय वातावरण में भी भारी बदलाव आ रहा था लोगों में असन्तोष और रोष चरम पर था जरूरत थी तो बस हल्कि सी बयार की जो उस चिन्गारी को शोला बना दे।

'मिशन'- स्वतंत्रता प्राप्ति का

1857 में मंगल पाण्डेय ने सैन्य विद्रोह कर दिया और उसका यह विद्रोह क्रान्ति में तब्दील हो गया। 1857 के क्रान्ति युद्ध ने अंग्रेजों के होश फाख़्ता कर दिये थे। जहाँ एक तरफ सशक्त योद्धा अपनी शक्ति से अंग्रेजों से लोहे ले रहे थे वहीं पत्रकारों का बुद्धिजीवी वर्ग अंग्रेजों को बौद्धिक रूप से कमजोर कर रहा था। साथ ही राष्ट्रीयता की भावना को लोगों की चेतना में ला जन-जन को एक सूत्र में पिरो रहा था और यह सूत्र था स्वतंत्रता प्राप्ति का। यहाँ से पत्रकारिता का स्वतंत्रता प्राप्ति के मिशन में योगदान शुरू होता है।

अजीमुल्ला खाँ ने 1857 में 'पयाम-ए-अजादी' का प्रकाशन शुरू किया।[6] इस अखबार के मुद्रक एवं प्रकाशक मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर के बेटे बेदार बख़्त थे। उन्होंने इस समाचार पत्र के माध्यम से समस्त देशवासियों को एकजुट होने का आवाह्न किया ''हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों उठो, खुदा ने इंसान को जितनी बरकतें अदा की हैं इसमें सबसे कीमती बरकत आजादी की है।''[7] इस अखबार ने 1857 के स्वतंत्रता सेनानियों की संघर्ष कथाएँ छापी, युद्ध में शामिल होने का आवह्न किया । इस अखबार को जंगे आजादी का अख़बार कहा गया। इसी पत्र में उस दौर का प्रचलित राष्ट्रगीत छपा था, ''हम है इसके मालिक,

हिन्दुस्तान हमारा पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा...।''[8] जिससे पूरी ब्रिटिश कम्पनी बौखला गयी। इस कृत्य के लिये इसके संपादक को बहुत यातनाएँ दी गयीं उसकी नृशंस हत्या कर दी गयी। इस पत्र के साथ ही 'बाम्बे समाचार', 'द जाम-ए-जमशेद' और 'रास्ट गोफ्तार' जैसे भाषायी समाचार पत्रों ने प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के पक्ष में संदेश प्रकाशित किये। बौखलाए अंग्रेजों ने इस क्रान्ति को दबाने तथा समाचार पत्रों को नियंत्रित करने के लिये 'गैगिंग एक्ट' पास कर दिया। लार्ड कैनिंग द्वारा पारित इस एक्ट के अन्तर्गत समाचार पत्रों को प्रकाशित करने के लिये लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया।

1858 में ईश्वरचनद्र विद्यासागर ने बंगाली में 'सोमप्रकाश' का प्रकाशन किया। इस पत्र के माध्यम से वह ब्रिटिश हुकूमत की निर्भीकता से आलोचना करते थे और इसलिये 1878 में लिटन के 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' के शिकार हुये। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक 'द हिन्दू', 'मद्रास मेल' जैसे समाचार पत्रों का प्रकाशन हुआ। बम्बई से 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', कलकत्ता से 'टेलीग्राफ' और इलाहाबाद से 'पायोनियर' का प्रकाशन शुरू हुआ। इन समाचार पत्रों ने भी उस समय अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1861 में देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा मनमोहन घोष ने 'इण्डियन मिरर' तथा 1865 में जार्ज एलन ने 'पायोनियर' निकाला। 1867 में एक और एक्ट 'प्रेस एण्ड बुक रजिस्ट्रेशन एक्ट' पास किया गया। 1868 में मोतीलाल घोष ने 'अमृत बाजार पत्रिका' का कलकत्ता से प्रकाशन किया। संपादकों की लेखनी और तेवरों ने अंग्रेजों को अन्दर तक भयभीत कर दिया। निर्भीक क्रान्तिकारी संपादकों के तेवरों को ब्रिटिश सरकार अच्छी तरह भाँप गयी। इसी भय से ब्रिटिश सरकार ने सन् 1878 में 'वर्नाकुलर प्रेस एक्ट' लागू कर दिया जिससे समस्त भाषायी पत्रकारिता जगत में भूचाल आ गया। यह भी राष्ट्रीयता की आंधी के प्रचण्ड वेग को रोकने में नाकाम रहा। इस कानून के जवाब में 'अमृत बाजार पत्रिका' रातों रात हिन्दी में छपने लगी। ना तो अंग्रेजों के दबाव कम हुये ना संपादकों की कलम का वेग थमा। इसी वर्ष 1878 में सुब्रमण्ड्यम अय्यर, वी. केशवराय पन्त, सहित 6 लोगों ने मिलकर 'द हिन्दू' अख़बार निकाला जो कि मासिक था।

अंग्रेज जहाँ अत्याचारों और कानूनों से पत्रकारों पर शिकंजे कस रहे थे वहीं कलम के सिपाही अपनी लेखनी की तपिश से उसे पिघला रहे थे। इसी कड़ी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की लेखनी का उदय भारतीय पत्रकारिता इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना है। **''अब जहं देखुह वहं दुःखहि दुःख दिखाई। हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।''**[9] उनके तत्कालीन भारतीय स्थिति के इस वर्णन ने न जाने कितनी धमनियों में रक्त संचार को उत्तेजित कर आजादी का मतवाला बना दिया। उन्होने उस समय की स्थितियों के बारे में सत्यता एवं निर्भीकता से लिखने के साथ ही स्वदेश, स्वभाषा, तथा देशभक्ति की अलख जगायी। अंग्रेजी संस्कृति तथा उसके बढ़ते प्रभाव को देख उन्होंने देशवासियों को अपनी भाषा संस्कृति का सम्मान करने का संदेश दिया। ''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल''। साथ ही उन्होंने अंग्रेजों का कटाक्ष करते हुये लिखा कि ''भीतर भीतर सब रस चूसे, बाहर से तन मन धन मूसे। जाहिर बातिन में अति तेज, क्यों सखि साजन, नहीं अंग्रेज।''[10]

भारतेन्दु जी की ऐसी ओजस्वी लेखनी भारतीयों के तन मन में स्वदेश के प्रति देश की भावना जाग्रत करती थी वहीं अंग्रेजी सरकार तिलमिला जाती थी। अपने समय में इन्होंने हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का नारा दे देशवासियों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य किया साथ ही 'कविवचन सुधा', 'सरस्वती', 'हरिशचन्द्र मैगजीन', स्त्रियों पर केन्द्रित 'बाला बोधिनी' इत्यादी प्रकाशनों से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति सामाजिक सुधारों तथा स्वदेशी की भावना जागृत की। इसी युग में बालकृष्ण भट्ट द्वारा 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन किया गया। 1910 में इसके एक अंक में माधव शुक्ल की एक कविता **'सोचो यह क्या है जो कहलाता बम है'**, का प्रकाशन हुआ। इससे अंग्रेजी सरकार अत्यन्त तिलमिला उठी और पत्र को सदा के लिये बन्द कर दिया। इसके अलावा इस पत्र में 'प्रेस एक्ट' की भी खुलकर निर्भीक आलोचना की गई। इसी पत्र से 'बंग-भंग' और 'स्वदेशी' आंदोलन से पूर्व सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, रमेश चन्द्र दत्त, दादा भाई नौरोजी, लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक आदि ने राष्ट्रीयता की भावना जागृत करनी शुरू कर दी थी। 'हिन्दी प्रदीप' विशेष रूप लोकमान्य तिलक की उग्र राष्ट्रीयता से प्रभावित था।

1883 में पण्डित प्रतापनारायण ने 'ब्राहमण' पत्र का प्रकाशन किया जो भारतेन्दु जी की विचारधारा से ओतप्रोत था। पत्र छापने के दौरान अत्यन्त आर्थिक तंगी सहने के बावजूद संपादक के हौसले पस्त नहीं होते थे। 1881 में अंग्रेजी में 'मराठा' एवं मराठी में 'केसरी' पूना से प्रकाशित हुआ। इन दोनों पत्रों के माध्यमों से तिलक ने अपनी उन्मुक्त और निर्भीक लेखनी से 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है कि सोच को जन-जन के हदय में प्रज्वलित किया साथ ही अभिव्यक्ति की आजादी की मांग मुखर की। उन्होंने इन पत्रों के माध्यम से आम जनता से अपील की कि आजादी के लिये निर्भीक बोलें तथा संघर्ष करें, भोर होने तक रात में संघर्ष करना पड़ता है।[11] अपने कार्यों के लिये उन्हें कई कानूनी मुकदमों में फसाने का प्रयास किया गया। परन्तु इन पत्रों के द्वारा उन्होंने विभिन्न आन्दोलनों के लिये लोगों को जागरूक एवं एकजुट करने की कोशिश जारी रखी। केसरी के मुख पृष्ठ पर सिंह वाक्य प्रकाशित होता था ''सावधान! निश्चिंत होकर न विचरना, जब देश की जनता नींद से उठ जाएगी तब तुम्हारी खैर नहीं।''[12]

कालाकांकर से सन् 1885 में राजा रामपाल सिंह ने 'हिन्दोस्थान' का प्रकाशन किया जिसके संपादक मदन मोहन मालवीय थे। 1885 में अजमेर से हिन्दी-उर्दू भाषा के साप्ताहिक पत्र 'राजपूताना गजट' ने अंग्रेजी शासकों की दमनकारी नीतियों एवं

शोषण के खिलाफ आवाज उठाई। 1889 में 'कार्यालयी गोपनियता अधिनियम' पारित कर एक बार फिर प्रेस पर अंकुश लगाने की कोशिश की गई। अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिये ब्रिटिश सरकार हर हथकण्डे अपनाती थी, अत्याचार करती थी। 1905 में जब 'बंग-भंग' किया तो समस्त पत्रकारों ने इसकी आलोचना की। 'भारत रत्न' में बालमुकुन्द गुप्त ने 21 अक्टूबर 1905 के अंक में एक निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक 'बंग विच्छेद' था। इसमें उन्होने लिखा कि 'बंग-भंग' के कारण भारतीय जनता और अधिक निकट आई तथा एकता के सूत्र में बंधने लगी। उन्होने लिखा, ''आपके शासन काल में बंग विच्छेद इस देश के लिए अन्तिम विषाद और आपके लिये अन्तिम हर्ष है।[13] इस प्रकार उन्होंने अपनी लेखनी से अंग्रेजों की सारी नीति एवं मनसा पर पानी फेर डाला।

इसी के साथ 'जुगान्तर' में पूर्ण स्वतंत्रता का नारा दिया। 'जुगान्तर' की ओजपूर्ण लेखनी पर तत्कालीन चीफ जस्टिस सर लारेन्स जेविन्स ने कहा था कि ''इसकी हर पंक्ति से अंग्रेजों के विरूद्ध द्वेष टपकता है। प्रत्येक शब्द से क्रान्ति के लिये उत्तेजना झलकती है।[14] सबसे बड़ी बात थी इसके सम्पादक को कोई नहीं जानता था। 'जुगान्तर' के एक अंक में बम बनाने की प्रक्रिया एवं विधि को प्रकाशित किया गया। इस समाचार पत्र के अन्तिम अंक में इसके मूल्य के रूप छपा था 'फिरंगी का तुरन्त कटा हुआ सिर।'[15]

इस प्रकार ऐसे क्रान्तिकारी लेखों से ओतप्रोत इस समाचार पत्र ने अंग्रेजों को आतंकित कर रखा था। इसी की भाँति 'संध्या' पत्र में भी पूर्ण स्वतंत्रता की मांग मुखर की। 'देवनागर', 'नृसिंह', 'विश्वमित्र', 'स्वतंत्र' आदि पत्रों ने भी बगावत व विद्रोह की शिखा को प्रज्जवलित किया। इनके सम्पादकों-प्रकाशकों में शारदाचरण मिश्र, यशोदानन्दन अखौरी, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, तथा मूलचन्द अग्रवाल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सम्पूर्ण पत्रकारिता स्वतंत्रता प्राप्ति के उद्देश्य के प्रति समर्पित थी। बेड़िया, सजा, यातनाएं उनके ईरादों को रोकने में नाकाम थी। उनके ईरादों पर वेन्डल फिलिप ने कहा था कि, ''व्हाट गनपावडर डीड फार वॉर, द प्रेस हैस डन फार द माइन्ड''।[16]

शान्तिनारायण के सम्पादन में इलाहाबाद से 'स्वराज्य' का प्रकाशन 1907 में हुआ। यह पत्र अपने उग्रविचारों के कारण कई बार दण्डित हुआ। इस पत्र में खुदीराम बोस की एक कविता छापी गई जिसके कारण संपादक, शान्तिनारायण, को साढ़े तीन वर्ष की कैद तथा एक हजार रूपये जुर्माने की सजा मिली। इसके बाद भी इस पत्र में अग्रजों के खिलाफ लिखना बन्द नहीं किया। परिणाम स्वरूप अन्य संपादकों को भी अंग्रेजी सरकार के कोप का भाजन बनना पड़ा। इसके एक अंक में संपादक के लिये विज्ञापन इस प्रकार निकाला गया, ''चाहिए स्वराज के लिए एक संपादक। वेतन, दो सूखी रोटियाँ, एक गिलास ठंण्डा पानी और हर संपादकीय के लिये दस साल जेल।''[17] इसी प्रकार 1907 में प्रयाग से 'अभ्युदय' का प्रकाशन हुआ जिसके संपादक पं0 मदन मोहन मालवीय थे। इसके साथ ही उन्होंने 'इण्डियन ओपिनियन', का संपादन किया तथा 'मर्यादा', 'सनातन धर्म' जैसे पत्रों से जुड़े रहे।

1910 में अंग्रेजी सरकार ने 'प्रेस एक्ट' पारित किया जिसके शिकार 1,000 भारतीय समाचार पत्र हुये। जिसमें 'वंदेमातरम्' (ऑरबिन्दों घोष), 'संध्या' (ब्रहमा बान्धव उपाध्याय), तथा 'जुगान्तर' (भुपेन्द्रनाथ दत्त) जैसे समाचार पत्र मुख्य रूप से शामिल थे।

1913 में महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रिका में 'इण्डियन ओपिनियन' का प्रकाशन शुरू किया । इस पत्र में उन्होने वहाँ के दयनीय भारतीयों की समस्या को उठाया। 1915 का दौर भारतीय स्वतंत्रता काल में एक महत्वपूर्ण मोड़ लाया इस वर्ष गाँधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत लौट आये थे। देश की गम्भीर स्थिति को देखते हुये उन्होंने लोगों में संचार करने का एक अन्य मार्ग अपनाया। गाँधी ने 'यंग इण्डिया', 'नवजीवन', 'हरिजन', जैसे पत्र एवं पत्रिकाओं के माध्यम से लोगों को एक सूत्र में पिरोने तथा जागरूक करने का कार्य किया।

1920 में वाराणसी से 'आज' का प्रकाशन हुआ जिसके सम्पादक बाबू राव विष्णु पराड़कर थे। उनकी निर्भीक लेखनी अंग्रेजों की आँख की किरकिरी बन गई थी। उन पर सांप्रदायिकता फैलाने तथा राजद्रोह जैसे आरोप लगाये गये। फिर भी इनकी लेखनी पर अंकुश लगाना मुश्किल था। जब 1930 में 'आज' पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो उन्होंने 'रणभेरी' नाम से भुमीगत पत्र का प्रकाशन किया।

1938 में 'नेशनल हेरॉल्ड' समाचार पत्र का प्रकाशन किया गया जिसका पूर्णरूपेण उद्देश्य 'इण्डियन नेशनल काँग्रेस' के विचारों का समर्थन करना था। 1940 में 'इण्डियन इस्टर्न न्यूज पेपर सोसाइटी' (वर्तमान में इण्डियन न्यूज पेपर सोसाइटी) बनी जो कि समाचार पत्र संस्थाओं तथा सरकार के मध्य सामंजस्य का कार्य करती थी।

इन सब के अलावा 'कॉमरेड' (मौलाना मोहम्मद अली), 'अल-हिलाल' (मौलाना अब्दुल कलाम आजाद), 'मद्रास स्टैन्डर्ड' (ऐनी बेसेन्ट), 'डॉन' (जिन्ना) ऐसे अनेकों समाचार पत्र हैं जिन्होंने अंग्रेजों की नाक में दम कर रखा था।

इस प्रकार प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाये गये, सम्पादकों को जेल भेजा गया, सामाजिक व्यवस्थाओं के खिलाफ लिखने पर उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। समय-समय पर उन्हें आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा। पत्रकारों ने नृशंस सजायें और यातनायें झेली परन्तु फिर भी उनका हौसला कम न हुआ। जब-जब अंग्रेजों ने प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाया संपादको ने 'रणभेरी', 'रणडंका', 'चण्डिका', 'शंखनाद', 'तूफान', 'चिन्गारी', 'बवण्डर', 'हलचल', 'ज्वालामुखी', 'बोल दे धावा' जैसे अनेकों भूमिगत पत्रों का प्रकाशन

कर अपनी कलम की वेग को और तेज कर दिया। अत्यंत कष्ट सहे परन्तु पत्रकारिता की लौ को ना तो बुझने दिया और ना ही अपनी नीतियों से समझौता किया। उनके दिलों में देशभक्ति, स्वाभिमान तथा कर्तव्यनिष्ठा कूट-कूट कर भरी थीं। उस युग में पत्रकारिता पैसा कमाने की वृत्ति न होकर एक व्रत थी एक मिशन थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. https://shakya68510093.wordpress.com/2018/05/31/%E0%A4%AA%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A4%BE-%E0%A4%8F%E0%A4%95-%E0%A4%B0%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%AE-%E0%A4%B9%E0%A5%88%E0%A4%A6%E0%A4%AE-%E0%A4%B9/(Acessed on 4/05/18)
2. Dr. Nadig Krishna Murthy, Indian Journalism, (1966), P.N. 21
3. Dr. Nadig Krishna Murthy, Indian Journalism, (1966), P.N. 20
4. J V Vilanilam, Mass Communication In India: A Sociological Perspective, SAGE Publishing India (2005), P.N 53
5. Dr. Nadig Krishna Murthy, Indian Journalism, (1966), P.N. 45
6. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 32
7. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 34
8. हिन्दी पत्रकारिता, रूपक बनाम मिथक, डॉ० अनुशब्द, वाणी प्रकाशन, पृ० सं० 25, 2014
9. http://www.hindisamay.com/content/40/1/%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%A4%ÙeÛeE0%A5%87%E0%A4%82%E0%A4%A6%E0%A5%81%E0%A4B9%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%B6%E0%A5%8D%E0%A4%9A%E0%A4%82%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%A8%E0%A4%BE%E0%A4%9F%E0%A4%95-%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%A4%E0%A4%A6%E0%A5%81%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%A6%E0%A4%B6%E0%A4%BE.cspx (accessed o n 10/10/18)
10. Yogendra Pratāpa Simha, Hindi Sahitya Ka Itihas Aur Uski Samasyayen, Vani Prakashan, 2011, P.N. 365
11. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 65
12. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 67
13. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 61
14. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 62
15. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 62
16. https://www.goodreads.com/quotes/826060-what-gunpowder-did-for-war-the-printing-press-has-done (Accessed on 15/09/18)
17. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, यूनिर्वसिटी पब्लिकेशन, पृ०सं० 71

●

नरेश मेहता के काव्य में प्रतीक विधान

डॉ0 प्रेम निवास सिन्हा[*]

नरेश मेहता नयी कविता के प्रतिनिधि कवि हैं। नयी कविता अपने विपुल साहित्य के माध्यम से जिस सौन्दर्य बोध और अभिव्यक्ति की नवीनता को प्रस्तुत किया उसमें नरेश मेहता की भी अहं भूमिका रही है। नयी कविता में प्रयोगशीलता के जो आयाम विकसित हुए वे कथ्य और शिल्प दोनों ही रूपों में नरेश मेहता में मिलते हैं। सुरूचिपूर्ण आभिजात्य नरेश मेहता के काव्य की विशेषता है। उनके समस्त काव्यकृतियों (यथा-वनपाखी! सुनो!!), बोलने दो चीड़ को, मेरा समर्पित एकान्त, उत्सवा, तुम मेरा मौन हो, अरण्या, आखिर समुद्र से तात्पर्य, पिछले दिनों नंगे पैरों, देखना एक दिन, सभी मुक्त काव्य), तथा 'संशय की एक रात', महाप्रस्थान, प्रवादपर्व, शबरी एवं प्रार्थना पुरूष (सभी खण्ड काव्य) की भाषिक संरचना में शब्दों का अद्‌भुत प्रयोग तथा अप्रस्तुतों, बिम्बों एवं प्रतीकों के नूतन प्रयोग उनके काव्य की विशेषता है। उन्होंने अपने काव्य में प्रतीकों का प्रयोग बहुत किया है। चूँकि प्रतीक को उन्होने सम्प्रेषण के अनिवार्य साधन के रूप में ग्रहण किया है।

प्राचीन हिन्दी काव्य में तो प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से ही हुआ है, किन्तु आधुनिक छायावादी और प्रयोगवादी काव्य में इनका प्रयोग अधिक हुआ है। प्रतीक योजना के क्षेत्र में नये कवियों ने छायावादी लाक्षणिक वक्रता से आगे बढ़कर अत्यधिक सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। नयी कविता में प्रयुक्त प्रतीक सांस्कृतिक, पौराणिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, एवं लोकजीवन इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र से आये हैं। दरअसल, प्रतीक के द्वारा हम किसी अधिक सूक्ष्म और अदृश्य सत्ता को जानने का प्रयत्न करते हैं। प्रतीकों की सृष्टि सूक्ष्म तथा अर्द्धस्पष्ट भावों के लिए की जाती है।

प्रतीक शब्द की व्युत्पति प्रति+इण् (गतो) से मानी गई है जिसके अनुसार प्रतीक का अर्थ वस्तु है, जो अपनी मूल वस्तु में पहूँच सके अथवा वह चिन्ह जो मूल का परिचायक हो।[1] प्रतीक शब्द अंग्रेजी शब्द 'Symbol' का हिन्दी रूपान्तर है। जिसका सम्बन्ध ग्रीक शब्द Symbolon, 'Token' तथा लैटिन शब्द 'Symbol' शब्द से है जो आंशिक रूप से फ्रेंच शब्द 'Symbola' तथा स्पेनिश शब्द 'Symbole' से होकर अंग्रेजी के वर्तमान रूप तक आया है।[2]

वस्तुतः प्रतीक विधान एक ऐसी अभिव्यक्ति शैली है जिसमें विचारों और अनुभूतियों को सीधे-सीधे वर्णित न करके उनका संकेत किया जाता है और पाठक के मस्तिष्क में अव्याख्यायित प्रतीकों के माध्यम से उनका उद्‌बोधन कराया जाता है।

"Symbolism can therefore be defined as art of expressing ideas and emotions not by describing them directly….. But by suggesting what these ideas and emotions are, by recreating them in the mind of the reader through the use of unexplained symbols."[3]

प्रतीक शब्द का सामान्य अर्थ संकेत या चिन्ह है। 'प्रतीक' ऐसे संकेत हैं जिनके माध्यम से अभिव्यक्ति को प्रेषणीय, सार्थक और अर्थगर्भित बनाया जा सकता है। कवि अपनी अभिव्यंजना के लिए प्रतीकों का सहारा लेता है। प्रतीक भाषा में सघनता, संश्लिष्टिता और अर्थवता लाते हैं, तथा चिन्तन को प्रेषणीय बनाते हैं। इस दृष्टि से प्रतीकों का काव्यगत महत्व स्पष्ट हो जाता है। ''शैलीवैज्ञानिक संदर्भ में प्रतीक को काव्य प्रतीक, शाब्दिक प्रतीक/भाषिक प्रतीक के रूप में समझा जाता है; साहित्य शाब्दिक कला ही नहीं विशिष्ट शाब्दिक कला है और कविता केवल शाब्दिक प्रतीक ही नहीं, विशिष्ट प्रतीक है। यह विशिष्टता ही वस्तुतः कलात्मकता (काव्यात्मकता) है जो इसे सामान्य रचना से भिन्न सिद्ध करती है।''[4]

लक्ष्मीकांत वर्मा की दृष्टि में मनुष्य अपनी भाव व्यंजना को अधिक सफलता से व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेता है।[5] प्रतीक की उपयोगिता निःसंदेह लोक जीवन और सम्पूर्ण विचार-क्षेत्र के लिए बहुत अधिक है। किन्तु साहित्य में भी इसकी उपयोगिता, कम से कम, कमतर नहीं है। प्रतीक जटिल मनःस्थिति को बोधगम्य बनाते हैं और आत्म तुष्टि देते हैं।[6]

रेने वेलेक एवं आस्टिन वारेन के अनुसार "Like image', again, it continues to appear in widely different contexts and many different purposes. x x x. In Literary theory, it seems desirable that the word should be used in this sense: as an object which refers to another object but which demands attention also in its own right, as a presentation."[7] अर्थात् ''बिम्ब की ही भाँति यह भी बहुत भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में बिल्कुल भिन्न चीजों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। x x x. साहित्यिक सिद्धान्त में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में करना अभीष्ट प्रतीत होता हैः एक ऐसी वस्तु जो किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करती है, पर एक प्रस्तुतीकरण के रूप में जिसके अपने स्वरूप की ओर भी ध्यान देने की अपेक्षा होती है।''

* अतिथि अध्यापक, आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रतीक-विधान के अन्तर्गत दो बातें विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी गयी हैं- एक विभिन्न अनुभूतियों या संवेदनाओं के बीच चुनाव करने की प्रक्रिया का ज्ञान और दूसरी इन अनुभूतियों को प्रभावित करने वाली सांकेतिक वस्तु का चयन। अतः अभिप्रेत वस्तु, भाव या अर्थ का संकेत करने के लिए उपयुक्त आधार पर प्रतीक का चुनाव होता है।[8] अर्थद्योतन की क्रिया में साम्य के कारण बिम्ब और प्रतीक में भ्रान्ति हो सकती है। पर दोनों में अन्तर है। जहाँ बिम्ब में वस्तु के निश्चित स्वरूप का संकेत रहता है वहाँ प्रतीक में सदैव अनिश्चित स्थिति की प्रधानता रहती है जैसा कि निम्नांकित वक्तव्य से भी स्पष्ट है-

"As defined by Hulme, therefore, an image is not unlike a symbol, both are solid analogies, but whereas our symbol, presenting itself, suggest something almost as definite as itself, seems limited if not altogether assigned."[9]

बहरहाल, प्रतीक बिम्ब की तरह काव्य भाषा के निमार्ण-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्व हैं जो प्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं, भाषा हो जाते हैं। प्रतीक काव्य सौन्दर्य का विशिष्ट उपादान भावोत्कर्ष में साधक, अर्थाभिव्यंजक और विस्तार को संक्षेप में कहने का माध्यम है। काव्य की रमणीयता बहुत कुछ प्रतीकों पर निर्भर करती है। प्रतीक सृष्टि मनुष्य की चिंतन प्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक अंग है। कलाकार अपनी स्वानुभूति के अकथनीय अंशों को प्रतीक के द्वारा ही कथनीय और प्रेषणीय बनाता है।[10]

नरेश मेहता के काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों का विवेचन के पूर्व प्रतीक विषयक पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण तथा वर्गीकरण का उल्लेख करना आवश्यक है।

1. प्रतीक विषयक पाश्चात्य दृष्टिकोण

i. **Encyclopaedia Britanica** (ब्रिटिश विश्वकोश) के अनुसार- "Symbol, the term given to a visible object representing to the mind the semblance of something which is not shown but realised by association with it"[11]

अर्थात् ''प्रतीक शब्द का प्रयोग किसी ऐसे गोचर (प्रस्तुत) पदार्थ के लिए किया जाता है जो मन में किसी अगोचर (अप्रस्तुत) वस्तु की अनुभूति उसके साथ अपने सम्पर्क के कारण करा देता है।''

ii. Encyclopaedia of Religions and ethics के अनुसार-

"A symbol is a visible or audible sign or emblem of some thought, emotion or experience, interpreting what can be really grasped only by the mind and imagination by something which enters into the field of observation"[12]

अर्थात ''प्रतीक किसी विचार, भाव या अनुभव का दृश्य या श्रव्य चिन्ह है। वह उसकी व्याख्या करता है जो वस्तुतः मानस और कल्पना द्वारा ही अभिगृहीत किया जा सकता है और यह अभिग्रहण होता है उस वस्तु के सहारे जो हमारे प्रेक्षण-क्षेत्र के भीतर प्रवेश कर जाती है।''

iii. Cuddon. J. A. के अनुसारः- "symbol is an object, animate or inanimate which represents or stands for something else"[13]

iv. Wales. Katie के अनुसारः- "From Greek 'token', a symbol is a SIGN, whether visual or verbal, which stands for something else within a speech community",[14]

v. Lewis. Cecil Day के अनुसारः- "An intense image is opposite of a symbol. A symbol is denotative. It stands for one thing only. As the figure I represents one unit."[15]

इसके अतिरिक्त "Baudelaire (बोदलेयर), Rimbaud (रिम्बो), Mallarme (मलार्मे), Verlaine (वर्लेन). T.S. Eliot (टी.एस.एलिएट), Ezra Pound (एजरा पाउण्ड), W.B. Yeats (डब्लू.बी.ईटस), Maurice Bowra. (मौरीस बोवरा), एवं Peirce, C.S. (पीयर्स, सी. एस.) इत्यादि ने परिभाषित किया है। Encyclopaedia of poetry and poetics तथा The New shorter oxford English Dictionary आदि में भी प्रतीक को परिभाषित किया गया है।

2. प्रतीक विषयक भारतीय दृष्टिकोण

(i) प्रतीक का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है- ''दधाते ये अमृतं सुप्रतीके धावा रक्षतं पृथिवी नौ अम्वात् ।।6।।[16]

(ii) हिन्दी में सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल ने प्रतीक पर विचार फ्रांस के प्रतीकवादी आंदोलन के संदर्भ में किया है। उनके अनुसार किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की कल्पना आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविज्ञान या भावनाओं को जागृत कर देती है। x x x प्रतीक का आधार साहचर्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है।[17]

(iii) डॉ. नगेन्द्र के अनुसारः ''सामान्यतः प्रतीकात्मक प्रयोग में एक ही शब्द अथवा शब्द चित्र के द्वारा दो विभिन्न अनुभूतियों अथवा विचारों का समन्वित रूप उपस्थित होता है।''[18]

(iv) भारतीय काव्य शास्त्र में शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। डॉ. नगेन्द्र ने

प्रतीकात्मक शब्द का सम्बन्ध लक्षणा तथा व्यंजना शक्ति से माना है जबकि वाच्यार्थ अभिधा शक्ति से बताया है।''[19]

(v) डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसारः ''अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार, क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है।''[20]

(vi) हिन्दी साहित्य कोश के अनुसारः ''प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण आती है अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समान रूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति प्रतीक है।''[21]

इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ (साहित्य दर्पण), अज्ञेय, डॉ. कुमार विमल, केदारनाथ सिंह, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी इत्यादि ने भी प्रतीक को परिभाषित किया है।

प्रतीकों का वर्गीकरण

नयी कविता में विषय-वैविध्य और रंग-चेतना के कारण प्रतीकों को विविध क्षेत्रों यथा-पुराण, संस्कृति, धर्म, इतिहास, दर्शन, विज्ञान एवं लोकजीवन से ग्रहण किया गया है। प्रतीकों का वर्गीकरण रूप, अर्थ एवं स्त्रोत के आधार पर किया जा सकता है। विद्वानों द्वारा किए गए वर्गीकरण निम्नलिखित हैं-

(i) Maurice Bowra (मौरीस बोवरा) के अनुसार-[22]

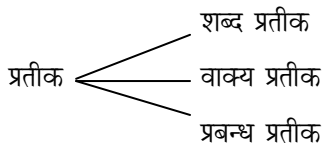

(ii) Wellek Rene' (वेलेक रेने) एवं Warren Austin (वारेन ऑस्टिन) के अनुसार-[23]

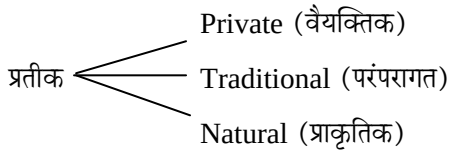

(iii) Urban, Wilbur. Marshall. (उरबान, विल्बर मार्शल) के अनुसार-[24]

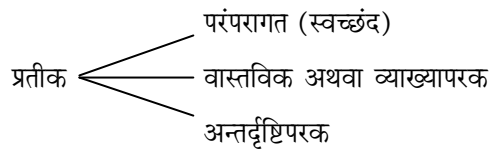

(iv) डॉ. नरेन्द्र मोहन के अनुसार-[25]

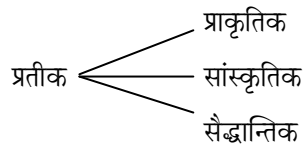

(v) डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार-[26]

(vi) वस्तुतः नये कवियों के काव्य में प्रतीकों का वैशिष्ट्य होने के कारण प्रतीक का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है।[27]

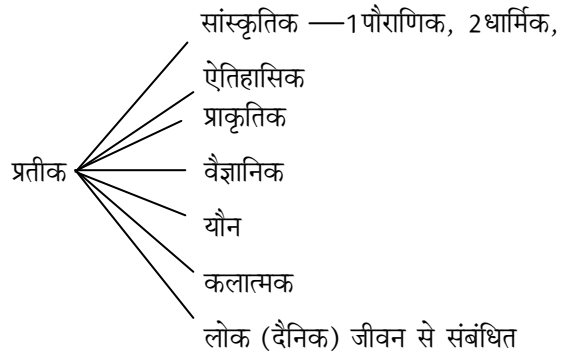

नरेश मेहता के काव्य में प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त हुआ है। उनके काव्य में प्रयुक्त प्रतीक संस्कृति, इतिहास, कला, साहित्य और जन-जीवन से लिए गए हैं। उनके काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों को उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

1. सांस्कृतिक प्रतीकः उनके काव्य का गहन परिपार्श्व पौराणिक है। उनके समस्त खण्ड काव्य रामायण तथा महाभारत के प्रसंगों को लेकर लिखे गए हैं। इन काव्यों में उन्होंने प्रतीक पद्धति अपनाई है। उन्होंने राम, रावण, सीता, लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान, युद्धिष्ठिर, भीम, अर्जून, और शबरी आदि पात्रों को प्रतीकवत प्रयोग किया है। राम प्रश्नाकुल और अपूर्ण व्यक्तित्व के, सीता अपहृत स्वतंत्रता का, युद्धिष्ठिर धर्मपालक का, जटायु और दशरथ

प्रेरणा और उद्‌बोधन क्षमता के प्रतीकवत् प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार उन्होने मनु और गौतम को भी प्रतीकत्व प्रदान किया है। यथा-

(i) पुत्र मेरे-
हमारा मनु ही पृथक है,
अपने वंश में गौतम नहीं होता।
अपनी विवशता के स्वत्व की भीक्षा
अन्य को देकर न तुम छोटे कहाना।
इतिहास ओछा था
हम नहीं।[28]

यहाँ मनु सृष्टि के उत्पादक का और गौतम विवशता जनित त्याग का प्रतीक लिए हुए है। कवि 'गौतम' के संदर्भ में 'अपनी विवशता के स्वत्व की भिक्षा/अन्य को देकर तुम छोटे कहाना'' कहकर प्रतीक को स्पष्ट किया है।

(ii) अपमानित विभीषण चाहते हैं न्याय
उस सम्राट से
जो दस दिशा की नियति है-[29]

यहाँ 'दस दिशा की नियति' का प्रयोग रावण के लिए प्रतीकवत् हुआ है। इसका तात्पर्य है- रावण के हाथ में दसों दिशा का भाग्य है

(iii) इस विष्णु आकाश में,
एक अश्वत्थ
तेजस्वी ब्राह्मण सा
अपनी प्रशाखाओं के केश खोले
उस आकाशी समुद्र में निरानन्द खड़ा था
जैसे वह वर्ष हो
जो सावित्रियाँ धारण करता है।[30]

यहाँ 'सावित्रियाँ' पौराणिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है।

(iv) मैं अपने चारों ओर
एक भाषा का अनुभव करता हूँ
x x x x
जिसमें फूलों की सी गन्ध
और बिल्व पत्र की सी पवित्रता है
इसीलिए मन्त्र
केवल ग्रन्थों में ही नहीं होते।[31]

यहाँ 'बिल्वपत्र' पौराणिक/धार्मिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। बिल्वपत्र (बेलपत्र) पूजा की एक सामग्री है, जिसे शिव पर चढ़ाया जाता है।

इसके अतिरिक्त उनके काव्य में गायत्री, महाभाव, वैष्णवता, कल्पद्रुमता, भूमा आदि प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हैं। उनके काव्य वनपाखी! सुनो!!, उत्सवा, अरण्या, महाप्रस्थान, संशय की एक रात, प्रवादपर्व, बोलने दो चीड़ को, आदि में सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने आधुनिक भावबोध और समकालीन जीवन की विषमता को स्पष्ट किया है।

2. **ऐतिहासिक प्रतीकः** वस्तुतः इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक पात्रों, घटनाओं आदि का प्रतीकवत् प्रयोग किया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है।

(i) राइन के जलकंठों में गेटे ने गाया,
और हिटलरी फौजी बूटों ने कुचला डेन्यूब लहर को।
संगीनों से कभी नहीं गेहूँ उगता है।[32]

यहाँ 'हिटलरी फौजी बूटों' ऐतिहासिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। हिटलर को बर्बर तानाशाह के रूप में प्रतीकवत् प्रयोग किया गया है।

(ii) यह कैसा मौन है।
जिसमें असीरगढ़ पहाड़ पर पैर रखकर
अपने सारे शिला-व्यक्तित्व के साथ
ऐसा ही सहेजा लग रहा है।
जैसे सतपुड़ा ने
अश्वत्थामा के दुर्दान्त प्रसंग की
कोई दुलर्भ प्रति सहेज रखी हो।[33]

यहाँ 'असीरगढ़' तथा 'सतपुड़ा' का प्रयोग ऐतिहासिक प्रतीक के रूप में हुआ है। जिस प्रकार अश्वत्थामा के दुलर्भ प्रसंगों को दस्तावेज के रूप में सहेज कर रखा है उसी प्रकार पहाड़ असीरगढ़ को उसके शिला-व्यक्तित्व के साथ सहेज रहा है। यह कहकर कवि ने सतपुड़ा एवं असीरगढ़ दोनों को प्रतीक के रूप में प्रयोग किया है। यहाँ असीरगढ़ एक इतिहास-पुरूष के प्रतीक के रूप में एवं सतपुड़ा एक पौराणिक पुरूष के प्रतीक के रूप में उपस्थित है। यहाँ सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक संदर्भो एवं चिरन्तन मूल्यों को अपने पास सहेजकर रखना इस भाव से यह प्रतीक उभरकर आया है। इस प्रकार उनके काव्य मेरा समर्पित एकान्त, तुम मेरा मौन हो, आखिर समुद्र से तात्पर्य तथा पिछले दिनों नंगे पैरों, आदि में ऐतिहासिक प्रतीकों का प्रयोग पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है।

3. **प्राकृतिक प्रतीकः** वस्तुतः विभिन्न प्राकृतिक उपादानों ने काव्य में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होकर सौन्दर्य सृजन में काफी योगदान किया है। प्रकृति से लिए गए प्रतीकों की विशेषता यह है

कि वे सार्वजनीन, सार्वभौम और गोचर होते हैं। नरेश मेहता के काव्य में प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है-

(i) नदियों ने चलकर ही
सागर का रूप लिया
मेघों ने चलकर ही
धरती को गर्भ दिया।[34]

यहाँ 'नदी' गतिशीलता की तथा 'सागर' कर्मठता का प्रतीक है। इसी प्रकार 'मेघ' पुरूषत्व तथा 'धरती' नारीत्व के रूप में प्रयुक्त है।

(iii) वन घासें हम
उन सबकी हैं सखा
सखाहीन जो।[35]

यहाँ 'वनघासें' उन सभी पीड़ित, दलित, निरीह और अस्तित्वहीन लोगों के प्रतीक रूप में प्रयुक्त है।

(iii) जितने जल उतने ही संशय-
वृद्ध कगूँरे
दुहरित जल में-साँप हो रहे,[36]

यहाँ 'जल' चेतना या व्यक्तित्व की विभिन्नता तथा 'साँप' विकारों का प्रतीक रूप में प्रयुक्त है।

इस प्रकार उनके काव्य में आकाश, जल, वन, फूल, सूर्य, वैशाख इत्यादि शब्द विशिष्ट अर्थ के घोतक हैं। सम्यक् भावाभिव्यक्ति हेतु प्राकृतिक प्रतीकों का बड़ा ही सार्थक प्रयोग उनके खण्ड-काव्योंः- संशय की एक रात, महाप्रस्थान, प्रवादपर्व आदि तथा मुक्त काव्यः- बोलने दो चीड़ को, उत्सवा, अरण्या, आखिर समुद्र से तात्पर्य आदि में पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है। प्राकृतिक उपकरणों का प्रतिकाभिव्यंजना हेतु प्रयोग उनके काव्य की विशेषता है।

4. वैज्ञानिक प्रतीकः वैज्ञानिक प्रगति के साथ नये कवियों ने वैज्ञानिक उपकरणों को प्रतीकवत् ग्रहण किया है। नरेश मेहता के काव्य में वैज्ञानिक उपकरणों से संबंधित प्रतीक भी दृष्टिगोचर होता है। यथा-

(i) एटम ''औ'' उद्रजन बम हैं नभगामी महलों के कर में,
चाह रहे जो सृष्टिधरा को केवल हिरोशिमा कर देना।[37]

यहाँ 'एटम' और 'उद्रजन बम' को संहारक एवं विध्वंसक शक्ति के रूप में प्रयोग किया गया है।

(ii) दौड़ रही है गन्धक और फासफोरस की पीली लपटें,
जिसमें उस जापान देश का सदियों का संगीत जल गया,[38]

यहाँ 'गन्धक' और 'फासफोरस' महाविनाश का प्रतीक है। 'गन्धक और फासफोरस की पीली लपटें' से तात्पर्य है, भयंकर अग्निकांड, भयंकर ज्वाला के रूप में प्रतीकवत् प्रयुक्त हुआ है।

5. यौन प्रतीकः उनके काव्य में यौन प्रतीकों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है।

(i) और तुम
इस भाषा जैसी पृथिवी को गर्भवती बनाओ
प्रकाश के घृत्स्नु-अश्वों के पुरूषत्व के लिए
यह पृथिवी ही महायोनि है।[39]

यहाँ 'पृथिवी' (पृथ्वी) को महायोनि के प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है।

(ii) ये घृत्स्नु-अश्व
कामोद्दीप्त सांडो की भाँति
दिशाओं की देहों को, योनियों को सूँघ रहे हैं
और उन्हें गर्भवती बनाने के लिए कैसे आकुल हैं।[40]

यहाँ 'घृत्स्नु-अश्व' कामोद्दीप्त सांडों के रूप में प्रतीकवत् प्रयुक्त हैं। साथ ही 'दिशाओं की देह' के लिए 'योनि' का प्रयोग प्रतीक रूप में हुआ है।

6. कलात्मक प्रतीकः कलात्मक प्रतीक धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि के प्रतीकों की तरह स्पष्ट और निश्चित होते हैं। ये प्रायः कल्पनाजन्य होते हैं। नरेश मेहता के काव्य में कलात्मक प्रतीक से संबंधित निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य हैं। यथा-

(i) भिक्षुणियों के मुखों सी
ओ सान्ध्य दीर्घाओं!
अपने इस कपोती एकान्त को बोलने दो
मुझे हर एकान्त शिलालेख लगता है।[41]

यहाँ 'भिक्षुणियों के मुखों सी, सान्ध्य दीर्घाओं' के माध्यम से कलात्मक प्रतीक का सृजन हुआ है।

(ii) गायों के झुण्ड-सी पर्वत उतरती ये नदियाँ,
पृथिवी-के उत्तरीय-सी ये वनस्पतियाँ
इस गान्धर्व-उपनिषद के हृष्टान्त नहीं तो और क्या हैं?[42]

यहाँ 'नदियों' के लिए 'गायों के झुण्ड तथा 'वनस्पतियों' को पृथिवी के उत्तरीय के लिए प्रयोग प्रतीकवत् हुआ हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नरेश मेहता के काव्य में प्रयुक्त प्रतीक उनकी मौलिकता एवं सूक्ष्म कौशल को उद्घाटित करते हैं। सांस्कृतिक संदर्भों एवं वैदिक वाङ्मय के साथ-साथ सभी प्रमुख कलाओं और क्षेत्रों से उन्होंने सार्थक प्रतीकों का चयन कर उनका प्रयोग आवश्यकतानुसार अपनी भावनाओं के स्पष्टीकरण हेतु किया है। उन्होंने प्रकृति के अपार वैभव को चित्रांकित करने एवं अपनी काव्य भाषा में भाषिक सौन्दर्य को उद्घाटित करने हेतु प्रतीकों का प्रयोग किया है। वास्तव में, उनकी प्रतीक योजना ने उनके सम्पूर्ण काव्य में अनुपम कलात्मकता तथा अनूठे लालित्य की सृष्टि की है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. संसार चन्द्र उद्धृत, रमेश दिविक : हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ0.68 नये कवियों के काव्य शिल्प सिद्धान्त, प्रथम सं0.1991 पृ0.265, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली-02
2. सिन्हा, डॉ. प्रेम निवासः नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध.1995), पृ0.188 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0प्र0
3. Chadwick, Charles: Symbolism. (1971). Page. 2-3.Routledge. Library Edition.
4. श्रीवास्तव, डॉ.रवीन्द्र नाथ : संरचनात्मक शैलीविज्ञान, प्रथम सं0-1979, पृ0.198 आलेख प्रकाशन, नई दिल्ली-02
5. वर्मा, लक्ष्मीकांतः नये प्रतिमान : पुराने निकष, पृ0.164 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
6. वर्मा, लक्ष्मीकांतः नये प्रतिमान : पुराने निकष, पृ.281 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
7. Wellek, Rene' and Warren, Austin: Theory of Literature, First Edition. 1949, U.S.A. Reissued. 1985. Page. 188-189. Penguin Books. Newzealand.
8. मिश्र, डॉ.भगीरथः काव्यशास्त्र, 28वाँ संस्करण.2018, पृ0.272 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0
9. William York Tindall: The Literary Symbol. First Edition.1956, Page-193, Reprint 2007-2008, Cambridge University Press, London.
10. दास, श्याम सुन्दर (सम्पादक): भाग-3, हिन्दी शब्द सागर, सं0. (1922-1529) नागरी प्रचारणी सभा, काशी, उ0प्र0

    उद्धृत, सिन्हा, डॉ.प्रेम निवासः नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध-1995), पृ0.431 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0प्र0
11. Encyclopaedia Britanica: Vol. 21, First Edition. 1768, Page. 700-701
12. Encyclopaedia of Religions & Ethics: Vol. xii, Edition. 1908, Page. 139, T & T Clark Edinburgh, U.K.
13. Cuddon, John Anthony Bowden : A Dictionary of Literary Terms and Literary Theory. First Edition. 1977, Fourth Edition 1998, Reprinted 1993, Page. 939, Basil Blackwell Ltd. Oxford.
14. Wales, Katie: A Dictionary of Stylistics. First Edition. 1989. Page. 445, Longman Group, London.
15. Lewis, Cecil Day: The Poetic Image. First Edition. 1951, Second Edition. 2008, Page. 40, Bloomsbury Group, London.
16. ऋग्वेद संहिताः वि0सं0.2010, पृ0.141
17. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्रः चिन्तामणि, भाग-2, प्रथम सं0 1939, द्वितीय सं0 1945, पृ 109, सरस्वती मन्दिर प्रकाशन, काशी
18. डॉ.नगेन्द्र : मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड, प्रथम सं0.1981, पृ 247, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
19. डॉ.नगेन्द्र : मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड, प्रथम सं0.1981, पृ0.247, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
20. मिश्र, डॉ.भगीरथः काव्यशास्त्र, 28वाँ संस्करण, 2018, पृ0.271 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0
21. स्नातक, डॉ.विजयेन्द्र उद्धृत, शर्मा, प्रभाकर : हिन्दी साहित्य कोश, पृ0.471नरेश मेहता के काव्य, विमर्श और मूल्यांकन, : प्रथम सं0.1979, पृ0.63, पंचशील प्रकाशन, जयपुर
22. Maurice Bowra : Heritage of Symbolism. First Edition.1943, Page 73, Macmillan. London.
23. Wellek, Rene' and Warren, Austin: Theory of Literature. First Edition.1919, Revised in 1985, Page. 190, Penguin Books, London.
24. Urban. Wilbur Marshal: Language and Reality, First Edition 1939. Page. 414, George Allen Amp Unwin Ltd. London.
25. मोहन, डॉ.नरेन्द्रः आधुनिक हिन्दी कविता में अप्रस्तुत विधान, प्रथम सं0.1972, पृ0-57, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-02
26. मिश्र, डॉ.भगीरथः काव्यशास्त्र, 28वाँ संस्करण-2018, पृ0.274 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0
27. सिन्हा, डॉ.प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध-1995), पृ0. 431काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0प्र0
28. मेहता, नरेशः बोलने दो चीड़ को, सं. 2010, पृ0. 44, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
29. मेहता, नरेशः संशय की एक रात, प्रथम सं0- 1962, पृ0.6, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0 प्र0,
30. मेहता, नरेशः उत्सवा, प्रथम सं0.1979, पृ0.79, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
31. मेहता, नरेशः संशय की एक रात, प्रथम सं0.1962, पृ0.77-78, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0
32. मेहता, नरेशः दूसरा सप्तक, संपादक-अज्ञेय, प्रथम सं0.1951,पृ0.141, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-03
33. मेहता, नरेशः पिछले दिनों नंगे पैरों, प्रथम सं01989, पृ0.35, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0

34. मेहता, नरेशः दूसरा सप्तक, संपादक-अज्ञेय, प्रथम सं0.1951, पृ0.130, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-03,

35. मेहता, नरेशः वनपाखी! सुनो!!, प्रथम सं0.1957, पृ0.31लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0

36. मेहता, नरेशः बोलने दो चीड़ को, सं0.2010, पृ028, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र

37. मेहता, नरेशः दूसरा सप्तक, संपादक-अज्ञेय, प्रथम सं0.1951 पृ0.138, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-03,

38. मेहता, नरेशः दूसरा सप्तक, संपादक-अज्ञेय, प्रथम सं0.1951, पृ0.141, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-03,

39. मेहता, नरेशः अरण्या, प्रथम सं0.1985, पृ0.42, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0,

40. मेहता, नरेशः अरण्या, प्रथम सं0.1985, पृ0.42 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0,

41. मेहता, नरेशः बोलने दो चीड़ को, सं0.2010, पृ0.59, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0

42. मेहता, नरेशः उत्सवा, प्रथम सं0.1979, पृ0.107, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ0प्र0,

●

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' का समाजशास्त्रीय अध्ययन

श्रेयसी सिंह एवम् डॉ0 सत्यपाल शर्मा***

बीसवीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यासकारों में सच्चिदानन्द हीरानंद वात्सायन 'अज्ञेय' का स्थान विशिष्ट है। व्यक्ति-चेतना और सामाजिक-चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अज्ञेय का कथा संसार बहुचर्चित रहा है। कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, निबंध, आत्मवृत्त, यात्रावृत्त और आलोचना के क्षेत्र में अज्ञेय ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया है। अज्ञेय के तीन प्रकाशित उपन्यास हैं- 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी'। अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के संबंधों की पड़ताल की है। व्यक्ति-जीवन पर समाज की द्वन्द्वमूलक एवं संश्लिष्ट स्थितियों के व्यापक प्रभाव को अज्ञेय ने बहुत निकट से देखा और उसे अपनी कृतियों में अंकित किया है। व्यक्ति को समाज की मूल इकाई मानकर अज्ञेय ने व्यक्ति के आंतरिक सरोकारों को सामाजिक स्थितियों के परिपार्श्व में चित्रित किया है। व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखने और सामाजिक स्थितियों व समस्याओं के दबाव में नेपथ्य में व्यक्ति के जीवन में तनाव को चित्रित करने की प्रवृत्ति अज्ञेय के उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। उपन्यासकार अज्ञेय ने व्यक्ति के आंतरिक रूपों का विभिन्न स्तरों पर चित्रण किया है। इसके साथ ही इनके उपन्यासों में सामाजिक जीवन में बहुविध रूपों में प्रत्यक्ष होने वाले शोषण को चित्रित करते हुए आर्थिक पराधीनता, सामाजिक अत्याचार तथा व्यवस्थाजन्य विसंगतियों के नेपथ्य में व्यक्ति की कुंठा, संत्रास और संघर्ष को नये रचनात्मक संदर्भ दिये गये हैं। व्यक्ति और समाज के संबंधों और इन दोनों की परस्पराश्रितता के बारे में अज्ञेय के विचार नितांत मौलिक एवं प्रासंगिक रहे। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य के गहन अध्येता अज्ञेय के व्यक्तित्व पर कई प्रभाव लक्षित होते हैं किन्तु उन्होंने अपने विवेक के बल पर अपनी रचनाओं में मौलिक विचारधारा को समावेशित किया है। व्यक्ति को केन्द्र में रखकर सामाजिक जीवन के आंतरिक यथार्थ का निरूपण करना उपन्यासकार अज्ञेय का लक्ष्य रहा। व्यक्ति की प्रतिष्ठा पूरी मजबूती के साथ करना और स्वस्थ समाज की संरचना में व्यक्ति की भूमिका को निरूपित करना अज्ञेय का लक्ष्य रहा है। अज्ञेय के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के संबंधों और वैयक्तिकता एवं सामाजिकता की अंतःक्रियाओं को विभिन्न घटनाओं के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास लक्षित होता है। सामाजिक विडंबनाओं के नेपथ्य में पात्रों के मनोविश्लेषण के आधार पर अज्ञेय ने अपने उपन्यास साहित्य की निर्मिति की है। यथार्थ स्थिति को स्वीकार करने, उसके प्रति असंतोष को प्रकट करने, उससे पलायन करने और उसके विरुद्ध विद्रोह करने के संदर्भों में व्यक्ति-जीवन में संघर्ष को अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में मार्मिक ढंग से अंकित किया है।

साहित्य को समाज का प्रतिबिंब माना जाता है। व्यक्ति से ही समाज की निर्मिति होती है। उस व्यक्ति मात्र की भावनाएं विचार, मूल्य, अधिकार आदि संवेदनाओं से संस्पर्शित होकर शब्द और भाषा के माध्यम से लिपि रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं। तब साहित्य की निर्मिति होती है और उपन्यास वह विधा है जिसमें अभिव्यक्ति अपने सर्वांगीण रूप में विस्तार पाती है।

समाजशास्त्र एक ऐसा व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विषय है जो एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य का, उसके समाज और विभिन्न समूहों का, उनकी प्रथाओं और संस्थाओं का तथा मनुष्य द्वारा विकसित उन सभी प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जो समाज को स्थिर बनाती हैं अथवा उसमें परिवर्तन उत्पन्न करती हैं।

साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन वह है, जो सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करे; कार्य कारण संबंधों का पता लगाए और सामाजिक तथ्यों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करे। साहित्य पर जिन आंतरिक एवं बाह्य कारकों का प्रभाव पड़ता है- पर्यावरण, कृतिकार का व्यक्तित्व, लेखक की दृष्टि, कृति का शाश्वत सत्य आदि का भी इसमें अध्ययन किया जाता है। दरअसल हम साहित्य से समाज का, सामाजिक विचारधारा का, वादों का संबंध मानते हैं किन्तु अनुवर्ती रूप में। साहित्य की अपनी सत्ता के अंतर्गत उसके निर्माण में इसका स्थान है। ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं। साहित्य की अपनी सत्ता है, यद्यपि यह सत्ता जीवन सापेक्ष है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए भ्रांति है, जीवन सापेक्ष कला के लिए सिद्धान्त है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य को एक सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। समाजशास्त्र की ही तरह साहित्य का मुख्य सरोकार मनुष्य का सामाजिक जगत् होता है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य और समाजशास्त्र अपने उद्देश्य में एक ही बात स्पष्ट करते हैं कि वे दोनों किसी एक बिन्दु पर आकर मिल जाते हैं। समाज की सभी समस्याओं से साहित्य का संबंध होता है। समाज की विचारधाराओं,

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

समस्याओं, संरचनाओं की अभिव्यक्ति साहित्य में होती ही है। अतः जब साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है तब उसमें सामाजिक प्रतिबिंबों को ही नहीं खोजा जाता अपितु उनमें छिपे मानव मूल्यों को भी खोजा जाता है। समाजशास्त्रियों ने साहित्य को एक संस्था माना है। साहित्य का अपना एक समाज होता है जिसे लेखक, आलोचक और पाठक के अन्तःक्रियात्मक संबंधों में समझा जा सकता है। साहित्य को समझने के लिए उसके घटकों को समझना चाहिए।

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् 1951 ई0 में हुआ। उपन्यास में नदी 'समाज' और द्वीप 'व्यक्ति' के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। नदी के द्वीप अज्ञेय की एक कविता भी है। ''व्यक्ति और समाज की आन्तरिक क्रिया-प्रतिक्रिया में व्यक्तित्व कैसे बनता है। इसे एक रूपक के माध्यम से लेखक ने अपनी कविता 'नदी के द्वीप' में अलग से चित्रित किया है।''[1]

अज्ञेय की दृष्टि में नदी के द्वीप व्यक्ति चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है। उपन्यास की सामाजिकता के विषय में उनकी मान्यता है कि ''उपन्यास अनिवार्यतः पूरे समाज का चित्र हो, यह माँग बिल्कुल गलत है। उपन्यास की परिभाषा के बारे में यह भ्रांति (जो देश में या कम से कम हिन्दी में काफी फैली हुई मालूम होती है) साहित्य के सामाजिक तत्व को गलत समझने का परिणाम है।''[2] अज्ञेय कहते हैं कि नदी के द्वीप मूलतः चार-पाँच वैयक्तिक संवेदनाओं का अध्ययन है। उसमें जो विकास है वह चरित्रों का नहीं, संवेदना का ही है। ''नदी के द्वीप समाज के जीवन का चित्र नहीं है, एक अंग के जीवन का है।''[3] उपन्यास में व्यक्ति के भावनात्मक स्तर पर जुड़ने तथा बौद्धिक स्तर पर टूटने की कथा चार पात्रों (भुवन, रेखा, चन्द्रमाधव, गौरा) के जीवन सूत्रों के माध्यम से विकसित होती है। अज्ञेय लिखते हैं कि 'हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं- ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरंतर उनका मार्ग गढ़ती चलती है।'

द्वीप अलग-अलग होकर भी निरंतर घुलते और बनते रहते हैं- नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप।''[4] डा0 ए0 अरविन्दाक्षन की दृष्टि में उपन्यास का पूरा संघर्ष द्वीपवत अवस्था बनाये रखने को लेकर है। ''यह संघर्ष उस अधूरेपन के प्रति है जहाँ हमारा नैतिक बल एकदम भोथरा हो चुका है। खुलने के बजाय एकदम संकीर्ण होते जाने वाले अनैतिक उपक्रम के विरुद्ध इन द्वीपों का संघर्ष कई अर्थों में प्रासंगिक है।''[5] नदी के द्वीप में अज्ञेय वस्तुगत एकांतिकता से हटकर व्यापक समष्टिगत चिंतन की ओर बढ़ते हैं। उपन्यास के नायक भुवन के माध्यम से वे कहते हैं कि ''जीवन की बात जब मैं कहता हूँ, तब अपने जीवन से बड़े एक संयुक्त, व्यापक, समष्टिगत जीवन की बात सोचता हूँ। उसी से एक होना चाहता हूँ। अगर वह बहुत बड़ा प्रवाह है, तो उसकी धारा को बाँहों में घेर लेना चाहता हूँ।[6] उपन्यास के पात्र यद्यपि समाज के मूल्यों को, दर्शन को चुनौती देते हैं परन्तु वे अपनी दृष्टि या जीवनानुभूतियों के लिए समाज के ही ऋणी रहे हैं। भुवन का निम्न कथन उपन्यास के वास्तविक मंतव्य को प्रकट करता है- ''कितना बड़ा है जीवन, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान और उसमें व्यक्ति की ये छोटी-छोटी इकाईयाँ-प्रवाह से अलग जो अस्तित्व नहीं रखतीं, कोई अर्थ नहीं रखतीं, फिर भी संपूर्ण हैं, स्वायत्त हैं, अद्वितीय हैं, और स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित हैं, अपने आगे उत्तरदायी हैं।''[7] नदी के द्वीप में व्यक्तिवादी दर्शन को प्रतिष्ठित करते हुए एक ओर इस बात पर बल दिया गया है कि समाज अपने स्वस्थ विकास के लिए व्यक्तियों को स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान करे वहीं दूसरी ओर उसमें दुःख द्वारा व्यक्तित्व में निखार आने की ओर भी संकेत किया गया है। दुःख सबको मांजता है इस सूत्र की पुष्टि ही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। उपन्यास में मध्यवर्ग से संबंधित प्रेम, विवाह, दाम्पत्य जीवन की समस्याएँ मुख्य रूप से अभिव्यक्त हुई हैं। ''इस उपन्यास में व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न, तीक्ष्णता से लेखक ने उभारा है। भुवन और रेखा के संबंधों को समाज के नैतिक मानदण्डों से नापा जाए या नहीं, यह एक प्रमुख प्रश्न है।

उपन्यास की नायिका रेखा कहती है कि ''भीतर से जो प्रेरणा है अगर उसके साथ ही पाप का, अपराध का, बोध नहीं जुड़ा है तो वही ठीक है, यही नैतिक है यह नैतिकता अधूरी हो सकती है, पर इसलिए कि उसे देने वाला व्यक्ति अधूरा है।''[8] नेमिचन्द्र जैन की मान्यता है कि ''नदी के द्वीप स्त्री-पुरुष के संबंधों के विषय में समाज की खोखली मान्यताओं के प्रति व्यक्ति के तीखे विद्रोह को व्यक्त करता है।''[9] नर-नारी के प्रेम-संबंध के उपन्यास के रूप में यह महाकाव्य है जिसमें नैतिक-अनैतिक, स्वीकृत-वर्णित, स्वप्न-यथार्थ, घुल-मिलकर उसे श्रेष्ठता प्रदान करते हैं।''[10] नदी के द्वीप के आरंभ में दो उदाहरण उद्धृत किये गये हैं, एक शेली का और दूसरा अज्ञेय का। ये उपन्यास में निहित जीवन दर्शन की ओर संकेतित करते हैं। 'दर्द में भी जीवन में आस्था, जीवन का आश्वासन है' और दर्द से मंजकर व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास, ऐसा स्वतंत्र विकास कि दूसरों को भी स्वतंत्र करे। ये दोनों सूत्र उपन्यास के प्रमुख पात्र भुवन और रेखा के चरित्र को रेखांकित करते हैं। 'नदी के द्वीप' दुःख या पीड़ा के स्वतः वरण का दर्शन है। अज्ञेय जीवन में क्षण को महत्व देते हैं। उपन्यास में क्षणवादी दर्शन विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। रेखा कहती है- ''मेरे लिए काल का प्रवाह भी, प्रवाह नहीं, केवल क्षण और क्षण का योगफल है- मानवता की तरह ही काल-प्रवाह भी मेरे निकट युक्ति सत्य है वास्तविकता क्षण की ही है। क्षण सनातन है।[11]

उपन्यास में कुल दस प्रकरण हैं, जिस प्रकरण में जिस पात्र-विशेष को प्रमुखता मिली है, उसी के आधार पर उसका नामकरण किया गया है। आठ प्रकरण पात्रों के नाम पर, दो प्रकरण अंतराल

के रूप में और अंत में उपसंहार है। अज्ञेय ने भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा और गौरा- इन चार पात्रों के द्वारा चार संवेदनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्थूल घटनाओं के चित्रण के स्थान पर बाह्य वस्तु के साथ पात्रों की अंतरक्रियाओं और उनकी सूक्ष्म, तरल अनुभूतियों की व्यंजना ही उपन्यास का लक्ष्य रही है। अज्ञेय के शब्दों में ''नदी के द्वीप'', एक दर्द भरी प्रेम कहानी है। दर्द उनका भी जो उपन्यास के पात्र हैं, कुछ उनका भी जो पात्र नहीं हैं। किसी हद तक वह कहानी असाधारण भी है- जैसे कि किसी हद तक पात्र भी असाधारण हैं- सब नहीं तो चार में से तीन के अनुपात से।''[12]

अज्ञेय कहते हैं नदी के द्वीप उस (संवेदनात्मक) समाज का, उसके व्यक्तियों के जीवन का जिसका वह चित्र है, सच्चा चित्र है। नेमिचन्द्र जैन की मान्यता है कि ''नदी के द्वीप व्यक्तिगत तथा निजी अनुभूतियों की गाथा है। जिसकी भाव- वस्तु, तीव्रता, गहनता और एकाग्रता में अनूठी है। और सघन में लगभग काव्यात्मक है। यह प्रेम की उपलब्धि का, उसकी प्रौढ़ और प्रबल अनुभूति का, उसके द्वारा व्यक्तित्व के प्रस्फुटन और परिपूर्णता का उपन्यास है।''[13]

उपन्यास के पात्रों (रेखा, भुवन, गौरा और चन्द्रमाधव) में प्रत्येक का अपना विशिष्ट प्रभाव है। विशिष्ट दिशा है। सभी अज्ञेय के 'नदी' के स्वतः स्वतंत्र द्वीप हैं। जो तल पर परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी प्रत्यक्षतः विभिन्न जल-लहरियों से आबद्ध होकर भी पृथक हैं। नाटकीय कथा कहने के साथ-साथ नदी के द्वीप अज्ञेय की एक ऐसी रचना है, जिसमें मानव चेतना का दोहरा रूपक प्रतीत होता है। पहले रूपक की दृष्टि से इस उपन्यास के पात्र निम्नलिखित प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं- 'भुवन' चिन्तन प्रधान व्यक्तित्व का, 'चन्द्रमाधव'- संवेदन प्रधान व्यक्तित्व का, 'रेखा'- अनुभव प्रधान व्यक्तित्व का, 'गौरा'- प्रेरणा प्रधान व्यक्तित्व का। दूसरे रूपक के स्तर पर चिन्तन प्रधान भुवन की चेतना की विकास-यात्रा उसे अपने अचेतनवासिनी अनुभव करण शक्ति का प्रतीक रेखा से साक्षात्कार करती है, जिसमें प्रेरणकरण शक्ति का प्रतीक गौरा तथा संवेदनकरण शक्ति का प्रतीक उसके सहयोगी होते हैं।''[14] पात्रों की सामाजिकता के विषय में अज्ञेय कहते हैं कि ''नदी के द्वीप के पात्र किसी हद तक अवश्य असाधारण हैं। वैसे ही जैसे भारत में पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी हद तक असाधारण अवश्य है। किन्तु समाज के जिस अंग से नदी के द्वीप के पात्र आये हैं, उसका वे गलत प्रतिनिधित्व नहीं करते। मेरे लिये उनकी इतनी सामाजिकता पर्याप्त है। इसके आगे उनमें से प्रत्येक चरित्र एक सही सुनिर्मित विश्वास्य व्यक्ति-चरित्र हो और जीवंत होकर सामने आ सके। यही मेरा उद्देश्य रहा और इतना भाव मैं कलात्मक उद्देश्य मानता हूँ। यूँ दूसरे भी उद्देश्य हो सकते हैं। यह अलग बात है।[15]

शिल्प की दृष्टि से भी नदी के द्वीप एक सशक्त रचना है। उपन्यास में कथा को प्रवाहमय बनाने के लिए अज्ञेय ने मनोविश्लेषणात्मक शैली, विवरण शैली, प्रतीक योजना, संकेत शैली, दृश्य विधान शैली का निरुपण तो किया ही है, परन्तु मुख्य रूप से उपन्यास में परम्परागत शिल्प की दृश्यात्मक और परिदृश्यात्मक प्रविधि प्रयुक्त हुई है। भाषा प्रयोग और रचना संघर्ष की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' एक अप्रतिम रचना है।

संदर्भ ग्रंथ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ0 211
2. अज्ञेय, आत्मनेपद, पृ0 67
3. उपरिवत्, पृ0 57
4. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ0 315
5. अरविन्दाक्षन, डा0 ए0 : अज्ञेय की उपन्यास यात्रा, पृ0 136
6. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ0 21
7. वही, पृ0 335
8. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ0 238
9. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, अज्ञेय सहचर, पृ0 249
10. विश्वम्भर मानव, हमारे प्रतिनिधि लेखक, पृ0 37
11. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ0 36
12. अज्ञेय, आत्मनेपद, पृ0 57
13. डॉ0 चन्द्रकान्त वांदिवेडकर, कथाकार अज्ञेय, पृ0 62
14. डॉ0 ज्वाला प्रसाद खेतान, अज्ञेय : चेतना के सीमान्त, पृ0 46

●

कालिदास की कृतियों में आगमोक्त : आचार एवं व्रतोत्सव

डॉ0 धीरज कुमार दुबे[*]

सनातन अथवा हिन्दू धर्म की संस्कृति संस्कारों पर ही आधारित है। हमारे ऋषि-मुनियों ने मानव जीवन को पवित्र एवं मर्यादित बनाने के लिए संस्कारों का आविष्कार किया। धार्मिक ही नहीं वैज्ञानिक दृष्टि से भी इन संस्कारों का हमारे जीवन में विशेष महत्त्व है। भारतीय संस्कृति की महानता में इन संस्कारों का महती योगदान है। प्राचीन काल में हमारा प्रत्येक कार्य संस्कार से आरम्भ होता था।

भारतीय समाज में प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय में आचार तथा दैनन्दिन कर्मों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। मनु ने पाँच महायज्ञों का प्रतिपादन किया है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥[1]

शुचिता धार्मिक जीवन का प्रथम सोपान है। इससे मन प्रसन्न होता है। शौच से बुद्धि विमल होती है और आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ता है।[2] भागवतमहापुराण में भी गृहस्थों के नित्य-कृत्य का निरूपण हुआ है।[3] श्रमण संस्कृति में भी गृहस्थों के आचार का विधान है। वस्तुतः आचार परक सभी साहित्य सामान्य कहे जा सकते हैं।

आगम-ग्रन्थों में आचार तथा दिनचर्या के विषय का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया गया है। पाञ्चरात्र आगम में वैष्णवों के दैनन्दिन आचार पंचकाल प्रक्रिया में विहित हैं। पंचकाल का तात्पर्य एक दिन अर्थात् अहोरात्र में होने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों से है। ये पंचकाल पांचरात्र आगम के अनुसार—(1) अभिगमन (2) उपादान (3) इज्या (4) स्वाध्याय और (5) योग है।[4]

ब्रह्म मुहूर्त से सूर्योदय काल के समय तक कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से युक्त होकर भगवान् का जप, अर्चन, ध्यान और पाणदि करना चाहिये। जगत्कारण नारायण के चरणों में जाना ही अभिगमन काल कहा गया है। तत्पश्चात् भगवत् पूजन के लिए फल पुष्पादि का अर्चन करना चाहिए। इस दूसरे काल को उपादान काल कहते है। इसको कर्मकाल भी कहा जाता है। **हे नारद! अष्टाङ्ग योग के द्वारा परमेश्वर के पूजन कर्म को करे।** इस तृतीय काल को इज्या काल कहते हैं। हे मुनिसत्तम! जिस काल में भगवत् कथा का श्रवण, मनन, पाठ तथा व्याख्यान किया जाता है उस काल को स्वाध्याय काल कहते है। जो चतुर्थ काल-बोधक है। यह पूजन दिन की समाप्ति काल में पूर्ण करना चाहिए। रात्रि के अंतिम समय में अपने अन्तःकरण को पूर्ण निष्ठा से भगवान् के चरणों में स्थापित कर सम्बन्ध स्थापित करने को ही योगकाल कहते है जो ब्रह्म की सिद्धि प्रदान करता है। जीवन में आचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महाभारत में उल्लिखित है—

आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।

आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते॥[5]

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार सदाचार युक्त परमात्मतत्त्व के निरूपक होने और दिव्यगति देने के कारण ही इसके 'आगम' नाम की चरितार्थता है—

आचारकथनाद्दिव्यगतिप्राप्तिविधानतः।

महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये॥[6]

आचार की महत्ता यहाँ तक निरूपित है कि छः अंगों के साथ चारों वेदों का ज्ञाता हो किन्तु सदाचारी न हो— उस वेद पाठी को वेद भी पावन नहीं कर सकते है। वैखानस आगम में संस्कारों द्वारा बहुदुर्लभ इस मनुष्य शरीर को भगवद् आराधन योग्य बनाने का पथ प्रशस्त हुआ है। इन संस्कारों का क्रम अधोलिखित है—(1) ऋतुसंगमन (2) गर्भाधान (3) पुंसवन (4) सीमान्त (5) विष्णुबलि (6) जातकर्म (7) शय्योत्थान (8) नामकरण (9) अन्नप्राशन (10) निष्क्रमण (11) पिण्डवर्धन (12) चौल (13) उपनयन (14) पारायण (15) व्रतबन्ध (16) विसर्ग (17) उपाकर्म (18) समावर्तन और पाणिग्रहण इन अठारह संस्कारों का निरूपण किया गया है।[7]

कालिदास का अभिमत है कि संस्कारों से जीवन में शुद्धता आती है—

''कुमाराः कृत संस्कारास्तेधात्रीस्तन्यपायिनः॥''[8]

''फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।''[9]

''क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तदस्य भगवताव्यवनेनाशेष-मनुष्ठितम् ।''[10]

''विधिवदस्याभिरनुष्ठिजातकर्मादिक्रिय पुत्र एष शाकुन्तलेयः।''[11]

''भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिनाशास्महे।''[12]

कालिदास ने प्रसङ्गानुकूल दश संस्कारों का सुस्पष्ट उल्लेख किया है—

---

* धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

(1) गर्भाधान—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रैरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठधूतमैशम् ।

नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥[13]

(2) पुंसवन—

सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।

तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥[14]

(3) जातकर्म—

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।

दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥[15]

(4) चूड़ाकरण—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सेवयोभिरन्वितः।

लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥[16]

(5) विद्यारम्भ—

साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवः।

स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥[17]

(6) उपनयन—

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चतो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।

अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥[18]

(7) गोदान—

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षा निरवर्तयद्गुरुः

नरेन्द्रयान्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः॥[19]

(8) विवाह—

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं च राजा।

महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः॥[20]

(9) नामकरण—

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।

कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः॥[21]

(10) अन्त्येष्टि—

विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे।[22]

आगमिक प्रणाली में श्रद्धा मूलवृत्ति है समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्र है। वही व्यवहारों की भी प्रतिष्ठा है। त्रिपुरारहस्य के ज्ञानकाण्ड में कहा गया है-

श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम् ।

अश्रद्धो मातृविषये बालो हि जीवते कथम् ॥[23]

श्रद्धा प्रेममयी माता है, वह सब कुतर्कों से सुरक्षित रखती है। श्रद्धा न रखने पर लक्ष्मी, कीर्ति, सुख साथ छोड़ देते हैं।[24] संकर्षणसंहिता का कहना है—

श्रद्धया साध्यते धर्मो नान्योपायेन केनचित् ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां श्रद्धा परमसाधनम् ॥[25]

कालिदास का कहना है कि मेध को निर्देश देते हुए यक्ष कह रहा कि हिमालय की शिला पर शिव के पैर की छाप को सिद्ध लोग निरन्तर पूजा किया करते हैं। तुम भी भक्ति भाव से उसकी प्रदक्षिणा कर लेना। श्रद्धा से पूर्ण होने पर सभी पाप धुल जाते हैं। तथा शरीर त्याग के पश्चात् सदा शिव शक्ति हो जाते है।[26]

महाकवि कालिदास ने मुख्यतः सोमतीर्थ,[27] त्रिवेणी-सङ्गम[28], सरयू-सङ्गम[29], गङ्गा-यमुना-सङ्गम[30], शचीतीर्थ[31], गोकर्ण[32], पुष्कर-तीर्थ एवं अप्सरस् तीर्थ[33], इत्यादि तीर्थ स्थानों का उल्लेख किया है। महाकवि ने इन तीर्थों के प्रति अति प्राचीन काल से चली आ रही शास्त्रीय श्रद्धा को अपनी कृति में दुहराया है। उनका विश्वास है कि इन पवित्र नदियों तथा उनके सङ्गमों में स्नान कर मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है तथा उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

तन्त्रागमीय नित्य मीमांसा के अनुसार सुख का केन्द्र आन्तरिक श्रेष्ठता, उदारता और आत्मनिग्रह में है। तदनुसार 'तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः' अर्थात् मनुष्य का हृदय ही तीर्थ स्थल है, उसकी शुचिता ही तीर्थ है।

मनुष्यत्व की पूर्णता सद्गुणों के विकास, शुचिता, समन्वय तथा सहिष्णुता में है क्योंकि देह ही 'देवालय है और जीव' ही शिव है। वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड को व्यक्ति और विराट् विश्व को चर-अचर सभी प्राणी को समभाव से देखता है।

महर्षि व्यास ने आगम की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा है कि **''श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः।''**[34] अर्थात् श्रुति का प्रमाण तथा आगम का अनुष्ठान सम्पादित कर मनुष्य अभ्युदय निःश्रेयस को प्राप्त कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आगमिक परम्परा में पूजा विधान एवं कर्मानुष्ठान का प्रामुख्य है। अनुष्ठान में व्रत एवं उत्सव अपरिहार्य रूप से मान्य हैं। एतत्सम्बन्धी विविध पद्धतियाँ और संकलन भी इन शास्त्रों से अलग करके यथा समय प्रकाश में लायी जाती रही है। डॉ0 पी0वी0 काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में पर्याप्त विमर्श किया हैं।[35]

व्रत शब्द वैदिक है तथा ऋग्वेद में इस शब्द के बहुसः प्रयोग वर्णित हैं। वैदिक संहिताओं में व्रत शब्द दैवीय आदेश या आचार सम्बन्धी नैतिक विधानों के अर्थ में प्रयुक्त हैं।[36] आगम परम्परा में व्रत-चर्या का विशद विवेचन निर्दिष्ट है। पाञ्चरात्र आगम के

पाद्मसंहिता में उल्लिखित है कि व्रत के द्वारा पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है।[37] इसी संहिता में ही अन्यत्र वर्ष के सभी महीनों के व्रतों तथा प्रत्येक पक्ष की तिथि, व्रतों और उनके मंत्रों का उल्लेख है। सात्वतसंहिता में व्रत-विधि का वर्णन उपलब्ध हैं।[38]

पारमेश्वरसंहिता के त्रयोदश अध्याय में व्रत-चर्या का विस्तार से वर्णन है।[39] इसी संदर्भ में कहा गया है कि शास्त्र विधि से सम्पन्न व्रत का आचरण करना चाहिए।

तदुपरान्त ब्राह्मणों को भोजन, दक्षिणा आदि से प्रसन्न करके उनका विसर्जन करना चाहिए और इस तरह चातुर्मास्य व्रत सम्पन्न करना चाहिए इससे जन्म कृतार्थ हो जाता है।

व्रत नियमों की महिमा में महाकवि का अचल विश्वास है और इतिहास-पुराण के अनुसार जब-जब व्रत या तप के प्रसङ्ग आये हैं, तब-तब उन्होंने निष्ठ और तन्मयता से वर्णन किया है।

व्रत का विस्तृत वर्णन, 'रघुवंश' के दूसरे सर्ग में देखने को मिलता है। जिसमें निःसंतान राजा दिलीप संतति के लिए धेनु सेवा वत करते और फलस्वरूप रधु सा दिग्विजयी पुत्र प्राप्त करते है। उस प्रसङ्ग में कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन सेवक राजा और सेव्या धेनु का किया है –

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।

न चान्यतरतस्य शरीरक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ।।[40]

महाकवि कालिदास की कृतियों में यथा-स्थान व्रतों का सांगोपांग विवरण प्राप्त होता है। ये व्रत कई लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। रघुवंश में राम के द्वारा व्रत पालन का वर्णन है।[41] विक्रमोर्वशीयम् में व्रतों का विशद विवेचन उल्लिखित है। मनोकामना की पूर्ति तथा आत्मिक शुद्धि के लिए व्रत के दिन शरीर तथा मन को अधिक से अधिक शुद्ध और वासनारहित रखने के लिए स्त्रियाँ बहुत ही सीमित तथा सादी वेशभूषा को धारण करती थीं। साथ ही पवित्र दूर्वाङ्कुर तथा लाच्छादि वस्तुओं को धारण कर गर्व का त्याग कर देती थी—

सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलांछितालका।

व्रतापदेशोजितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते।।[42]

विक्रमोर्वशीयम् में ही रानी के द्वारा प्रिय को प्रसन्न करने के लिये प्रियानुप्रसादनं नामक एक व्रतविशेष का विधान किया गया है—

आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषः मया सम्पादनीयः।[43]

किं नामधेयमेतद् देव्याः व्रतम् ।

भर्तुप्रियानुप्रसादनं नाम।।[44]

वहीं विदूषक ने भी रानी की किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्रतपरायणता का उल्लेख किया है।[45] तृतीय अंक में ही कंचुकी ने भी नियमपूर्वक व्रतपालन का उल्लेख किया है—

आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या व्रत सम्पादनार्थ।[46]

पुनः राजा विदूषक के वार्तालापक्रम में भी उक्त क्रम के परमार्थत्व तथा अनिष्टनाशकत्व की बात कही गयी है—

किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽमारम्भःस्यात् ।[47]

व्रत के द्वारा शरीर को क्लेश दिया जाता था तथा ऐसा व्रत आदरणीय होता था—

अनेनकल्याणिमृणालकोमलं व्रतेनमात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।

प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दारुजनः प्रसाद्यते।।[48]

विदूषक इस व्रत के बहुफलत्व की ओर भी संकेत करते हुए यह कामना करता है कि रानी के द्वारा किया जाने वाला व्रत बहुफलदायक हो।[49]

अभिज्ञानशाकुन्तल के द्वितीय अंक में ''पुत्रपिण्डपालन'' नामक व्रत विशेष का उल्लेख किया गया है। जिसके उपवास एवं पारणा दो अंग बतलाए गये हैं—

आगमिचतुर्थदिवसे पुत्रपिण्डपालनो नाम प्रवृतपारणो मे उपवासो भविष्यति।[50]

इसी प्रकार 'शाकुन्तल' के सातवे अंक में शकुन्तला पति के घर लौटने के लिये व्रत करती हैं –

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।

अतिनिष्करूणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभार्त।।[51]

कुमारसम्भव में भगवती पार्वती अपने मनोभिलषित की प्राप्ति के लिये मृणालि तथा कापेलवादि व्रतों के द्वारा अपने अंगों को तपाती हुई अपने अभिलाषा को प्राप्त करती है—

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमंगं क्लपयन्त्यहर्निशम् ।

तपः शरीरै कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सः।।[52]

व्रत के उपवासांग का वर्णन कर महाकवि ने प्रकारान्तर से पारणा का भी उल्लेख किया है। रघुवंश के द्वितीयसर्ग में दो स्थलों पर महाकवि ने दिलीप के व्रत पालन में संलग्न सिंह के लिए अनायास उपस्थित गौ एवं दिलीप रूप भोजन को पारणा की संज्ञा दी है।[53] रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में भरत के द्वारा ''असिधार'' नामक व्रत की बात कही गयी है।[54] यहाँ कालिदास के टीकाकार मल्लिनाथ ने यादव के वचन को उद्धृत करते हुए प्रकृत व्रत को परिभाषित भी किया गया है।[55]

उत्सव

पाञ्चरात्र आगम के विभिन्न संहिताओं में उत्सवों की लम्बी सूची प्राप्त होती है। जैसे- कृत्तिकोत्सव[56], जयन्ती उत्सव[57], तीर्थ उत्सव[58], विजया दशमी उत्सव[59], ब्रह्म उत्सव[60], महोत्सव, मासोत्सव आदि।

विविध उत्सवों के आलोडन से स्पष्ट है कि आगम साहित्य का उत्सव विधान कालिदास के काव्यों में अत्यन्त उत्साह एवं समारोह पूर्वक सम्पादित होते थे। वस्तुतः ये उत्सव समाज की आध्यात्मिक उन्नति के स्रोत कहे जाते थे।

इस प्रकार महाकवि का व्रताचरण से सम्बन्धित धारणा पूर्णतया आगम शास्त्र से समर्थित है।

आगम लोकजीवन को गतिमान् बनाये रखते हैं। सरसता, समरसता, सौहार्द, सहयोग समन्वय और सुख की सृष्टि उत्सवों से ही होती है। सामाजिक जीवन में उत्सवों का विशेष महत्त्व होता है। उत्सवों से जनजीवन में उत्साह और उमंगों का सञ्चार होता है। भारत एक उत्सवप्रधान देश है। सामान्यतः उत्सव शब्द उत् पूर्वक 'सू' धातु में 'अप्' प्रत्यय के साथ निष्पन्न होता है, जिसका अभिप्राय पर्व, हर्ष या आनन्द के अवसर का परिचायक है।[61] 'सू' धातु प्रसव-ऐश्वर्य (प्रसवैश्वर्ययोः) या 'षु अभिषेक' (षुञ्) धातु की महत्ता अभिषवन अर्थ में रही है।'

समूर्तार्चनाधिकरण ने उत्सव को परिभाषित करते हुए कहा है-

उत्सवं सर्वलोकानां शान्तिपुष्टिकरणं विदुः ।

सवो यज्ञः समाख्यातः सर्वयज्ञविशेषतः॥

उत्कृष्टोऽयं यतस्तस्मादुत्सवस्त्विति कीर्त्यते ॥[62]

अर्थात् 'सव' को यज्ञ कहा गया है। यज्ञ से उत्कृष्ट होने के कारण भगवदाराधन-रूप इस क्रियाविशेष को उत्सव कहते हैं। उत्सव के द्वारा लोक में शान्ति और पुष्टि होती है। पाञ्चरात्र आगम की नारदीयसंहिता में भी यही परिभाषा दी गयी है।[63]

उत्सव सामान्य रूप से तीन तरह के होते है – (1) नित्योत्सव, (2) शान्त्युत्सव तथा (3) श्रद्धोत्सव।[64]। बारहों माह के प्रत्येक मास में नित्य संकल्पित किया जाने वाला उत्सव नित्योत्सव कहा जाता है। भय, दुर्भिक्ष, व्याधि, ग्रहपीडादि की शान्ति के लिये किये जाने वाले उत्सवाचरण को शान्त्युत्सव कहते हैं। श्रद्धा द्वारा किये जाने वाले उत्सव को श्रद्धोत्सव कहते हैं।

आगम शास्त्र के अनुसार उत्सव का प्रारम्भ तीन तरह से होता है (1) ध्वजारोहणपूर्वक (2) देवताह्वानपूर्वक (3) अंकुरार्पणपूर्वक। सामान्यतः सभी उत्सवों में ध्वजारोहण, देवताह्वान तथा अंकुरार्पण किया जाता हैं।[65]

उत्सव के लिए अधोलिखित काल कहे गये है- मार्गशीर्ष मास, श्रवण नक्षत्र, द्वादशी विषुव तथा राजा या यजमान के जन्म नक्षत्र तिथियों में उत्सवाचरण विहित है।

कालिदास के काव्य में लोकजीवन सभी सांस्कृतिक उपादानों से समन्वित होकर अत्यन्त सिद्ध एवं सुसंस्कृत था। समाज में समारोह एवं महोत्सव लोक जीवन को सरस एवं सजीव करते हुए जन सामान्य को 'उत्सवप्रिय'[66] बनाते थे। प्रकृति परिवर्तन पर पुष्पों को प्रस्फुटित पाकर प्रकृति प्रेमी जन आनन्द मनाने लगते थे- वसन्तोत्सव, ऋतूत्सव, वसन्तावतार, कौमुदी महोत्सव आदि[67] इसी लोक जीवन की सरस प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। मदनोत्सव, दोलोत्सव, पुत्र-जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, राज्याभिषेकोत्सव, गृह प्रवेश आदि अनेक सामयिक[68] समारोहों का भी लोक जीवन में प्रचुर प्रचलन था। जल क्रीडा, मृगया, द्यूतक्रीड़ा, लोकनृत्य संगीत, चित्रकला, काव्य-कथा, आख्यायिका-श्रवण, कन्दुक क्रीडा आदि अनेक मनोविनोद[69] लोकजीवन में प्रचलित थे।

पर्वोत्सव- 'उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः' (अभि.शा. षष्ठांक) की कालिदास की उक्ति से समाज में आनन्दित-आह्लादित होकर उक्त पर्व मिल-जुल कर मनाने की मानव की प्राकृतिक अभिव्यक्ति होती है। ऋतु सम्बन्धी प्रकृति-परिवर्तन पर उसके अनिर्वचनीय सौन्दर्य को देखकर, नयी फसल पाने पर, परमात्मीय प्रवासी जन के दीर्घकाल पश्चात् मिलने पर, राज्य-सिंहासन लाभ, शत्रुविजय-प्राप्ति, विवाह, सन्तोनोत्पत्ति, नये गृह में प्रवेश करने पर, बाहर से राजा के आने पर स्वागत आदि के लिये उत्साह, उमंग और आनन्द में यथा समय विभिन्न पर्वोत्सव मनाये जाते थे। महाकवि कालिदास ने इनका यथा स्थान अपनी कृतियों में सरस उल्लेख किया है।

कौमुदी महोत्सव- ऋतूत्सवों में प्रमुख कौमुदी महोत्सव शरत्पूर्णिमा (आश्विन शुक्ल 15 तिथि) पर धूमधाम से मनाया जाता था। वात्स्यायन ने इसे 'कौमुदीजागरः' कहा हैं[70] जबकि भोज के श्रृंगारप्रकाश' में इस उत्सव को 'कौमुदी-प्रचार' बताया गया है। इस महोत्सव का देश व्यापी प्रचलन था। विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' नाटक में इसका उल्लेख किया है। किन्तु कालिदास ने इसका संकेतात्मक उल्लेख **'पर्याप्त चन्द्रेव शरत त्रियामा'**[71] ज्योत्सना दुकूल आदि अनेक स्थलों में किया है, जिससे इस उत्सव की प्राचीन काल में लोकप्रियता प्रकट होती है।

वसन्तोत्सव- महाकवि ने इसे 'वसन्तोत्सव वसन्तावतार, 'ऋतूत्सव' नाम से वर्णित किया है। वसन्त ऋतु में यह उत्सव धूम-धाम से मनाया जाता था, किन्तु कभी-कभी किसी दुःखद घटना से इसे मनाना स्थगित कर दिया जाता था।[72]

'अनात्मज्ञे दैवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभंगं किमारभसे? किं न खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते।'

मालविकाग्निमित्र के तृतीय अंक में 'वसन्तावतार' रूप से इसे इस प्रकार वर्णित किया गया है-

''अथैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतार-व्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवेत् .....''[73] (पृ.93)

यह उत्सव अनेक दिनों तक चलता रहता था, जिसमे निम्नलिखित क्रीडामय उत्सव समाहित थे। यथा- मदन महोत्सव, अशोक दोहद, दोला नाटक आदि।

मदन महोत्सव में कामदेव की पूजा आम्र मंजरियों से की जाती हैं, जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तल' के षष्ठांक में संकेतित है—

'यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतलतिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।'

कामसूत्र में इसे 'सुवसन्तक' कहा गया है, जो नृत्यगीतवाद्य प्रधान पर्व है। जैसा कि यशोधर ने 'जयमंगला' में प्रतिपादित किया है-

'सुवसन्तो मदनोत्सवः तत्र नृत्यगीतवाद्यप्रायाः क्रीडा।'[74]

'अशोक दोहद' वसन्तोत्सव का ही एक अंग था। यह उत्सव प्रायः अन्तःपुर के प्रमदवन में मनाया जाता था। सुन्दरस्त्री के पैर प्रहार से अशोक में फूल लग जाते थे। प्रायः पादाघात रानी किया करती थी, यही पदाघात दोहद कहा जाता था। (मालविका, 3 तथा पाँचवें अंक में यह उत्सव वर्णित है।)

दोला- वसन्तोत्सव के साथ प्रमद वन में राजा-रानी दोनों दोलोत्सव में भाग लेते थे। राजाओं के दोले उनके परिजन हिलाते थे, किन्तु रानियाँ दोला झूलने में पटु होती थीं। कभी-कभी आलिंगन सुख के लिये दोले की रस्सी छोड़कर राजा के गले में अपनी बाँहें डाल देती थी। राजा भी ऐसे अवसर का सहर्ष स्वागत करते थे। जैसा कि रघुवंश में वर्णित है-

''अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।

अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलता जलतामबलाजनः ॥''[75]

राजाओं के झूले प्रमदवन के जिस स्थान विशेष में पड़े रहते थे, उन्हें 'दोलागृह' कहा जाता था।- 'ननु सम्प्राप्ते स्वो दोलागृहम्'[76]

नाट्योत्सव- पुत्रजन्म, राज्याभिषेक, ऋतूत्सव आदि शुभ अवसरों पर नाट्योत्सव भी आयोजित होते थे। वसन्तोत्सव में 'मालविकग्निमित्रम्' नाटक जनता के मनोविनोदार्थ सर्वप्रथम अभिनीत हुआ था।[77]

पुत्रजन्मोत्सव- प्रायः पुत्र जन्म पर आमोद-प्रमोदमय उत्सव मनाया जाता है। नृत्य एवं गीत की धूम मचाती सुन्दर वारवनिताएँ वर्णित हैं। रघु-जन्म पर यह उत्सव इस प्रकार द्रष्टव्य है-

सुखश्रवा मंगलतूयनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।

न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवोकसामपि ॥[78]

पुत्र जन्म की प्रसन्नता में प्रायः इस उत्सव में बन्दियों को भी कारागार बन्धन से विमुक्त कर दिया जाता था। यथा-

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।

ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ॥[79]

विवाहोत्सव- महत्त्वपूर्ण संस्कार रूप में विवाहोत्सव रघुवंश कुमारसंभव के अनेक स्थलों में विस्तार पूर्वक वर्णित है।[80] विवाहोत्सव स्थल पर अक्षत, खीलें वरवधू पर डालकर उनके मनोरंजनार्थ नाटक का अभिनय भी होता था-

तौ स्नतकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।

कन्याकुमारौ कनकासानस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥[81]

तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।

अपश्यतामप्सरसां मुहुर्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम् ।''[82]

राज्याभिषेकोत्सव-राज्याभिषेक के लिए चार खंभों पर आश्रित एक नया विमान (मण्डप) निर्मित होता था। यथा-

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।

विमानं नवमुद्वेदि चतुः स्तम्भप्रतिष्ठितम्॥[83]

भद्रपीठ पर विराजमान नवीन राजा को समस्त तीर्थों के जल पूर्ण हेमकुम्भ से स्नान कराया जाता था। चारों ओर तूर्य, पुष्कर आदि मंगल वाद्य बजाये जाते थे। दूर्वा, यवाङ्कुर, वट की छाल, मधूक पुष्प से राजाकुल वृद्ध राजा की नीराजना करते थे। अथर्ववेद के मंत्रोच्चारण सहित पुरोहित को आगे कर ब्राह्मण को स्नान कराते थे तथा चारण गण राजा की प्रशंसा में गीत गाते थे।

अभिषेक के पश्चात् स्नातकों को दान दिया जाता था, जो राजा को आशीष देते थे।

तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः ।

उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥

ननद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।

अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः॥

दूर्वाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।

ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥[84]

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत् स बन्दिभिः ।

प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारंगैरभिनन्दितः ॥

स तावभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।

यावत्तेषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यमाशिषमुदैरयन् ।

सा तस्य कर्म निर्वृत्तैर्दूरं पश्चात् कृता फलैः॥[85]

राज्याभिषेक की प्रसन्नता में बन्दियों को कारागार से राजा मुक्त कर देता था, मृत्युदण्ड माफ हो जाता था। बोझा ढोने वाले पशुओं के कंधों से जुए उतार दिये जाते थे। गाय का दूध बछड़ों के लिये छोड़ दिया जाता था। क्रीडा पक्षी पिंजड़ों से छोड़ दिये जाते थे। तत्पश्चात् राजा को हाथी दाँत के सिंहासन पर बैठाकर प्रसाधक हाथों को धोकर सुगन्धित द्रव्यों के धूम्र से केशान्त सुखाते थे तथा राजा का श्रृंगार कर परिचारिकाएँ जय-जयकार के साथ चँवर डुलाली हुई उसे सभा मण्डप में लाती थी। सभा में वितान तना रहता था। पैर के पास 'भद्रपीठ' रखा जाता था जिस पर अन्य अधीन राजा शिर रखकर प्रणाम करते थे।[86] हाथी पर बैठकर नगर भ्रमणहेतु निकले राजा को नागरियाँ गृह-गवाक्षों से देखती थी।

राजा के प्रत्यागमन पर उत्सव- अपने राज्य से बाहर चले गये राजा के बहुत दिन बाद राजधानी लौटने पर उसके स्वागतार्थ नगर को पहले ही से सुसज्जित कर लिया जाता था। स्वागत स्थलनगर के किसी उद्यान को अलंकृत कर वहाँ राजा को विश्रामार्थ ठहराकर जातिबन्धु स्वागतार्थ उससे भेंट करने आते थे, तत्पश्चात् उत्सव पूर्वक मंगल वाद्यों की ध्वनि, छत्र, चॅवर सहित नगर में प्रवेश करता था। प्रजाजनों से सत्कृत होता हुआ इस प्रकार राजा अपने प्रासाद में प्रवेश करता था।

गृह-प्रवेशोत्सव- नवगृह निर्माणपूर्ण होने पर विधिवत् उसका पूजन होता था तथा गृहप्रवेशोत्सव में शंख घड़ियाल की मंगलध्वनि के साथ पशूपहार दिया जाता था। यथा-

'ततः सपर्या सपशूपहारां पुरुः परार्ध्यप्रतिमगृहायाः ।
उपोषितैवास्तुविधानेविद्भिर्निवर्तयामास रघुप्रवीरः ।' [87]

पानभूमि रचनोत्सव- इस उत्सव में सब एक साथ मिलजुलकर आमोद-प्रमोद पूर्वक आज कल की 'कॉक टेल पार्टी' की तरह मदिरा पान करते थे। महाकवि ने इस सामाजिक उत्सव का अनेक स्थलों में उल्लेख किया है।[88]

धार्मिक पर्वोत्सव- विविध धार्मिक पर्वोत्सवों का भी महाकवि ने अपनी कृतियों में उल्लेख किया है, जिनमें वृष्टि के देवता इन्द्र को प्रसन्न करने एवं उनके प्रति श्रद्धा-आदर प्रकट करने के लिये पुरुहूतोत्सव-प्रायः भाद्रपद की शुक्ल पक्षीय अष्टमी से द्वादशी तक पाँच दिन मनाया जाता था। राजा वृष्टि के लिए इन्द्र की पूजा करता था-

एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतो युधिष्ठिरः ।

पर्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः ॥

मल्लिनाथ ने 'शक्रध्वज' को इस उत्सव में महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहा है-

चतुरस्त्रं ध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम् ।

आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम् ॥[89]

काकबलि उत्सव- प्रवासीपति की कुशलता के लिए पत्नी पति के लौटने की तिथि तक फूल लेकर प्रतिदिन एक-एक उन्हें पृथक् रखकर काकबलि उत्सव मनाती थी, जिसका उत्तरमेघदूत में उल्लेख इस प्रकार है'

''आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुलता वा ।[90]

शेषान् मासान् विरहदिवसप्रस्थापितस्यावधेर्वा

विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।

मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती

प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः।''

तीर्थ- अमंगलनिवारणार्थ, पुण्यप्राप्ति, शरीरपावनता के लिए अमावस्या, पूर्णिमा, मकर संक्रान्ति आदि पुण्य तिथियों पर गंगा-यमुना संगम, सोमतीर्थ,सरयू-गंगा संगम, गंगा-सागर आदि तीर्थों पर सामूहिक रूप से एकत्रित होकर पर्वस्नान कर देव-पितृध्यान पूजा, अर्चन, दान आदि धार्मिक क्रियाएँ करते थे।

उत्सव का अन्तिम अङ्ग तीर्थोत्सव होता। इसका विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।[91]

तीर्थयात्रा के पश्चात् पुष्पया का अवसर आता है। पुष्पयाग का पूर्ण विधान प्रतिपादित है।[92]

संक्षेप में कह सकते हैं कि कविकुलगुरु कालिदास का व्रत पर्वोत्सव वर्णन पूर्णतया तथ्ययुक्त है। आध्यात्मिक उत्कर्ष, सांस्कृतिक संरक्षण एवं उन्नयन के लिए इन व्रतपर्वोत्सवों को यथा समय विधिवत् हमें अवश्य मनाना चाहिए।

सेवन पाञ्चरात्र आगम के विभिन्न संहिताओं में उत्सवों की लम्बी सूची प्राप्त होती है। जैसे कृत्तिकोत्सव[93], जयन्ती उत्सव,[94] तीर्थ उत्सव[95], विजयादशमी उत्सव,[96] ब्रह्म उत्सव[97], महोत्सव, मासोत्सव आदि।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महाकवि कालिदास की कृतियों में प्रतिपादित उत्सव समारोह आगमोक्त साहित्य में निरूपित उत्सवों से पूर्णतः प्रभावित हैं। वस्तुतः उत्सव समाज की आध्यात्मिक उन्नति के स्रोत हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मनुस्मृति 3/70.
2. हारितगृहस्थ रत्नाकर, पृ0 522.
3. (क) श्रीमद्भागवत महापुराण-- 8/4/1725. (ख) वही, 7/14/106.
4. जयाख्यसंहिता 22/568-73.
5. महाभारत अनुशासनपर्व 104/155.

6. कुलार्णवतन्त्र 17/34.
7. वैखानस गृह्यसूत्र, प्रश्न-1, खण्ड-1, सूत्र-2.
8. रघुवंश 3/17.
9. वही, 10/78.
10. विक्रमो0, अंक-4.
11. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ0 558.
12. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ0 558.
13. रघुवंश 2/75
14. वही, 3/11.
15. वही, 3/18.
16. वही, 3/28.
17. वही, 15/33.
18. वही, 3/29.
19. वही, 3/33.
20. वही, 7/29.
21. वही, 15/32.
22. वही, 8/71.
23. त्रिपुरारहस्य, ज्ञानकाण्ड, 7/25.
24. वही, 7/24.
25. संकर्षणसंहिता, आचारात्रम् 1/24.
26. मेघदूत 1/59.
27. शाकुन्तलम्, अंक-1.
28. रघुवंश 6/48.
29. पूर्वमेघ 55.
30. रघुवंश 8/95.
31. वही13/58.
32. शाकुन्तल पञ्चमोऽङ्क
33. रघुवंश 8/32.
34. महाभारत, शान्तिपर्व मोक्षधर्मपर्व, 219/46.
35. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, अध्याय 1-4.
36. वही भाग-1, पृ0 07.
37. पाद्मसंहिता, चर्यापाद 15/134.
38. सात्वतसंहिता परिच्छेद-7.
39. पारमेश्वरसंहिता- 13/113-115.
40. रघुवंश 2-4
41. वही 16/49.
42. विक्रमोर्वशीयम् -3/12.
43. वही, अंक-3.
44. विक्रमोर्वशीयम् अंक-3.
45. अथवा व्रतत्यपदेशेन मुक्तरोषा भवतः प्रणिपातलंघनं प्रमार्ष्टु कामेति।- वही, अंक-3.
46. वही, अंक -3.
47. अथवा व्रतत्यपदेशेन मुक्तरोषा भवतः प्रणिपातलंघनं प्रमार्ष्टु कामेति। वही, अंक-3.
48. वही, 3/13.
49. स्वस्ति भवत्यै। बहुफलं तवैतदव्रतं भवतु। वही-3.
50. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक-2.
51. वही, 7-21
52. कुमारसम्भव- 5/29.
53. (क) न पारणा स्याद् विहिता तवैव। रघुवंश- 3/55.
(ख) उपस्थिता शोणितपारणा मे। वही - 3/55.
54. इयन्ति वर्षाणि तथा सहोऽग्रमभ्यस्यतीव व्रतमसिधारम् ।। वही13/67.
55. युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभतृवदाचरेत् अन्तर्निवृत्तसंगत्यादासिधारव्रतंहि तत् ।। वही 13/67 की मल्लिनाथकृत टीका.
56. सात्वतसंहिता- 7/11-37.
57. नारदीयसंहिता- 24/8-22.
58. पाद्मसंहिता चर्यापाद- 11-210-236.
59. ईश्वरसंहिता-3 / 127-176.
60. वैखानस आगमः एक अध्ययन, पृ0 255.
61. पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, पृष्ठ 512-513
62. समूर्तार्चनाधिकरण 54/2-3
63. नारदीयसंहिता 18/1-2
64. विमानार्चनकल्प, पटल 51
65. समूर्तार्चनाधिकरण 54
66. अभि. शा. अंक.6 पृ.104 'उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः'।
67. वही 4/9 अंक 6 पृ. 101, 103, रघु. 6/46, मालविका, अंक 3 पृ0 292
68. वही. अंक 6, पृ0 102, मालविका, अंक 3ख पृ0 293, 301 रघु. 3/19, 20 7/4, 5, 28, 17/13, 15/17
69. रघु 9/37, 19/9श 16/13, 54,58,6/48,, पू. मे. 37, अभि. शा 2/5, रघु. 6/18
70. कामसूत्र 1/4/42.
71. कुमार 7/26, ऋतु, 3/1, 3/7.
72. अभिज्ञानशाकुन्तल का षष्ठ अंक.
73. मालविकाग्निमित्र, पृ0 93.

74. जयमाला- 1/4/42.
75. रघु. 9/46.
76. मालविकाग्निमित्र- तृतीय अंक.
77. मालविकाग्निमित्र- प्रथम अंक.
78. रघुवंश 3/19.
79. वही 3/20.
80. वही 7/4, 5-6-7-8-9 कुमारसम्भव 7/57-58-59-60-61.
81. वही 7/28.
82. वही 7/29.
83. रघुवंश 17/9.
84. वही 7/10-12.
85. रघुवंश, 17/15-17-18.
86. वही 17/18-29.
87. वही 16/39.
88. रघुवंश, 4/42, 7/49, 19/11.
89. वही 4/3 (टीका मल्लिनाथ).
90. वही 4/3 (टीका मल्लिनाथ).
91. ज्ञानकाण्ड-89, विमानार्चनकल्प, पटल 54
92. विमानार्चन, पटल 54
93. सात्वतसंहिता 7/11-37.
94. नारदीसंहिता- 24/8-22.
95. पाद्मसंहिता चर्मापाद 11-210-23.
96. ईश्वर संहिता 3/127-146.
97. वैखानस आगमः एक अध्ययन पृ0255.

●

यजुर्वेद में मन की गति का वर्णन

राकेश कुमार प्रजापति, डॉ0 सुशील कुमार दूबे** एवम् डॉ0 शंकर त्रिपाठी****

अध्ययन–अध्यापन का प्राचीनतम स्रोत वेदों को माना जाता है जिन्हें अपौरुषेय ग्रन्थ के रूप में भी स्वीकार किया गया है। 'वेद' शब्द विद् धातु और घञ् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ 'ज्ञान' है। वह ज्ञान जो स्वयं से प्राप्त हुई हो।

वेदों की संख्या

वेदों की संख्या चार है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

ऋग्वेद – इसमें ऋचाओं का संग्रह है ।

यजुर्वेद – इसमें कर्मकाण्डपरक मंत्रो का वर्णन है।

सामवेद – यह वेद संगीतात्मक है।

अथर्ववेद – इसमें चिकित्सा विज्ञान से संबन्धित मंत्रो का वर्णन है।

प्रत्येक वेद के चार-चार भाग है संहिता, ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद्।

संहिता – इसे मन्त्र भाग भी कहा जाता है जो यज्ञ अनुष्ठान में प्रयुक्त किया जाता है।

ब्राह्मण - इसमें कर्मकाण्डों में प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रों की व्याख्या है।

अरण्यक – इसमें यज्ञ अनुष्ठान की आध्यात्मिक विवेचना है।

उपनिषद् – इसमें आत्मा, जीव, जगत आदि की दार्शनिक विवेचना है।

यजुर्वेद

यजुर्वेद दो शब्दों यजुस् और वेद से मिल कर बना है। यजुस् का तात्पर्य यज्ञ से है और वेद का ज्ञान से है; इस प्रकार यजुर्वेद का अर्थ हुआ 'यज्ञ का ज्ञान'। यज्ञ का भलीभाँति ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ यजुर्वेद है। यह वेद गद्यात्मक है। इसमें यज्ञ की विधियों का उल्लेख है। यज्ञ का आशय केवल परंपरागत हवन से ही नहीं, उस ज्ञान से भी है जो कल्याणकारी हो, जिसके द्वारा मनुष्य अपना तथा दुसरों का जीवन सार्थक बना सके और भवबन्धनों से मुक्त हो सके।

यजुर्वेद दो भागों में प्राप्त होता है-

1.शुक्ल यजुर्वेद

2.कृष्ण यजुर्वेद

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ प्राप्त होती है- माध्यान्दिन या वाजसनेयी और काड्व शाखा।

कृष्ण यजुर्वेद की 4 शाखाएँ- तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ और कपिष्ठल शाखा है।

शुक्ल यजुर्वेद के दो उपनिषद् (ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद्) तथा कृष्णयजुर्वेद के चार उपनिषद् (कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् और मैत्रायणीयोपनिषद्) है। यजुर्वेद तथा इससे सम्बन्धित उपनिषदों में मन की गति का अद्भुत् वर्णन प्राप्त होता है जो इस लेख का मुख्य बिषय है।

मन विमर्श

जिसके द्वारा मनन किया जाय, चिंतन किया जाय और ज्ञान प्राप्त किया जाय वह मन है। मन को देखा नहीं जा सकता, केवल महसूस किया जा सकता है; इसे स्पर्श भी नहीं किया जा सकता है। कुछ विद्वान इसे अन्तःकरण, अंतरात्माभी कहते है। इसके द्वारा ही ज्ञानशक्ति विकसित होती है। सामान्य रूप से यह ज्ञानशक्ति का साधन है। आत्मज्ञानी, चिन्तन-मनन के द्वारा ही ज्ञान की पराकाष्टा को प्राप्त होते है।

मन के पर्याय

मनके विविध नाम है– मानस, इच्छा, अंतःकरण, चित्त, मत, विचार इत्यादि। अमरकोष के अनुसार चित्त, चेत, हृदय, स्वान्त, हृत और मानस शब्दोंको मन का पर्याय बताया गया है।

चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृत्मानसं मनः।[1]

हम अपने मन के द्वारा ही परिस्थितियों के साथ समायोजन स्थापित कर पाते है।

मन के गुण

यजुर्वेद में मन के चार गुण बताये गए है जो इस प्रकार है- क्रत्वे, दक्षाय, जीवसे और दृशे ।[2]

---

* शोध छात्र, क्रिया शारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** सहायक प्रोफेसर, क्रिया शारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
*** सहायक प्रोफेसर, क्रिया शारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

क्रत्वे – करने वाला अर्थात ज्ञान ग्रहण करने वाला। प्राणी जीवित होते हुए भी बिना मन के कुछ भी नहीं कर सकता। मन में जब आवेग उत्पन्न होता है तो इन्द्रियाँ कार्य हेतु शरीर को प्रेरित करती है। शरीर इन्द्रियों से प्रेरित होता है और इन्द्रियाँ मन से प्रेरित होती है। इस प्रकार मन ही प्रेरणा का मूल कारण है। इन्द्रियों से युक्त शरीर केवल निमित्त मात्र है। कार्य भले ही भौतिक जगत से सम्बन्धित हो या आध्यात्मिक जगत से, पर करने वाला तो मन ही है।

दक्षाय – दक्षता (निपुणता) स्थापित करने वाला। मन, कार्य करने की कुशलता प्रदान करने वाला है। मन इन्द्रियों को कार्य हेतु साधता है। बार-बार पुनरावृत्ति से इन्द्रियाँ या इन्द्रियों से युक्त शरीर सरलता पूर्वक कार्य को सम्पन्न कर देता है। यदि मन कुशल न होता तो इन्द्रियों को कार्य करने के लिए प्रेरित न करता। इस प्रकार मन की कुशलता सिद्ध हो जाती है।

जीवसे – जीवन यापन करने वाला। जीवन का आधार मन है। प्राणी मन से प्रेरित होकर जीवन यापन करता है या जीवन से मुक्त होता है। प्राणी का यथारूप मन तथारूप जीवन के लिए उत्तरदाई होता है। मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। विषयों से मुक्त हुआ मन मोक्ष के लिए और विषयों में भटकता हुआ मन बन्धन के लिए होता है। मन ही मनुष्यों को सांसारिक विषयों में बाँधता है। जीव अज्ञान के प्रभाव में आकर संसार में भटकने लगता है जिसके परिणाम स्वरूप उसे अनेकों प्रकार के दैहिक, दैविक और भौतिक दुखों का सामना करना पड़ता है।

दृशे – दृश्य को प्राप्त करने वाला। मन इन्द्रियों के द्वारा दृश्यों को धारण करता है। अतः इसके लिए दृशे शब्द का प्रयोग हुआ है जो इसकी विशेषता को प्रकट करता है।

चरक के अनुसार अणुत्व और एकत्व मन के गुण बताए गये है -

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।[3]

मन आनन्द से युक्त, प्राणों को सुख देने वाला परमात्मतत्व से युक्त है-

सत्यात्म प्राणारामं मनः आनंदम् ।[4]

आत्मा मनोमय कोश से युक्त है और पूर्णतः पूर्ण है। यह मनोमय कोश पुरुष रूप है। इस पुरुष में अनुगत होने से ही इसकी आकृति पुरुष जैसी है। यजुर्वेद ही इसका शिर है। ऋग्वेद ही इसका दक्षिणा पक्ष है। सामवेद उत्तर पक्ष है। आदेश ही आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुष विधः एव। तस्य पुरुषविधातामन्वयं पुरुष विधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा।[5]

मन से युक्त ज्ञानेन्द्रियों सहित कोश मनोमय कहलाता है –

मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।[6]

देखने वाला व्यक्ति जब अपनी इन्द्रियों से किसी लौकिक वस्तु का प्रत्यक्ष करके यह निश्चित हो जाता है कि यह वस्तु वही है या कोई और है, इस प्रकार का संकल्प या विकल्प करता है तो यह संकल्पविकल्पात्मक क्रिया मनोमय कोश में होती है।

वाणी भी मन का ही अनुगमन करती है –

वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।[7]

मन ही ब्रह्म है ऐसा (ऋषि भृगु के द्वारा) जान लिया जाता है। मन के कारण ही सभी प्राणी जन्म लेते है और जन्म के पश्चात जीवित रहते है तथा मृत्यु के बाद भी मन को ही प्राप्त होते है और उसी में समाहित हो जाते है।

मन ही छाया, मन ही माया, मन ही जग उपजाये। अर्थात मन सर्वत्र विराजमान है, मन के कारण ही प्रकृति अपना नव सृजन करती है जिससे यह संसार उत्पन्न हुआ है।

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभि संविशन्तीति।[8]

मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।[9]

मन के द्वारा लोक मंगल की भावना से बड़े-बड़े यज्ञकर्म सम्पन्न किये जाते है। उस यज्ञ का प्रत्यक्ष द्रष्टा, कर्ता और भोक्ता मन है। यज्ञ सम्पादनार्थ मन को शान्ति प्राप्ति की कामना की जाती है। मन शान्त होने से यज्ञ का प्रतिफल कल्याणकारी होता है। मन को अच्छे परिणाम की प्रतीति होती है। अतः मन यज्ञ का स्वरूप है।

मनसा हि कामान् कामयते ।[10]

संसार में कर्मों का अन्त नहीं है और कामनाएँ भी अनन्त है। कामनाएँ जीव में जन्म लेती है और जीव उन कामानाओं को पूर्ण करने के लिए प्रेरित होता है; तथा करता है। यह प्रेरणा मन के द्वारा प्राप्त होती है। अतः मन ही प्रेरक है जिसके द्वारा कामनाएँ पूर्ण होती है। वैसे तो अनन्त कामनाएँ पानी में बुलबुले की भाँति उत्पन्न होती है और समाप्त हो जाती है; किन्तु कुछ विशेष कामनाएँ ही जीव को कार्य हेतु आगे ले जाती है। कामनाएँ दो तरह की होती है, एक कल्याणकारी होती है जो शुद्ध होती है और दूसरी अमङ्गलकारी कामना होती है जिन्हें अशुद्ध कहते है; जो मानवता के लिये अभिशाप सिद्ध होती है।

मनो वै सम्राट परमं ब्रह्म ।[11]

जीव जन्म लेता है जिसका कारण मन है। जीव में कामनाएँ जन्म लेती है, कर्म हेतु इन्द्रियाँ गतिमान होती है। ये इन्द्रियाँ मन के

द्वारा ही कभी गति को प्राप्त होती है तो कभी नियंत्रण को। इस प्रकार सञ्चालन का कार्य एक शासक ही कर सकता है जिसके पास वैसा कार्य करने का अधिकार होता है। अधिकारी वही है जो समर्थ है। इस प्रकार मन ही कर्मों का अधिकारी, सम्राट व श्रेष्ट ब्रह्म है।

प्राणायाम के दौरान योगी अपने समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में सन्निविष्ट करता है –

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयानकानि ॥[12]

अर्थात विद्वान व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने शरीर के उभरे हुए तीन स्थानों जैसे शिर, गर्दन और वक्षस्थल को एक सीध में करके, समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में सन्निविष्ट करके ब्रह्म विषयक ध्यान रूपी नौका से समस्त भयानक बाधाओं को पार कर जाते है।

मन दिव्यता से युक्त है, आत्मा का दर्शन कराने वाला है और समस्त सीमाओं (भूत, भविष्य, वर्तमान) को पार कर जाने वाला है। प्राणी के जाग्रत अवस्था में रहने पर उसका मन दूर तक विचरण करता है और सोते हुए अवस्था में उसका मन वापस आ जाता है। यह समस्त प्रकाशों में एक प्रकाश है। इसको जान पाना कठिन है। इसके द्वारा ही मनुष्य कल्याण को प्राप्त करता है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं, तदु सुप्तस्य तथैवैति ।

दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[13]

मन के द्वारा ही मन पर अधिकार रखने वाले मनीषि व अपने नियत कर्मों में निष्ठा रखने वाले कर्मनिष्ठ लोग धैर्य पूर्वक कर्मों को करते है तथा यज्ञो का संपादन करते है। यज्ञनिष्ठ लोग यज्ञ में आहुति समर्पित करते है। मन ही प्रजाओं के अन्तर्भाग में स्थित रहने वाला, समस्त इन्द्रियों को वशीभूत करने वाला, प्रथम पूज्य है।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।

यद्पूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[14]

मन के द्वारा ही समस्त कार्य किये जाते है। क्या करना है, क्या नहीं करना है, क्या उचित है, क्या अनुचित है; इन सब बातों का निर्णायक मन है। व्यावहारिक जीवन में प्रायः देखा जाता है कि लोग कभी-कभी ऐसा कहते है; आज मेरा मन ऐसा करने को कह रहा है। आज मेरा मन ऐसा करने को नहीं कह रहा है। इससे यह पता चलता है कि शरीर (व्यक्ति) मन से प्रेरित होकर कर्म करता है। इससे मन की श्रेष्ठता प्रकट हो जाती है।

मन ही विशिष्ट ज्ञान का माध्यम है। इसके द्वारा ही श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ ज्ञान प्रकट होता है, विशेष ज्ञान भी मन के द्वारा ही प्रकट होता है। यह लोगों में धैर्य के रूप में अन्तः करण में ज्योति स्वरूप विद्यमान रहता है। इसके बिना कोई भी कर्म नही किया जा सकता है। समस्त ज्ञान-विज्ञान का माध्यम मन है। प्राचीन काल में ऋषि गहन से गहन ज्ञान की सीमा को प्राप्त कर रहस्यों का उद्घाटन किया करते थे। आज भी बड़े-बड़े अनुसन्धान अनुसंधानकर्ताओं के द्वारा किया जाता है। ये सब मन को साधने से ही संभव हो पाता है। मन के चञ्चल होने के कारण अनेको विचार उत्पन्न होते रहते है। किन्तु चञ्चल मन शान्त हो कर जब एकाग्रता में प्रवेश करती है तब एकाग्र मन से बड़े से बड़े उद्देश्य का प्राप्त होना स्वाभाविक हो जाता है।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृति श्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किंचन कर्म न क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[15]

मन की शास्वतता

मन शास्वत है। इसके द्वारा ही भूतकाल, भविष्यत् काल और वर्तमान काल भलीभांति जान लिया जाता है। इसके द्वारा ही सप्त होताओं – होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्रावस्तुत, ब्राह्मणाच्छंशी, अच्छावाक, अग्नीघ्र से युक्त यज्ञ सम्पादित किये जाते है। विचार करने पर यह प्राप्त होता है कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, आत्मा व प्रकृति सप्त होता के रूप है जिनके द्वारा यज्ञ विषयक समस्त कार्यसम्पादित किये जाते है।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[16]

सम्पूर्ण शरीर रथ के समान है। इस रथ रूपी शरीर को ले जाने वाला मन है। इसमें वेदों के समस्त ज्ञान पहिये में लगे अरे अर्थात् तीलियों के समान है। यदि तीलियाँ मजबूत रहती है तो पहिया भी मजबूत तथा सक्रिय होता है। उसी तरह वेदों के ज्ञान से बुद्धि सबल व सक्रिय होता है। इस मन में ही ऋग्वेद के मन्त्र, सामवेद के मन्त्र, यजुर्वेद के मन्त्र विद्यमान है। इस मन में ही समस्त प्राणियों का सार्वभौमिक पदार्थ विषयक ज्ञान भरा हुआ है। जिसका वर्णन इस प्रकार है –

यस्मिनृचः सम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभा विवाराः।

यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[17]

जिस प्रकार कुशल सारथी लगामों के द्वारा तीव्रगामी घोड़े को एक सही दिशा में ले जाता है उसी तरह मन मनुष्यों को इन्द्रियों के द्वारा ले जाता है। मन मनुष्यों के हृदय में स्थित रहता है। मन कभी बृद्ध नही होता; शरीर भले ही बृद्धता को प्राप्त हो जाये पर वह सदैव बचपन से बृद्धावस्था तक समान रूप से सक्रिय रहता है । मन अत्यंत वेग से चलने वाला है।

सुसारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिना इव।

हृतप्रतिष्ठंयदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥[18]

मन लगाम सदृश

कठोपनिषद् में मन को लगाम के समान बताया गया है। रथरूपक शरीर का वर्णन करते हुए यमराज नचिकेता को उपदेश करते है कि आत्मा इस शरीर रूपी रथ पर बैठने वाले या सवारी करने वाले शासक (राजा) के समान है। इस शरीर रूपी रथ को चलाने वाला सारथी बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा हम अपने शरीर को अमुक कार्य के लिए तत्पर करते है। इस शरीर रूपी रथ में इन्द्रियाँ घोड़े के समान है, जिनका नियंत्रण मन रूपी लगाम के द्वारा बुद्धि रूपी सारथी करता है। ये इन्द्रियाँ रूपी घोड़े शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक विषयों के मार्गों पर गमन करती है। किसी भी इन्द्रिय रूपी घोड़े को अपने विषय रूपी मार्ग पर कब और कितना चलना है इसका निर्णय बुद्धि करती है जो मन के माध्यम से इन्द्रियों को प्रेरित या नियन्त्रित करती है। मन के विना, बुद्धि भी इन्द्रियों का नियन्त्रण नहीं कर सकती। इस प्रकार मन की शरीर में श्रेष्ठ स्थिति का पता चलता है जैसा कि-

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धि तु सारथि विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥[19]

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयाः तेषु गोचरान् ।

आत्मेंद्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥[20]

निष्कर्ष

मन एवं इन्द्रियों के सहयोग से ही विषयों का ज्ञान होता है। इन्द्रिय, मन एवं आत्मा के सहयोग के बिना चेतनता नहीं आती है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार – बिना संवेदी अंगों (सेन्स आर्गन) के सहयोग से सूचनाएँ प्रसारित नहीं होती। यहाँ पर तंत्रिका-तंत्रों (नर्वस सिस्टम्स) के माध्यम से एवं शिर, हृदय तथा सुषुम्ना नाणी के सहयोग से ही समस्त अच्छे एवं बुरे कार्यों का संपादन किया जाता है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यजुर्वेद में जो मन की गति का वर्णन किया गया है वह ज्ञानास्पद व अनुशीलन के योग्य है, जिसके अध्ययन से हम मन की गति को जानने में समर्थ होते है। इसकी सहायता से अच्छे व बुरे कर्मों में भेद करके सन्मार्गगामी बना जा सकता है जो कि शरीर को स्वस्थ रखने में अत्यंत उपयोगी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अमरकोष
2. ऋग्वेद 1/57/4
3. चरक संहिता शारीरस्थान 1/19
4. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली 6/16
5. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली 3/8
6. सदानन्द का वेदांत सार-74
7. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली 9/27
8. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली 4/4
9. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/1/6
10. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/2/7
11. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/1/6
12. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/8
13. यजुर्वेद 34/1
14. यजुर्वेद 34/2
15. यजुर्वेद 34/3
16. यजुर्वेद 34/4
17. यजुर्वेद 34/5
18. यजुर्वेद 34/6
19. कठोपनिषद् 1/3/3
20. कठोपनिषद् 1/3/4

●

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता और कवि केदारनाथ सिंह

प्रेमलता राय एवम् डॉ0 सत्यपाल शर्मा***

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी जगत में जिन कवियों की कविताओं ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया है तथा जिनकी कविताएँ एक ओर आधुनिकता बोध से जुड़ती हैं तो दूसरी ओर इतिहास से भी जुड़ती हैं, वे हैं- अज्ञेय (असाध्य- वीणा, नदी के द्वीप, बावरा अहेरी, हरी घास पर क्षण भर), मुक्तिबोध (अंधेरे में, ब्रह्मराक्षस, चाँद का मुँह टेढ़ा है), धर्मवीर भारती (अंधा युग, कनुप्रिया, ठण्डा लोहा), शमशेर बहादुर सिंह (बात बोलेगी), केदारनाथ अग्रवाल (हे मेरी तुम, युग की गंगा), नागार्जुन (हरिजन गाथा), धूमिल (पटकथा), नरेश मेहता (संशय की एक रात) इत्यादि। इसके अलावा विजयदेव नारायण शाही, कुँवर नारायण, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल तथा विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि हैं। इन कवियों ने अपने युग के यथार्थ और त्रासदी को झेला ही नहीं बल्कि अपनी कविताओं में चित्रित भी किया। इसी कड़ी के महत्वपूर्ण कवि हैं केदारनाथ सिंह।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि केदारनाथ सिंह की काव्य संवेदना में जितनी व्यापकता है उतनी ही विविधता भी। इनकी कविता गाँव से कस्बे तक और शहर से महानगर तक की सजीव यात्रा है। कवि की रचनात्मकता में गाँव की उपस्थिति लगातार बनी रही है। आधुनिकता के जबरदस्त मोहक रूप के बीच भदेस गाँव की बात बहुत लोगों को असुविधाजनक लगती है, लेकिन कवि प्रखर विवेक के साथ गहरी लोकोन्मुखी दृष्टि से अपने गाँव व जानी पहचानी दुनिया में लौटता है और बार-बार उसको अपनी कविता में रचता है। इस संदर्भ में 'चिट्ठी' नामक कविता को देख सकते हैं-

कल गाँव से एक चिट्ठी आयी

बहुत दिनों बाद

शायद नदी ने भेजी थी

न दिन न तारीख

न सिरनामा

बस ऊपर कोने में एक बूँद की तरह टका था छोटा-सा प्यारा-सा

गाँव का नाम

'चकिया'।[1]

केदारनाथ सिंह ने हिन्दी जगत में जब कविता लिखना शुरू किया तब देश आजाद हो गया था। प्रयोगवाद का दौर समाप्त होने वाला था और नयी कविता की शुरुआत हो गयी थी। 'तीसरा सप्तक' के माध्यम से केदारनाथ सिंह नयी कविता के दौर में प्रवेश कर चुके थे। कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में- ''नयी कविता से मेरा परिचय तार-सप्तक के माध्यम से हुआ था। तब बनारस की कवि-गोष्ठियों में शंभुनाथ सिंह के गीतों की गूँज थी। त्रिलोचन शास्त्री की रचनाएँ कम समझी जाती थीं। नामवर सिंह लिखते थे, पर कम-कम। मेरी आरम्भिक कविताओं पर इन सबका असर था।''[2]

केदारनाथ सिंह की सम्पूर्ण कविता-यात्रा को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है- प्रथम चरण- 'तीसरा तारसप्तक', 'अभी बिल्कुल अभी', 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखो'। द्वितीय चरण- 'अकाल में सारस', 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', 'बाघ'। तृतीय चरण- 'तालस्ताय और साइकिल', 'सृष्टि पर पहरा'।

'तीसरा सप्तक' में प्रकाशित कवि की कविताएँ लोक भावभूमि पर रचित कविताएँ हैं। इसमें प्रकृति परक कविताएँ, प्रेमपरक कविताएँ और भविष्य के प्रति आस्था जगाने वाली कविताएँ हैं। इन कविताओं में ठेठ ग्रामीण जीवन की सुगन्ध और मिठास देखते बनती है। कवि की प्रेमपरक कविता का उदाहरण द्रष्टव्य है-

''रात पिया, पिछवारे पहरू ठनका किया!

कँप कँप कर जला दिया,

बुझ बुझ कर यह जिया,

मेरा अंग अंग जैसे,

पछुवे ने छू दिया,

बड़ी रात गये कहीं पंडुक पिहका किया!''[3]

'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में केदारनाथ सिंह ने कुछ ऐसी बातें कही हैं, जो उनकी कविता को समझने में सहायक हैं। वे कहते हैं- ''समाज के प्रगतिशील तत्वों और मानव के उच्चतर मूल्यों की परख मेरी रचनाओं में आ सकी है या नहीं, मैं नहीं जानता। पर उनके प्रति मेरे भीतर एक विश्वास, एक लालसा, एक लपट जरूर है, जिसे मैं हर प्रतिकूल झोके से बचाने की कोशिश करता हूँ, करता रहूँगा।''[4]

---

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन् 1959 में तीसरा सप्तक प्रकाशित होता है जिसमें केदारनाथ सिंह की प्रारम्भिक कविताएँ शामिल हैं। ये कविताएँ लोक जीवन के मार्मिक प्रसंगों तथा प्रायः लोकगीतों को प्रस्तुत करती हैं। कवि केदारनाथ सिंह का 'अभी बिल्कुल अभी' शीर्षक काव्य संग्रह सन् 1960 में प्रकाशित हुआ। इस काव्य संग्रह में 'तीसरा सप्तक' में संकलित कविताओं में से आठ कविताएँ भी शामिल हैं। इस संग्रह की कविताओं में लोकजीवन व गीतात्मकता में कमी आयी तथा कविता में वैचारिक प्रौढ़ता दिखाई देती है। इस संग्रह की पहली कविता 'प्रक्रिया' एक प्रभावशाली कविता है, जो कवि व्यक्तित्व को बड़े सहज रूप में पाठकों के समक्ष ला खड़ा कर देती है। केदारनाथ सिंह की कविता की निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं-

''चलते-चलते
झुककर
रास्ते की धूल से
एक शब्द उठाता हूँ
और पाता हूँ कि अरे
गुलाब!''[5]

इस कविता का वह शब्द जो गुलाब हो जाता है, वह गुलाब नेहरू युग के मोह को तो नहीं दर्शा रहा है। नेहरू का गुलाब अभिजात्यता का प्रतीक है और वह कोट के बटन होल में रहता है जबकि कवि केदारनाथ का धूल से सना शब्द गुलाब है यानी साधारण जनता से जुड़े हुए शब्दों में कवि गुलाब की प्रतीति करता है। एक अन्य रचना 'नीला पत्थर' में 'नीला पत्थर जनता का ही प्रतीक है। जब कवि अकेला होता है तो अकेलापन दूर करने के लिए वह कवि के पास लुढ़क कर चला आता है। कवि कहता है-

''अब वह नीला पत्थर
मेरे साथ-साथ रहता है
सोता हूँ तो सिरहाने है
उठता हूँ
तो कब से जगा रहा है
गाने की कोशिश करता हूँ
तो हर शिरा उपशिरा में
छटपटा रहा है नीला पत्थर
खाली पत्थर!''[6]

केदारनाथ सिंह का दूसरा काव्य संग्रह 'जमीन पक रही है' 1980 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह का प्रकाशन पहले संग्रह 'अभी बिल्कुल अभी' के प्रकाशन के एक लम्बे अन्तराल (20 वर्षों) के बाद हुआ। इन बीस वर्षों में भारत के इतिहास में आमूल-चूल परिवर्तन हुए। भारत-चीन युद्ध, भारत-पाक युद्ध, गैर कांग्रेसी सरकार का गठन, कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन, हिन्दी काव्य परिदृश्य में नित नये-नये काव्य आन्दोलन आदि। वे बदलते परिवेश को लगातार देखते हुए गुजरते हैं और उसे अपनी कविताओं में बिम्बों के माध्यम से लिखते हैं। 'मुक्ति' नामक कविता में 'पेड़' शब्द लिखना दरअसल पेड़ का गुणधर्म अपनाना है। वे कहते हैं-

''मुक्ति का जब कोई रास्ता नहीं मिलता
मैं लिखने बैठ गया हूँ
मैं लिखना चाहता हूँ पेड़
यह जानते हुए कि लिखना पेड़ हो जाना है
मैं लिखना चाहता हूँ पानी

x x x x

यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा मैं लिखना चाहता हूँ।''[7]

केदारनाथ की आस्था मोहभंग की अवस्था में भी उन्हें सम्भाले हुए है। नंद किशोर नवल कहते हैं- ''उन्होंने किसी भी कविता में अपनी आस्था का आख्यान नहीं किया है, सिर्फ अलग-अलग चीजों का इस तरह से वर्णन किया है कि वह वर्णन इस बात का सूचक हो गया है कि जो कुछ भी सुन्दर और मूल्यवान है उसके प्रति उनके मन में अपार आकर्षण है और दुनिया को बेहतर बनाने वाली शक्ति के प्रति वे आशावान हैं।''[8]

कवि का तीसरा काव्य संग्रह 'यहाँ से देखो' है। इस संग्रह के केन्द्र में साधारण मनुष्य है। इस संग्रह में जानवर, कीड़े की मृत्यु, जनहित का काम, शीत लहरी में एक बूढ़े आदमी की प्रार्थना और सन् 47 को याद करते हुए कविता देखी जा सकती है। 'कीड़े की मृत्यु' कविता में कीड़े का मरना कवि को दुःख पहुँचाता है-

मरा पड़ा है कीड़ा
उसको देख पड़ा यों गुमसुम
क्यों होती है पीड़ा
क्यों मैं ठिठक गया हूँ
क्यों मैं खोज रहा हूँ उसमें तड़पन
कोई हरकत
क्या मुझको लगता है उसका होना
बहुत जरूरी था।

यहाँ कीड़े की मृत्यु कवि को एक आम आदमी की मृत्यु प्रतीत होती है। उसका होना कवि के लिए, मानवता के लिए जरूरी था। 'शहर में रात' कविता में कवि कहता है- ''वे क्यों चुप हैं जिनको आती है भाषा।''[9] दरअसल भाषा की सार्थकता उसके बोलने में है, और बोलना मनुष्य की ऐसी क्रिया है जिससे उसके व्यक्तित्व का पता चलता है। इस संग्रह की कविताएँ प्रश्न पूछती हैं, उनके काव्य संसार में शंका, संदेह, जिज्ञासा वगैरह सब हैं।

कवि का अगला महत्वपूर्ण संग्रह 'अकाल में सारस' है। इस संग्रह की प्रतिनिधि कविता 'अकाल में सारस' है। यहाँ सारस एक प्रतीक मात्र नहीं है। वह मानव जाति की क्रूरता और दोहन से पीड़ित प्रकृति का चित्रण भी है। धीरे-धीरे पक्षियों की प्रजाति विलुप्त होती जा रही है। ऐसे समय में सारस का दिखना व्यक्ति को कौतूहल से भर देता है-

''लेकिन सारस
उसी तरह करते रहे
शहर की परिक्रमा
न तो उन्होंने बुढ़िया को देखा
न जल भर कटोरे को
सारसों को तो पता तक नहीं था
कि नीचे रहते हैं लोग
जो उन्हें कहते हैं सारस
पानी को खोजते
दूर-देशावर से आये थे वे
पानी को खोजते
दूर देशावर तक जाना था उन्हें।''[10]

इसी काव्य संग्रह में 'एक और अकाल' शीर्षक एक कविता है जिसमें कवि ने यह दिखाया है कि महानगरों के मानवीय सम्बन्धों में कैसे दूरियाँ बढ़ रही हैं। इसने कवि को लिखने पर मजबूर किया होगा जो आज के समय पर सार्थक होता है-

''मैं एक एक से मिला
मैंने एक एक से बात की
मुझे आश्चर्य हुआ
लोगों को तो लोग
जानते तक नहीं थे!''[11]

नन्द किशोर नवल 'अकाल में सारस' संग्रह की कविताओं के विषय में कहते हैं- '' 'अकाल में सारस' की कविताएँ अमूर्तीकरण के लिहाज से विशिष्ट हैं। इसमें शहर भी है, गाँव भी, मनुष्य भी है, प्रकृति भी, साथ में कुछ दूसरी चीजें भी, जैसे घण्टी, चाकू, खून का धब्बा, बोझे, अनाज के दाने, मेले में बिकने के लिए जाते हुए बैल, पिल्ले, बनता हुआ घर आदि। जाहिर है कि अपनी कविताओं में केदार जी ने इनका केवल रूपांकन नहीं किया, बल्कि वैसा करते हुए इन्हें एक 'आइडिया' में तब्दील करने का प्रयास किया है।''[12]

सन् 1995 में 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' नामक काव्य संग्रह आता है। इस संग्रह में पहली बार इतिहास से चरित्र उठाया गया है- मध्यकाल से कबीर व आधुनिक काल से भिखारी ठाकुर। इन दोनों कवियों में केदारनाथ काफी समानता देखते हैं क्योंकि ये दोनों ही कवि विद्रोही व्यक्तित्व अपनाकर समाज में एक सार्थक हस्तक्षेप करते हैं। हिन्दी के तथाकथित शिष्ट साहित्य ने परम्परा के नाम पर कबीर को भुला दिया, उसी तरह उसने लोक कवि भिखारी ठाकुर को भी। यहाँ तक कि लोरी जैसा लोकगीत जिसमें माँ और शिशु की आत्मा बसती है, उसे भी इस उपभोक्तावादी संस्कृति और शहरी सभ्यता ने भुला दिया-

''यह कैसी सभ्यता है- मैंने सोचा
कि इसके पास अपनी कोई लोरी तक नहीं
उन यात्रियों के लिए
जिनकी गाड़ियाँ लेट हैं।''[13]

'बाघ' कवि का अगला काव्य है जो 1996 में प्रकाशित होता है। इस कविता में बाघ के विविध रूप हैं, बाघ एक खूँखार जंगली जानवर का प्रतीक है। दूसरे खण्ड में बाघ का शहर में आने और चुपचाप वापस चले जाने का चित्रण है। खण्ड में बाघ और लोमड़ी का संवाद है जो मानव जीवन के शाश्वत प्रश्न दुःख और उसके कारण से जुड़ा हुआ है। इस कविता में कवि बाघ व लोमड़ी जैसे प्रतीकों के माध्यम से सभ्यता, संस्कृति तथा मनुष्यता को बचाये रखने के लिए चिंतित रहता है। कवि की आशावादी विचारधारा निराशा के क्षण में भी आशा की लौ लिए हुए दिखाई देती है। कवि कहता है-

''दोस्तों, यह सदी बीत रही है
बीत रहे हैं सारे पहाड़ और नदियाँ
और हावड़ा का पुल
और हवाई जहाज के डैने
x x x
पर दोस्तों, हमें जीना होगा
जीना होगा बाघ के साथ
और बाघ के बिना भी जीना होगा।''[14]

कवि का अगला काव्य संग्रह है ''तालस्ताय और साइकिल'। इस संग्रह में कवि आधुनिकता के पतन और इसकी विसंगति की पहचान के साथ सभ्यता स्मृति और इतिहास से सर्जनात्मक संवाद करता है। कवि सभ्यता व बर्बरता के बीच छिड़े हुए विकट संघर्ष में मनुष्यता की तमाम उपलब्धियों, संचित ज्ञान नीतियों के नष्ट हो जाने की आशंका से त्रस्त है। संग्रह की कविता 'पाण्डुलिपियाँ' में कवि जब पाण्डुलिपियों पर 'धूल के कापीराइट पर एक मजबूत- ठप्पा' लगा होने की बात करता है तो उसके विषय में बहुत समय से चली आती हुई हमारी लापरवाही की ओर संकेत करता है। कविता में 'कापीराइट' शब्द उसको आधुनिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

''हालांकि ध्यान से देखें
तो सारी पाण्डुलिपियों पर
कहीं न कहीं लगा होता है
धूल के कापीराइट का
एक मजबूत ठप्पा।''[15]

कविता संग्रह में कवि सजग इतिहास बोध और चेतस मन के साथ सभ्यता व इतिहासबोध के सही मायनों की तलाश करता है। केदारनाथ सिंह यथार्थ के बाह्य विकिरणों के बजाय उसके आशयों व निष्कर्षों में अधिक रमते हैं। वह कविता में ऊँची से ऊँची उड़ान में भी अपने पाठकों को सहजतापूर्वक साथ रखते हैं। इतिहास की दुर्घटनाओं की चर्चा करते हुए वह किसी विलाप में नहीं डूबते अपितु मानवी जिजीविषा से युक्त करने के लिए उसमें गहरी चुनौती का भाव प्रकट करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 140-41
2. केदारनाथ सिंह, तीसरा सप्तक (वक्तव्य), अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ0सं0 125
3. केदारनाथ सिंह, रात, सं0 अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृ0सं0 135
4. केदारनाथ सिंह, रात, सं0 अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृ0सं0 125
5. केदारनाथ सिंह, अभी बिल्कुल अभी, पृ0सं0 25
6. केदारनाथ सिंह, नीला पत्थर, अभी बिल्कुल अभी, पृ0सं0 37
7. केदारनाथ सिंह, मुक्ति, जमीन पक रही है, पृ0सं0 66
8. नन्दकिशोर नवल, समकालीन काव्य यात्रा, पृ0सं0 141
9. केदारनाथ सिंह, शहर में रात, यहाँ से देखो, पृ0सं0 37
10. केदारनाथ सिंह, अकाल में सारस, पृ0सं0 23
11. केदारनाथ सिंह, एक और अकाल, अकाल में सारस, पृ0सं0 74
12. नंदकिशोर नवल, समकालीन काव्य यात्रा, पृ0सं0 155-56
13. केदारनाथ सिंह, लोरी, उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ, पृ0सं0 32
14. केदारनाथ सिंह, बाघ, पृ0सं0 54
15. केदारनाथ सिंह, पाण्डुलिपियाँ, तालस्ताय और साइकिल, पृ0सं0 19

●

साहित्यक रचनाओं के दूर-दर्शन द्वारा प्रसारण की सार्थकता पर डॉ० माधवेन्द्र नाथ दुबे की जिज्ञासाओं पर वरिष्ठ चिन्तक विद्वानों की प्रतिक्रियाऐं

डॉ0 माधवेन्द्र नाथ दुबे[*]

प्रश्न- एक ही भाषा के साहित्य की किसी एक विधा का उसी भाषा की किसी दूसरी विधा में रूपान्तरण, जैसे महाकाव्य का उपन्यास में, कहानी का प्रगीत में, गीति नाट्य का कहानी में, नाटक का कहानी में करना आदि-क्या उचित है?

उत्तर- एक ही भाषा के साहित्य की किसी एक विधा का उसी भाषा किसी दूसरी विधा में रूपान्तरण निरन्तर होता रहा है। मुख्यतः महाकाव्यों का उपन्यास विधा में रूपान्तरण हुआ है। प्रसिद्ध लेखक नरेन्द्र कोहली ने महाभारत, रामायण जैसे महाकाव्यों का रूपान्तरण उपन्यास विधा में किया है। यह रूपान्तरण करने वाले की क्षमता पर निर्भर करता है कि वह उसका रूपान्तरण बेहतर करता है या कि बद्तर कर डालता है।

नरेन्द्र कोहली ने महाकाव्यों के पात्रों को केन्द्र में रखकर कहानी को लिखा। दूसरे विद्वानों ने पुराने महाकाव्यों के कुछ पात्रों को लेकर लिखा है। जैसे- महाभारत के प्रमुख पात्र **कर्ण** और **द्रौपदी** पर अधिक लिखा गया है। द्रौपदी के चरित्र की जटिलता को आज का रचनाकार आज के सन्दर्भ में विकसित तो करता है, पर उसमें अपेक्षित कौशल दिखाई नहीं देता है। इसी प्रकार कर्ण का प्रसंग है। इसमें जाति की जटिलताओं को उसकी खराबी को रखने या व्यक्त करने की कोशिश आज का रचनाकार करता है। तो उसके रूपान्तरण का मतलब दिखायी देता है।

प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण के रूपान्तरण में लोगों की भावनाओं का शोषण किया गया है। इसी प्रकार महाभारत में अनेक जगह ऐसे प्रसंग हैं, जो आधुनिक समाज के द्वन्द्व को प्रदर्शित करते हैं। जो संवाद एवं पटकथा की दृष्टि से बेहतर है। पुरानी रचनाओं को दूसरे माध्यम में रूपान्तरित करने में व्यावसायिक दृष्टि की अपेक्षा कलात्मक दृष्टि को अधिक महत्व देने की आवश्यकता है।'

प्रश्न- रूपान्तरित विधा के अति प्रचलन से मूल विधा के अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर- कभी-कभी धारावाहिक के रूप में रूपान्तरण के कारण मूल-साहित्यिक रचनाओं की लोकप्रियता में इजाफा होता है। इसके साथ ही साहित्यिक रचनाओं का समसामायिक महत्व भी बढ़ता है। जैसे प्रसिद्ध रचनाकार भीष्म साहनी द्वारा रचित उपन्यास **तमस** को लेकर जो धारावाहिक प्रसारण हुआ उनके उपन्यास को गोविन्द निहलानी ने धारावाहिक में रूपान्तरित किया। इस रूपान्तरण में रचना का उद्देश्य ध्यान में रखा गया था। इसमें साथ ही कथा को दृश्यों में बदलने का काम निर्माता-निर्देशक का है। मूल रचना का उद्देश्य बदलना ही मुख्य सवाल बन जाता है। तमस धारावाहिक के प्रसारण के दौरान ही मूल कृति को लोकप्रियता हासिल हुई, जिसके कारण उसकी बिक्री पर भी असर दिखायी पड़ा।

प्रश्न- साहित्यिक विधाओं के वृत्तचित्रात्मक-प्रर्दशन से मूल-स्वरूप में क्या गुणात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते हैं?

उत्तर- साहित्यिक विधाओं के वृत्तचित्रात्मक-प्रर्दशन से मूल-स्वरूप में गुणात्मक और ऋणात्मक दोनों ही प्रकार के पहलू बन सकते हैं। जैसे प्रसिद्ध निर्माता निर्देशक गुलजार ने लेखक प्रेमचन्द की रचनाओं का जो रूपान्तरण किया है, जो अन्ततः रद्दी सिद्ध हुआ है। प्रेमचन्द्र की रचनाओं पर फिल्म बनी जैसे- **गोदान, गबन, कर्मभूमि** इनके रूपान्तरण के बाद भी लोगों को ये रचनाएँ तो याद रहीं। लेकिन फिल्मों को लोग भूले गये। सही निर्माता-निर्देशक द्वारा किया गया रूपान्तरण रचना का भला या बुरा दोनों कर सकता है।

प्रश्न- दूर-दर्शन पर क्रमिक (सीरियल)-प्रर्दशन से साहित्यिक कृति के मूल-स्वरूप के क्या धनात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते है?

उत्तर- पहले तो यह स्वतः सिद्ध यह है कि कोई भी मूल-रचना तो अपने स्वतन्त्र रूप में मौजूद है। प्रेमचन्द की फिल्में देखकर यह समझने की कोशिश नहीं होती है कि उसमें कहाँ कितनी जटिलता है। रचना के रूपान्तरण में कुछ भी जोड़ने या घटाने से कहानी की आत्मा बदलती है। साथ ही रचना के अर्थ का विस्तार करती है या संकोच करती यह महत्व-पूर्ण होता है। रचना के मूल भाव को अगर प्रदूषित नहीं करती उससे मूल-स्वरूप को लोकप्रियता बढ़ती है।

प्रश्न- साहित्यिक रचना के दूरदर्शन पर प्रदर्शन में किन विशेष सावधानियों की आवश्यकता है?

उत्तर- मुख्य रूप से साहित्य की ओर से, फिल्म की ओर विचार नहीं करना है। साहित्य का अपना स्वभाव होता है, ऐसे ही फिल्म का अपना अलग स्वभाव होता है। केवल एक के स्वभाव को दूसरे में बदलना महत्वपूर्ण होता है। साहित्यिक रचना की आत्मा या स्वभाव को अजर-अमर नहीं समझना चाहिए, बल्कि उसकी प्रस्तुति पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। प्रस्तुतिकरण में ईमानदारी बरतने की नितान्त आवश्यकता है।

---

* सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सन्त कीनाराम स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सोनभद्र

प्रश्न- दूरदर्शन पर प्रसारित आप द्वारा देखी गयी हिन्दी साहित्य की रचनाओं की उत्कृष्ता के सम्बन्ध में आप के निजी विचार क्या है?

उत्तर- मेरी दृष्टि से दूरदर्शन पर प्रसारित साहित्यक रचनाओं में तमस, नीम का पेड़, गण देवता, श्रीकांत आदि श्रेष्ठतम है।

डा0 इन्द्रनाथ चौधरी

(पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी केन्द्रीय विदेशी भाषा संस्थान हैदराबाद, पूर्व सचिव-साहित्य अकादमी नई-दिल्ली, पूर्व चेयरपरसन, इंडिया ऑफिस लाईब्रेरी लंदन)

प्रश्न- एक ही भाषा के साहित्य की किसी एक विधा का उसी भाषा की किसी दूसरी विधा में रूपान्तरण जैसे महाकाव्य का उपन्यास में, कहानी का प्रगीत में, गीति नाट्य का कहानी में, नाटक का कहानी में कराना आदि- क्या उचित है?

उत्तर- साहित्य की किसी एक विधा का उसी भाषा की किसी दूसरी विथा में रूपान्तरण अनुचित नहीं है। महाकाव्यों का उपन्यास में रूपान्तरण हम तभी कर सकते है, जब हम उपन्यास की रचना-पद्वति से पूरी तरह से परिचित हों, इसी तरह से हम कहानी का रूपान्तरण प्रगीत में कर सकते हैं, यदि हमें विधि की समझ हो। मन के भाव जिस प्रकार एक निश्चित रूप में प्रकट होते हैं। दूसरे रूप में ठीक उसी प्रकार के नहीं हो सकते हैं।

तीसरी बात यह उठती है, जैसे एक विचार आया उसका सम्बन्ध पाठक के साथ जुड़ता है। पाठक काल और देश के अनुसार अपनी विचार धाराओं के अनुसार उसकी व्याख्या करता है। यहाँ पर ध्वनि सिद्धान्त कार्य करता है इसके उपयोग से जहाँ वह मतलब को बदल देता है वहीं ध्वनि का उपयोग ही प्रधानता रखता है। यह मनोरंजक व्यंग्य भी हो सकता है। प्रमुख रूप से दो चीजों के कारण ध्वनि की प्रधानता रहती है। ध्वनि के स्वरूप-विचार से जूझ कर ही आप रूपान्तरण कर पाते है।

प्रश्न- रूपान्तरित विधा के अति प्रचलन से मूल विधा के अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ सकता हैं?

उत्तर- रूपान्तरण में हमें यह देखना चाहिए कि लेखक ने मूलतः क्या बात कही है। अगर हम उसे बचाकर रखें, जैसे-प्रेमचन्द की हम कोई कहानी उठाएँ तो प्रेमचन्द की कहानी में हम इस तरह की आजादी नहीं ले सकते। इसी तरह किसी अन्य भाषा के बड़े कहानीकार की किसी कृति के रूपान्तरण में आप वह आजादी नहीं ले सकते है। हमें यह देखना होता है कि आखिर वह कहानी कहीं-न-कहीं उसके मानस पटल पर भी एक बार घटित हुई होगी। जिसको उसने शब्द दिये होगें या शब्द देने से पहले वह घटित होती रही होगी। जिसको उसने शब्द देकर कहानी का रूप दिया है। यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि रचना की मूल-आत्मा क्या है? उसके मूल कत्थ्य क्या है? जो बहुत जरूरी है। जैसे आशापूर्णा देवी द्वारा रचित प्रथम प्रतिश्रुति में स्त्री-पात्रों के द्वंद्व एवं तत्कालीन समय-धारा में आते विचारों में बदलाव की आहट की सूचना देते है।

जिस प्रकार उपन्यास के धरातल पर पाठक, अपने एक अलग संसार की कल्पना से उपन्यास के पात्रों से स्वंय को जोड़कर देखता है। उसी तरह उसी उपन्यास को दूर-दर्शन में फिल्माकंन क पात्रों के साथ स्वयं को तभी जोड़ेगा जब उपन्यास और धारावाहिक की पटकथा में सामान्जस्य को ध्यान में रखते हुए निंमाता धारावाहिक की पटकथा तैयार करें। उपन्यास और धारावाहिक दोनों में एक विशेष अन्तर यह है कि उपन्यास पाठक को उसकी कल्पना भूमि से जोड़ता है। वहीं धारावाहिक में पटकथा-लेखक को यथार्थ स्वरूप में घटते हुए पर्दे पर दिखाना है, यहाँ सबसे महत्वपूर्ण तत्व ध्वनि एवं प्रकाश का इन्द्रधनुषीय प्रभाव होता है। जो पात्रों की संवेदना के साथ-साथ उसकी कल्पना को भी समयानुकूल बार-बार देख सकता है। जो उपन्यास के धरातल पर कम ही हो जाता है। ध्वनि का चक्र-व्यूह जहाँ उसे अपने में बाँधे रखता है। चाहे वह प्रकृति में होने वाले बादलों की गड़गड़ाहट हो, पानी का बरसना हो, कोई दर्द भरा गीत हो, या खुशी की अभिव्यक्ति हो, ध्वनि के मेल से उसमें विशेष रोचकता आ जाती है, वह उस ध्वनि के आलोक में स्वयं को उन पात्रों के साथ जुड़ा हुआ महसूस करने लगता हैं।

प्रश्न- साहित्यिक विधाओं के वृत्त-चित्रात्मक प्रर्दशन में मूल के स्वरूप में क्या गुणात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते हैं?

उत्तर- पटकथा-लेखक उपन्यास अथवा कहानी का रूपान्तरण करते समय आवेश बस अपनी संकल्पना को मूल-कृति से जोड़ने का प्रयास करता है। तो मूल-कृति को एक तरह जहाँ दर-किनार करता है, वहीं उसके मूल-भावों पर चोट करता है जिससे कृति को हानि पहुँचती है अतः किसी भी कृति को रूपान्तरित करते समय मूल भावों से बिना छेड़-छाड़ किये हुए रूपान्तरण की क्रिया को सम्पन्न करना चाहिए रूपान्तरण करते समय मूल-तत्वों पर बिना आघात किये हुए, उसे किस प्रकार की पटकथा के साँचे में ढाला जाये? इसका सही निर्धारण करना चाहिए। जिस तरह से पटकथाकार स्वर्गीय राही मासूम रजा ने अपने उपन्यास नीम का पेड़ का रूपान्तरण करते समय **बुधिया** नामक पात्र के चरित्र को बिना किसी रंजना के उतना ही प्रभावशाली बनाया जितना वह मूल कृति में था।

प्रश्न- दूरदर्शन पर क्रमिक (सीरियल) प्रदर्शन से साहित्यिक-कृति के मूल स्वरूप पर क्या धनात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते है?

उत्तर- जितनी तेजी से उपन्यास के चरित्रों का फिल्माकंन होता गया, उतनी ही तेजी के साथ उसमें दूसरे-दूसरे प्रकार के विचार भी आते गये। जैसे शरतचन्द्र के देवदास के साथ हुआ। पुरानी देवदास फिल्म में देवदास का चरित्र जितना सौम्य था वही आधुनिक देवदास फिल्म में उपन्यासों के पात्रों के साथ जिस प्रकार की छेड़-छाड़ की गयी, उससे पात्रों का स्वरूप तो विकृत हुआ ही साथ-ही-साथ

उपन्यास के मूल-स्वरूप को भी क्षति पहुँची। यही कारण है कि आज का पटकथा लेखक उस समसामायिक-परिवेश से अनिभिज्ञ होता चला आ रहा है। जिस समसामायिक-परिवेश में लेखक ने अपनी कृति के पात्रों की अवधारणा की थी। उस समसामायिक-परिवेश को सामने रखकर आज के सामाजिक-परिवेश के कैनवास में उन पात्रों को फिट करने का असफल प्रयास करता है। जिसके कारण वह न तो मूल कृति के साथ-न्याय कर पाता है, और न ही पात्रों के साथ ही।

प्रश्न- साहित्यिक-रचना के दूर-दर्शन पर प्रर्दशन में किन विशेष सावधानियों की आवश्यकता है?

उत्तर- साहित्यिक-रचना के दूर-दर्शन पर प्रर्दशन में किसी धर्म जाति, देश, व्यक्ति-विशेष, राजनैतिक दल या सरकारी-नीति का अनावश्यक उल्लेख करने या टिप्पणी बगैरह अराजक ढंग से करना नियमों के विरूद्ध है। किसी प्रकार की विकलागंता विभिन्न भाषा-भाषी लोगों के बोलने के ढंग, गाली-गलौज की अनुमति नहीं है। प्रर्दशित-कार्यक्रमों के मँहगें सैट, वेशभूषा, सजावट और आडम्बर-युक्त विषयों को न चुना जाये। दृश्यों की संख्या गैर जरूरी ढंग से मत बढ़ाइये। छोटे-छोटे दृश्य नाटक की लय बिगाड़ते हैं। आधे घन्टे के नाटक में तीन या चार दृश्यों के कथानक का निरूपण आसानी से प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। संवादों को बोझिल मत बनाइये। दृश्य-तत्व द्वारा अपनी बात कहिए। संवाद-लेखन में भाषा पात्रानुकूल होने के साथ सर्वाग्राही भी होनी चाहिए।

चरित्रों के विकास, कलाकारों के अभिनय का उपयोग और संवादों के अतिरिक्त एक्शन और विजुअल के प्रयोग, सब मिलकर दूरदर्शन- नाटक के पात्रों की संख्या सीमित कने के लिये दबाव डालते हैं। अवधि की सीमा के कारण मुख्य-कथानक के अधिक विस्तार पूर्वक निंवाह की गुजांइश होती है। धारावाहिक की तरह नाटकों मे उपकथा या अति-कथाओं के विकास की सम्भावना नहीं होती हैं।

फिल्म और दूरदर्शन-धारावाहिक में कथा निरूपण के स्तर में भी अन्तर होता है। फिल्म की कहानी नायक या नायिका प्रधान होती है। जिसका एक लक्ष्य होता है। लक्ष्य की प्राप्ति में कई बाधाएँ होती है जिससे जूझ-कर वह लक्ष्य तक पहुँचता है। कहानी का आदि-मध्य और अंत होता है। वहीं दूरदर्शन-धारावाहिक की कहानी में कई-कई नायक-नायिकाएँ होती है। वह एक निश्चित-अवधि में पूरी दिखा देने के लिये अथवा पात्रों की जिन्दगी का एक निश्चित कालक्रम ही दर्शाने के लिये ही नहीं लिखी जाती। उसका कोई सुनिश्चित अंत नहीं होता है। फिल्म में उपकथाएँ कम-से-कम रखी जाती है। उन्हें मूल-कथा में खूबसूरती से पिरोआ जाता है। वहीं दूरदर्शन-धारावाहिक में एक दूसरे से जुड़ती बिछुड़ती कई-कई कथा धाराएँ होती है। जिनमें से कभी किसी को प्रमुखता का दर्जा मिल जाता है तो कभी किसी को। दूसरे शब्दों में हर कथा महत्वपूर्ण होती है और किसी भी समय आ सकती है।

धारावाहिक में लम्बी और जटिल सी कहानी चाहिए। ऐसे संवादों की भरमार भी होनी चाहिए। जिनसे चरित्र-चित्रण होता है। सूचनाएँ मिलती है और हर दृश्य में नाटक और कौतूहल पैदा होता हो। दूरदर्शन-धारावाहिक इस मायने में उपन्यास और मंच के नाटक और फिल्म की विधाओं को मिलाकर बनायी गयी चाट है जिसमें फिल्म का अंश सबसे कम होता है। दूरदर्शन-धारावाहिक में इस बात का ध्यान रखना होता है कि ब्रेक से पहले ऐसा कुछ हो, कि दर्शक के मन में आगे देखने का कौतूहल बना रहे। हर एपिसोड के अंत में निश्चय ही ऐसा नाटकीय मोड़ प्रस्तुत हो, कि दर्शक बेसब्री से अगले एपिसोड का इन्तजार करें।

प्रश्न- दूरदर्शन पर प्रसारित आप द्वारा देखी गयी हिन्दू-साहित्य की रचनाओं की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में आप के निजी विचार क्या है?

उत्तर- मेरी दृष्टि में दूरदर्शन पर प्रसारित साहत्यक रचनाओं में श्रेष्ठतम कृति **श्रीकांत** और **भूतनाथ** है। इनमें मूल कृति से कम से कम छेड़-छाड़ हुई है।

श्री देवशंकर झा 'नवीन'-

(सम्पादक हिन्दी अनुभाग) नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली

प्रश्न- एक ही भाषा के साहित्य की किसी एक विधा का उसी भाषा की किसी दूसरी विघा में रूपान्तरण जैसे महाकाव्य का उपन्यास में, कहानी का प्रगीत में, गीतिनाट्य का कहानी में, नाटक का कहानी में करना आदि क्या उचित है?

उत्तर- दूरदर्शन, रेडियो पर हो रहे रूपान्तरणों में समान्यतः कहानी और उपन्यास इन का सामान्य स्थिति में नाटकों में रूपान्तरण हो रहा है। नाटक का कहानी में या गीति-नाट्य का उपन्यास में रूपान्तरण, यही दिखाता है। रामायण, रामचरित मानस, महाभारत ग्रन्थ की भाषा-टीका दिखाती है अगर इसे महाकाव्य माने तो इनकी टीकाओं का ही प्रसारण कर दिया गया है। टीका रूपान्तरण नहीं है, फिर भी रूपान्तरण का जिस रूप में हुआ है, वह भी सराहनीय है। डा0 प्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध उपन्यास ''**रामदास की पोथा**'' फणीश्वर रेणु के उपन्यास ''**मैला-आँचल**'' भीष्म साहनी का उपन्यास तमस, को धारावाहिक के रूप में दिखाया गया है।

इन रूपान्तरणों में महाकाव्य का अर्थ ही बताया जा सकता है, उससे व्यक्त होने वाली ध्वनि का नहीं। उदाहरण के लिये राजकमल चौधरी के अनुसार यह आदमी को तोड़ती नहीं है, बल्कि उसे कमर के बल झुका देती है। जैसे – ''**रामदास की पोथा**'' उपन्यास में है। ''**मेरी कमर** की हड्डी में चोट है'' या ''वियतनाम में जो युद्ध **चल रहा है**'' इसकी हम व्याख्या ही कर सकते हैं। इसका रूपान्तरण करना असम्भव है।

उपन्यास और कहानी का रूपान्तरण नाटक में हो रहा है। ऐसा करते समय अगर नाटक की पटकथा कमजोर है और निर्देशक

समझदार है तो बहुत ज्यादा असर नहीं दिखेगा। हर विधा की अपनी सीमाएँ होती है। महाकाव्य का कथासार में, कहानी का प्रगीत में रूपान्तरण होता है, आज की कहानी में कहीं-कहीं कथानक नहीं है। यह बनावट से लोकप्रिय हो गयी है। आज की कहानी में हम शब्द में बीच में जो बिन्दु-बिन्दु रखते हैं, कॉमा, सेमीकॉलम, डैश-हाईफन देते है, उसमें भी कहानी का अंश होता है। जिसकी व्याख्या की जा सकती है, किन्तु रूपान्तरण नहीं।

प्रश्न- रूपान्तरति विधा के अति-प्रचलित से मूल विधा के अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?

उत्तर- उपन्यास और कहानी का नाटक में रूपान्तरण हो रहा है। पटकथाकार, निर्माता-निर्देशक सभी का व्यक्तित्व ठीक रहे, तो रचना पर ठीक असर पड़ता है। यह असर हम **'तीसरी-कसम'** फिल्म में देख पाते है। फणीश्वरनाथ रेणु के समय सभी ठीक थे। रेणु जी के द्वारा खुद रूचि लेने के कारण फिल्म के अनुसार उन्होंने अपनी रचना में कुछ रद्दों-बदल किया था। जो काफी प्रभावशाली रहा था। इसके बाद के नाटककार और पटकथा-लेखक अपने विवेक की सर्वोच्च के गुरूर में रहते है। निर्माता-निर्देशक धारावाहिक के निर्माण के समय बाजार को देखते है। इसके लिए वे कहानी के मूल में परिवर्तन करते रहते हैं, उन्हें तो लाभ मिलना चाहिए, कहानी भले जाए चूल्हेभाड़ में।

प्रश्न- साहित्यिक विधाओं के वृन्तचित्रात्मक प्रर्दशन में मूल के स्वरूप में क्या गुणात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते हैं?

उत्तर- पटकथा-लेखक और निर्देशक दोनों की सीमाएँ हैं। निर्माता-निर्देशक मूल-रचना का ख्याल नहीं रखते हैं। वह लेखक की आत्मा को समझने की कोशिश नहीं करते है। वे केवल अपना लाभ देखते है।, हीरो, हीरोइन या अपना लाभ ही देखते है, अतएव वे इस फितरत में रहते है कि कैसे वे पटकथा को लेकर जनता के बीच रोचकता पैदा कर लोकप्रियता हासिल करें और उनकी भावुकता का दोहन कर अधिकाधिक लाभ उठा सकें।

प्रश्न- दूरदर्शन पर धारावाहिक के रूप प्रर्दशन से साहित्यिक कृति के मूल-रूप के क्या धनात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते हैं?

उत्तर- प्रसिद्ध उपन्यास **तमस, मैला-आंचल, गण-देवता, कब तक पुकारूँ, नीम का पेड़** आदि पर दूरदर्शन-धारावाहिक का निर्माण हुआ। जिनके प्रसारण के उपरान्त इनके लेखकों की किताबों की बिक्री पर भी असर पड़ा है। उनमें निरन्तर वृद्धि होती गयी है। फिर भी सही स्थिति यह है, कि प्रसिद्ध साहित्यिक-कृति का बहुत सारा अंश ये लोग (पटकथा लेखक और निर्देशक) लेते ही नही हैं। ऐसी चीजे. जो बाजारू नहीं है। उन्हें ये लोग नहीं लेते। धारावाहिक की टी.आर.पी. कैसे बढ़ायी जाये? इसी ओर इनका सारा ध्यान होता है।

विभिन्न विषयों पर निर्माता-निर्देशक क्या सोचता है? वही से प्रदूषण शुरू होता है। हम दूरदर्शन में प्रस्ताव दे भी तो, जो कवि उपन्यासकार कहानीकार, नाटककार, जो अभी अनाम है, अपरचित हैं, प्रभावशाली पदों पर नही है उनको पटकथा लेखक के रूप में मान्यता नही मिलेगी। रचना तब और भी महत्वहीन हो जायेगी। जिस समय उसने बाजार का लक्ष्य तय कर लिया होता है कि मुझे वहाँ जाना है। हम रचना को अधिक जीवंत कर सकते है, यदि यह लक्ष्य रहे कि हमें कितना पाना है? तो हम उसे पा सकते है, किन्तु जब धन कमाना ही लक्ष्य हो तो रचना की गुणवत्ता की फिक्र कहा. होगी?

प्रश्न- साहित्यिक रचना के दूरदर्शन पर प्रर्दशन के किन विशेष सावधानियों की आवश्यकता है?

उत्तर- पटकथा-लेखक को यह सावधानी रखनी चाहिए कि संवाद के रूप में उसमें जो लिखा है, उसे रहने दे और वातावरण-निर्माण के लिये मूल-लेखक ने जिस तरह की परिस्थिति की आवश्यकता बताई है, उसे समय के साथ बदलना चाहिए। भाषा और परिवेश को बदलने की आवश्यकता नहीं है। काल और पात्र की विश्वसनीयता जरूरी है, जिससे कहानी की आत्मा बनी रहे।

प्रश्न- दूरदर्शन पर प्रसारित आप द्वारा देखी गई, हिन्दी-साहित्य की रचनाओं की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में आपके निजी विचार क्या है?

उत्तर- 'तीसरी कसम' श्रेष्ट रचना थी, परन्तु उसके ओडियो-विजुअल रूप से बेहतर है उसकी मूल कृति **'मारे गये गुलफाम'** किताब पढ़ना जो अभी भी फिल्म से बेहतर लगेगा। दूरदर्शन पर जिन धारावाहिकों का प्रसारण हुआ है। उन्हें साहित्यिक-दृष्टि से दृष्टिगत रखते हुए हमें जोखिम उठाना पड़ता है। उस कृति को देखने के लिये वहाँ न तो पटकथा-लेखन, न सही निर्माता, न सही निर्देशन होता है। वहाँ पर कैमरामैन भी अपनी भूमिका का सही निंवाह नहीं करते हैं।

प्रो0 रामजन्म शर्मा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.आर.टी.)

प्रश्न- एक ही भाषा के साहित्य की किसी विधा का उसी भाषा की किसी दूसरी विधा में रूपान्तरण, जैसे महाकाव्य का उपन्यास में कहानी का प्रगीत में, गीति नाट्य का कहानी में, नाटक का कहानी में कराना आदि क्या उचित है।?

उत्तर- किसी भी भाषा साहित्य की अनेक विधाओं का अपना अलग-अलग महत्व होता है। एक ही भाषा के साहित्य का उसी विशेष भाषा की किसी दूसरी विधा में रूपान्तरण एक महत्वपूर्ण कार्य है। हम पाठक या प्रेक्षक के पास किसी भी विधा के मूल-कत्थ्य को सहज रूप में पहुँचाने के लिये किसी भी माध्यम का

उपयोग कर सकते है। कई लोग उपन्यास पढ़ने के बजाए नाटक विधा में रूचि लेते है। इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि रूपान्तरण करते समय मूल-कत्थ्य से हटा न जाये। मेरी दृष्टि में रूपान्तरण तो होना ही चाहिए।

प्रश्न- रूपान्तरित विधा के अति प्रचलन से मूल-विधा के आस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ सकता हैं?

उत्तर- रूपान्तरण विद्या के अति प्रचलन से मूल-विधा के अस्तित्व पर प्रभाव तो पड़ता ही है। क्योंकि लेखक ने जिस मूल विधा में लिखा है, रूपान्तरण करते समय मूल-कत्थ्य से पटकथाकार अक्सर भटक भी जाता है। उसी बात को रूपान्तरित करने में भाषा तथा प्रस्तुतिकरण के स्तर पर भी काफी प्रभाव पड़ता है। विधाओं के बीच वृत्तचित्र बनाते समय पटकथा-लेखक और निर्देशक हमेशा यह ध्यान रखते हैं, कि वृत्तचित्र में दिया गया। कत्थ्य साहित्यक-विधा से अलग न हो जाए। बड़े उपन्यास, कहानी या अन्य विद्याओं पर वृत्तचित्र बनाते समय कवल मूल-कत्थ्य ही लेना पड़ता है। साहित्यिक विधाओं पर वृत्तचित्र बनाते समय सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है, कि मूल-कथा के सूत्र टूटने न पाये और वृत्तचित्र देखकर दर्शकों को ऐसा लगे कि मूल-कत्थ्य की कोई चीज वृत्तचित्र से गायब है।

कई बार साहित्यिक-विधाओं पर वृत्तचित्र बनाते समय वृत्तचित्र की डयूरेशन पर भी निंभर करता है कि कथा या उपन्यास के किन पक्षों को सम्पदित किया जाये? मेरी दृष्टि में कई बार चीजों को छोड़ना पड़ता है, ताकि वृत्तचित्र में नीरसता न आने पाए।

प्रश्न- साहित्यिक-विधाओं के वृत्तचित्रात्मक प्रर्दशन में मूल के स्वरूप में क्या गुणात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते है?

उत्तर- दूरदर्शन के धारावाहिक प्रर्दशन से साहित्यिक-कृति के मूल स्वरूप के धनात्मक या ऋणात्मक दोनों पहलू आते है। दोनों ही पहलू बन सकते है। कई बड़े निर्देशक ने इस तरह की शरारत की है। इस कार्य से साहित्यक कृति के मूल स्वरूप की क्षति होती है, कब तक पुकारू, अथवा भीष्म साहनी के तमस को आप इस दृष्टि से देख सकते है।

प्रश्न- साहित्यक रचना के दूरदर्शन पर प्रदर्शन में किन विशेष सावधनियों की आवश्यकता है।

उत्तर- साहित्यक रचना के दूरदर्शन पर प्रर्दशन में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि किसी भी जाति वर्ण विशेष, सम्प्रदाय आदि पर निगेटिव टिप्पणी न हो भारत की साझी संस्कृति एवं विरासत पर उस धारावाहिक में चोट न किया गया हो। सामाजिक मर्यादा और परिवारिक सम्बन्धों को ध्यान रखना आवश्यक होता है। सैक्स का भोड़ा प्रर्दशन दर्शक को टी.वी. बन्द करने पर करता है दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले धारावाहिक बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे परिवार की तीन या चार पीड़ी एक साथ मिलकर देख सके।

प्रश्न- दूरदर्शन पर प्रसारित, आप द्वारा देखी गई, हिन्दी साहित्य की रचनाओं की उत्कृष्ठाा के सम्बन्ध में आप के निजी विचार क्या है?

उत्तर- दूरदर्शन पर अब तक जो धारावाहिक प्रसारित हुये है उनमें **तमस, कब तक पुकारू, नीम का पेड़ मैला-आंचल** आदि मेरी दृष्टि में सर्वोतम है। इन धारावाहिकों में साहित्यिक रचनाओं की दृष्टि से छेड़-छाड़ न्यूनतम हुई है।

प्रश्न- कोई विशेष दिशा-निर्देश जो श्रीमान मुझ जैसे अल्पज्ञ शोधार्थी को देना चाहें।

उत्तर- साहित्यिक कृतियों के दूरदर्शन प्रसारण के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए यह कहना अप्रसांगिक नहीं होगा कि जिन धारावाहिकों में, भारतीय समाज की छवि अवश्य देखने को मिले। उनमें दूर-दराज के गाँवों में बैठे लोगों की समस्या पर प्रकाश डालनेवाले साहित्यिक कृतियों के सीरियल प्रसारित होने चाहिए। दलित, आदिवासी, स्त्रियों की समस्याओं से सम्बन्धित दूरदर्शन-धारावाहिक बनाये और प्रसारित किए जाने चाहिए। ऐसा मैं इसलिए कर रहा हूँ कि मुझे विश्वास है कि आप आगे चलकर स्वयं कई धारावाहिकों का निर्माण करेगें।

प्रायः ग्रामीण-कृषक-जीवन से सम्बन्धित बहुत कम सीरियल देखने को मिलते है। किसी भी सीरियल में नैतिक शिक्षा सम्बन्धित विचार धारा को सीधे-सीधे दिखाए जाने पर दर्शक के मन में उबाऊ-पन आता है। अतः सीरियल बनाते समय अच्छे लेखक की कहानी का चुनाव करना चाहिए। भारतीय भाषाओं के बड़े लेखक लक्ष्मी शिव शंकर पिल्लई, सुनील गंगोपाध्याय, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि की रचनाओं पर सीरियल बनाकर दूरदर्शन पर प्रसारित करने चाहिए। आज जेसे युवकों से आशा की जानी चाहिए की आज के प्रसारणों की कमियों को देखते हुए आगे आप लोग भले प्रसारण करायेगें।

साहित्यिक कृतियों के दूरदर्शन-प्रसारण पर दर्शको एवं लेखकों की प्रतिक्रियायें

श्री अमरनाथ 'अमर'- (कार्यक्रम अधियासी निर्माता-निर्देशक भारतीय दूरदर्शन) केन्द्र नई दिल्ली

प्रश्न- एक ही भाषा के साहित्य की किसी एक विधा का उसी भाषा की किसी दूसरी विधा में रूपान्तरण जैसे-महाकाव्य का उपन्यास में, कहानी का प्रगीत में, गीति-नाट्य का कहानी में, नाटक का कहानी में करना क्या उचित है?

उत्तर- एक ही भाषा के साहित्य की एक विधा में दूसरी विधा में रूपान्तरण उचित है। सच तो यह है, कि शिक्षा, गरीबी-अमीरी, जानने की इच्छा, पढ़ने की लगन तथा दिलचस्पी की जहाँ तक बाज है, तो इसमें विभिन्नता है। किसी भी अमीर के घर में किताबों की

विभिन्नता हो सकती है और किसी भी गरीब के घर में आर्थिक अभाव के बावजूद पढ़ने की लगन और उत्कण्ठा हो सकती है, जिसे वह दूर-दूर के पुस्तकालयों और वाचनालयों में जाकर या मित्रों की सहायता से पूरी कर सकता है।

जहाँ तक किसी उपन्यास या कहानी के टेलीफिल्म, फिल्म या धारावाहिक के रूप में रूपान्तरित विधा का प्रश्न है, तो यह अपने आप में उचित है, क्योंकि आप फिल्मों की बात करेगें, तो बहुत सारी फिल्मों को जन-जन ने पहचाना और स्वीकारा है। उदाहरण के लिये **प्रेमचन्द के गबन, शतरंज के खिलाड़ी** पर बनी फिल्में फणीश्वर नाथ रेणु की **मारे गये गुलफाम** पर बनी फिल्म **तीसरी कसम,** भगवती चरण वर्मा के उपन्यास पर बनी फिल्म **चित्रलेखा** आदि। अक्सर यह आशंका जताई जाती है कि फिल्मों में मूल-कहानी की आत्मा को मार दिया जाता है, लेकिन इन फिल्मों को देखकर ऐसा नहीं लगता। बल्कि इन फिल्मों ने मूल कहानी या उपन्यास को और भी प्रतिष्ठित किया। जिससे सिर्फ साहित्यकारों या बुद्धिजीवियों तक यह कहानी सीमित नहीं रही। उनका विस्तार हुआ।

फिल्मों के अलावा यही बात दूरदर्शन पर भी लागू होती है। जहाँ तक दूरदर्शन की बात है, तो दूरदर्शन में **रामायण, महाभारत, हमलोग, बुनियाद, तमस, भारत एक खोज, निर्मला, श्रीकांत** आदि कृतियों पर टेलीफिल्मों या धारावाहिकों का र्निमाण हुआ, जिससे इन कृतियों की लोकप्रियता न केवल बढ़ी बल्कि वह जन-जन में लोकप्रिय भी हो गई। इसी से आज भी साहित्यकारों की कृतियों पर दूरदर्शन द्वारा टेलीफिल्मों और धारावाहिकों का निर्माण जारी है।

प्रश्न- रूपान्तरति विधा के अति प्रचलन से मूल विधा के अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है।

उत्तर- वैसे तो उपयुर्क्त कृतियों पर बनी फिल्मों, धारावाहिकों से स्पष्ट होता है कि इन कृतियों के रूपान्तरण के बाद भी, इनके मूल-अस्तित्व पर कोई खतरा नहीं आया। फिर भी इसके प्रतिलोगों में एक आशंका बनी रहती है। कभी-कभी इन कृतियों के मूल से छेड़-छाड़ की शिकायत भी मिलती रहती है। ऐसे उदाहरण फिल्मों के अलावा धारावाहिकों में भी सुनने को मिलते हैं।

प्रश्न- साहित्यक विधाओं में वृत्त चित्रात्मक प्रर्दशन में मूल के स्वरूप में क्या गुणात्मक या ऋणातमक पहलू बन सकते हैं?

प्रतिक्रियाओं के इस अध्ययन के लिए व्यापक स्तर अनेका-नेक लोगों से संम्पर्क किया गया। अनावश्यक विस्तार से बॅचने और उपयोगी तत्यों को भँली-भाति प्रस्तुत करने के लिए केवल उन्हीं गणमान्य और प्रखर मेधा के अध्ययनशील लोगों के प्रतिक्रिया को ही यहाँ प्रस्तुत करना श्रेयस्कर समझा गया अतः उसी के अनुरूप इस अध्याय में प्रतिक्रियाएँ संग्रहित की गई है- शोधार्थी

निर्माता-निर्देशक और पटकथा-लेखक दोनों की अपनी सीमायें होती है। लेकिन लाभ उठाने की चाह के चलते निर्माता-निर्देशक कही-कही लेखक की रचना की आत्मा को सुरक्षित नहीं कर पाते है। कहानी में कुछ नया जोड़ने और घटाने से कहानी की आत्मा बदल जाती है।

प्रश्न- दूरदर्शन पर धारावाहिकों के प्रर्दशन से साहित्यक-कृतियों के मूल-रूप के क्या धनात्मक या ऋणात्मक पहलू बन सकते है?

उत्तर- साहित्यक कृतियों का अपना एक आत्मा बदल जाती है। इसमें कुछ जोड़ने या घटाने से कहानी की आत्मा बदल जाती है। रचना के अर्थ का विस्तार अथवा तिरस्कार भी करती है। निर्माता अपने लाभ के चलते कहानी के मूल से छेड़-छाड़ करते है। जिसके चलते मूल-कृति को क्षति पहुँचती है। धारावाहिक बनाते समय हमें ध्यान रखना चाहिए कि मूल-कृति से कम-से-कम छेड़-छाड़ हो। प्रस्तुतिकरण प्रभावशाली हो। विषय से अलग कोई संवाद न हो। पात्रों की अदाकारी में किसी तरह की नाटकीयता से बचा जाए।

प्रश्न- साहित्यक-रचना के दूर-दर्शन पर प्रर्दशन में किन विशेष सावधानियों की आवश्यकता है?

उत्तर- दूरदर्शन पर किसी भी कृति पर टेलीफिल्म या धारावाहिक बनाने के क्रम में सबसे पहला ध्यान तो यही रहात है कि उनमें मूल से छेड़-छाड़ न हो, प्रस्तुति प्रभावशाली हो, पात्रों की अदायगी में किसी तरह की नाटकीयता से बचाव किया जाय। अत्यन्त आवश्यक होने पा भी जोड़-घटाओं या परिवर्तन-परिवर्द्धन किया जाए।

प्रश्न- दूरदर्शन पर प्रसारित, की गयी तथा आप द्वारा देखी गई हिन्दी साहित्य की रचनाओं की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में आप के निजी विचार क्या है?

उत्तर- इतिहास साक्षी है कि दूरदर्शन पर हिन्दी-साहित्यक-कृतियों पर बनी टेलीफिल्मों और धारावाहिकों का अपनी उत्कृष्ठता के साथ जर्बदस्त सम्बन्ध रहा है। चाहे बात **रामायण, महाभारत, चाणक्य, तमस, मैला-आंचल, श्रीकांत** या अन्य धारावाहिक की भी रही हो। हर दृष्टि से ये प्रस्तुतियाँ उत्कृष्ट थी। रामायण और महाभारत ने तो भारतीय-जीवन-पद्वति की परम्परा को न केवल फिर से पुर्नजागरित किया। बल्कि पुनःस्थापित भी किया है। रामायण और महाभारत दोनों की भाषा-शैली न केवल साहित्यक थी, बल्कि एक हद तक क्लिष्ट भी थी। लेकिन इसे प्रबुद्ध वर्ग के साथ-साथ, मजदूरों-किसानों-तथा आम जनता द्वारा भी उतना ही पसन्द किया गया। यहाँ तक कि उत्तर भारतीय रूझानों से अपरचित रहने वाले दक्षिण भारतीयों द्वारा भी इसे पसन्द किया गया। एक तरह से ये धारावाहिक हिन्दी-भाषा के प्रचार-प्रसार का काम कर गये। जो किसी भी दूसरे औपचारिक तरीके से सम्भव नहीं था। इन धारावाहिकों ने उत्तर-भारतीयों और दक्षिण-भारतीयों में भाषायी-सद्भावना को न केवल स्थापित किया, बल्कि इसे जन-जन तक पहुँचाया। ये

धारावाहिक समसमायिक थे, पारम्परिक थे। प्रासंगिक होने के कारण यही इनकी लोकप्रियता का मूल आधार था।

प्रश्न- कोई विशेष दिशा-निर्देश जो श्रीमान मुझ जैसे अबोध शोधार्थी को देना चाहे।

उत्तर- देखो भाई दूरदर्शन जनहित का माध्यम है। इसके सारे कार्यक्रम लोक-सेवा के रूप में प्रसारित होते है। शायद इसीलिये इसे फैमिली-चैनल कहा जाता है। आज जहाँ अनेकों चैनलों पर अपराध, ज्योतिष,भूत-प्रेत आदि के कार्यक्रम बड़े चाव से परोसे जाते है, वहाँ दूरदर्शन आज भी जनहित में उन कार्यक्रमों को ही दिखाना पसन्द करता है, जिसमें लोक-हित, जीवन-मूल्य और राष्ट्र-हित सर्वोपरि हो। इसमें हर तरह के साहित्यिक कार्यक्रम शामिल किए जाते है। आज भी दूरदर्शन पर इन टेलीफिल्मों और धारावाहिकों को बनना गलातार जारी है, और यही बात साहित्य के लिये शुभ संकेत है। आप जैसे नवयुवक शोधार्थी से अपेक्षा है कि वे जन-जन में यह भावना जगाऐं कि भोड़े-भँड़ती युक्त कार्यक्रमों की जगह लोग देश की समस्याओं का समाधान करने वाले तथा प्रगति के पथ पर ले जाने वाले कार्यक्रमों के प्रति सजग बनें।

श्री वीरेन्द्र कुमार बरनवाल (पूर्व मुख्य आयकर आयुक्त एवं पटकथा-लेखक-मुम्बई)

प्रश्न- भावों-विचारों के अभिव्यक्तीकरण के जो माध्यम-मुद्रण-माध्यम (प्रिंट मीडिया) और वैद्युतिक माध्यम (इलैक्ट्रानिक मीडिया) आज के जमाने में बहु प्रचलित है, भारत के आम आदमी तक अपने भावों-विचारों को पहुँचाने के लिए उनमें से आप अपनी रूचि में किस माध्यम को वरीयता देंगे और क्यों?

उत्तर- इलैक्ट्रा-मीडिया (वैद्युतिक माध्यम) के माध्यम से बहुत सामान्य से विचारों का सम्प्रेषण ही सम्भव है। गम्भीरतर विचारों के लिये निश्चय ही मुद्रण-माध्यम (प्रिंट मीडिया) को ही वरीयता देनी होगी। क्योंकि आप इस माध्यम के द्वारा अपने विचारों को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ सम्प्रेषित कर पाते है।

प्रश्न- रचियताओं द्वारा रची गयी, साहित्यिक-कृतियाँ-पत्र-पत्रिकाएँ तथा सामान्य-पुस्तकों के माध्यम से जब एक बार जनता के सामने सम्प्रेषित की जा चुकी होती है, तब उसके बाद इन मौद्रिक-माध्यमों में भी रचियता को आप अपनी पूर्व-परिचित रचनाओं में परिवर्तन, परिवर्द्धन, संक्षेपण, प्रक्षेपण, सुधार-परिष्कार आदि करने देना स्वीकार करेंगे?

उत्तर- कोई भी रचना छपने के बाद जब इलैक्ट्रानिक-मीडिया के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है, तो माध्यम की जरूरतों के हिसाब से निश्चय ही उसमें कुछ जरूरी परिवर्तन-परिवर्द्धन की और सम्पादन की आवश्यकता होती है। पुस्तक के माध्यम से रचना का मंच, पाठक का मनोमष्तिक होता है, जबकि इल्क्ट्रनिक-मीडिया के माध्यम से स्थूल दृश्यात्मक (विजुअल) प्रस्तुति के समय, सम्प्रेषण के लिये रचनात्मकता की कई और टेक्नीक्स होती है। बिम्ब, प्रतीक, पार्श्व-संगीत, पात्रों के मनोभावों की मुख-मुद्रा और शरीर-भाषा (बॉडी लैग्वेंज) के जरिये अभिव्यक्ति करने में रचना के मूल रूप से थोड़ी छेड़-छाड़ हो ही जाती है, क्योंकि ऐसा किये बिना वह सम्भव नही है।

प्रश्न- रचियता स्वयं अगर अपनी रचनाओं में ज़रा भी हेर-फेर नही कर सकता, तो ऐसी स्थिति में, माध्यम-परिवर्तन, अर्थात् मौद्रिक-माध्यम (प्रिंट मीडिया) से वैद्युतिक-माध्यम (इलैक्ट्रानिक-मीडिया), रेडियो, फिल्म, दूरदर्शन पर प्रसारित होने के लिये मूल रचनाकार तो क्या साधारण-से-साधारण निर्माता, निर्देशक-पटकथा लेखक द्वारा मनचाहा परिवर्तन कर देना क्या उचित है?

उत्तर- पटकथा-लेखकों के अपने-अपने बौद्धिक स्तर होते है और अलग-अलग रचनात्मक समझ होती है। चाहे नया साधारण पटकथा लेखक हो अथवा सिद्धहस्त अनुभवी पटकथा-लेखक हो। उसे यथा-संम्भव अगर रचनाकार उपलब्ध हैं, तो उससे माध्यम की विवशता को ध्यान में रखते हुए परामर्श अवश्य करनी चाहिए। मूलकृति में पटकथा लेखन के समय परिवर्तन, परिवर्द्धन और सम्पादन यदि उपलब्ध रचनाकार की सहमति और समझ के साथ हो, तो निश्चय ही प्रस्तुति अधिक प्रभावी बन सकती है।

प्रश्न- दूर-दर्शन रेडियों से प्रसारित गम्भीर-से-गम्भीर कार्यक्रमों के बीच बेतुके-बेमोल जोकरई, करते व्यावसायिक-विज्ञापनों की भरमार-जैसे कि प्रसारित हो रही कथा में करूणार्द्र-मृत्य के दृश्य के तुरन्त बाद खुशी के बम फोड़ते-भौड़े नाच-गान करते व्यावसायिक कार्यक्रमों से प्रसारण में जो व्यवधान आता है, उसके सम्बन्ध में आपके क्या विचार है।

उत्तर- इस प्रकार के भौड़े व्यावसायिक विज्ञापन दरअसल रस को भंग कर देने के जिम्मेदार है। लेकिन शायद रचनाकारों और संवेदनशील दर्शकों की हर संवेदना के बावजूद इस प्रकार की विज्ञापनों से फिलहाल मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं पड़ता है।

प्रश्न- रेडियो-दूरदर्शन पर साहित्यिक कृतियों के जो प्रसारण आप सुन-देख चुके है, उनमें उनके रचनात्मक मूलरूप या मौद्रिक-माध्यम (प्रिंट मीडिया) से प्रसारित मूलरूप के साथ किए गये प्रसारणों के उन पक्षों के सम्बन्ध में कुछ बतलाएँ, जहाँ वे-मूल के अनुरूप लगने लगे या मूल से उत्कृष्ट लगे या मूल से महा निकृष्ट लगे।

उत्तर- जहाँ तक मुझे स्मरण है **श्रीकांत, गण-देवता, मैला-आँचल, निर्मला, राग-दरबारी, कब तक पुकारूँ** जैसी कृतियों की दूरदर्शन से प्रस्तुति में कुछ खास छेड़-छाड़ नही की गई थी और इसलिये शायद वो मूल के प्रति निष्ठा के फलस्वरूप इन कृतियों की प्रस्तुति अधिक प्रभावशाली बन सकी है।

फिल्म के माध्यम से **''शतरंज के खिलाड़ी, गोदान, गबन, चित्रलेखा, हीरा-मोती, सद्गति, उसने कहा था, पवित्र-पापी, स्त्री (अभिज्ञान-शाकुन्तलम) सरस्वती चन्द्र''** जैसी साहित्यक-रचनाओं की प्रस्तुति में जो परिवर्तन और परिवर्द्धन किये गये, उससे उसकी प्रभाव शीलता निश्चय ही बढ़ी। ''उसने कहा था।'' शतरंज के खिलाड़ी में तो काफी स्वतन्त्रता ली गई। लेकिन उससे मूल-रचना की आत्मा आहत नहीं हुई। त्रासदी (ट्रेजडी) अंत की जगह, उनका परिवर्तित अंत खलता नहीं है।

प्रश्न- 'भारतीय-दूरदर्शन-प्रसारण-सेवा' की जिम्मेदारी अगर आपको दे दी जाए। और उसमें हिन्दी-साहित्य की कृतियों को चुन कर प्रसारण हेतु उनकी सारणी बनाने की जिम्मेदारी सौंपी जाए, तो आप किन-किन रचनाओं को प्रसारित करवाना आवश्यक और उपयोगी समझेंगी।

उत्तर- दूरदर्शन से प्रस्तुत किये गये हिन्दी के छायावादी कवियों के गीतों की प्रस्तुति का मुझे स्मरण है। प्रसाद के गीत **''बीती विभवरी जागरी''** वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे'',। महादेवी वर्मा के गीत, निराला जी के गीत जिस ढ़ग से (विजुअल) दुश्यात्मक प्रस्तुति के जरिए दूरदर्शन ने प्रसारित किये थे, निश्चय ही अत्यन्त भोंड़े और फिल्मी-शैली में प्रस्तुत सस्ते मुम्बईया फिल्मों के गीतों की प्रस्तुति जैसे ही लगते थे। निश्चय ही छाया-वादी कवियों के श्रेष्ठ-गीत, प्रस्तुति के कौशल और संवेदना माँग करते है। उसमें सफलता कोसों दूर सिद्ध हुई। सन् 1988-89 में दूरदर्शन पर हिन्दी कहानियों की कुछ, प्रस्तुति निश्चय ही याद करने योग्य रही। उसमें सूर्यबाला की कहानी **''न बिन्नी न''** की प्रस्तुति का मुझे अब भी स्मरण है। अपनी रूचि की साहित्यिक कृतियों को छाँटने के लिए मुझे कुछ समय की जरूरत होगी। अतः उसे बाद में ही बता सकेंगे।

प्रश्न- भारतीय दूरदर्शन-प्रसारण सेवा में विशेषतः हिन्दी-साहित्य की तथा सामान्यत भारतीय-साहित्य की रचनाओं को प्रसारित करने में किन सावधानियों की आप अपेक्षा करते है।

उत्तर- भारतीय-भाषाओं की साहित्यिक कृतियों की प्रस्तुति के लिये पटकथा-लेखक के पास रचनाकार और उसकी रचना की समझ आवश्यक है। बेहतर हो कि किसी सम्बन्धित-विधा के किसी समझदार रचनाकार की सेवाएँ एवं परामर्श, पटकथा-लेखन के समय प्राप्त कर ली जाये।

प्रश्न- आप ने तीसरी-दुनिया के देशों-विशेषतः अफ्रीकी-साहित्य की कृतियों को हिन्दी में मौद्रिक-माध्यम से लाने की पहल की है। हिन्दी जन-मन के लिए वह कहाँ तक उपयोगी है?

उत्तर- मैं साफ कहूँ, तो यह कटु सत्य होगा कि सामान्य जन-मन व्यक्ति का जुड़ाव अपनी भाषाओं की रचनाओं से दिनों-दिन कम होते हुए वर्तमान त्रासद-स्थिति में पहुँच गया है। तो किसी विदेशी-भाषा के अज्ञात कुलशील कवियों और उनकी रचनाओं में सामान्य-हिन्दी-पाठकों की अभि-रूचि की बात सोचना एक क्रूर दिवास्पप्न जैसा लगता है। हाँ, यह अवश्य है कि हिन्दी-कविताओं को संवेदनशील सुधी पाठकों द्वारा (जिनकी संख्या बहुत कम है) मेरे अश्वेत कवियों के अनुवाद पसन्द किये गये। स्वर्गीय हरिशंकर परिसाई, स्वर्गीय रामविलास शर्मा (म0प्र0) गोपाल राय, डा0 नामवर सिंह, डा0 केदार नाथ सिंह, राजेन्द्र यादव, डा0 बच्चन सिंह, लीलाधर जूगड़ी, डा0 विश्वनाथ त्रिपाठी, डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी व डा0 महेन्द्र नाथ दुबे, ज्ञान-रंजन आदि जैसे महत्वपूर्ण लोगों न उसकी विशेष सराहना की। ज्ञान-रंजन जी ने तो यहाँ तक कहा था कि अगर मेरे पास संसाधन होते, तो मै इन अनूदित अश्वेत कविताओं की हजारों प्रतिलिपियों को हिन्दी जगत में बँटवा देता।

प्रश्न- हिन्दी-भाषा में प्रसारित हो रही दूर-दर्शन सेवा मे आप किन रचनाओं को प्रसारित करना पसन्द करेंगें। उनकी साधारण भारतीय-जनता के लिए क्या उपयोगिता होगी?

उत्तर- मै सोचता हूँ कि अश्वेत-अफ्रीका के सामान्यजन की सम्स्यायें, लगभग वही है, जो सामान्य-भारतीय जन की है। भ्रष्ट और बद्द-दिमाग नेताओं नौकर शाहों और व्यावसायिक वर्ग ने लगता है कि समूचे देश को बन्धक बना रखा है। भ्रष्टाचार कि समस्या जैसी हमारे देश में है, वेसी ही या उससे अधिक समस्यायें अश्वेत अफ्रीकी देशों में है। शिक्षा, स्वास्थ, चिकित्सा के क्षेत्र में जैसा घोर उपेक्षा-भाव सामान्यजन के प्रति हमारे देश में है, वैसा ही अश्वेत अफ्रीकी देश में है। इन्हें लेकर बड़ी ऊँचे दर्ज की धार्मिक रचनाएँ अश्वेत अफ्रीकी रचनाकों ने रची है। प्रो0 बोलेशोयंका, चिनुआ अचेवे, बेनओकरी और न्गोबी की कई ऐसी कृतियाँ है जो अनुदित किये जाने के बाद बहुत कुछ हमारी अपनी ही यथा-कथा कहती हुई लगेंगी। यदि सम्भव हो सके, तो मै चाहूँगा कि प्रो0 बोलशायेन्का का प्रसिद्ध उपन्यास **'द इन्टर प्रेटर',** अचेवे का उपन्यास **''रिगस पाल ए पॉट'',** बेन ओकरी का **''फेमिस्ट रोड'',** आदि तथा शोयिंका के कई नाटक जिसमें **''द रोड''** प्रमुख है यदि हिन्दी सहित अन्य-भारतीय भाषाओं में आयेगें, तो यह एक बड़ी उपलब्धि होगी।

असगर वजाहत

(वरिष्ठ प्रोफेसर जामिया मिलिया इस्लामिया)
फिल्म पटकथा लेखक, वृत्त चित्र एवं धारावाहिकों के रचनाकार

प्रश्न- किसी भी रचनाधर्मी की रचना पहले उसके मन की गहराईयों में अंकुरित होती है फिर कल्पना से उसे ध्वनि, चित्र, मूर्ति-वास्तुकला क्षेत्रों में किसी एक के अनुरूप वह रूपाकार देता है। मन की गहराई में उपजी रचना को जनाब अपनी सहज स्थिति में पहले किस विशेष कला-विद्या में रचना करना पसंन्द करेगें।

उत्तर- किसी भी विद्या का चयन, विषय-वस्तु के आधार पर किया जाता है। रचना के लिये जिस क्षेत्र से संम्बन्धित विषय चुना जाता है, वह विषय वस्तु स्वयं यह निर्धारित करती है कि वह किस विधा के अनुकूल है। कोई विषय-वस्तु कहानी के अनुकूल होती है, तो कोई नाटकों के रचना विशेष-क्षेत्र चुन लेने के बाद ही मै उस विषय क्षेत्र को प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित कर सकनेवाली रचना-विधा का चुनाव करना पसन्द करता हूँ।

प्रश्न- भाव-गाम्भीय या अर्थ-गौरव की चीज को भी शब्द की वैसाखी पर ही अभिव्यक्ति दी जा सकती है। शब्द में स्वर, व्यंजन की जुगलबन्दी से जो अभिव्यक्ति रूप दिया जाता है, उसे रचनाकार लेखनी टंकण, मुद्रण, समाचार पत्र पत्रिकाएं एवं पुस्तकों के माध्यम से जन-समाज के समक्ष सम्प्रेषित करता है। आप अपनी रचना को इनमें से शुरू में किसे आधार बनाते है? रचना-विशेष को मुद्रण-प्रकाशन-विधा में से किस विशेष में प्रकाशित करना आप अधिक उपयुक्त समझते है?

उत्तर- मुख्यतः लेखनी ही हर कृति का आधार बनती है। उसके बाद उसका मुद्रण रूप ही जनमानस में अपनी पहचान बना जाता है। इसलिये मुद्रण को ही सबसे उपयुक्त विधा मानता हूँ। एक बार मुद्रण-विधा में रचना के ढल जाने, प्रचारित हो जाने के बाद फिर दूसरे-दूसरे माध्यमों के अनुरूप उसकी पुनः सर्जना की जा सकती है।

प्रश्न- वैद्युतिक (इलैक्ट्रानिक) प्रसारण माध्यमों के आ जाने पर मैद्रिक प्रकाशनों पर क्या असर पड़ा है?

उत्तर- दोनों ही माध्यम परस्पर एक-दूसरे के सहयोगी है। दोनों ही एक-दूसरे को आगे बढ़ाने का काम करते है ओर एक-दूसरे के लिये जगह बनाते है। जहाँ मुद्रण-माध्यम (प्रिन्ट मीडिया) वैद्युतिक माध्यम (इलैक्ट्रानिक मीडिया) के लिये, वही इल्क्ट्रानिक मीडिया – प्रिन्ट मीडिया या मैद्रिक माध्यम के लिये जब जगह बनाता है। जिस प्रकार तेजी से अखबारों की प्रकाशन संख्या में वृद्धि हुई है, उसी प्रकार निजी टेलीविजन चैनेलों की संख्या भी बढ़ी है। दोनों ही एक दूसरे के सहायक प्रतीत होते है। उनमें कही भी परस्पर विरोध नही दिखाई पड़ता है।

प्रश्न- मैद्रिक प्रकाशन माध्यमों से अपनी रचना प्रकाशित करवाने और इल्क्ट्रानिक माध्यम-रेडियो और दूरदर्शन, फिल्म माध्यमों से अपनी रचना को प्रकाशित करवाने में से, आप किसे विशेष माध्यम को चुनना पसन्द करेंगें।

उत्तर- साहित्यक रचनाओं पर ही सारा कुछ निर्भर करता है। कुछ साहित्यक रचनाएँ दूरदर्शन पर प्रसारित करने लायक होती है, तो कुछ रचनायें रेडियो पर प्रसारित करने के लायक होती है। दोनों ही माध्यम अपनी प्रधानता रखते है। पर आजकल वैद्युतिक माध्यम (इलैक्ट्रनिक मीडिया) का प्रभाव दिनो-दिन बढ़ रहा है। इस कारण हर रचनाकार का ध्यान इलैक्ट्रनिक-मीडिया की तरफ ही बढ़ता चला जा रहा है।

प्रश्न- आपके विचारों से फिल्म और दूरदर्शन से साहित्यक-कृति के सुचारू प्रकाशन में क्या कुछ सावधानियाँ बरतनी चाहिए?

उत्तर- मुख्य रूप से यह ध्यान में रखना चाहिए कि लेखक ने क्या बात कही है। चरित्र के विकास-कलाकारों के अभिनय का उपयोग और संवादों के अतिरिक्त, एक्शन और विजुअल के प्रयोग,सब मिलकर दूरदर्शन-नाटक के पात्रों की संख्या सीमित करने के लिऐ दबाव डालते है। प्रसारण-अवधि की सीमा के कारण मुख्य-कथानक से अधिक के निंवाह की गुजांइश नही होती। द्वश्यो को गैर-जरूरी ढंग से मत बढ़ाइये। छोटे-छोटे दृश्य, नाटकों की लय बिगाड़ सकते है। आधे-घन्टे के नाटक में तीन या चार दृश्यों के कथानक का निरूपण आसानी से प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। संवादों को बोझिल मत बनाइये। दृश्य-तत्व द्वारा भी अपनी बात कहिए। संवाद-लेखन में भाषा पात्रानुकूल होने के साथ-साथ सर्वाग्राही भी होनी चाहिए। किसी धर्म, जाति, देश, व्यक्ति-विशेष, राजनैतिक-दल या सरकारी-नीति का उल्लेख अथवा उन पर की गई टीका-टिप्पणी नियमों के विरूद्ध है।

प्रश्न- आप अपनी रचनाओं के दूरदर्शन-प्रसारण में से किस-किस कृति के प्रसारण से अधिक संन्तुष्ट है?

उत्तर- मुख्य रूप से नाटकों के प्रसारण से मै अधिक संन्तुष्ट हूँ। जैसे कि **'सरगम गोला' ओर 'ऐन्ना की आवाज़'** जिसका निर्देशन चमन बग्गा जी ने किया था। उसे दूरदर्शन पर प्रसारण के बाद बहुत सराहा गया। अनिल चौधरी ने इसका रेडियो रूपान्तरण भी किया था उसकी भी सराहना की गई। दूरदर्शन पर प्रसारित हुए नाटक कुछ अपनी भूमिका का सही ढंग से निंवाह कर पाते है, तो कुछ नहीं कर पाते है।

प्रश्न- दूरदर्शन-प्रसारण की सीमित-समय-सीमा, बीच-बीच में व्यावसायिक-प्रसारणों के हस्तक्षेप-दर्शक-वर्ग की अपनी व्यस्तताओं के चलते प्रसारित कृति के बीच-बीच के अंश देखने से छूट जाने से जो व्यवच्छेद या क्रमभंगता आती है, उसके कारण आप की रचनाओं में सम्प्रेषण में क्या कठिनाइयाँ आती हैं?

उत्तर- दूरदर्शन का अपना स्वरूप है। जहाँ विज्ञापन अपनी प्रधानता रखता है। प्रसारित कार्यक्रमों के बीच में विज्ञापन जरूरी है। विज्ञापन के प्रसारण से रचना बाधित होती है। रचना का क्रम भी टूटता है। परन्तु उस माध्यम को जीवित रखने के लिये विज्ञापन जरूरी है दर्श-गण अब पूरी तरह से अभ्यस्त हो चुका है। वह विज्ञापन के साथ ही रचना को ग्रहण करने लगा है। माध्यमों की विवशताओं को सहते हुए रचना का आस्वाद लने की कला दर्शक सीख गए है।

प्रश्न- दूरदर्शन पर प्रसारित साहित्यक-कृतियों के मूल्यांकन में एक शोधार्थी को क्या सावधानियाँ बरतनी चाहियें?

उत्तर- साहित्यक-कृतियों के मूल्यांकन में कृति की मूल-आत्मा से छेड़-छाडत्र नही करना चाहिए। कृति किस रूप में है। हमें यह देखना होगा कि मूलतः लेखक ने क्या बात कही है। कृति से हम किसी तरह की आज़ादी नही ले सकते। हमें यह देखना होता है कि आखिर वह कहानी कही-न-कही लेखक के मानस-पटल पर भी एक बार घटित हुई होगी, जिसको उसने शब्द रूप दिये होगें। उन्हीं शब्दों-रूपों को लेकर उसने उसे कहानी का रूप दिया होगा। हमें यह देखना होगा कि उसकी मूल आत्मा क्या है? उसके मूल कत्थ क्या है? यह एक शोधार्थी के लिये जानना अत्यन्त आवश्यक होगा।

प्रश्न- साहित्यक-कृतियों के दूरदर्शन-प्रसारण के दौरान कौन-कौन और व्यवस्थाएँ कर दी जाएँ तो साहित्यक-कृतियाँ अधिक प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित की जा सकेंगी?

उत्तर- पहले कोई भी विष्य लेकर आप उसे विजुअलाइज़ कीजिए, अपने दर्शक-वर्ग को ध्यान में रखिए कि किस प्रभावी-वर्ग के लिये, आप क्या करने वाले है। वैसा ही चरित्र बनाइयें, वैसी ही उसके लिये भाषा बनाइए। फिर उसमें पिरेई हुई गतिविधियाँ इस तरह की हों, कि उन्हें किसी ध्वनि के जरिए या संवाद के जरिए या भाषा के टूल्स से या परिस्थितिजन्य स्थितियों के हिसाब से, आप एक शॉट से दूसरे शॉट को जोड़कर सीन बना दें। फिर एक सीन से दूसरे सीन को जोड़ दें। साहित्यक-कृति को अधिक प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने के लिऐ पहले पटकथा का स्वरूप तैयार करें, जिसे आप किसी परिचित को कहानी रूप में बताएँ। उसको उद्देश्य बताएँ कि हम क्या बनाना चाहते है और क्यों बनाना चाहते है? फिर बातचीत में हमने चरित्रों का मूल्यांकन किया कि उन चरित्रों की क्या-क्या निजी आवश्यकता है? यानि पूरी तरह से चरित्रों को विश्लेषण किया। यह सब जब हमने तय कर लिया और कहानी का एक प्रारम्भिक ढाचाँ बन गया, तब उसे एपिसोडस में बाटँना शुरू कर दिया। यानि पूरी कहानी को नैरेट करके उसको टेप कर लिया। फिर उसे ज्यों-का-त्यों टाइप करवा लिया। इस तरह आपको अपना पहला ड्राप्ट मिल जायेगा। फिर उसमें काँट-छझँट कर कहानी का खाक़ा तैयार हो जायेगा और आपकी साहित्यक-कृति अधिक प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित की जा सकेगी।

प्रश्न- व्यक्तिगत रूप से मुझ जैसे अल्पज्ञ शोधार्थी को आप क्या सलाह देना चाहेगें।

उत्तर- शोधार्थी को अधिक-से-अधिक तमाम भारतीय-भाषाओं और विदेशी भाषा-साहित्य, जिसमें उनकी रूचि हो, उसे पढ़ना चाहिए। इसके साथ-साथ यह देखना चाहिए कि उसमें टेक्नीकल चीज़ें क्या आयी है? जैसे आजकल स्पेशल इफेक्ट्स इतने आ गये हैं, जो शुरू में नही थे। शोधार्थी को थोड़ी जानकारी मशीनी-ज्ञान के बारे में भी होनी चाहिए। जो मशीने इस तरह के प्रभाव (स्पेशल इफेक्ट्स) पैदा करती है, तो इसके लिये मॉस-कम्युनिकेशन जैसी संस्थाओं से ट्रेनिंग ली जा सकती है। जो बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। लोगों के बीच आप सीधे जाइए। उनसे मेल-जोल बढ़ाइये भाषा को वहाँ से लेकर आइए जहाँ वह बोली जाती है। तभी आप अच्छा सोच पैदा कर सकेंगे और तभी आप की समझ हमारी जनता के हित में कुछ करने लायक बन जायगी।

श्री अरूण प्रकाश

पटकथा लेखक
(सम्पादक, समकालीन भारतीय साहित्य)

प्रश्न- श्रीमान् हिन्दी साहित्य-सर्जकों की उस अतिशय विशिष्ट श्रेणी के सजग रचनाकार है। जिनकी रचनाएँ मौद्रिक-प्रकाशन के साथ-साथ प्रायः एक ही समय में वैद्युतिक माध्यमों (दूरदर्शन-रेडियो) से भी प्रसारित होती रही है। कृपया बतलाएँ कि इनमें से किस विशेष माध्यम से जनता के बीच पहुँचना आप अधिक श्रेयस्कर मानते है।

उत्तर- मौद्रिक-प्रकाशन (प्रिन्ट मीडिया) और वैद्युतिक-माध्यम (इलैक्ट्रनिक मीडिया) दोनों का ही अपना-अपना महत्व है। यह रचना पर निर्भर करता है कि उसका सम्प्रेषण किसे अपना आधार बनाता है। मौद्रिक-माध्यम में एक बार रचना प्रकाशित हो जाने पर वह लम्बे समय तक लोगों के बीच अपनी जगह बना पाती है। वहीं वैद्युतिक-माध्यम (इलैक्ट्रनिक मीडिया) से प्रसारित हुई रचना थोड़े समय उपरान्त लोगों के मन-मस्तिष्क से निकल जाती है और लोग उसे भूल जाते है। ऐसे में मौद्रिक-प्रकाशन ही ज्यादा प्रभावशाली दिखाई पड़ता है। क्योंकि उसमे मूल-कत्थ से कही भी हटना नहीं पड़ता है। जबकि इलैक्ट्रनिक-मीडिया में मूल-रचना में पटकथा लेखक जरूरत के हिसाब से फेर-बदल कर देते हैं, जिससे रचना की मूल-आत्मा प्रभावित होती है।

प्रश्न- दूरदर्शन प्रसारण के लिये आप की रचनाएँ जो अक्सर प्रसारित हुई हैं, उनमें दो स्पष्ट वर्ग दिखाई पड़ते है।

1. पहली वे जो रचना के अनन्तर पत्र-पत्रिका या पुस्तक...से प्रचारित-प्रसारित हो चुकी थी, फिर दूरदर्शन-प्रसारण के अनुरूप बनाने के लिये अपने स्वंय कभी पटकथा लिखी अथवा और किसी ने लिखी।

मेरे द्वारा पूछे गये प्रश्नों को सुनते ही आदरणीय अरूण प्रकाश जी ने बतलाया कि ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर वे एक अन्य साक्षात्कार में दे चुके हैं जो राधा-कृष्ण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक-''टेलीविजन लेखन'' में जनाब अजगर वजाहत और श्री प्रभात रंजन द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। अतः व्यस्ताओं के चलते फिलहाल में अति संक्षेप में उत्तर दे पाँऊगा। उन्हें विस्तार में समझने के लिए आप उक्त पुस्तक में प्रकाशित मेरे साक्षात्तकार में देखें। और आवश्यकता अनुसार उसमें से उपयोगी सामग्री का संचयन करें- शोधार्थी

---

2. दूसरी वे जिन्हें आपने सीधे-साधे दूरदर्शन, फिल्म अथवा रेडियो से प्रसारित करने के लिये लिखा। इन दोनों वर्गो की रचनाओं में से आप के विचार में किस वर्ग विशेष की रचनाएँ साधारण-जनता में अधिक प्रभाव-पूर्ण सम्प्रेषण कर सकी है।

उत्तर- पटकथा-लेखन की कोई ट्रेनिंग तो नही ली मैने, लेकिन नाटकों में मेरी रूचि रही है, कई नाट्य रूपान्तर किये मैनें। कई नाटकों का निर्देशन भी किया है। जैसे कि **''थैंक यू मिस्टर ग्लाड''** का निर्देश्न मैने किया। स्वर्गीय राही मासूम रज़ा के खण्ड-काव्य **''सन सन्तावन''** को नृत्य नाटिका के रूप में पेश किया है। पटकथा-लेखन की शुरूआत जो हुई वो यूँ हुई, कि मेरे एक उपन्यास में मुम्बई की एक प्रोडक्शन-कंम्पनी ने रूचि दिखाई। उसकी स्क्रिप्ट लिखने मैं मुम्बई गया। कुल तीन महीने मेरा मुम्बई में रहना हुआ। वहाँ पहुँच कर मैने समझा कि तब तक बहुत सी चीजों से अनभिज्ञ था। कई चीजों को तो मैं जानता भी नहीं था। सांउड के बारे मं, कैमरा मूवमेंट के बारे कमें, शॉट टेकिंग के बारे में, एक्टिंग के बारे में। वहाँ एडिटर, कैमरामैन, साउन्ड-रिकार्डिस्ट से मिलने के उपरान्त मुझे इतनी तकनीकी जानकारी हुई जितनी एक पटकथा-लेखक को होनी चाहिए। उसके उपरान्त में दिल्ली आ गया। जहाँ ज्यादा काम डाक्यूमेंट्री का किया। लेकिन इसमें मेरी अपनी कोई दक्षता नहीं थी, लेकिन कमलेश्वर जी ने मुझे इसके लिए प्रेरित किया। वे चाहते थे कि मैं यह सीखूँ।

जो पहली डाक्यूमेंट्री मैनें की, वह काफी सराही गयी। उसका नाम था- **''पानी में दरारें''।** इसके साथ कमलेश्वर जी के साथ-साथ रहते हुए उनके साथ कई परियोजनाओं में मैने रिर्सच किया। कही कहानी बनाई, कही स्क्रीन-प्ले लिखा। कई बार ऐसा होता है कि अच्छा काम सिर्फ स्क्रीन-प्ले से नहीं होता है। मसलन एक स्क्रीन-प्ले है- **''मसीहा''।** मैने उस पर शोध भी किया है, स्क्रीन-प्ले भी लिखा है। उसमें कमलेश्वर जी का विशेष सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। वह अविभाजित पंजाब के सर छोटूराम की जिंदगी पर है। पर कोई निर्माता उसे बना नही पाया। आज भी कोई उस स्क्रीप्ट को लेकर कोई उसे बनाए, तो नायाब चीज़ होगी।

मेरे द्वारा दूरदर्शन और रेडियों के लिऐ सीधे प्रसारित करने के लिए जिन नाटकों और कहानियों को लिखा गया, उन्हें भी सराहना प्राप्त हुई। परन्तु वह प्रसारण के कुछ समय तक ही अपनी-अपनी छाप श्रोताओं के मन मस्तिष्क पर बना पाये। दूरदर्शन या रेडियो पर प्रसारित करने के लिये रचना को कम समय प्राप्त होता है। इस प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता के जमाने में दशकों की ऐसी चीज़ है कि वह उसे अगली बार देखने को लालयित रहे। कहानी का आदि, मध्य और अंत होता है। दूरदर्शन धारावहिक की कहानी में एक निश्चित अवधि में ही उसे पूरी दिखा देने के लिये अथवा पात्रों की भी जिन्दगी का एक निश्चित कालक्रम ही दर्शाने के लिये नहीं लिखी जाती। उसका कोई सुनिश्चित अंत नहीं होता। दूरदर्शन धारावाहिकों में एक दूसरे से जुड़ती-बिछुड़ती कई-कई धाराएँ होती है, जिनमें कभी किसी को प्रमुख-कथा का दर्जा मिलता है, तो कभी किसी को। दूसरे शब्दों में हर कथा महत्वपूर्ण होती है। जो किसी भी समय आ सकती है।

दूरदर्शन धारावाहिक में बड़ी लम्बी और जटिल सी कहानी चाहिए। ऐसे संवादों की भरमार हो, जिससे चरित्र-चित्रण होता हो, आवश्यक सूचनाएँ मिलती हो हर दृश्य में नाटक ओर कौतूहल पैदा होता हो, हर कर्मशियल ब्रेक में एकसा कुछ हो कि दर्शक का मन आगे देखने के लिये लालायित रहे। हर एपिसोड के अन्त में ऐसा नाटकीय मोड़ प्रस्तुत हो कि दर्शक वेसब्री से अगले एपिसोड का इन्तजार करें। मेरे हिसाब से मुद्रित रचनाओं में आप अधिक स्वतन्त्रता ले सकते है। वही दूरदर्शन या रेडियो के लिये रचना करने में आपको अधिक सावधानियाँ भी रखनी पड़ती है।

प्रश्न- कृपया अपनी कुछ उन रचनाओं के नाम बताएँ, जिनमें दूरदर्शन प्रसारण से आप परम संन्तुष्ट है।

उत्तर- मेरे द्वारा दूरदर्शन के लिऐ अनेकों रचनाएँ लिखी ओर प्रसारित हुई हैं, जिन्हें काफी सराहा भी गया है। जैसे **''थैंक्क यू मिस्टर ग्लाड''** स्वर्गीय राही मासूम रजा के खण्ड काव्य **''सन सन्तावन''** पानी में दरारें, आदि अनेकों रचनाऐं है। प्रसिद्ध साहित्यकार कमलेश्वर जी के सहयोग से मेरे कई नाटक, कहानियों को दूरदर्शन पर दिखाया गया है। उनके सहयोग से मैने रविन्द्र नाथ टैगोर के प्रसिद्ध उपन्यास **''गोरा''** पर भी काम किया है, परन्तु वह अब तक प्रसारित नहीं हो पाया।

प्रश्न- अपनी रचनाओं के अतिरिक्त कृपया हिन्दी-साहित्य के उन विशिष्ट रचनाकारों और उनकी रचनाओं की ओर इशारा करें, जिनके दूरदर्शन प्रसारण से आप सन्तोष का अनुभव करते है।

उत्तर- प्रसिद्ध साहित्कार कमलेश्वर जी की कई फिल्में जैसे- **बदनाम बस्ती, सरा आकाश, फिर भी, रजनीगंधा** और व्यावसायिक फिल्म **अमानुष,** देवकी नन्दन खत्री के प्रसिद्ध उपन्यास **चन्द्रकांता** की पटकथा उनके द्वारा लिखी गयी। उनके द्वारा लिखी गई अनकों कहानियों/ प्रसिद्ध रचनाकार मनोहर श्याम जोशी जी के उपन्यास **बुनियाद, कक्का जी कहिन, हम लोग** भीष्म साहनी के उपन्यास **तमस,** शरतचन्द्र के उपन्यास श्रीकांन्त, फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास **मैला आंचल** आदि अनेकों श्रेष्ठ रचनाएँ है, जो प्रसारण के दौरान काफी सराही गयी थीं, उनकी प्रसारण काफी संतोषजनक रहा है।

प्रश्न- मूल रचयिता अगर दूरदर्शन-प्रसारण के लिये स्वयं पटकथा लेखक नहीं है, तो उस पटकथा लेखक को क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए।

उत्तर- मैं पटकथा से भी ज्यादा जरूरी समझता हूँ, कहानी बुनने की कला को अगर आप को बुनना आता है, तो आप सिनेरियो बढ़िया लिख सकते हैं। अच्छे सिनेरियो के बिना अच्छी पटकथा

नहीं बन सकती। अच्छे सीन न हों, तो पटकथा-लेखक का क्या मतलब है? अच्छा सीन वह होता है, जिसकी शुरूआत अच्छी होती हो और अंत अच्छा होता हो, और बीच में तलब बिल्कुल एक जैसी हो। अगर आपकी कथा टुकड़ों में दर्शकों को नही बाँध पाती है, तो सम्पूर्णता में भी नहीं बाँध जायेगी।

मुझे लगता है कि धारावाहिक अच्छा बनाने के लिये अच्छे संवाद की स्थिति बनानी चाहिए। अच्छी स्थिति तभी बनती है, अगर आप प्लाट में गुजांइश रखते है। दूसरे हर सिनेरियो के भीतर आपको बात पैदा करनी होगी जिससे कि अच्छे संवाद की स्थिति पैदा हो सके। दूरदर्शन में सिनेरियों ही सफलता की कुंजी है। दूरदर्शन-लेखन में आपको मेक्रो नहीं, माइक्रो थिकिंग की जरूरत होती है। दूरदर्शन-डायरेक्टर का माध्यम नहीं है। वह निश्चित रूप से लेखक का माध्यम है। अगर अच्छा लेखक है और निर्देशन वहाँ सिर्फ तकनीकी अनुवाद बनकर खट्टा हो जाए, तो वह चीज़ देखने लायक होगी। दूरदर्शन में एक चीज़ होती है। सब्जेक्ट होता है। जहाँ थीम हो, सब्जेक्ट हो, वहाँ निश्चत रूप से अच्छे लेखकों की आवश्यकता होती है।

प्रश्न- एक कृतिकार के रूप में आप हम जैसे अल्पज्ञ शोधार्थी को क्या निर्देश देना पसन्द करेंगे? जिससे हमें दूरदर्शन-रेडियो पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों के मूल्यांकन में मदद मिले।

उत्तर- शोधार्थी को मूल कृति से भेदभाव नहीं करना चहिए। मूल-कत्थ क्या है? इसका ध्यान रखना चाहिए। हम कृति से किसी तरह की आज़ादी नहीं ले सकते। कहानी की मूल आत्मा से छेड़-छाड़ नहीं कर सकते। विषय वस्तु-चयन का आधार होता है। शोधार्थी को अधिक से अधिक तमाम भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की कृतियों के प्रकाशित रूप का मन लगाकर अध्ययन करना चाहिए। उन्हें प्रसारणों को देखना चाहिए। प्रसारण के दौरान हुए प्रयोगों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अपने अनुभव ज्ञान को बढ़ाइयें। आप सीधे लोगों के बीच जाइए तब आप जन-साधारण से सम्पर्क बनायें। उनकी आवश्यकताओं को समझें उनकी भावनाओं के अनुरूप दूरदर्शन, रेडियों, फिल्म आदि की पटकथाओं को समुचित मोड़ दें। हमें आशा है आप निश्चय ही सफल होगें।

श्री अरूण माहेश्वरी

संचालक वाणी-प्रकाशन

प्रश्न- हिन्दी के नामी प्रकाशक होने के कारण रचनाकार-साहित्यकारों की रचनाओं से आपका सबका पड़ता है। आप अपनी स्वतन्त्र अभिरूचि के अनुसार किस प्रकार की रचनाओं को प्रकाशित और प्रसारित करना उचित समझते हैं?

उत्तर- मुख्यतः साहित्यिक, समसामयिक, प्रासंगिक एवं समाज-परिपेक्ष्य से जुड़ी रचनात्मक एवं सन्देश-परक रचनाओं को प्रकाशित एवं प्रसारित करवाना उचित समझता हूँ।

प्रश्न- आप के द्वारा अथवा किसी भी प्रकाशक के द्वारा किसी भी रचनाकार की कोई रचना जब एक बार एक विशेष रूप में प्रकाशित प्रसारित-लोक-प्रचलित हो चुकती है। तो उसके बाद के उसके दूसरे अथवा किसी भी संस्करण में उन रचनाओं में फिर बदलाव करना आप क्या उचित समझते है? यदि हाँ तो फिर क्यों?

उत्तर- कभी-कभी स्थिति ही ऐसी आ जाती है, जब रचनाओं में बदलाव अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। आज का विचार और कल के विचारों में संसोधन आवश्यक है। संसोधित विचार हमेशा ही ऊँचाई की तरफ जाता है। गिरावट की तरफ नहीं। कल के विचारों का आज के सम्दर्भों में संसोधन हमेशा ही फायदेमन्द रहता है।

प्रश्न- लोक-विख्यात हो चुकी रचना में आप किस प्रकार के परिवर्तन को उचित मानेगे-

(1) परिवर्द्धन कर देने या बढ़ा देने

(2) सीमित कर देने या संक्षिप्त कर देने

(3) आगे पीछे-बीच-बीच में नये प्रसंग जोड़ कर बढ़ा देने

(4) आपत्तिजनक अंशो को हटा कर निर्विरोधी रूप देने

(5) अनजाने में छुट गई या भूल से रह गई भूलों को सुधारने में

(6) विरोध किये जाने पर मूलरूप में बदलाव कर देने में।

उत्तर- यह प्रश्न मुख्य रूप से रचनाकार के लिये है। इसमें रचनाकार अपनी मूल-कृति में किसी भी प्रकार के संसोधन के लिये पूरी तरह से स्वतन्त्र होता है और किसी भी समय अपनी कृति में मन-माफिक संसोधन कर सकता है।

प्रश्न- प्रकाशक द्वारा प्रकाशित की जा चुकी रचना के मूल-रूप से छेड़-छाड़ को आप किस सीमा तक स्वीकार करते है।

उत्तर- रचनाकार द्वारा अपनी कृति के मूल-रूप में प्रकाशन से पहले तो छेड़-छाड़ की जा सकती है, किन्तु जब एक वह मुद्रित हो चुकी हो, तो कृति में छेड़-छाड़ की गुंजाइश कम ही रह जाती है।

प्रश्न- बाहरी दबावों के चलते रचनाकार अगर स्वयं अपनी रचना में विवश होकर परिवर्तन करता है तो क्या आप परिवर्तित-रूप को प्रकाशित करना उचित समझेगे।

उत्तर- बाहरी दबावों के चलते रचनाकार अगर स्वयं अपनी रचना में विवश होकर परिवर्तन करता है तो यह उसका अपना विशेषाधिकार है। मेरी नजर में पुस्तक का प्रकाशन महत्वपूर्ण होता है। प्रकाशित होने के उपरान्त पुस्तक को मिली लोकप्रियता हासिल हो रही है उसी के आधार पर हमें कृति का आँकलन करना चाहिए।

प्रश्न- रेडियो-प्रसारण, दूरदर्शन-प्रसारण, वृत्तचित्र-प्रसारण की तकनीकी माँगों के कारण आप द्वारा प्रकाशित रचना में जो अपरिहार्य परिवर्तन-परिवर्धन-संक्षेपण किये जाते है, तो उसे आप किस सीमा तक स्वीकार करेगें?

उत्तर- मौद्रिक-माध्यम और वैद्युतिक माध्यमों में तकनीकी-भागों के कारण जो परिवर्तन-परिवर्धन-संक्षेपण किये जाते है, उससे कृति की मूल-आत्मा का हास होता है कृति में किसी प्रकार का परिवर्तन उस मूल-कृति की हत्या के बराबर है और में इसका साझीदार होना पसंन्द नहीं करूँगा।

प्रश्न- आप के संस्थान द्वारा प्रकाशित जो रचनाएँ रेडियो, दूरदर्शन या वृत्तचित्र के माध्यम से प्रसारित-प्रचारित होकर आप के लिये हर्ष या विषाद का कारण बनी हैं, तो ऐसे कुछ अपने अनुभव को बताए।

उत्तर- किसी कृति का लोकप्रिय होना खुशी का विषय है। लेखक और प्रकाशक दोनों ही काफी कठिनाइयों का सामना कर कृति को लोकप्रिय बनाते है। जैसे **''तसलीमा नसरीन''** जैसी प्रख्यात लेखिका को राजनैतिक-दृष्टिकोण से पुस्तक में लेकप्रियता हासिल हुई, जो एक दुख की बात है लेखक को उसकी कृति के अनूरूप ही लोकप्रियता हासिल हो यह मेरे लिए हर्ष का विषय होगा।

●

सफलता का मूलमंत्र, आशावादी एवं सकारात्मक दृष्टिकोण :मनोवैज्ञानिक अध्ययन

डॉ0 माया सिंह[*]

प्रस्तुत शोधपत्र में परीक्षा तनाव सफलता एवं असफलता के प्रति हाईस्कूल परीक्षा में शामिल बच्चों एवं उनके माता-पिता की भूमिका के सन्दर्भ में विचार विमर्श किया गया है। वैयाक्तिक विभिन्नता की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक परीक्षार्थी के माता-पिता को परीक्षा की अवधि के दौरान उन्हें होने वाले तनाव तथा परीक्षाफल आशानुरूप न होने पर बच्चों के साथ माता-पिता का व्यवहार कैसा होना चाहिए? इसके बारे में सुझाव प्रस्तुत किया गया है। सफलता प्राप्ति का मूल मंत्र आशावादी एवं सकारात्मक दृष्टिकोण है। ऐसे बच्चे जो परीक्षा में असफल हो जाते हैं और उन्हें परिवार एवं समाज द्वारा सहयोग नहीं दिया जाता तो निराशा की इस घड़ी में वे आत्महत्या जैसा घातक कदम उठा लेते हैं क्योंकि उन्हें अपना भविष्य अंधकारमय नजर आने लगता है। संकट की इस घड़ी में प्रत्येक माता-पिता से अपने बच्चों को भरपूर स्नेह मिलना चाहिए तथा उन्हें अभिप्रेरित करना चाहिए जिससे पुनः बच्चे पूर्ण मनोयोग से परीक्षा की तैयारी करें एवं सफलता प्राप्त करें। बच्चों के साथ माता-पिता को भी जीवन के प्रति सकारात्मक, आशावादी एवं सन्तुलित दृष्टिकोण होना अत्यन्त आवश्यक है।

असफलता को सफलता में बदलने की दृष्टि से आशावादी एवं सकारात्मक सोच अत्यन्त महत्वपूर्ण है[1]। बड़ी बेसब्री से परीक्षाफल का इन्तजार करते परीक्षार्थियों में कुछ तो बहुत अच्छे अंक प्राप्त कर एक सुखद एवं सुनहरे भविष्य की ओर अग्रसर होते हैं क्योंकि अच्छे अंक प्राप्त कर ऐसे बच्चे माता-पिता, परिवार, समाज, सबके लिए प्रशंसनीय होते हैं, उनका मनोबल ऊँचा होता है और उन्हें और अच्छा करने की प्रेरणा प्राप्त होती है, परन्तु, बहुत से परीक्षार्थी औसत अंक प्राप्त करते हैं जो औसत से अच्छा करने की लगन में पूर्ण मनोयोग से जुड़ जाते हैं। बहुत अच्छे एवं औसत अंक प्राप्त करने के अलावा परीक्षार्थियों का एक ऐसा भी वर्ग होता है जो औसत से नीचे अंक प्राप्त करता हैं। वैयक्तिक विभिन्नता की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि परीक्षा में शामिल सभी बच्चे एक जैसे नहीं होते हैं अपितु उनमें बौद्धिक एवं मानसिक स्तर पर विभिन्नताएँ देखने में आती हैं। 'योनियों में मनुष्य अनोखा है' इसे दृष्टिगत रखते हुए परीक्षा में जिन बच्चों के अंक अच्छे नहीं आते हैं उनके लिए माता-पिता, परिवार समाज की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने का दबाव उनके निष्पादन को बहुत प्रभावित करता है। इस सन्दर्भ में हाईस्कूल में परीक्षा में शामिल बच्चों एवं उनके माता-पिता का साक्षात्कार के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया गया कि माता पिता की इसमें भूमिका तथा परीक्षा में बच्चों के प्रदर्शन पर पड़ने वाला प्रभाव बच्चों पर कैसा प्रभाव डालता है? साक्षात्कार के माध्यम से स्पष्ट हुआ कि अधिकांश माता-पिता अपने बच्चों से उम्मीद करते हैं कि वे सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करें। बच्चों ने बोर्ड परीक्षा के दौरान चिन्ता एवं तनाव के स्तर को अधिक बताया। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि चिन्ता एवं तनाव का मध्यम स्तर कार्य (निष्पादन) के लिए अच्छा होता है इसका उच्च स्तर कार्य में बाधा उत्पन्न करता है। ज्यादातार अभिभावक यह आशा करते हैं कि उनके बच्चे परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करें। बच्चों पर इसका दबाव भी रहता है परन्तु जब परिणाम आशा के विपरीत आते हैं तो ऐसी विकट परिस्थिति में कम अंक पाने वाले छात्र हताशा एवं निराशा के घोर अंधकार में डूब जाते हैं[2]। स्थिति तब और भी भयावह हो जाती है जब निराशा की इस घड़ी में बच्चों को अपने अभिभावकों, परिवार एवं समाज से कोई सहयोग नहीं मिलता अपितु उन्हें बार-बार यह एहसास कराया जाता है कि देखो तुम्हारे साथ पढ़ने वाले तुम्हारी कक्षा के उस बच्चे ने कितना अच्छा किया है, तुम जीवन में क्या करोगे, प्रतियोगिता बहुत कड़ी होता है, तुम कैसे सफल होगे? बार-बार यह एहसास दिलाया जाना कि तुमने बहुत खराब प्रदर्शन किया है, बच्चों को बहुत कमजोर कर देता है और मानसिक तनाव बहुत बढ़ जाता है[3]। ऐसी स्थिति में कुछ बच्चे तो निराशा की इस घड़ी में आत्महत्या जैसा आत्मघाती कदम उठा लेते हैं, उन्हे इस दबाव एवं तनाव की स्थिति से निकलने की कोई राह नही सूझती है और उन्हे जीवन समाप्त करने के अलावा कुछ भी नहीं सूझता, न ही उन्हें इसका कोई विकल्प नजर आता है[4]। कहीं न कहीं परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने का दबाव और तनाव उन्हें विचलित कर देता है और अपेक्षित परिणाम नहीं प्राप्त होने पर सिर्फ और सिर्फ विकट परिस्थिति के इस मकड़जाल से बाहर निकलने का उन्हें सिर्फ एक रास्ता नजर आता है और वे अपना जीवन समाप्त कर देना चाहते हैं[5]। बच्चों के इस दुःखद तनावग्रस्त घड़ी में उन्हें जरूरत होती है अपने माता-पिता के सहयोग की। चैरासी लाख योनियों को पार कर यह जीवन प्राप्त हुआ इसे इतनी सी बात पर समाप्त कर लेना कायरता का ही प्रतीक है[6]।

वर्तमान समय में सिर्फ भारतवर्ष में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में आत्महत्या एक गम्भीर एवं विकराल समस्या बन चुकी है। क्या जीवन इतना सस्ता है कि सिर्फ परीक्षा में अंक ही उसको मापने का एकमात्र पैमाना रह गया है? परीक्षाओं में सफलता के लिए पूर्णरूपेण आशान्वित माता-पिता, जिनके बच्चों का प्रदर्शन आशा

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, टी0 डी0 पी0 जी0 कालेज, जौनपुर।

के अनुरूप नहीं रहा, साक्षात्कार के द्वारा उनके विचारों को ज्ञात किया गया। ज्यादातार माता-पिता ने बच्चों की असफलता पर गहरी हताशा एवं निराशा को व्यक्त किया तथा बच्चों से अपनी नाराजगी व्यक्त की। जब बच्चा स्वयं तनाव से गुजर रहा होता है तो ऐसी स्थिति में परीक्षा में कम अंक पाने वाला छात्र गहरे अवसाद में डूब जाता है, उसे समाधान का कोई रास्ता नजर नही आता, हताशा निराशा की घोर स्थिति में उसे अपना भविष्य अंधकारमय नजर आने लगता है। उसे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होने लगता है ऐसी गम्भीर स्थिति में वह आत्महत्या जैसा कायरतापूर्ण कदम उठा लेता है और अपने पीछे छोड़ जाता है एक रोते-विलेखते परिवार को जो आजीवन इस पीड़ा को झेलने को मजबूर हो जाते हैं[7]।

बच्चों द्वारा हताशा एवं निराशा में आत्महत्या जैसे घातक कदम का दूरगामी परिणाम आर्थिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि आज का बालक युवा बनकर देश कि प्रगति एवं विकास में अपना योगदान देता है। देश की आर्थिक प्रगति के लिए भी बच्चों को अपनी क्षमतानुसार श्रेष्ठ प्रदर्शन करने के सन्दर्भ में माता-पिता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। संकट की इस घड़ी में माता-पिता की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि अगर बच्चे को माता-पिता, परिवार का पूर्ण सहयोग एवं समर्थन प्राप्त होता है तो शायद एक जीवन असमय काल के गाल में समाने से बच जाता है। बच्चों को हमेशा अहसास कराना कि वो हमारे लिए अनमोल हैं, सिर्फ परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करना ही सफलता का एकमात्र पैमाना नहीं है अपितु जीवन में बच्चे को सफलता के लिए अनेक विकल्प मौजूद हैं, बच्चों को कम अंक आने पर उन्हे डाँटने-फटकारने, अन्य बच्चों जिन्होंने परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त किये हैं, उनसे तुलना करने की बजाय, उसे यह अहसास कराइये कि आपका बच्चा आपके लिए जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है माता-पिता द्वारा बच्चों को भविष्य में बेहतर करने के लिए अभिप्रेरित करना अत्यन्त आवश्यक है, उसे भरपूर प्यार, समर्थन एवं सहयोग दिया जाना चाहिए ताकि वह निराशा एवं हताशा की इस स्थिति से बाहर आये और कोई गलत कदम न उठाये। बच्चों द्वारा हताशा एवं निराशा में आत्महत्या जैसे घातक कदम का दूरगामी परिणाम बच्चे की अभिक्षमता एवं उसके बौद्धिक एवं मानसिक अवस्था को ध्यान में रखते हुए उसके लिए उचित विकल्प की तलाश माता-पिता द्वारा की जाय और उसके लिए उसे अभिप्रेरित किया जाय। नकारात्मक सोच को दूर कर उसे सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए न सिर्फ माता-पिता द्वारा अभिप्रेरित किया जाय अपितु उसे पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्रदान किया जाय। बच्चों की हॉबी को विकसित होने का अवसर दिया जाय क्योकि बच्चों में अपार संभावनाएं छिपी होती हैं जरूरत है तो उसे पहचानने की और उसके विकास के लिए अनुकूल अवसर, सहयोग प्यार एवं समर्थन प्रदान किये जाने की क्योंकि बच्चा अपने माता-पिता के निकट सबसे ज्यादा रहता हैं[8]। कुछ अभिभावक बच्चे की इस अवस्था को पहचानते हैं, परन्तु ज्यादातर अभिभावक लीक से हटकर कुछ नया नहीं सोच पाते हैं और बच्चे के शैक्षणिक प्रदर्शन को ही सफलता का एकमात्र पैमाना मानकर बच्चे को डाँटते हैं, अन्य बच्चों से उनकी तुलना कर उसे एहसास दिलाते हैं कि तुम कमजोर हो। अभिभावकों को भी इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि उनके बच्चे उन्हें अंकों से ज्यादा प्यारे हैं और एक नये सिरे से माता-पिता, परिवार, विद्यालय शिक्षक, समाज को अपनी भूमिका पर गहन मंथन की आवश्यकता है। इन सभी बातों को दृष्टिगत रखते हुए विभिन्न स्कूलों में मनोवैज्ञानिक सलाहकारों की नियुक्ति की जाती है, जो बच्चों को समय-समय पर उचित परामर्श के द्वारा उसे अभिप्रेरित कर सफलता की राह पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। आवश्यकता होने पर माता-पिता की भी काउन्सिलिंग की जाती है और उन्हें बच्चों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए सफलता की राह पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है।

सदैव इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि जीवन में सफलता का मनोवैज्ञानिक आधार प्रसन्नता है, जीवन की प्रत्येक घड़ी अनमोल है। कठिन से कठिन परिस्थिति का धैर्यपूर्वक सामना करते हुए हर हाल में खुश रहने की कला सीखनी चाहिए जिससे उत्तम मानसिक स्वास्थ्य के साथ वातावरण में संतुलित ढंग से समायोजन बना रहे। कामयाबी एवं प्रसन्नता के लिए निराशावादी सोच का पूरी तरह परित्याग कर, सदैव सकारात्मक एवं आशावादी बने रहना चाहिए क्योंकि भाग्य केवल उनकी मदद करता है जो अपनी मदद स्वयं करते हैं। इसलिए प्रत्येक अभिभावक को अपने बच्चे के भीतर छिपी प्रतिभा को पहचानकर उसे अपनी अभिक्षमता के अनुरूप आगे बढ़ाने का अवसर दिया जाना चाहिए। दुःख के गहन अंधकार के बाद सुख का प्रकाश अवश्य आयेगा। बच्चे को निरन्तर अच्छे एवं श्रेष्ठ साहित्य को पढ़ने के लिए तथा संगीत एवं कला को अपना मित्र बनाने के लिए प्रेरित किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चे को कर्मप्रधान जीवन जीने के लिए अभिप्रेरित करना चाहिए, कभी भी कल पर काम को टालना नहीं चाहिए। माता-पिता एवं बच्चे के आस-पास जो भी लोग हैं उन्हें बच्चे की खुलकर प्रशंसा करनी चाहिए क्योंकि प्रशंसा से बड़ी दूसरी कोई औषधि नही है। अपने बच्चे के अच्छे कार्यों की खुलकर प्रशंसा कीजिए। खुश रहना एक कला है, इसे सीखकर अपने जीवन में अपनाते हुए बच्चों को डाँटने-फटकारने की बजाय उन्हें अपना अवलम्बन प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है। अपने बच्चे की कमजोरी को उसकी ताकत बनाइये। तनाव को कभी भी अपने एवं अपने बच्चे के ऊपर हावी न होने दीजिए क्योंकि सारे रोगों की जड़ तनाव है। निराशावादी सोच सफलता की राह में बाधा उत्पन्न करती है, इसलिए कामयाबी की सीढ़ी चढ़ने के लिए सदैव आशावादी दृष्टिकोण रखिये[9]। बच्चे को यह एहसास दिलायें कि वह आपके लिए अनमोल है उसे महान पुरुषों की जीवनी पढ़ने, श्रेष्ठ एवं अच्छे साहित्य को अपनाने के लिए प्रेरित करिए। बच्चे को अपना सर्वश्रेष्ठ करने के लिए सदैव अभिप्रेरित करते हुए उसके साथ

दोस्ताना व्यवहार करिये। वह आपके लिए अंको से ज्यादा महत्वपूर्ण एवं कीमती है, उसे आपके व्यवहार से सदैव यह महसूस होना चाहिए कि सुख एवं दुःख दोनों स्थितियों में आप उसके साथ हैं आज दुःख है तो कल सुख की घड़ी भी आयेगी क्योंकि जीवन में सुख और दुःख आते रहते है।

इच्छित परिस्थिति हर किसी को प्राप्त नही होती। कुछ न कुछ अभाव और असन्तोष हर किसी को बना रहता है। कठिनाइयों के साथ जूझते, प्रतिकूलताओं के साथ ताल-मेल बिठाते और जो अपरिहार्य है उसे धैर्य एवं साहसपूर्वक सहने से ही समायोजन बना रहता है और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। विषम परिस्थितियाँ सदैव नहीं रहेगी। प्रसन्नता का सूरज अवश्य ही आपके बच्चे के जीवन में नई आशा का संचार करेगा। इसलिए परीक्षा में कम अंक प्राप्त करने पर उसे बार-बार डाँटने-फटकारने के बजाय उसे भरपूर प्यार, समर्थन एवं सहयोग दीजिए ताकि आपका बच्चा इस विकट स्थिति से उबरकर एक नई आशा के साथ जीवन में अपना श्रेष्ठ करने के लिए अभिप्रेरित हो क्योंकि आपका यह व्यवहार आपके बच्चे के लिए किसी संजीवनी बूटी से भी ज्यादा कारगर साबित होगा। समस्या समाधान के रास्ते अनेक हैं, हिम्मत से डँट कर मुकाबला करना एवं जीवन के प्रति सकारात्मक, आशावादी एवं संतुलित दृष्टिकोण होना अत्यन्त आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, माया एवं सिंह, अनिता, प्रसन्नता का मनोवैज्ञानिक आधार, अखिल गीत शोध दृष्टि, दिसम्बर 2013, निधि शैक्षिक एवं शोध संस्थान आजमगढ़ (उ0प्र0) भारत द्वारा प्रकाशित।
2. दत्ता, दमयन्ती, दबे पाँव आ पहुँची महामारी, 4 मार्च, 2015, इण्डिया टुडे, पृ0 44-51
3. सिंह अरूण कुमार (2004), आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, नरेन्द्र प्रकाशन जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली।
4. सिंह आर0एन0; कुरेशी ए0एन0 एवं भारद्वाज एस0एम0 (2013) मनोविकृति विज्ञान के आधार, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
5. Suicide: An Indian perspective- NCBI – NIH https://www.ncbi.nlm.nih.gov>NCBI> by R. Radhakrishna – 2012
6. त्रिपाठी, विभा एवं सिंह, माया, आत्महत्या : मनोवैज्ञानिक एवं विधिक दृष्टिकोण, शोध हस्तक्षेप ISSN : 2231-4644, सोसाइटी फार एजुकेशनल इम्पॉवरमेन्ट वाराणसी, उ0प्र0 भारत द्वारा प्रकाशित।
7. Exam Stress: How can parents deal with it, cited at 16/12/2018, 8:00pm, https//www. white swan foundation article / exam stress.how–can-parents death with it/
8. Role of Parents in Reducing Exam stress, visited at 16/12/2018 8:10pm, www.adgamschool.com/rde of - exam- in reducing exam-stress
9. Can we Really Prevent Suicide? visited at 16/12/2018/ 08:20pm, http// www.ncbi.nim.nihogov/pmc/articks/pmc 3492539/

●

शैली वैज्ञानिक अनुशीलन में शैली तात्त्विक सौन्दर्य के आधारभूत तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय और शब्दों (पदों) का चयन-कौशल

डॉ0 मीनाक्षी दुबे[*]

प्रत्येक कला अपने दर्शक, श्रोता या भावक के प्रति कुछ विशिष्ट कथ्य संप्रेषित करती है। कथ्य के संप्रेषण के लिये हर एक कला का अपना विशिष्ट तानाबाना होता है। अपनी विशिष्ट बनावट होती है। बनावट की यह विशिष्टता ही वैसी होती है। शैली की यथाभाव-अनुरूपता ही उनका सौन्दर्य होती है। शैली कथ्य के जितने ही अनुरूप होगी, संप्रेषण उतना ही प्रभावकारी होगा। काव्य-विधा श्रुति-ग्राहय प्रतीको पर आश्रित होती है। अतः काव्य-शैली का चमत्कार श्रुतिग्रह अर्थात सुनने-समझने योग्य बिम्बों के सुन्दर समायोजन में ही दृष्टिगोचर होता है। अधिक लिखाई और छपाई के अविष्कार के पश्चात लिखित या छपे हुए रूप में काव्य बहुत कुछ दृष्यबिम्बों पर ही आश्रित होने लगा है, फिर भी ये दृष्टिगोचर नेत्र-ग्राहय बिम्ब भी काव्य के क्षेत्र में अन्ततः पाठक या दर्शक के मन में पड़े या देखे गए अंगो में निहित श्रवण-गोचर प्रतीकों को ही उभारते हैं। उनकी श्रवण संवेदना को ही उद्‌बुद्ध करते, हैं तब कहीं जाकर काव्य के कथ्य का आस्वाद पाठक या दर्शक को हो पाता है। फलतःकाव्य विधा की शैली प्रधानतः भाषिक प्रतीकों पर ही निर्भर है।

भाषिक प्रतीक एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक व्यवस्था होते हैं। भिन्न-भिन्न समाज अपनी प्राकृतिक क्षमताओं और दैनन्दिनी आवश्यकताओं के अनुरूप विशिष्ट प्रकार की भाषा को अपनी सामाजिक स्वीकृति देता हैं। तभी एक विशेष सामाजिक परिवेश में एक विशेष भाषा मान्य होती है। भाषा की भी लघुतम इकाई वाक्य होते हैं, क्योंकि वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त हुए बिना भाव संम्प्रेक्षित नहीं हो पाता। वाक्यों की संरचना, सार्थक पदों, पद-बन्धों मुहावरों लोकोक्तियों के भाषा के नियमों के अनुरूप समायोजन से होती है। अतः उस विशेष भाषा से अभ्यस्त श्रोता-पाठक-दर्शक या भावक के कर्ण-कुहरों से प्रविष्ट हो उसके मन के भावों को जाग्रत कर कवि या सर्जक के मूल भावों की छवि उनमें जगा कर अभीप्सित भावों के सौन्दर्य-रस का भरभूर आस्वादन करवा देती है। ऐसी दशा में भाषा विशेष की रचना का आस्वादन शैली विज्ञान तभी करवा सकता है जब उस विशिष्ट काव्य रचना को अधिकाधिक प्रभावपरक बनाने के लिए रचनाकार जिन विशेष कौशल का प्रयोग करते हैं उनका विश्लेषण करने पर वैज्ञानिक दृष्टि से निम्नलिखित कौशल प्रत्यक्ष होते है।

शैली वैज्ञानिक दृष्टि से पद या शब्द का अर्थ या भाव की प्रकृष्टता के अनुसार प्रयोग कौशल की दृष्टि से निम्नलिखित कौशल प्रत्यक्ष होते है।

(1) चयन-कौशल

(क) ध्वनि चयनः- किसी भी भाषा में ऐसे तो अनन्त प्रकार की ध्वनियों होती हैं। मगर कुछ बात ध्वनियों विशेष प्रयोजन में प्रयुक्त होती हैं। कवि जब रचना करता है तो उसका भाव जिस पद या शब्द से संप्रेषित हो सकता है। पहले उसकी ध्वनियों को तौलता है। एक भाव को व्यक्त करने के कई शब्द होते है। मगर एक विशेष संदर्भ को व्यक्त करने में वे सभी शब्द सक्षम नहीं हो सकते। दरसल उन शब्दों की ध्वनियों व्यवस्था को निरख परख कर लेने के बाद जिसकी ध्वनियों व्यवस्था भाव-संप्रेक्षण के लिये अधिक अनुकूल होती है। कवि उसे ही चुनता है। भावानुरूप ध्वनि की पहचान और उसका चुनाव करना ही ध्वनि चयन है।

कवि भावों की अभिव्यक्ति अर्थ के आधार पर कर लेता हैं। वह शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियों का चयन करता है। जरूरत पड़ने पर परिवर्तन भी कर लेता है। जैसे-तैसे उसे उपयोगी बनाता है। यही स्थिति ध्वनि चयन है। अर्थ संप्रेषण में ध्वनि का महत्वपूर्ण योग रहता है। यह परम् आवश्यक है कि कोई भी रचनाकार अपनी कृति में ध्वनि का चयन बहुत सोच समझ कर ही करें। यदि भाव के अनुरूप ध्वनि योजना नहीं हुई तो सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। जबकि भाव के अनुसार होने पर उसमें चार चाँद लग जाता है। बिहारी को ऋृंगार रस का सम्राट कहा जाता है। दरसल ऋृंगार भाव के अनुरूप ध्वनि में उन्हें बड़ी महारत हासिल है जैसे उनका निम्नलिखित दोहा ही देखेंः-

रस सिंगार मंजन किए, कंजनु भंजनु नैन।
अबनुँ वचन हूँ बिना कंजनु भंजनु नैन॥

भाव की मुदुलता के अनुरूप कहाँ ध्वनि चयन के माध्यम से कंजनु भंजनु, खंजनु, मंजनु शब्द का उन्होने बड़ी ही सार्थक प्रयोग किया है।

(ख) बलाघात और बल की स्थिति से विशेष सौन्दर्य की सृष्टि

बलाघात

जब किसी भी भाषा को बोलने से उच्चारण में किसी शब्द या शब्दांश पर बल पड़ता है, तो बलाघात कहते है। प्रायः किसी

---

* लेखिका/अनुवादक/वरिष्ठ विद्‌याविद्‌, भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, संस्थान मार्ग, आगरा (उ. प्र.)

एक शब्द या अक्षर पर हमेशा ही बल नहीं दिया जाता है। यह स्थिति शब्द प्रयोग की स्थिति पर ही आधारित होती है। अर्थ को उभारने के लिये वाक्य के किसी पद पर या पद्यांश पर बल दिया जाता है। इस स्थिति के द्वारा शब्द अथवा पद्यांशों में सौन्दर्य की सृष्टि होती है, जो लेखक अथवा वक्ता के मनोभावों को स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। यह स्थिति शब्द ध्वनि, पद वाक्य सभी रूपों में बराबर रूप से प्रकट करती है। यह वक्ता लेखक के कथन के भावों आश्चर्य, हर्ष, दुःख प्रवाह आज्ञापालन इत्यादि को प्रकट करती है।

वाक्य में अपने बल 'तुम' पद पर दिया गया तो अर्थ होगा कि तुम्हें जाना है, किसी और को नहीं सो और कोई जाय न जाए तुम अवश्य जाओ। और अगर बल 'जाओ' पर दिया गया है तो मतलब होगा कि तुम्हें जो बहुत सारे काम करने है उनमें से अभी जाने का कार्य ही करना आवश्यक है। अतः किसी हिचक में मत पड़ो 'जाओ'।

यह स्थिति वक्ता की मनःस्थिति पर ही निर्भर करती है कि वह किसी भी पद को विशिष्टता प्रदान करने के लिये उस पर बल दें।

(ग) लयः- बोलने में भाषा में सुर के आरोह अवरोह या उतार चढ़ाव में लय की स्थिति होती है। यह भाषा में स्वर तन्त्रियों के कम्पनी द्वारा प्रकट होता है। जब ध्वनि का कम्पन अधिक होता है तो स्वर तन्त्रियों क्रियाशील हो ऊपर नीचे होती है। यह शोध ध्वनियों में ही क्रियाशील रहती है। लय या टोन की अनेक कोटियाँ होती है जैसे-उदान्त, अनुदान्त एवं स्वरित आदि। एक ही शब्द अथवा वाक्य को विभिन्न अनुदानों या दान में उच्चरित करके हम भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति कर सकते है।

(घ) ध्वनि समान्तरताः- ध्वनियों का रचनाओं में समान्तर प्रयोग ही ध्वनि समान्तरता है। जिसके द्वारा मधुर लय, तान और मधुर नाद सौन्दर्य की सृष्टि होती है। ध्वनि समान्तरता का प्रयोग आदिकाल से लेकर आज तक के कवियों की रचनाओं में समान रूप से देखने को मिलती है। इसका प्रयोग, यमक, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी अलंकारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसके अन्तर्गत क्रिया की प्रयोग पद्धति का सामंजस्य तथा इस सामंजस्य से उत्पन्न वैशिष्ट्य, वितरण का सामंजस्य शब्द समूह का सामंजस्य आदि आते है। इसके अध्ययन से ही पूरी कविता में व्याप्त कुछ ऐसे विविध कलात्मक प्रयोगों का पता चलता है। जिनके द्वारा कविता के भाविक तत्वों का ज्ञान होता है। हैलिडे के अनुसार-

सामंजस्य का तात्पर्य है- शब्द समूह और व्याकरणिक नियमों के अतुर्दिक वर्णनात्मक कोटियों का प्रस्तुतिकरण। भाषिक संरचना में सामंज्य विभिन्न स्तरों पर होता है। सामंजस्य ऋँखलागत सम्बंध है। व्याकरणिक कोटि सम्बंधी ध्वनि समान्तरता का एक अच्छा उदाहरण प्रसाद जी की निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाई पड़ता है-

'चमक रही थी, लालसा की दीप्ति महिमा
ज्योतिर्मय, हातमयी, विकल, विलासमयी'-।

काव्यविधा के क्षेत्र में ध्वनि चयन प्रक्रिया और उसकी लयात्मक या अनुतान प्रक्रिया की इतना अधिक महत्ता है कि भले ही शब्द सार्थक हो, व्याकरण की दृष्टि से शत-प्रतिशत शुद्ध हो मगर की अनुकूलता के अनुरूप यदि ध्वनियों की योजना नहीं हुई या भावार्थ के सही संदर्भ के अनुरूप अगर लय या अनुतान प्रयुक्त नहीं हुई तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसी से अगर एक विशेष अनुतानमें हम किसी को महापंडित कहते है तो भी अर्थ 'महामूर्ख' का संप्रेषित होता है, तो अगर केई एक भिन्न लहजे में अपने को महागधा कहता है तो भी आप उसे महागधा न समझकर उसकी विनय शीलता समझते हैं।

काव्य पाठ में अगर धीमे स्वर में वीर रस की कविता भी पढ़ी गई तो हास्य रस का द्योतन कराती है। और हास्य रस की कविता की भी लय अगर प्रसंगानुकूल हुई तो ऐसे बेसुरे काव्य पाठक पर हँसी की जगह रूलाई ही आती है।

(2) पद या शब्द चयन कौशल

पद प्रयोग की स्थिति वही है, जो शब्द प्रयोगों में बतलाई गई है। वस्तुतः हिन्दी में शब्द 'पद' की जगह प्रायः ही पद के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर शब्द पद हो जाता है। अतः कविता में शब्द चयन की जो बातें है, दरसल वे पद-चयन की ही स्थितियाँ है। मुक्तिबोध की कविता में पदचयन की स्थिति शब्द-चयन की स्थिति के अनुरूप ही समझी जानी चाहिये।

महर्षि पाणिनी ने शब्द के साथ उसमें ध्वनि रूप और अर्थ की प्रकृति पर जोर दिया है। आचार्य कुतक ने इसी प्रकार रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति या औचित्य के व्याकरणिक विधानों को ध्यान में रखकर-सौन्दर्य को दो भागों में विभाजित किया है

(क) पहला पद पूर्वाद्ध जिसके उन्होंने आठ भेद किये है।

(ख) दूसरा पद- परार्धविक्रता जिसके अन्तर्गत धातु प्रत्यक्ष और प्रत्यय आदि को रखा गया है। कुंतक ने काव्य शैली में विपथन का प्रयोग किया है।

कालिदास ने अपने 'कुमारसंभव' महाभाष्य के पंचम सर्ग में शिव की संस्तुति की है। इस संदर्भ में शिव के दो पर्यायरूपों कपाली, और पिनाकी शब्द का प्रयोग किया है।

(1)'द्वयंगता सम्प्रति शोधनीयता समागत प्रार्थना कपालिनः
कला च सा कान्तिमती कलावत त्वमस्य लोकस्यच कौमुदी
(कुमारसंभव 5171)

(2) कृष्णासारे दवध्यवुस्त्वति-धधिज्युकामुकेन।
मृगानुसरिणः साक्षारपश्यमिव पिमा किमम्॥

यहां अर्थ की दृष्टि से 'पिनाकी' और 'कपाली' में कोई अंतर नहीं है। क्योंकि दोनो ही भगवान शंकर के लिए प्रयुक्त होते हैं अवश्य हम श्लोकों में कोई भी शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके परिवर्तन से पाठक को अर्थ की प्रतीति अथवा छन्द-विधान में कोई अन्तर नहीं दिखेगा। किन्तु यदि इसका शैली विज्ञानकी दृष्टि से अध्ययन करें, तो दोनों श्लोक रचना-संदर्भों में दोनों के अलग-अलग नये अभिसाध्य दृष्टिगोचर होते है।

शिव के वीभत्स रूप की व्यंजना के समय 'कपाली' का प्रयोग उपयुक्त है। क्योकिं 'कपालधारी' शब्द के द्वारा ही शिव के असुन्दर रूप की व्यंजना अभीष्ट है। श्मसार से वीभस्मलेपी शिव के वीभत्स रूप की याद दिलाकर ही कुमारी कन्या गौरी को डराकर उनसे विरत किया जा सकता है। दूसरे शब्द 'पिनाकी' में पिनाक को धारण करने वाले जिसका अर्थ धर्नुधर के रूप में किया जाता है। प्रसंग के अनुकूल है। व्युत्पत्ति पर आश्रित होने के कारण ही यह सौन्दर्य अर्थगत न होकर रूप गति या शैलीगत होने से शैली सौन्दर्य का विधायक है।

शब्द प्रयोग में इतनी सावधानी बरतने की भारतीय परिपाटी बहुत पुरानी है। यह रचना कार्य को और अधिक सुन्दर बनाती है।

(3) वाक्य चयन

वाक्य को लिखने में सभी लेखकों कवियों, सामान्यजनों के अपने तरीके होते है। कोई छोटा वाक्य लिखता है। कोई बड़ा, कोई लच्छेदार वाक्य में विश्वास करता है तो कोई साधारण। इन सभी की चयन प्रणाली अलग-अलग है। वाक्यगत सौन्दर्य पर उनकी चयन प्रणाली अलग-अलग प्रकार की होती है।

1- अपने ही दरों के लुटेरे इलाकों में जोरदार 'मुक्तिबोध'

2- फिर भी क्यों मुझको तुम अपने बादल में घेरे लेती हो। मैं निगोड़ा बन गया स्वयं जिसमें तुम आँच गयी अपनी सुरमई सॉवलापन हो

शमशेर

3- सपना है जगत एक
पल में होता विलीन
समझा सच उसे देवे
जोड़े नाते अनेक

नेमिचन्द्र जैन

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में वाक्यों का चयन अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया है, जिसके करण उनकी कवितायें सशक्त और विषय प्रधान हो उठी है। वाक्यों के छोटे-छोटे टुकड़े भी अपनी बात को बड़े साफ सुथरे ढंग से प्रस्तुत करती हैं। उनका एक शब्द भी अपने में एक विषय के अथाह समूह को समेटे हुए है।

वाक्यों का उतार चढ़ाव कवि की मन की गहराईयों का ही उतार चढ़ाव होता है। जो उन्हें अपनी जीवन के अनुभवों से प्राप्त हुए थे। मुक्तिबोध की कवितायें कहीं से भी सशक्त नहीं दीखती वरन् उनकी कविताओं में विचारों का ऐसा रूझान हुआ है कि जैसा अन्य किसी कवि की रचनाओं में देखने का नहीं मिलता। मुक्तिबोध की कविता यथार्थ की पृष्ठभूमि को उजागर करती है। जिसमें मानवीय जीवन को अत्यन्त निकट में देखा-परखा गया है। इन सब में शैली शिल्प की विविधता भरी हुई है। अपनी विशिष्ट शैली के माध्यम से उन्होंने नये-नये शिल्प गढ़े है, जिससे काव्यभिव्यक्ति का शील्पिक विकास हुआ है।

इसके अतिरिक्त लिपिबद्ध साहित्यिक भाषा अर्थो के विविध स्तरों- अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना पर आश्रित होती है, जो भाषा विज्ञान की सीधी-सपाट बोली और समझी जाने वाली व्यवस्था से सर्वथा अलग प्रकार की चीज़ है। अर्थ यूं भी पदार्थ या भाव-बोधक होते हैं, अतः वे भी भाषा के उच्चारण श्रवण व्यवस्था की सीमा में नहीं आते। अतः विशुद्ध भाषा वैज्ञानिकों के मत से शैली विज्ञान और शैली वैज्ञानिक समीक्षा भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र की वस्तु नहीं है। वह तो बहुत बाद में नाना प्रकार के तर्को-वितर्को के सहारे शैली विज्ञान को भाषा विज्ञान की एक शाखा के रूप में मान्यता मिली।

शैली वैज्ञानिक समीक्षा के विरूद्ध एक प्रश्न चिन्ह साहित्य अनुरागियों ने भी लगाया कि जब यह भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र की चीज़ है तो इसकी घुसपैठ साहित्य में क्यों हो? साहित्यिक मूल्यांकन के अपने ही आधार बहुत पुष्ट प्रामाणिक और पर्याप्त है फिर इसकी क्या आवश्यकता? परन्तु समय बीतने के साथ-साथ शैली वैज्ञानिक समीक्षा साहित्यानुरागियों को भी स्वीकार्य हो गई है।

●

पूर्व-सोवियत और उत्तर-सोवियत समाज के पारिवारिक मूल्यों में बदलाव

नीरज धनकड़[*]

समाजीकरण की प्रक्रिया के साथ मानव जीवन को बेहतर बनाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों के मानव समुदायों ने मनुष्य के आचरण संबंधी नियमों का विधान किया। इन नियमों में समय-समय पर परिवर्तन भी हुए। मानव समाज को संचालित करने वाले ये नियम देश और काल सापेक्ष होते थे। मानव जीवन को बेहतर बनाने में आचरणगत नियमों का महत्त्व है, लेकिन आदर्श मानव जीवन के लिये वे पर्याप्त नहीं थे। मानव जीवन का आदर्श प्राप्त करने के लिए मूल्यों की आवश्यकता महसूस की गई।

मूल्य, मानव जीवन के उन आदर्श गुणों को कह सकते हैं जो मानव जीवन को बेहतर बनाने के लिए अनिवार्य हों। इन मूल्यों का नीति आधारित होना अपरिहार्य था। इसलिए मूल्यों के साथ 'नैतिक' विशेषण अनिवार्य रूप से जुड़ गया। मूल्य, नियम से इस अर्थ में अलग हैं कि नियमों को मानना बाध्यकारी होता है और उसके उल्लंघन की दशा में व्यवस्था दंडित करती है। इसके बरक्स मूल्य अन्तःप्रज्ञा और अन्तःप्रेरणा पर आधारित माने जाते हैं। अतः इनके पालन की अपेक्षा समाज प्रत्येक मनुष्य से करता है। नियमों की तरह व्यवस्था द्वारा ये बाध्यकारी नहीं होते। फिर भी इतिहास गवाह है कि विश्व के विभिन्न देशों के समाजों के मानव जीवन को बेहतर बनाने में मूल्यों की भूमिका नियमों से कम नहीं रही है।

कालांतर में मूल्य भी अनेक प्रकार के हुए, यथा-पारिवारिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य आदि। परिवार, समाज की प्रारंभिक इकाई है। समाज की संरचना 'परिवार' नामक इकाई पर निर्भर है। 'परिवार' नामक संस्था को बचाये रखने और उसे बेहतर बनाने में पारिवारिक मूल्यों का योगदान अहम है। पारिवारिक मूल्य, उन मूल्यों को कहते हैं जो परिवार को बचाये रखने और उसे बेहतर बनाने के लिए आवश्यक हों और जिनका पालन परिवार के प्रत्येक सदस्य से अपेक्षित हो। पारिवारिक मूल्य, व्यक्तिगत मूल्यों और सामाजिक मूल्यों के बीच सामंजस्य की कड़ी होते हैं। मानव सभ्यता के विकास के साथ, देश और काल में परिवर्तन के साथ पारिवारिक मूल्यों में भी बदलाव होते रहे हैं। पारिवारिक मूल्यों के निर्धारण और परिवर्तन में विविध कारक भूमिका निभाते रहे हैं।

धर्म, राजनीतिक व्यवस्था, विज्ञान, भौतिक विकास, औद्योगीकरण, नगरीकरण आदि ने पारिवारिक मूल्यों को गहरे रूप में प्रभावित किया। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सूचना क्रांति और भूमंडलीकरण पारिवारिक मूल्यों को गहराई से प्रभावित कर रहा है। बीसवीं शताब्दी में दुनिया भर में पारिवारिक मूल्यों में तेजी से बदलाव हुआ। रूसी समाज भी इससे अछूता नहीं था। पूर्व-सोवियत, सोवियत और उत्तर-सोवियत समाज के पारिवारिक मूल्यों में एक ही शताब्दी के भीतर काफी बदलाव देखने को मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के रूस को सामाजिक-राजनीतिक रूप से हम तीन कालों में बाँट सकते हैं-1. पूर्व-सोवियत समाज (सन् 1917 ई0 पहले) 2. सोवियत समाज (सन् 1917 से 1990 तक) 3. उत्तर-सोवियत समाज (सन् 1990 के बाद)। तीनों कालों के रूसी समाज के पारिवारिक मूल्यों का अध्ययन करने के लिए तत्कालीन प्रसिद्ध रूसी रचनाकारों की निम्न प्रतिनिधि रचनाओं को आधार बनाया गया है-1. सुज्बा चिलावेका (मिखाइल शोलोखोव) 2- पस्लेद्नी स्त्रोक (वेलेन्तीन रस्पूतिन), 3. स्त्रीलेत्स (विक्तोरिया तोकारेवा) मिखाइल शोलोख़ोव की लंबी कहानी सुज्बा चिलावेका हिन्दी में 'इंसान का नसीब' शीर्षक से अनूदित होकर प्रकाशित हुई है। वेलेन्तीन रस्पूतिन का लघु उपन्यास पस्लेद्नी स्त्रोक हिन्दी में 'अन्तिम घड़ी' नाम से अनूदित होकर प्रकाशित हुआ। विक्तोरिया तोकारेवा का उपन्यास 'स्त्रीलेत्स' हिन्दी में 'धनुराशि का पुरुष' शीर्षक से अनूदित हुआ है।

मिखाईल शोलोखोव की लम्बी कहानी 'इंसान का नसीब' सन् 1956-57 में प्रकाशित हुई। इस कहानी का नायक अन्द्रेई सोकोलोव, हजारों रूसियों का ही नहीं, बल्कि पूरे रूसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है। यह उसकी नहीं, बल्कि रूसी समाज और रूसियों की त्रासद कहानी है। शोलोखोव की यह कहानी द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है, जिसे लिखने में लेखक को सात वर्ष का समय लगा। इस कहानी में युद्ध द्वारा जनता पर, समाजवादी रूस पर ढाये गए कहर और कभी न मिटने वाले प्रभावों और जख्मों को मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है। यह कहानी विपरीत परिस्थितियों में मनुष्य में बची अच्छाई और मानवता पर आधारित है।

नायक अन्द्रई सोकोलोव का जन्म पूर्व सोवियत रूस में सन् 1900 में हुआ। अक्टूबर क्रांति सन् 1917 के समय रूस में हुए गृह-युद्ध में वह लाल सेना में रहा। उसका छोटा सा परिवार था, जिसमें माता-पिता और बहन थीं। सन् 1922 के अकाल के समय सोकोलोव के परिवार के सभी सदस्य भुखमरी का शिकार हो गए। इस दुनिया में वह अकेला रह गया। रूस में सत्ता परिवर्तन हो चुका था। जार शासन के बदले समाजवादी समाज की स्थापना हो चुकी

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, रसियन, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

थी। परन्तु देश की आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब थी। लोगों के पास खाने के लिए कुछ नहीं था, रहने के लिए उचित घर भी नहीं था। परन्तु नए समाजवादी रूस में सभी साथ मिलकर विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए, आगे बढ़ रहे थे। लोगों में देश और समाज की निःस्वार्थ सेवा की भावना थी।

सोकोलोव की शादी एक अनाथ लड़की से होती है। दो अनाथ मिलकर, नए जीवन की शुरूआत करते हैं। दोनों ने ही जीवन में अनेक दुःख-मुसीबतें झेली। सोकोलोव की पत्नी हँसमुख, समझदार और मधुर स्वभाव की थी। वह उसकी सेवा और देखभाल में कोई कसर न छोड़ती। साधनों के अभाव में भी वे सुखी और शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। कभी-कभी रूढ़िवादी पुरुष की तरह सोकोलोव अपनी पत्नी पर बहुत गुस्सा होता, परन्तु उसकी पत्नी कभी उसके इस व्यवहार का सख्ती या रुखाई से जवाब नहीं देती। सोकोलोव के हद से ज्यादा पीने पर भी वह उसे कभी कुछ न कहती। उसकी पत्नी समझदार थी, जिसके कारण उनके बीच एक प्रेमपूर्ण और सौहार्द्रपूर्ण रिश्ता था। रूस में हुए सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का प्रभाव अभी परिवार पर नहीं पड़ा था। रूढ़िवादी रूस समाजवादी सोवियत समाज में बदल चुका था। परन्तु पारिवारिक रिश्तों और मूल्यों में अभी बदलाव नहीं हुए थे।

जल्दी ही वे तीन बच्चों के माता-पिता बन गए। पहला-बेटा और फिर दो बेटियां। धीरे-धीरे सोकोलोव अपने परिवार के लिए अपने में परिवर्तन करता है। उसने पीना छोड़ दिया था। उसके लिए उसका परिवार और परिवार की खुशी महत्त्वपूर्ण थी। वह परिवार के जिम्मेदार मुखिया की तरह अपने कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वहन करता है। धीरे-धीरे उनके पास सब कुछ था-घर, खाना, कपड़ा और काम। वे अपना जीवन खुशी से व्यतीत कर रहे थे, तभी सूचना मिलती है कि जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया है।

सोकोलोव को युद्ध में बुलाया जाता है। शोलोखोव ने कहानी में सोकोलोव और उसके परिवार की विदाई का मार्मिक और भयावह चित्र प्रस्तुत किया है। युद्ध के दौरान सोकोलोव ने अनेक मुश्किलों का सामना किया। वह जर्मनों द्वारा बन्दी बनाया गया और वहाँ विभिन्न शारीरिक और मानसिक यातनाएं झेलीं। परंतु उसने कभी हार नहीं मानी और साहस से काम लिया। वह जर्मनों को धोखा देकर किसी तरह अपने देश आने में सफल हो जाता है। अपने साथ वह जर्मन अफसर और गोपनीय दस्तावेजों को भी लाता है। सोकोलोव जैसे हजारों रूसियों की देशभक्ति, दृढ़निश्चय और साहस के कारण ही रूस ने जर्मन की मजबूत और विशाल सेना पर विजय प्राप्त की।

अपने देश में आकर सोकोलोव को अत्यंत दुखद खबर मिलती है कि जर्मनों का बम सीधे उसके घर पर आकर गिरा; जिससे उसका परिवार खत्म हो गया और उस जगह एक बड़ा सा गड्ढा हो गया है। उसे अपना जीवन निरर्थक लगने लगा। वह जीना नहीं चाहता था। तभी उसे मालूम होता है कि उसका बेटा जीवित है और कप्तान के ओहदे पर, एक तोपखाने की कमान संभाले है। अब तक उसे छः तमगे और पदक मिल चुके हैं। वह फिर से नए परिवार के सपने देखने लगता है। बेटे की शादी करेगा, दादा बनकर उसके बच्चों का ख्याल रखेगा। परन्तु उसके ये सपने महज सपने रह गए। 9 मई, 1945 को रूसियों ने जर्मनों पर विजय प्राप्त की, उसी दिन सुबह एक जर्मन निशानची ने उसके बेटे को मार डाला।

यह कहानी सिर्फ सोकोलोव की नहीं, बल्कि रूसी समाज की है, जिसमें हजारों रूसियों ने अपने परिवार को खोया और हजारों बच्चे अनाथ हो गए। चारों ओर विनाश ही विनाश। सब खत्म होने के बाद भी सोलोकोव के जीवन में, फिर नई रोशनी आती है। वह एक अनाथ बच्चे से मिलता है, जिसके माँ-बाप युद्ध में मारे गए हैं। वह उस अनाथ बच्चे को अपनाता है। फिर से दो अनाथ मिलकर, नया जीवन शुरू करते हैं। यह कहानी मनुष्य के विपरीत परिस्थितियों में मनुष्य बने रहने की कहानी है-''यह रूसी, यह अदम्य इच्छाशक्तिवाला आदमी सब कुछ सह जायेगा, टूटेगा नहीं और यह लड़का अपने पिता की स्नेह-छाया में रहकर एक नये सांचे में ढलेगा। वह एक ऐसा आदमी बनेगा, जो देश की पुकार पर कड़ी से कड़ी मुसीबत सह सकेगा और बड़ी से बड़ी बाधा की कलाई मरोड़ सकेगा।''[1]

नायक सोलोकोव का जन्म पूर्व-सोवियत समाज में होता है। 1917 ई0 की क्रांति के समय हुए गृह-युद्ध में सोलोकोव रेड आर्मी की तरफ से लड़ता है। अकाल और भुखमरी के कारण इसका पूरा परिवार नष्ट हो जाता है। सोवियत काल में इसका परिवार बसता है। रूढ़िवादी पूर्व-सोवियत समाज, समाजवादी सोवियत समाज में बदल चुका है। पितृसत्ता, विषमता की जगह समाज में समता की स्थापना हो चुकी है, लेकिन पारिवारिक मूल्यों में अभी बदलाव नहीं हुआ है। नायक सोलोकोव समाजवादी सोवियत समाज का हिस्सा होते हुए भी पूर्व-सोवियत समाज के पारिवारिक मूल्यों का निर्वाह करता है। परिवार के सदस्यों के बीच प्रेम, सौहार्द और वफादारी बनी रहती है। नायक मुखिया की तरह अपने कर्तव्यों का निर्वहन करता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय उसका परिवार समूल नष्ट हो जाता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह धैर्य और इंसानियत नहीं खोता है। सोलोकोव एक अनाथ बच्चे को अपनाकर उसके पिता की जिम्मेदारी का निर्वहन करता है। यह पारिवारिक मूल्यों के साथ मानवीय मूल्यों के बचे रहने की कहानी है। सोलोकोव अपने समय का प्रतिनिधि पात्र है।

वेलेन्तीन रस्पूतिन का चर्चित उपन्यास 'अन्तिम घड़ी' सन् 1970 में प्रकाशित हुआ। यह एक ग्रामीण रूसी बूढ़ी-विधवा 'आन्ना' की त्रासद कथा है। यह उपन्यास वृद्ध के जीवन के अन्तिम तीन दिनों की घटनाओं पर आधारित है। वह अस्सी वर्ष पूरे कर चुकी है और मरणासन्न है। इन तीन दिनों में वह अपने समस्त जीवन के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करती है। इस उपन्यास में

समाजवादी रूसी समाज की विभिन्न घटनाओं और नीतियों का चित्रण किया गया है।

बूढ़ी आन्ना ने अनेक बच्चों को जन्म दिया, परन्तु केवल पाँच ही जीवित रहे। वह अपने छोटे बेटे मिख़ाईल के साथ गाँव में ही रहती थी। उसकी बड़ी बेटी वार्वारा पास के गांव में रहती थी। बड़ा बेटा इल्या और मझली बेटी ल्यूस्या शहर में रहते थे। सबसे छोटी बेटी तात्याना (तान्चोरा) कीयेव में रहती थी। छोटी बेटी तात्याना सबसे दूर रहती थी।

बूढ़ी आन्ना की स्थिति बहुत खराब थी और किसी वक्त भी उसकी मृत्यु हो सकती थी। मिख़ाईल अपने भाई-बहनों को तार भेजकर, माँ की स्थिति की सूचना देता है। अगले दिन की शाम तक सभी भाई-बहन, केवल तान्चोरा को छोड़कर, घर आ जाते हैं। वे सभी अपनी माँ को देखते हैं, जो कि जीवन के अन्तिम मोड़ पर थी। वे सभी अनेक वर्षों से घर नहीं आये थे। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और औद्योगिक परिवर्तनों का असर परिवार पर इस तरह पड़ा कि गाँव में अधिकतर बच्चे शहर में जा बसे। वे अपने शहरी जीवन में इतने व्यस्त हो गए कि वहाँ जाकर अपने गाँव, समाज और पारिवारिक रिश्तों को भी भूल गए। जहाँ वे बड़े हुए, जिस माँ ने अनेक मुश्किलों का सामना करते हुए अकेले उन्हें पाला, उसे भी भूल गए। आज भी बूढ़ी आन्ना के बच्चे उससे मिलने नहीं, बल्कि माँ को अन्तिम विदाई देने आए हैं।

अभी बूढ़ी माँ की साँसे चल रही थीं, वहीं उसके बच्चे उसके विदाई समारोह की तैयारियाँ कर रहे थे। इल्या और मिख़ाईल माँ के विदाई भोज में गाँव वालों को पिलाने के लिए वोदका की क्रेट खरीद कर लाते हैं। वहीं ल्यूस्या माँ की अन्त्येष्टि में पहनने के लिए काले रंग का फ्रॉक सिल रही है। वे सभी माँ की मृत्यु का इतंजार कर रहे हैं। मृत्यु के उपरान्त किए जाने वाले रीति-रिवाजों को पूरा करने की चिंता ज्यादा थी। किसी को मरणासन्न माँ में दिलचस्पी नहीं थी। अगली सुबह माँ की स्थिति में सुधार होने लगता है। सभी बच्चों को घर पर देखकर माँ अत्यधिक प्रसन्न होती है, तथा तान्चोरा का इंतजार करने लगती है। अब बूढ़ी आन्ना के बच्चों को समझ नहीं आ रहा, कि क्या करें। जिस मनःस्थिति में वे घर आए थे, उसके विपरीत हो रहा था।

ल्यूस्या परेशान थी, न जाने कितने दिन और रुकना पड़ जाए। इल्या और मिख़ाईल सुबह से ही वोदका पीने लगते हैं। तान्चोरा तो अभी तक आयी भी नहीं, जैसे उसे मालमू हो कि माँ की स्थिति में सुधार हो रहा है।

ल्यूस्या और वार्वारा कहने को सगी बहने हैं, परन्तु दोनों में कोई रागात्मक लगाव नहीं था। ल्यूस्या का मन न तो किसी को देखने और न ही किसी से मिलने का हो रहा था। शहर जाकर या समझ के साथ ल्यूस्या पूरी तरह बदल गई थी। वह अपनों के प्रति संवेदनहीन हो गयी थी। इल्या को लग रहा था, कि माँ नाटक कर रही है। मिख़ाईल का मानना था कि यही सही वक्त है, मर जाना चाहिए। सभी लोग घर आए थे और तैयार भी थे। कुछ दिनों बाद मरने पर उसको फिर से सबको तार भेजना पड़ता और तब कोई आता या न आता।

उपन्यास में नया मोड़ तब जाता है, जब माँ को तान्चोरा के लिए अत्यधिक परेशान होता देखकर, मिख़ाईल झूठ बोलता है कि उसने तान्चोरा को तार भेज कर मना कर दिया है कि वह न आये, माँ की स्थिति में सुधार हो रहा है। यह सुनते ही माँ बिफर पड़ती है और मिख़ाईल पर आरोप लगाती है, कि यह सब इसने जानबूझकर, मुझे तंग करने के लिए किया है। माँ सबसे मिख़ाईल के बुरे बर्ताव के बारे में भी बताती है कि वह शराब पीकर उसे भला बुरा कहता है। वह उस पर बोझ बन गई है। वह चाहता है कि जितना जल्दी हो सके, मर जाए। यह सुनकर सभी भाई-बहन मिख़ाईल को भला-बुरा कहते हैं। वे मिख़ाईल से पूछते हैं कि माँ को तंग करने का अधिकार उसे दिया किसने? मिख़ाईल को भी गुस्सा आता है और उन सभी के उपदेश से तंग आकर वह अपने भाई-बहनों से माँ को अपने साथ ले जाने के लिए कहता है। माँ के साथ-साथ वह एक गाय देने का भी वादा करता है। लेकिन सभी को साँप सूँघ जाता है। कोई भी माँ को अपने यहाँ ले जाने के लिए तैयार नहीं होता। मिख़ाईल और ल्यूस्या में कहा-सुनी भी हो जाती है। मिख़ाईल सबको सुनाते हुए कहता है कि अगर माँ को नहीं ले जा सकते, तो उसे नसीहत न दे कि माँ की देखभाल कैसे करनी है।

बूढ़ी आन्ना ने अपना सारा जीवन बच्चों को समर्पित कर दिया था। उसने सभी मानवीय कर्तव्य निभाये थे, जो उसके, समाज परिवार और बच्चों के लिए जरूरी थे। ''बूढ़ी आन्ना का जीवन बहुत साधारण रहा था-बच्चों को जन्म दिया, काम किया, नये दिवस से पहले कुछ देर के लिए शय्या पर लेटीं, फिर से उठीं, बुढ़ाई, और यह सब वहीं हुआ, जहाँ वह जन्मी थीं।''[2] जीवन के अन्तिम समय में बूढ़ी आन्ना को सबसे ज्यादा जरूरत अपने बच्चों के साथ की थी। लेकिन उसके बच्चों के पास उसके लिए समय नहीं था। बूढ़ी आन्ना और जीना नहीं चाहती थीं। उसने उदास, तनावपूर्ण और कटु मौन के साथ ईश्वर से प्रार्थना की, ''हे ईश्वर, मुझे मुक्ति दें, मैं जाती हूँ। मेरी मृत्यु ला दे, मैं तैयार हूँ।''[3]

परन्तु बूढ़ी माँ आन्ना का जीवन अभी शेष था। अगली सुबह भी उन्होंने देखी। बीते हुए कल की सुबह को देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई थी। कल उन्हें अनेक आशाएं थीं। परन्तु आज उन्हें अपना जीवन फालतू और निरर्थक लग रहा था। उन्हें सभी से घृणा हो गयी थी, किसी को उनकी आवश्यकता नहीं थी-''तो फिर वह अपनी परवाह क्यों करे, यदि और किसी को उनकी परवाह नहीं है?''[4]

रात की घटना के बाद मिख़ाईल और ल्यूस्या के सम्बन्ध खत्म होने की स्थिति में थे। केवल बूढ़ी आन्ना ल्यूस्या से विनती करती है कि मिख़ाईल के साथ सुलह कर ले। इस तरह भाई-बहन

के रिश्ते को खत्म न करें। परन्तु ल्यूस्या माँ की बात नहीं मानती। बाकी भाई-बहन को भी इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अन्त में ल्यूस्या उसी दिन वापस शहर जाने का निश्चय करती है। वह इल्या को बताती है कि वह जा रही है, अगला स्टीमर तीन दिन बाद है और वह इतने दिन यहाँ नहीं रुक सकती। इल्या भी उसी दिन जाने को तैयार हो जाता है। वार्वारा भी उन्हीं के साथ चल देती है। बूढ़ी माँ और मिख़ाईल के कहने पर भी वे सभी नहीं रुकते। बूढ़ी आन्ना उनसे, रोते हुए कही जा रही थी-''मैं मर जाऊँगी, मर जाऊँगी। देख लेना। आज ही चल दूँगी। ज़रा रुक जाओ। बस थोड़ा और रुक जाओ। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। ल्यूस्या! और इल्या, तू भी! ज़रा रुक जाओ। मैं तुम्हें कह रही हूँ कि मर जाऊँगी, जरूर मर जाऊँगी।''[5] उन पर माँ की बातों का कोई असर नहीं हुआ और वे चले गये। उसी रात बूढ़ी आन्ना के प्राण निकल गये।

इस उपन्यास के माध्यम से रस्पूतिन ने बीसवीं शताब्दी के मध्य में सोवियत रूसी समाज के पारिवारिक मूल्यों में हो रहे बदलाव और तीव्र ह्रास को व्यक्त किया है जिसका कारण रस्पूतिन ने मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध में आए बदलाव और तत्कालीन समय में मनुष्य की प्रकृति से दूरी को माना है।

बीसवीं सदी के मध्य में रूसी शहरी और ग्रामीण जीवन में भिन्नताएँ आ गई हैं। शहरी जीवन पर पश्चिम देशों का प्रभाव दिखाई देता है। वहीं ग्रामीण जीवन पारस्परिक रूसी संस्कृति से जुड़ा हुआ है। रस्पूतिन का ग्रामीण जीवन से लगाव उपन्यास में साफ दिखाई देता है। वह उपन्यास के माध्यम से रूसी ग्रामीण महिलाओं के संघर्ष, बलिदान और साहस की सराहना करते हैं। समाजवादी समाज में रूस के विकट समय में रूसी महिलाओं ने पुरुषों से अधिक काम किया। ''पिछली लड़ाई में आधी जीत तो गाँव की औरतों ने दिलवाई थी।''[6] ग्रामीण महिलाएँ ही प्रकृति के नियम को निरंतर आगे बढ़ा रही हैं यानी बच्चों को जन्म दे रही हैं, ''क्योंकि संसार में आने का मनुष्य का यही उद्देश्य है, ताकि संसार में लोगों की कमी न हो''[7] जैसे बूढ़ी आन्ना और उसकी बेटी वार्वारा और मिख़ाईल की पत्नी नाद्या।

शहरी महिलाओं के बारे में उपन्यास में रस्पूतिन ने लिखा है, ''उसके जीवन का उद्देश्य ही यही है कि वह अपने को दिखाये। मुख्य बात तो यह है कि कुछ करना नहीं जानतीं, किसी काम के योग्य नहीं हैं। शीघ्र ही पैदा करना भी भूल जायेंगी।''[8] जैसे ल्यूस्या, तान्चोरा और इल्या की पत्नी।

वेलेन्तीन रस्पूतिन की लंबी कहानी 'पस्लेद्नी स्रोक' में एक बूढ़ी-विधवा महिला की त्रासद कथा है। महिला की पाँच सन्तानें हैं, लेकिन बुढ़ापे में जब उसे अपनी संतानों की सबसे ज्यादा जरूरत है तो सब कन्नी काटने लगते हैं। अंततः उसकी मौत हो जाती है। यह पारिवारिक मूल्यों के ह्रास की ही कहानी नहीं बल्कि मानवीय मूल्यों के भी ह्रास की कहानी है। यह कहानी बीसवीं शताब्दी के मध्य में सोवियत रूसी समाज के पारिवारिक मूल्यों में हो रहे बदलाव और ह्रास को व्यक्त करती है। संभवतः यह केवल रूसी समाज का सच नहीं बल्कि उस युग के भारतीय समाज सहित दुनिया के बड़े हिस्से का सच है। इसका गहरा संबंध उस समय के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक परिवर्तनों से है।

विक्तोरिया तोकारेवा का लघु उपन्यास 'स्त्रीलेत्स' सन् 2005 में प्रकाशित हुआ। विक्तोरिया तोकारेवा प्रसिद्ध समकालीन रूसी महिला साहित्यकार हैं। समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर अब रूस में पूँजीवादी व्यवस्था आ चुकी है। रूस के विघटन के बाद रूस में आया सामाजिक और पारिवारिक बदलाव, तोकारेवा के साहित्य की मुख्य विषयवस्तु है।

इस लघु उपन्यास में तोकारेवा उत्तर-सोवियत समाज के यथार्थ का बखूबी-चित्रण करती हैं। इस उपन्यास का नायक रूस के विघटन और उत्तर-सोवियत पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है। 'कोस्त्या' इस उपन्यास का नायक है, जो सोवियत समाज में इंजीनियर था। विघटन के बाद वह बेरोजगार हो गया और निजी गाड़ी चलाने का काम करने लगा। उसका छोटा सा परिवार है, जिसमें पत्नी, बेटा और सास हैं। कोस्त्या का परिवार आर्थिक तंगी में किसी तरह गुजारा कर रहा है। कोस्त्या को काम करना पसंद नहीं था, न ही कोई जिम्मेदारी निभाना। तोकारेवा के अनुसार कोस्त्या 21वीं सदी का 'इवगेनी ओनेगिन' (अलक्सांद्रेइ, पुश्किन के उपन्यास का नायक) था, जिसे अवांछित व्यक्ति कहते हैं।

एक दिन कोस्त्या की कात्या नाम की कामकाजी महिला से मुलाकात होती है। कोस्त्या को पहली ही मुलाकात में कात्या से प्यार हो जाता है। दूसरी मुलाकात में दोनों के बीच शारीरिक सम्बन्ध भी बन जाते हैं। वह कात्या के प्रति अपनी अनुभूतियों के लिए अपने परिवार को छोड़ देता है। कोस्त्या अच्छी तरह जानता है कि उसके परिवार का वह एकमात्र सहारा है। परन्तु सब कुछ जानते हुए भी वह ऐसा करता है।

आधुनिक समाज में परिवार को छोड़ना और विवाहेत्तर अवैध संबंध बनाना आम बात है। रूसी समाज में पहले ऐसा नहीं होता था। तोकारेवा लिखती हैं कि पुरुष तो सदा से ऐसे ही रहे हैं। परन्तु नए पूँजीवादी रूसी समाज में स्त्रियाँ भी अपने परिवार के साथ विश्वासघात करने से पीछे नहीं हैं। कात्या भी शादीशुदा महिला है। कात्या जानती है कि कोस्त्या के साथ उसके संबंध उचित नहीं हैं। फिर भी वह अपने को कोस्त्या के साथ संबंध बनाने से नहीं रोकती।

कात्या व्यावहारिक महिला है। वह पैसे कमाना चाहती है । वह जानती है कि पूँजीवादी व्यवस्था में पैसा ही सब कुछ है। कोस्त्या पैसे कमा नहीं सकता, इसलिए वह उससे प्यार और उसकी इज्जत नहीं कर सकती। पैसा-यथार्थ है। कोत्स्या के जीवन में अनुभूतियों के लिये कोई स्थान नहीं है। कात्या यह सब जानते हुए भी कोत्स्या से क्यों सम्बन्ध बनाए रखती है। इसका जवाब शायद

उसके पास भी नहीं है। समाज में आए अनेक परिवर्तनों ने मनुष्य के चरित्र को बहुत ही जटिल बना दिया है। उसे खुद नहीं पता वह क्या और किसलिए कर रहा है। कात्या अपने पति के साथ भी रिश्ता बनाए रखना चाहती है, क्योंकि वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है जिसके पास पैसा और इज्जत दोनों है। कात्या अपने, विवाहेत्तर सम्बन्धों को गुप्त रखना चाहती है।

उपन्यास में कोस्त्या को पैसों से भरा थैला प्राप्त होता है। इन पैसों का संबंध समाज में तेजी से विकसित हो रहे माफिया तंत्र से है। सोवियत समय में लोगों ने अभाव में जिंदगी व्यतीत की और निःस्वार्थ समाज की सेवा की। परन्तु आज लोगों को समाज, देश और परिवार में कोई दिलचस्पी नहीं है। आज के लोग सिर्फ अपने बारे में सोचते हैं। कोई भी गलत काम करने में उन्हें डर नहीं लगता। समाज, व्यवस्था, परिवार और प्रेम सब जगह पैसा महत्त्वपूर्ण हो गया है।

यह उपन्यास उत्तर-सोवियत समाज में बदलते पारिवारिक मूल्यों के कड़वे यथार्थ को उजागर करता है। इसका नायक कोत्स्या है जो सोवियत-समाज में इंजीनियर था। सोवियत संघ के विघटन के बाद बेरोजगार होकर ड्राईवर बनता है। बदले आर्थिक-सामाजिक हालात में वह निकम्मा हो जाता है। पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति वह ईमानदार नहीं रहता और अपनी जिम्मेदारियों से भागता है। विवाहेतर अवैध संबंध भी बनाता है। प्यार और सेक्स अब अलग चीजें हैं। समाज, व्यवस्था, परिवार और प्रेम सब जगह पैसा महत्त्वपूर्ण हो गया है। पैसे के लिए व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। यह कहानी उत्तर-सोवियत समाज में पारिवारिक मूल्यों के तीव्र ह्रास को चित्रित करती है।

उल्लिखित रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्व-सोवियत, सोवियत और उत्तर-सोवियत समाज के पारिवारिक मूल्यों में लगातार विघटन हुआ है। सन् 1917 की क्रांति के बाद के सोवियत समाज में पारिवारिक मूल्यों में तेजी से विघटन होता है। सोवियत संघ के विघटन के बाद उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव पारिवारिक मूल्यों पर भी पड़े। उत्तर-सोवियत समाज पारिवारिक मूल्यों की दृष्टि से संकट के दौर में है। पारिवारिक मूल्यों के विघटन से परिवार नाम की संस्था पर संकट खड़ा हो गया है जो कि समाज की आधारभूत इकाई है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मि0 शोलोख़ोव, बीसवीं शताब्दी का साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली एवं रादुगा प्रकाशन, मास्को, 1988, ISBN 5-05-002102-2, पृ0 163-164
2. व0ग्रि0 रस्पूतिन, तीन रूसी उपन्यास, अनुवादक हेमचन्द्र पांडे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1996, ISBN 81-260-0114-3, पृ0 174
3. वही, पृ0 166
4. वही, पृ0 186
5. वही, पृ0 202
6. वही, पृ0 139
7. वही, पृ0 175
8. वही, पृ0 138

●

नारी और याज्ञवल्क्यस्मृति

डॉ0 पल्लवी त्रिवेदी[*]

शिवः शक्तया युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि

प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।।[1]

नारी समाज की आधारशिला है, मानव सभ्यता के विकास में उसकी सृजनात्मक भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति को संस्कृति का स्वरूप देने और उसे विकृतियों से बचाने में उसका अनुपम योगदान इतिहासनिष्ठ है। अपने विविध रूपों में नारी पुरुष को संवर्द्धन, प्रोत्साहन और शक्ति प्रदान करती है।

चूँकि नारी के क्रियाकलापों से तथा नारी की उपस्थिति से जीवन का कोई भी क्षेत्र पृथक् नहीं है अतः प्रत्येक वह क्षेत्र जिसका नारी से सम्बन्ध है जैसे की न्यायिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक आदि से सम्बद्ध विभिन्न प्रमुख तथ्यों का प्रतिपादन स्मृतियों में किया गया है।

स्मृति जिसका तात्पर्य स्मरण एवं प्रत्यास्मरण से है वस्तुतः श्रुति (वेद) का ही अनुवर्तन करती है। समय-समय पर प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों ने सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित रूप देने के प्रयास में स्मृतियों की रचना की। स्मृतियों में स्मृतिकारों ने समाज के हर विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं इसी क्रम में नारी भी स्मृतिकारों की दृष्टि में अदृष्ट नहीं रही है। स्मृतियों की मौलिक सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों को सम्पत्ति, ज्ञान और शक्ति का प्रतीक माना गया है। सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में कन्या, पत्नी, माता तथा गृहणी के रूप में उसकी भूमिका अहम होती है।

नारी हित से सम्बद्ध तथ्य विभिन्न स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित किये गये हैं किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति नारी हित के सन्दर्भ में विशिष्ट है क्योंकि स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने नारी को सामाजिक स्तर पर महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने के साथ-साथ उससे सम्बद्ध विभिन्न विषयों यथा- नारी सम्मान, कन्या का हित, कन्या भ्रूण हत्या, नारी के प्रति किये जाने वाले अपराधों के लिए दण्ड, स्त्रीधन, दायांश की व्यवस्था आदि पर विचार किया है।

नारी का सम्मान

नारी सर्वदा और सर्वत्र सम्मानित है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पति, भाई, पिता, श्वसुर, देवर तथा अन्य पुरुषों के द्वारा भी स्त्री को सम्मान दिया जाना चाहिए-

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः।

बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।।[2]

मनुस्मृति में भी इस प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणभीप्सुभिः।।[3]

क्योंकि जिस कुल में स्त्रियाँ (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, कन्यादि) दुःख पाती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है और जिस कुल में सुखी रहती हैं वह कुल उन्नति करता है।[4]

वराहमिहिर का तो यहाँ तक कहना है कि लोग नारियों के गुणों को छोड़कर केवल दोषों का ही बखान करते हैं वे यह नहीं सोचते कि कौन सा ऐसा दोष है जो पुरुषों में नहीं पाया जाता। नारी में तो पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुण पाये जाते हैं फिर नारी पत्नी तथा माता दोनों का ही स्वरूप है।[5]

नारी के प्रति स्मृतिकारों का यह सम्मानजनक दृष्टिकोण निश्चय ही अनुकरणीय है।

कन्या का हित- महर्षि याज्ञवल्क्य कन्याओं के प्रति विशेष रूप से उदार हैं। वे कहते हैं कि किसी कन्या का वास्तविक दोष भी प्रकाशित करने पर सौ पण और उस पर झूठा दोष लगाने पर दो सौ पण दण्ड दें-

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद्वे तु मिथ्याभिशंसने।[6]

उन्होंने कन्या के अपहरण पर भी दण्ड व्यवस्था की है-

अलंकृतां हरन्कन्यामुत्तमं ह्यन्यथाऽधमम्।

दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः।।[7]

कन्या भ्रूण हत्या- वर्तमान में कन्याभ्रूण हत्या एक व्यापक एवं विकराल बुराई है। संसार में स्त्री पुरुष का सम अनुपात बना रहे

* सेण्टेनरी विजिटिंग फेलो भारत अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इसके लिए कन्याभ्रूण हत्या को रोका जाना एवं कन्या जन्म को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है। क्योंकि लोग यह नहीं समझते की कन्या ही वंश वृद्धि में सहायक है। स्त्री ही सन्तान को जन्म देकर सृष्टि प्रक्रिया को गति प्रदान करती है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी तथ्य की ओर सङ्केत कर अप्रत्यक्ष रूप से कन्याभ्रूण हत्या को हतोत्साहित किया है-

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।

यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः॥[8]

नारी के प्रति किये जाने वाले अपराधों के लिये दण्ड-

नारियों के प्रति न्याय के लिए याज्ञवल्क्य ने कुछ महत्त्वपूर्ण विधान संकेतित किये हैं, उन्हें सदैव यह ध्यान रहा कि सामाजिक मर्यादाओं में जकड़ी नारी पुरुषों के किन अत्याचारों से कुण्ठा का शिकार हो सकती है। अतः याज्ञवल्क्य ने उन तथ्यों पर विचार कर दण्ड का प्रावधान किया जिनके माध्यम से स्त्रियाँ आक्रान्त की जाती थीं।

महर्षि याज्ञवल्क्य व्यभिचार सम्बद्ध तथ्यों को सबके समक्ष लाना चाहते थे ताकि व्यभिचारी व्यक्ति दण्डित हो और व्यभिचारोन्मुख अन्य व्यक्ति व्यभिचार में प्रवृत्त न हो। याज्ञवल्क्य के काल में बलात्कारी पुरुषों को वध का दण्ड मिलता था-

सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः।

प्रातिलोम्ये वधःपुंसो....॥[9]

तथा- **दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा॥**[10]

यहाँ तक कि स्वैरिणी स्त्रियाँ जो पुरुष संसर्ग से अपनी आजीविका चलाती थीं उनसे भी इच्छा के विरूद्ध बलात्कार करने वाले पुरुषों के लिए महर्षि ने दण्ड विधान किया-

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः।

बहूनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक्॥[11]

पति द्वारा अकारण ही पत्नी का त्याग कर देने की स्थिति में पति को पत्नी के भरण पोषण तथा उसे अपनी सम्पत्ति का एक तिहाई भाग देने का निर्देश किया-

आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्।

त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः॥[12]

क्योंकि पत्नी का परित्याग उसके प्रति किया गया अपराध ही है। इस प्रकार पत्नी के लिए जब पति के स्नेह के सम्बल पर आघात हुआ तो उन्होंने धन का सम्बल प्रदान किया।

वर्तमान में स्त्री जाति को लेकर कहे गये अपशब्द अपराध की श्रेणी में नहीं आते और इसके लिए कोई दण्ड व्यवस्था भी नहीं है किन्तु हमारी संस्कृति में पूजनीया नारी को लेकर कहे गये अपशब्द क्या नारी का अपमान नहीं है?

इस संदर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा किये गये दण्ड विधान से प्रेरणा लेकर वर्तमान में भी इस विषय को अपराध घोषित किया जाना चाहिए क्योंकि महर्षि ने माँ या बहन से सम्बन्धित अपशब्दों को कहने पर दण्ड की योजना की है-

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह

शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम्॥[13]

इस प्रकार के निर्देश महर्षि की स्त्रियों के प्रति सद्भावना को प्रकट करते हैं।

स्त्रीधन- स्मृतिकारों ने नारी के आर्थिक अधिकारों में विवाह में मिलने वाले स्त्रीधन की चर्चा की है। स्त्रीधन का जो निर्धारण किया गया है उसके अन्तर्गत मुख्यरूप से निम्नलिखित प्रकार के धन आते हैं- विवाह के समय अग्नि के सम्मुख दिया गया धन, पितृगृह से पतिगृह जाते समय दिया गया धन, प्रीतिकर्म में दिया गया धन, आधिवेदनिक शुल्क, बन्धुदत्त अन्वधिक, यौतक, रिक्थ, संविभाग, परिग्रह आदि द्वारा प्राप्त धन।[14] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी स्त्रीधन के अन्तर्गत उपरोक्त प्रकारों का ही परिगणन है-

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।

आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥[15]

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च॥[16]

स्त्री का स्त्रीधन पर पूर्ण अधिकार होता है तथा माता का स्त्रीधन पुत्रियों को प्राप्त होता है-

मातुर्दुहितरः शेषमृणात् ताभ्य ऋतेऽन्वयः॥[17]

तथा-

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि।

दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्॥[18]

इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों के लिए स्त्री धन की व्यवस्था कर उनकी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

स्त्री के लिए दायांश की व्यवस्था- जीवन के किसी भी क्षेत्र में कार्यों के सम्पादन में अन्य घटकों के साथ सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अर्थ की होती है। नारी से सम्बद्ध आर्थिक अधिकारों के निर्धारण में याज्ञवल्क्य का योगदान अप्रतिम है वे नारी के लिए स्त्रीधन की व्यवस्था के अतिरिक्त दायांश की भी व्यवस्था करते हैं। याज्ञवल्क्य पिता की सम्पत्ति में कन्याओं का भी अधिकार मानते हैं और कन्याओं को भाईयों के भाग का चौथा हिस्सा देने की व्यवस्था करते हैं-

भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांशं तु तुरीयकम्॥[19]

वे पुत्रवधूओं के भी हित का ध्यान रखते हैं और उनके लिए भी दायांश की व्यवस्था करते हैं-

यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः।

न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा॥[20]

माता के धनाधिकारों की विवेचना करते हुए याज्ञवल्क्य ने निर्देश दिया है कि माता को विभाजन के समय पुत्रों के बराबर दायांश प्रदान करें-

पितुरुर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत्॥[21]

स्पष्ट है कि नारी के इन आर्थिक अधिकारों का निर्माण महर्षि की दूरदृष्टि का परिचायक है।

बिन्दुओं के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों के कुछ विशेषाधिकारों का भी उल्लेख किया है।

यथा-पुत्रियों एवं बहनों जिनका विवाह हो गया हो किन्तु अभी वे अपने माता-पिता तथा भाईयों के साथ हों, गर्भवती स्त्रियों, अविवाहित पुत्रियों को सबसे पहले भोजन खिलाना चाहिए[22]-

- स्त्रीधन दस या बीस वर्षों तक दूसरे द्वारा उपभोग में लाये जाने के पश्चात् भी स्त्री के अधिकार से पृथक नहीं हो सकता।[23]

- पति की मृत्यु के पश्चात् पुत्ररहित विधवा धन की प्रथम दावेदार होती है-

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा

तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः॥

एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः

स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥[24]

इन विशेषाधिकारों के पीछे नारी के जीवन को विविध प्रकार के तिरस्कार एवं अवहेलनाओं से बचाने की मंशा निहित थी।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रतिपादित नारी हित से सम्बद्ध उपर्युक्त विचार महर्षि के नारी की मर्यादा एवं प्रतिष्ठा के प्रति सन्तुलित एवं सहिष्णु दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। ध्यातव्य है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित नारी हित से सम्बद्ध तथ्य आज के समाज में भी उतने ही प्रासंगिक हैं क्योंकि विचारणीय है कि वर्तमान परिवेश में जबकि सर्वत्र ही नारी जागरण और नारी उत्थान से सम्बद्ध स्वरों और ध्वनियों का उद्घोष हो रहा है, उसमें व्यवहारिक रूप से नारी का हित कितना समादृत है। ऐसे समय में याज्ञवल्क्यस्मृति में की गयी नारी हित सम्बद्ध व्यवस्थाएँ निश्चय ही सराहनीय एवं अनुकरणीय हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सौन्दर्यलहरी- शङ्कराचार्य
2. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/82
3. मनुस्मृति, 3/55
4. मनुस्मृति, 3/57
5. पी0वी0 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ0 327 पर उद्धृत
6. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/289
7. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/287
8. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/78
9. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/286
10. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/288
11. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/291
12. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/76
13. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/205
14. मनुस्मृति, 2/194
15. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/143
16. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/144
17. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/117
18. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/145
19. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/124
20. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/115
21. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/123
22. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/105
23. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/25
24. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/135, 136

●

भारतीय समाज के पुनर्जागरण में स्वामी विवेकानन्द का योगदान

*डॉ0 धर्मजंग**

आधुनिक भारत में स्वामी विवेकानन्द के योगदान पर चर्चा करने से पूर्व हमें एक बार तत्कालीन भारत की स्थिति पर भी विचार कर लेना चाहिए । यदि हम स्वामी विवेकानन्द के जन्म के समय से आरम्भ करें तो पाते हैं कि उनका जन्म सन् 1863 में हुआ था, और यह काल भारत में उथल-पुथल का काल था । सन् 1857 की गदर क्रान्ति को समाप्त हुए अभी मात्र छः वर्ष ही बीते थे और सम्पूर्ण भारतीय समाज इस क्रान्ति से गंभीर रूप से प्रभावित था और बंगाल का समाज तो विशेषकर, जहाँ से क्रान्ति की प्रथम चिंगारी फूटी थी । ऐसे समय में एक प्रबुद्ध मध्यमवर्गीय परिवार कभी भी तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता-असंपृक्त नहीं रह सकता है । निश्चय ही ऐसा ही स्वामी विवेकानन्द या कहें तो 'नरेन' के साथ भी हुआ होगा । एक संभ्रान्त परिवार में जन्में और उच्च शिक्षा प्राप्त 'नरेन' के मन में भी तत्कालीन परिस्थितिजन्य आक्रोश, क्षोभ, निराशा, अवसाद के साथ प्रबल विरोध की आकांक्षा, कुछ कर गुजरने की तड़प, विद्रोह, चरम आशा इत्यादि का परस्पर विरोधी भाव अवश्य उपजा होगा, या यह कहें कि तत्कालीन परिस्थितियों ने उन्हें गहराई तक प्रभावित किया होगा और वास्तव में ऐसा हुआ भी, जैसा कि हम उनसे सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन से समझ पाते हैं ।

सन् 1857 की गदर क्रान्ति ने यह तो स्थापित कर ही दिया था कि भारतवर्ष जो अभी तक विभिन्न राज्य शक्तियों का एक कमजोर सम्मुच्चय था, एक प्रबल विदेशी ताकत के अधीन 'एक राष्ट्र' के रूप में विश्व के नक्शे पर उभर रहा था । यद्यपि यहाँ एक बहुत बड़ा सत्य यह भी था कि भारत में विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग राज शक्तियाँ थी,और आधुनिक लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में या 'एक राष्ट्र' के रूप में उसकी पहचान हम नहीं कर सकते हैं । परन्तु एक विशेष सांस्कृतिक, धार्मिक और सामंजस्य की अंतर्धारा उसे एक अदृश्य सूत्र में आबद्ध करती थी । भले ही राज करने वाली शक्तियाँ एक वृहद भौगोलिक 'भारतवर्ष' में भिन्न-भिन्न हों पर भारत की जनता आत्मिक रूप से उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक आपस में गहरे जुड़ी हुई थी । इस जुड़ाव को कई वर्ष पूर्व आदि शंकराचार्य ने भारत भूमि की चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना करके एक अदृश्य आध्यात्मिक, धर्मिक चेतना के सूत्र से आबद्ध कर दिया था ।

ऐसे में केन्द्रीय सत्ता के रूप में स्थापित ब्रिटिश राज्य का पहला महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यही था कि एक कठोर, सशक्त, केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ भारतीय जनता के दिल और दिमाग पर भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने का प्रयास किया जाए। अब चूँकि 1857 के विप्लव का प्रमुख क्षेत्र उत्तर भारत और पूर्वी भारत का क्षेत्र ही था अतः इस क्षेत्र में ही सर्वप्रथम और सघन रूप में ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रियावादी नीतियों का प्रभाव परिलक्षित होता है । राजनीतिक रूप से तो सत्ता का स्थानान्तरण भारतीय हाथों से ब्रिटिश हाथों में हो ही गया था, साथ ही अब यह विदेशी शक्ति भारत को अपनी शासकीय नीतियों के माध्यम से आर्थिक और सामाजिक रूप से कमजोर करने का निरंतर प्रयास कर रही थी । भारत से धन-सम्पदा का एकतरफा प्रवाह ब्रिटेन की तरफ हो रहा था । इस सन्दर्भ में एक सटीक टिप्पणी हमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जान सुलीवान की मिलती है कि **''ब्रिटिश शासन प्रणाली एक ऐसे स्पंज की तरह कार्य करती है जो गंगा तट से प्रत्येक अच्छी वस्तु को सोख लेती है और फिर उसे टेम्स के तट पर निचोड़ देती है।''**[1] इसके साथ ही शासन और शासन द्वारा प्रायोजित-समर्थित मिशनरियाँ भी भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा पर भयंकर कुठाराघात कर रही थी और इसे सड़ा-गला, पुरातनपंथी, पोंगापंथी, अवैज्ञानिक आदि सिद्ध करने का प्रयास कर रही थी ताकि भारतीय जनता मनोवैज्ञानिक रूप से टूट जाए और ब्रिटिश साम्राज्य की श्रेष्ठता और संस्कृति की महानता को स्वीकार कर उनका शासन स्वीकार कर ले तथा भविष्य में फिर सिर उठाने का साहस न कर सके । ब्रिटिश शासन की शिक्षा नीति, उसकी प्रचार नीति, उसकी नियंत्रित शासन प्रणाली तथा ईसाई मिशनरियों को प्रश्रय देने की नीति के कारण भारत की सामान्य जनता बहुसंख्यक रूप में स्वयं को हीन, दमित तथा आत्मग्लानि से ग्रस्त महसूस करती थी । उसके पास शासन की बेधक, ताड़क और वैचारिक रूप से कमजोर करने वाली नीतियों का सामाजिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक रूप से जवाब देने वाली किसी सशक्त वाणी का एक प्रकार से अभाव था । यद्यपि यहाँ पर कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि विवेकानन्द के आविर्भाव के पूर्व भी तो भारत में कई महान विभूतियाँ अपना सक्रिय योगदान भारतीय समाज में कर रही थीं । जैसे कि राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ

* शोध सहायक, मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ठाकुर, महादेव रानाडे इत्यादि, फिर विवेकानन्द को ही प्रमुखता क्यों दी जाए? उत्तर में यह कहना समीचीन होगा कि स्वामी विवेकानन्द के पूर्व भी कई मनीषियों, समाजसेवियों और विद्वानों ने अंग्रेजी शासन के कुप्रचार से लड़ने और भारतीय समाज में जागरण लाने का सफल प्रयास अवश्य किया, परन्तु उन सभी के प्रभाव क्षेत्र का फलक उतना व्यापक और वृहद नहीं था, जितना कि स्वामी विवेकानन्द का था ।

इसके अलावा हम पाते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के जन्म से दो वर्ष पूर्व ही भारत में तीन ऐसे महान व्यक्तियों का जन्म होता है जो भारत की बहुसंख्यक जनता को अपनी विचारणा से, अपनी नेतृत्त्व शक्ति से व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं । ये थे- पं० मोतीलाल नेहरु, पं० मदनमोहन मालवीय और गुरूदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर । इसी प्रकार हम कुछ और महान व्यक्तियों को भी चिह्नित कर सकते हैं । इन सभी ने अपनी-अपनी सीमाओं में भारत की जनता को गहरे प्रभावित किया । साथ ही उस समय भारत में कई धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन भी चल रहे थे, जिनसे भी जनता गहरे प्रभावित थी। पर इन सबके बावजूद भी भारत की आत्मा जो मूल रूप में धार्मिक थी, जिसे स्वामी जी भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि **''भारतीय मन पहले धार्मिक है फिर कुछ और अतः धर्म को सशक्त बनाना होगा ।''**[2] उस आत्मा का पुनर्जागरण करने का महती कार्य स्वामी विवेकानन्द ही करते हैं ।

तत्कालीन भारत में जितनी भी राष्ट्रवादी शक्तियाँ थी वे राजनीतिक और सामाजिक रूप से भारत की जनता का नेतृत्त्व करने का प्रयास तो कर रही थी परन्तु आध्यात्मिक रूप से भारतीय चिन्तनधारा, संस्कृति और दर्शन का सशक्त प्रतिनिधित्व करने वाली चेतना शक्ति की कमी को हम ऐतिहासिक दृष्टि से परिलक्षित कर सकते हैं । विदेशी शक्ति की दुराग्रहपूर्ण प्रचार नीति के खिलाफ देश में एक ऐसी तार्किक, मुखर और सशक्त वाणी की आवश्यकता थी जो भारत की आम जनता की आवाज बन सके और साथ ही दमन की शिकार जनता के मन में आस्था और धर्म के सच्चे स्वरूप का दीप प्रज्ज्वलित कर सके । क्योंकि दमित जनता या तो ईश्वर तथा आत्मतत्त्व के प्रति अनास्था की शिकार हो जाती है या धार्मिक भ्रम की । ऐसे समय आत्मिक रूप से बिखरते जनमानस के बीच अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक सूत्र का सरल किन्तु सशक्त प्रतिपादन कर स्वामी विवेकानन्द आम जनता में एक अद्भुत उर्जा का संचार करते हैं ।

हम तत्कालीन भारत में भारत की जनता का राजनीतिक नेतृत्त्व करने में सक्षम व्यक्तित्त्व तो बहुतायत में पाते हैं परन्तु आध्यात्मिक नेतृत्त्वकर्ताओं की ऐसी बड़ी संख्या हम परिलक्षित नहीं कर सकते हैं । देश को किसी ऐसे व्यक्तित्त्व की आवश्यकता थी, जो भारत की सनातन सांस्कृतिक परंपरा की महानता को, उसके धार्मिक वैशिष्ट्य को पुनर्स्थापित कर सके । स्वामी विवेकानन्द अपने अल्प जीवन में यही महान कार्य कर भारत की आत्मा का पुनर्जागरण करते हैं । वे कहते भी हैं कि **''हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, यही नहीं हमारे जातीय जीवन की मूल भित्ति है ।''**[3] वे भारत की समृद्ध दार्शनिक-आध्यात्मिक परंपरा का दुदुंभिघोष करके न केवल देश में विदेशी शासन और उनके मिशनरियों को करारा जवाब देते हैं बल्कि विश्व धर्म महासभा और उसके बाद अमेरिका और यूरोप में भी भारतीय संस्कृति के महान ध्वजवाहक सिद्ध होते हैं । इनका यह जयघोष स्वाभाविक रूप से भारतीय समाज में एक अद्भुत उर्जा का संचार करता है ।

यद्यपि आध्यात्मिकता विद्वतता की मांग नहीं करती है और तत्कालीन भारत की बहुसंख्यक जनता अधिक पढ़ी-लिखी न भी हो, पर उसमें आध्यात्मिक चेतना का स्फुरण अवश्य था । भारतीय जनमानस की सदियों की परंपरा से विकसित एक अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक दृष्टि तो थी ही, जिस पर विदेशियों द्वारा गंभीर वैचारिक प्रहार कर उसे दोयम दर्जे की सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा था । इस सम्बन्ध में एक हास्यास्पद कथन एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ लार्ड मैकाले का मिलता है जब वे 1835 के अपने महत्त्वपूर्ण स्मरण पत्र में कहते हैं कि **''भारत का सम्पूर्ण ज्ञान यूरोप की किसी एक लाइब्रेरी की एक आलमारी में समा सकता है ।''**[4] ऐसे कठिन समय में स्वामी विवेकानन्द का उदय भारतीय समाज में नवजीवन का संचार करने वाला था । उनका तार्किक रूप से प्रबुद्ध होना, उच्च शिक्षा प्राप्त होना तथा तत्कालीन शासकीय भाषा के दर्शन और भाषा का अच्छा जानकार होना, आम भारतीयों के लिए प्रेरणा का स्रोत था । वे अपने तीखे तर्कों से अंग्रेजों के वैचारिक प्रहारों का करारा जवाब देते हैं, जिससे आम जन के मन में अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक विशिष्टता के प्रति विश्वास जगता है । जनता के अस्तित्त्वबोध को संबल मिलता है । स्वामी जी भारतीय समाज की खंडित आस्था का पुनर्निर्माण करते हैं । वे भारतीय समाज को आध्यात्मिक और भावनात्मक प्रशिक्षण देकर एक मजबूत विपक्षी से लड़ने में समर्थ बनाते हैं । स्वामी जी निरंतर संपूर्ण भारत में भ्रमण करते रहते हैं और इस क्रम में भारत की आम जनता, विद्वत समाज, राजा-महाराजा के बीच अपने गंभीर, तार्किक और वैचारिक उद्बोधनों के माध्यम से उनकी सुप्त चेतना शक्ति के जागरण का प्रयास करते हैं ।

मद्रास में एक सभा में 'भारत का भविष्य' विषय पर अपना व्याख्यान देते हुए वे कहते हैं कि **''भविष्य के भारत निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिस युगों के उस महाचल पर खोदकर बनाना होगा, भारत की यह**

धार्मिक एकता ही है ।''[5] चूँकि उन्हें भारत की आत्मा की पूर्ण पहचान थी इसलिए वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि **''हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन रक्त है।''**[6] वे भारतीय समाज के उस मर्मस्थल पर अपनी उंगली रखते हैं जो भारतीय समाज का सबसे सबल पक्ष था और जिस पर परिस्थितियों की धूल जमा हो गई थी । स्वामी जी अपने गंभीर विचारणा रूपी वायु प्रवाह से इस धूल-गर्द को साफ कर देते हैं । समाज में कर्म-ज्ञान-भक्ति के संदर्भ में एक वैचारिक भ्रम की स्थिति थी । यह आम धारणा थी कि साधु-सन्यासी को सामान्य सामाजिक जीवन से क्या लेना देना है, या एक बौद्धिक विद्वान व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम हेय है, या फिर शारीरिक श्रम से आजीविका प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए ज्ञान और भक्ति का मार्ग सुलभ नहीं है । इस प्रकार के सभी भ्रमों को वे अपने तर्कों से दूर कर देते हैं । उनके लिए किसी विद्यार्थी का अध्ययन कक्ष, किसान का खेत, कोई कारखाना या किसी युवक का खेल का मैदान भगवद् साक्षात्कार के वैसे ही श्रेष्ठ और उत्तम स्थान थे, जैसे कोई मंदिर या साधु की कुटिया । उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल और आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं था ।

भारतीय मानस को अंधविश्वास, चमत्कार और अविचारणीय कर्मकाण्ड के प्रति सचेत करते हुए वे कहते हैं कि **''...परमात्मा के पास दुर्बल लोग नहीं पहुँच सकते हैं और ये सब लौकिक वस्तुएँ दुर्बलता उत्पन्न करने वाली हैं । अतः भूलकर भी इनके निकट न जाओ। इनसे मनुष्य केवल कमजोर बनता है, दिमाग में गड़बड़ी पैदा होती है, मन दुर्बल हो जाता है, आत्मा का नैतिक पतन होता है और नैराश्यपूर्ण संभ्रम ही इसका अन्तिम फल होता है।''**[7] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि **''जहां तक युक्ति से समझाया जा सकता है, वहाँ तक समझाने की कोशिश करूँगा । परन्तु मैं जो नहीं समझा सकता, उसके बारे में कह दूँगा, 'शास्त्र का यह कथन है', यह अन्धविश्वास करना ठीक नहीं। अपनी विचार शक्ति और युक्ति काम में लानी होगी । यह प्रत्यक्ष करके देखना होगा कि शास्त्र में जो कुछ लिखा है, वह सत्य है या नहीं । भौतिक विज्ञान तुम जिस ढंग से सीखते हो, ठीक उसी प्रणाली से धर्म विज्ञान सीखना होगा।''**[8] इस प्रकार वे जहाँ एक तरफ अपनी तार्किकता और बौद्धिकता से भारतीय समाज के धार्मिक भ्रम को स्पष्ट कर रहे होते हैं, वही अपने सबल तर्कों से हिन्दू धर्म विरोधी प्रहारों का सफल प्रतिकार भी करते हैं । वे कहते हैं, **''अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है । अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिए गए हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है । वह समाज के सामने केवल एक कोट रख देता है, जो जैक, जॉन और हेनरी सभी को ठीक होना चाहिए । यदि वह जॉन या हेनरी के शरीर में ठीक नहीं आता, तो उसे अपनी तन ढकने के लिए बिना कोट के ही रहना होगा । हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार, चिन्तन या वर्णन केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है, और मूतियाँ, क्रूस या नवोदित चन्द्र केवल विभिन्न प्रतीक हैं, वे मानों बहुत सी खूटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ लटकायी जाती हैं । ऐसा नहीं है कि इन प्रतीकों की आवश्यकता हर एक के लिए हो, किन्तु जिनको अपने लिए इन प्रतीकों की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि वे गलत हैं । हिन्दू धर्म में वे अनिवार्य नहीं हैं ।''**[9] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि स्वामी विवेकानन्द अपनी तर्कणा शक्ति और प्रखर वाणी से भारतीय समाज में अलौकिक उर्जा का संचार करने में सफल होते हैं । उनका व्यक्तित्त्व न सिर्फ सम्पूर्ण भारतवासियों के लिए अत्यन्त प्रेरणास्पद साबित होता है, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी वे अपनी प्रतिभा से असंख्यों को चमत्कृत करते हैं ।

भारतीय समाज के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनर्जागरण के अतिरिक्त विवेकानन्द समाज के अन्य पक्षों पर भी अपनी पैनी दृष्टि रखते हैं, जैसे कि शिक्षा, स्त्रियों की दशा, दलित ओर निम्न वर्गीय समाज की स्थिती इत्यादि । इन बिन्दुओं पर भी वे अपनी गहन वैचारिक दृष्टि का परिचय देते हुए उचित सुधार की दिशा में अग्रसर होने को प्रेरित करते हैं । शिक्षा के वास्तविक अर्थ के रूपायित करते हुए इसे वे जानकारियों का संकलन मात्र न कह कर, इसके आत्मसातीकरण पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि **'शिक्षा विविध जानकारियों की ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और आत्मसात हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है । हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आश्यकता है, जो जीवन निर्माण, 'मनुष्य निर्माण' तथा चरित्र निर्माण में सहायक हो । यदि तुम केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र की निर्माण कर लेते हो, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो । यदि शिक्षा का अर्थ जानकारी ही होता, तब तो पुस्तकालय संसार में सबसे बड़े सन्त हो जाते और विश्वकोष महान ऋषि बन जाते।''**[10] इसके साथ ही वे तत्कालीन विदेशी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत संचालित शिक्षा प्रणाली के दोषों को भी रेखांकित करते हुए भारतीय समाज के अनुकूल शिक्षा की बात करते हैं । उनका कहना था कि **''विदेशी भाषा में दूसरे कि विचारों को रखकर, अपने मस्तिष्क में उन्हें ठूँसकर और विश्वविद्यालयों की कुछ पदवियाँ प्राप्त करके,**

तुम अपने को शिक्षित समझते हो । क्या यही शिक्षा है? तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? या तो मुंशीगिरी मिलना, या वकील हो जाना, या अधिक से अधिक डिप्टी मैजिस्ट्रेट बन जाना, जो मुंशीगिरी का ही दूसरा रुप है-बस यही न? इससे तुमको या तुम्हारे देश को क्या लाभ होगा ? आँखे खोलकर देखो; जो भारतखण्ड अन्न का अक्षय भण्डार रहा है, आज वहीं उसी अन्न के लिए कैसी करुण पुकार उठ रही है । क्या तुम्हारी शिक्षा इस अभाव की पूर्ति करेगी? वह शिक्षा जो जनसमुदाय को जीवन-संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनकी चरित्र्य-शक्ति का विकास नहीं करती, जो उनमें भूत-दया का भाव और सिंह का साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं ?''[11] विवेकानन्द ऐसी शिक्षा पर बल देते हैं जिससे देश के नागरिकों का चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व निर्माण हो सके । वे भारतीय समाज को स्वावलम्बी बनाने वाली, उसे सशक्त बनाने वाली शिक्षा की वकालत करते हैं । इस संदर्भ में वे कहते हैं कि **''हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र बने, मानसिक बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके । हमें आवश्यकता इस बात की है कि हम विदेशी अधिकार से स्वतंत्र रहकर अपने निजी ज्ञान भंडार की विभिन्न शाखाओं का और उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करें । हमें यांत्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनसे उद्योग-धन्धों की वृद्धि और विकास हो, जिनसे मनुष्य नौकरी के लिए मारा-मारा फिरने के बदले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त कमाई कर सके और आपतकाल के लिए संचय भी कर सके।''**[12]

इसी प्रकार भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति पर भी स्वामी विवेकानंद अपना गंभीर चिंतन और विमर्श प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि **''सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित सम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है । जो देश, जो राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाये और न भविष्य में ही कभी बड़े होंगे।..... हमारे देश के इस पतन का मुख्य कारण यह है कि हमने शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं के प्रति आदर बुद्धि न रखी । ..... जहाँ ये स्त्रियाँ उदासीन और दुःखी जीवन व्यतीत करती हैं, उस कुटुम्ब या देश की उन्नति की कोई आशा नहीं हो सकती।''**[13] विवेकानन्द के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे स्त्रियों के सशक्तीकरण के कितने बड़े हिमायती थे । और यह सत्य भी है कि किसी समाज की आधी आबादी को सशक्त बनाये बिना उस समाज का सबलीकरण नहीं हो सकता है । भारतीय समाज में स्त्रियों के सशक्तीकरण एवं विकास के लिए विवेकानन्द उपयुक्त एवं व्यवस्थित शिक्षा को अपरिहार्य मानते हैं । एक जगह इसकी रुपरेखा प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि **''सुशिक्षित और सच्चरित्रवती ब्रहमचारिणियाँ शिक्षा-कार्य का भार अपने ऊपर लें । ग्रामों और शहरों में केन्द्र खोलकर स्त्री शिक्षा के प्रचार का प्रयत्न करें । ऐसी सच्चरित्र, निष्ठावान उपदेशिकाओं के द्वारा देश में स्त्री शिक्षा का यथार्थ प्रचार होगा । इतिहास और पुराण, गृहव्यवस्था और कला-कौशल, गृहस्थ-जीवन के कर्त्तव्य और चरित्र गठन के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी होगी । और दूसरे विषय, जैसे सीना-पिरोना, गृहकार्य-नियम, शिशु-पालन आदि भी सिखाये जाएँगे । जब, पूजा और ध्यान शिक्षा के अनिवार्य अंग होंगे । दूसरे गुणों के साथ उन्हें शूरता और वीरता के भाव भी प्राप्त करने होंगे ।''**[14] उनका यह सुव्यवस्थित चिंतन और संदेश समाज के एक बड़े वर्ग को प्रभावित और दिग्दर्शित करता है ।

भारतीय समाज में स्त्रियों के अतिरिक्त दलित और निम्न वर्ग के प्रति भी स्वामी विवेकानन्द के हृदयोद्गार सदैव उनके विभिन्न व्याख्यानों, लेखों में प्रकट होते रहते थे । वे समाज के एक बहुत बड़े वर्ग की दशा के बारे में सदैव चिन्तित रहते थे। एक स्थान पर वे कहते हैं कि **''भारतवर्ष के गरीबों और निम्न वर्ग के लोगों की दशा का स्मरण कर मेरा हृदय फटा जाता है । ये दिन-पर-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं । नित्य समाज के द्वारा अपने ऊपर होने वाले आघातों का वे अनुभव तो करते हैं, पर वे जानते नहीं हैं कि ये आघात कहाँ से आ रहे हैं । वे यह भूल गए हैं, कि वे भी मनुष्य हैं । ..... हमारा महान राष्ट्रीय पाप है जनसमुदाय की उपेक्षा करना, और यही हमारे अधःपतन का कारण है । राजनीति चाहे जितनी अधिक मात्रा में रहे, पर उससे तब तक कोई लाभ न होगा जब तक भारतवर्ष की जनता पुनः एक बार सुशिक्षित न हो जाए, जब तक उसे भर-पेट भोजन न मिले और हर प्रकार से उसकी सुख-सुविधा की ओर ध्यान न दिया जाए।''**[15] उन्हें भारतवर्ष की वास्तविक स्थिति का पूर्ण भान था। क्योंकि उन्होंने अपने जीवनकाल में एक सन्यासी के रूप में पूरे भारतवर्ष में भ्रमण किया था । वे अपने व्याख्यानों में पूरे राष्ट्र के जागरण की बात करते हैं । वे कहते हैं कि **''स्मरण रहे, हमारा राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है । वर्तमान समय में तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाओ, और गाँव-गाँव जाकर लोगों को समझाओं कि अब आलस्य के साथ केवल बैठे रहने से काम नहीं चलेगा । उन्हें उनकी यर्थाथ अवस्था का परिचय कराओ और कहो, ''भाइयों,! सब कोई उठो! जगो! अब और कितना सोओगे!'' जाओ और उन्हें अपनी अवस्था सुधारने की सलाह दो, और शास्त्रों**

की बातों को विशद रूप से सरलतापूर्वक समझाते हुए उदात्त सत्यों का ज्ञान कराओ । उनके मन में यह बात जमा दो कि ब्राह्मणों के समान उनका भी धर्म पर वहीं अधिकार है । सभी को, चाण्डाल तक को भी, इन्हीं जाज्वल्यमान मन्त्रों का उपदेश दो। उन्हें सरल शब्दों में जीवन के लिए आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य-व्यापार और कृषि आदि की भी शिक्षा दो ।''[16] उनका संपूर्ण प्रयास भारतीय जनमानस का केवल आध्यात्मिक उन्नतिकरण करना ही नहीं था, वरन् समाज का समग्र विकास उनके चिन्तन और कर्म का केन्द्र बिन्दु था।

भारतीय समाज के पुनर्जागरण में, उसके आत्मविश्वास में वृद्धि के अतिरिक्त उनके एक और महती योगदान को हम रेखांकित किए बिना नहीं रह सकते हैं और वह है उनके द्वारा 'रामकृष्ण मिशन' संस्था की स्थापना । यहाँ कोई यह भी कह सकता है कि 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना का पूर्ण श्रेय केवल स्वामी विवेकानंद को कैसे दिया जा सकता है जबकि इसकी स्थापना में परमहंस स्वामी रामकृष्ण के कई शिष्य सम्मिलित थे । तो यहाँ संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि किसी संगठन की स्थापना में चार महत्त्वपूर्ण कारक होते हैं- प्रेरक, नेतृत्त्वकर्ता, संगठनकर्ता और कार्यकर्ता । कई बार प्रेरक, नेतृत्त्वकर्ता और संगठनकर्ता एक ही व्यक्ति होता है । परन्तु रामकृष्ण मिशन के संदर्भ में प्रेरक तो स्वयं स्वामी रामकृष्ण थे और एक श्रेष्ठ नेतृत्त्वकर्ता और संगठनकर्ता की सशक्त भूमिका का निर्वहन प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द ही करते हैं और अंतिम तत्त्व-कार्यकर्ता के रूप में तो एक ही भावभूमि के स्वामी रामकृष्ण के समस्त शिष्य थे ही । यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'रामकृष्ण मिशन' पूर्णतः एक आध्यात्मिक संगठन के रूप में स्थापित होता है न कि एक राजनीतिक या सामाजिक संगठन के रूप में । परन्तु विवेकानन्द उसे अपने दार्शनिक और सैद्धान्तिक आयामों से एक ऐसे संगठन के रूप में खड़ा करते हैं जो कि आगे चलकर भारतीय समाज में अपनी महती सामाजिक भूमिका का उत्कृष्ट अवदान करता है । विवेकानन्द एक संगठन के निर्माण और उसके सुचारू संचालन के गंभीर संकटों से भी भली-भाँति परिचित थे तभी लंदन में सन् 1896 में 'संडे टाइम्स' के संवाददाता को दिए अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं कि **''जब संगठन बनाए जाते हैं, तो उनकी देखरेख के लिए व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और वे जिन्होंने सन्यास लिया है अर्थात् जिन्होंने सब सांसारिक पद, सम्पदा और ख्याति त्याग दी है तथा जिनका उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञान की खोज है, इस काम को नहीं संभाल सकते और फिर वह दूसरों के हाथों में चला जाता है।''**[17] अतः वे प्रारम्भ से ही ऐसे कठोर नियमों, अनुशासनों से 'रामकृष्ण मिशन' को आबद्ध कर संचालित करने का प्रयास करते हैं जिससे कि आगे चलकर भी 'मिशन' अपने मार्ग से च्युत न हो पाए और इसके कार्यकर्ता तथा इसकी ख्याति पर कोई आंच न आने पाए और जहाँ तक मैं समझता हूँ कि आज भी वे अपने इस उद्देश्य में पूर्णतः सफल दिखाई पड़ते हैं, जब हम उनकी जन्म की 150वीं जयंती को कुछ वर्ष पूर्व उल्लासपूर्वक मना चुके हैं ।

निश्चित रूप से तत्कालीन समय में भारत को एक ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो आध्यात्मिक और सामाजिक रूप से भारतीय समाज का मार्गदर्शन कर सके । चूँकि भारत की औपचारिक शिक्षा प्रणाली पर विदेशी शक्ति का प्रभाव था, अतः ऐसे समय 'रामकृष्ण मिशन' अपनी अनौपचारिक शिक्षण और मार्गदर्शन से भारतीय समाज को एक नवीन दिशा और उर्जा प्रदान करने में सफल होता है । इस महती आवश्यकता को स्वामी विवेकानन्द अत्यन्त प्रारम्भ से ही लक्षित कर लेते हैं । एक स्थान पर वे कहते हैं कि **''.....अतः यदि भारत को महान बनना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन की, शक्ति संग्रह की और बिखरी हुई इच्छा शक्ति को एकत्र कर उसमें समन्वय लाने की।''**[18] इसलिए उनके द्वारा स्थापित और संगठित 'रामकृष्ण मिशन' संस्था भारतीय समाज को दिए गए कई अवदानों में एक प्रमुख अवदान है । स्वामी विवेकानन्द के शुभ संकल्पों और महती प्रयासों से संगठित 'रामकृष्ण मिशन' आज न केवल भारत में बल्कि भारत के बाहर भी सम्पूर्ण मानवता के उत्तरोत्तर विकास में अपनी जिस स्पृहणीय और सराहनीय भूमिका का निर्वहन कर रहा है उसे देखते हुए हम स्वामी विवेकानन्द को ऋणी भाव से स्मरण किए बिना नहीं रह सकते हैं ।

अन्त में अपने आलेख को समाप्त करते हुए मैं यही कहना चाहूँगा कि स्वामी विवेकानन्द के योगदान को मात्र कुछ शब्दों, वाक्यों या पृष्ठों में वर्णित करने का प्रयास 'गागर में सागर भरने' या फिर 'सूरज को दीपक दिखाने' जैसा होगा । यह आलेख मात्र स्वामी जी को अत्यन्त कृतज्ञ और श्रद्धानवत भाव से स्मरण करने का एक लघु प्रयास है और मेरे, हम सबके प्रेरणास्रोत, युगपुरुष विवेकानंद को एक भाव श्रद्धांजलि है । अपनी बात को मैं स्वामी जी के एक कथन से समाप्त करना चाहूँगा कि **''अपने आप पर अगाध, अटूट विश्वास रखो, वैसा ही विश्वास, जैसा मैं बाल्यकाल में अपने ऊपर रखता था और जिसे मैं अब कार्यान्वित कर रहा हूँ । तुममें से प्रत्येक अपने आप पर विश्वास रखो । यह विश्वास रखो कि प्रत्येक आत्मा में अनंतशक्ति विद्यमान है, तभी तुम सारे भारतवर्ष को पुनरूज्जीवित कर सकोगे।''**[19]

सन्दर्भ सूची

1. ग्रोवर, बी०एल० एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, नई दिल्ली 2003, पृ०-441
2. विवेकानन्द साहित्य संचयन, प्रकाशक-रामकृष्ण मठ, नागपुर, संस्करण-2000, पृ०-125
3. वही, पृ०-124
4. आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, पृ०-255
5. विवेकानन्द साहित्य संचयन, पृ०-123
6. वही, पृ०-124
7. वही, पृ०-50
8. वही, पृ०-60
9. वही, पृ०-12
10. स्वामी विवेकानन्द शिक्षा, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2009, पृ०-06
11. वही, पृ०-06
12. वही, पृ०-06
13. वही, पृ०-52
14. वही, पृ०-55
15. वही, पृ०-56
16. वही, पृ०-58
17. विवेकानन्द साहित्य संचयन, पृ०-212
18. वही, पृ०-131
19. वही, पृ०-135

●

अग्निपुराण के अनुसार रसस्वरूपविमर्श

वन्दना देवी[*] एवम् प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी[**]

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस को काव्य का सर्वोपरि तत्त्व काव्यात्म के रूप में स्वीकार किया गया है। रस शब्द की अत्यन्त परिष्कृत व्युत्पत्ति आचार्य भरत ने की है-

रस्यते आस्वाद्यते इति रसः[1]

अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाए वह रस है अथवा जो आस्वाद्यमान हो वह रस है। आचार्य भरत कहते हैं कि जिस प्रकार से विविध व्यञ्जनादि से सुसंस्कृत भोज्य पदार्थ को बनाते हुए पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार सहृदय भी विभावादि सामग्री से व्यञ्जित रसों का आस्वादन करते हैं।

रस की महत्ता प्रतिस्थापित करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है-

रसो वै सः। रस, ह्यैवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।[2]

यहाँ 'सः' से रस की महत्ता ईश्वर के समकक्ष स्थापित की गयी है। पुराणों में अनिर्वचनीय योगदान प्रदान करने वाले महर्षि वेदव्यास ने रस को ही काव्य का प्राणतत्त्व मानते हुए कहा है-

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।[3]

रस तत्त्व का मूल विचारक यद्यपि आचार्य भरत को माना जाता है तथापि यह भी माना जाता है कि आचार्य भरत से पूर्व आचार्य नन्दिकेश्वर ने भी रससिद्धान्त प्रस्तुत किया था, जिसका उल्लेख आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा[4] के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया है।

परन्तु आचार्य नन्दिकेश्वर का रससम्बन्धी कोई ग्रन्थ अद्यावधि प्राप्त न होने के कारण आचार्य भरत को ही रस सिद्धान्त का आद्याचार्य स्वीकार किया जाता है। यद्यपि आचार्य भरत से लगभग दो शताब्दी पूर्व वात्स्यायन के कामसूत्र में रस तत्त्व का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसा कि आचार्य वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ कामसूत्र में कहा है-

तदिष्टं भावलीलानुवर्तनम् ।[5]

अर्थात् भावों का अनुवर्तन ही रस है। तथापि आचार्य भरत ने रस का सर्वाधिक सारगर्भित एवं निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत कर रस तत्त्व को अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट एवं प्रमाणिक रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य भरत रस तत्त्व की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।[5]

अर्थात रस के अभाव में कोई भी अर्थ प्रयुक्त नहीं होता है अथवा प्रवर्तित नहीं होता है।

आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में रसतत्त्व को इस प्रकार परिभाषित किया है-

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।[6]

अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ पर आचार्य भरत विभावादि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि लोक में जो कारण कार्य एवं सहकारी होते हैं काव्य में वही विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

आचार्य भरत के इस रससूत्र पर चार प्रमुख आचार्यों ने अपनी अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं-

1. आचार्य भट्टलोल्लट - उत्पत्तिवाद।
2. आचार्य शङ्कुक - अनुमितिवाद।
3. आचार्य भट्टनायक - भुक्तिवाद।
4. आचार्य अभिनवगुप्त- अभिव्यक्तिवाद।

इन चारों रससूत्र के व्याख्याकारों में आचार्य अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त सर्वमान्य है, क्योंकि उन्होंने रस की अलौकिकता सिद्ध करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत लेख में पूर्ववर्ती आचार्यों के रस विषयक मत का प्रतिपादन करते हुए अग्निपुराण का रसविषयक मत एवं अग्निपुराण के पश्चात् परवर्ती आचार्यों के रस विषयक मत का विवेचन प्रस्तुत है।

पूर्ववर्ती आचार्यों में आचार्य भरत का मत प्रतिस्थापित किया जा चुका है तत्पश्चात् अग्निपुराण का रसविषयक मत द्रष्टव्य है, अग्निपुराणकार रस को दार्शनिक धरातल पर अवतरित करते हुए कहते हैं-

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, एवं समन्वयक (भारत अध्ययन केन्द्र) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।

वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।

व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥[7]

अर्थात् वेदान्त में जिसे अक्षर, परब्रह्म, अलं, विभु (व्यापक), चैतन्य, ज्योतिर्मान (स्वयंप्रकाश) और ईश्वर कहा गया है उसका आनन्द सहज है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है, उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य चमत्कार या रस है। वेदान्त में परब्रह्म को अक्षर (अविनाशी), सनातन, अजन्मा, विभु (व्यापक) चैतन्य, ज्योतिर्मान और ईश्वर कहा गया है, वह परब्रह्म विद्या और अविद्या के भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें विद्या के आश्रय चारों वेद हैं। वही एकीभूत रूप में सत् है, वही महाविष्णु है, उसका चित् रूप क्षेत्रज्ञ आत्मा है और उस चित् का गुणांश प्रधान (ब्रह्म) है।

महाविष्णु काल तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा से अधिष्ठित त्रिगुणात्मक प्रधान को संक्षुब्ध कर और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) को विकसित कर सत्त्व, रजस और तमस में तीन गुण अभिव्यक्त होते हैं। वही महाविष्णु से प्रेरित तथा क्षेत्रज्ञ से अधिष्ठित त्रिगुणात्मक प्रधान एकीभूत रूप में अव्यक्त कहलाता है। उस आनन्दमयरूप अव्यक्त ईश्वर का आनन्द सहज अभिव्यक्त होता है, उसी आनन्द की अभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार रस नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार अग्निपुराण में रस दार्शनिक धरातल पर पल्लवित हुआ है वह परब्रह्म की आनन्दरूप अभिव्यक्ति है। वेदान्त में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। वह परब्रह्म अव्यक्त है परन्तु जब क्षेत्रज्ञ के रूप में अभिव्यक्त होता है तब चैतन्य कहलाता है। उसी ब्रह्मानन्द की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति ही रस है।

रस को और अधिक स्पष्ट करते हुए अग्निपुराण में कहा गया है-

आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः।

ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥

अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।

व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते॥[8]

अर्थात् परब्रह्म चैतन्य का प्रथम विकार महान् (महत्तत्त्व) है। उससे अभिमान (अहङ्कार) उत्पन्न होता है। उसी में भुवनत्रय (तीनों लोक) की परिसमाप्ति हो जाती है। उस अभिमान या अहङ्कार से रति की अभिव्यक्ति होती है और वही रति व्यभिचारी आदि भावों से परिपोषित होता है तथा उसे शृङ्गार कहते हैं।

परब्रह्म चैतन्य की सहज आनन्दाभिव्यक्ति रूप इस विशेष अवस्था में पहुँचकर अनेक रूपों में भाषित होता है। वह किस प्रकार विशेष अवस्था में पहुँचता है इसका निरूपण करते हैं- परमब्रह्म का सत्त्व, रजस् एवं तमस् इस गुणत्रय रूप जो प्रथम विकार है वह महान् (महत्तत्त्व) है और उसमें अभिमान की अभिव्यक्ति होती है, जिसे अहङ्कार कहते हैं। अर्थात् परब्रह्म का प्रथम विकार अहङ्कार है और अहङ्कार से अभिमान उत्पन्न होता है तथा अभिमान से रति और रति ही व्यभिचार्यादि भावों से परिपोषित शृङ्गार है।

अग्निपुराण में अहङ्कार से तात्पर्य अभिमान या गर्वोक्ति नहीं है, अपितु अहङ्कार में मनुष्य अपने प्रति अनुराग द्योतित करता है और उसी अहंभाव के कारण उसे अपने व्यक्तित्व का आभास होता है। जैसे किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जागृत होती है तथा उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है, उसी को अहङ्कार कहते हैं। आत्मज्ञान या आत्मप्रतीति होने के कारण वह सहज आनन्दरूप या रसरूप है। अभिमान का ही एक रूप रस है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती है। यहाँ पर मनुष्य का अभिमान उत्तेजनाजन्य मिथ्या गर्व नही है अपितु वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है जो रस्यमान होने के कारण रस है।

अग्निपुराण में शृङ्गार रस को ही प्रधान रस के रूप में प्रतिपादित किया गया है तथा अन्य रसों को इसी से अभिव्यक्त हुआ माना गया है जैसे-

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।

स्व-स्व स्थायिविशेषाश्च परिपोषादिलक्षणाः॥

सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः॥[9]

अर्थात् उस अहङ्कार या शृङ्गार से ही कामशृङ्गार, हास्य आदि अनेक रस उद्भूत होते हैं।

वे सभी अपने-अपने स्थायी भावों की विशेषता के कारण अलग-अलग प्रतीत होते हैं। उनका स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। ये परब्रह्म के सत्त्वादि गुणों के प्रसार से उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार अग्निपुराण में शृङ्गार रस का व्यापक अर्थ लिया गया है और उसे ही रस कहा गया है। उसी शृङ्गार रस से ही कामशृङ्गार, हास्य इत्यादि अनेक रस उद्भूत होते हैं।

वे सभी स्थायिभावों की विशेषता के कारण अलग-अलग लक्षण (स्वरूप) वाले होते हैं।

अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के विकारभूत अहङ्कार में सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण विद्यमान हैं, उनके प्रसार से ही कामशृङ्गार आदि अनेक रस उत्पन्न होते है।

इस प्रकार अग्निपुराण में रस को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखते हुए उसे अभिमानरूप माना गया है तथा प्रथम रस के रूप में शृङ्गार रस को स्वीकार किया गया है तथा अन्य रसों को उसी से

उत्पन्न माना गया है। अग्निपुराण में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स अद्भुत एवं शान्त नौ रस माने गये हैं, जो अपने-अपने भावों से उत्पन्न होते हैं-

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।

वीभत्साद्ऽभुतशान्ताख्याः स्वस्वभावोद्भवाः रसाः॥[10]

इसके अनुसार अग्निपुराण में नौ रसों का वर्णन किया गया है परन्तु मुख्य रूप से चार ही रस अग्निपुराण में स्वीकार किये गये हैं।

जिससे अन्य चार रसों की अभिव्यक्ति होती है-

शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात् तु करुणो रसः।

वीराश्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् बीभत्साद् भयानकः॥[11]

अर्थात् शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इन नौ प्रकार के रसों की योजना पूर्णतः कवि पर आश्रित होती है। उसे जैसा रुचता है वैसा करता है जैसा कि कहा गया है-

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।

यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।

स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्॥[12]

इस अपार संसार में काव्य जगत् का निर्माता कवि ही है उसे जैसा रुचता है वह वैसी रचना करता है यदि कवि शृङ्गारी (सहृदय) है तो उसकी काव्य रचना रसमय (सरस) होगी और यदि कवि वीतरागी (नीरस) होगा तो उसका काव्य भी नीरस होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य योजना कवि पर आश्रित है।

रस का वर्णन करने के पश्चात् अग्निपुराण में भावों का वर्णन किया गया है क्योंकि बिना भाव के रस एवं बिना रस के भावों की कल्पना नहीं की जा सकती है। जैसा कि अग्निपुराण में कहा भी गया है-

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।

भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति।

स्थायिनोष्टौ रतिमुखाः शङ्काद्या व्यभिचारिणः॥[13]

अर्थात् रस भाव से हीन नहीं होता तथा भाव भी रस से हीन नहीं होता है। भाव रस को भावित करते हैं तथा रस भाव को भावित करते हैं। भाव एवं रस दोनों एक दूसरे के उपकारक तत्त्व हैं। जिस प्रकार गन्ध से हीन पृथ्वी नहीं होती है उसी प्रकार भावहीन रस एवं रसहीन भाव भी नहीं होता है।

भाव रसों को भावित करते हैं इसलिए भाव कहे जाते हैं। इस प्रकार भावों के द्वारा रस भावित होता है।

अग्निपुराण में रत्यादि आठ स्थायिभाव स्तम्भादि आठ सात्विक भाव एवं निर्वेदादि तैतींस व्यभिचारिभावों को माना गया है। इस प्रकार इन तीन भावों को मिलाने से भावों की संख्या 49 हो जाती है।

भावों में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों की गणना की गयी है लोक में जिस प्रकार कारण कार्य एवं सहकारी होते हैं वे ही काव्य में विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के रूप में अभिव्यक्त होते हैं तथा वे ही रस की अभिव्यक्ति के कारण कार्य एवं सहकारी कहलाते हैं।

इस प्रकार अग्निपुराण में रस को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में वेदान्त की भूमिका पर अवतरित करते हुए उसका अलौकिक आस्वादन कराया गया है।

अग्निपुराण में प्रतिपादित रस सिद्धान्त को विवेचित करने के पश्चात् परवर्ती साहित्यशास्त्रीय आचार्यों के रस सम्बन्धी मत का अवलोकन करें तो आचार्य धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस तत्त्व का विवेचन करते हुए कहा है-

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[16]

अर्थात् विभावों, अनुभावों, व्यभिचारिभावों तथा सात्विकभावों के द्वारा आस्वाद की योग्यता को प्राप्त कराया गया (अर्थात् आस्वादन के योग्य बनाया गया) स्थायिभाव (ही) रस कहलाता है।

आचार्य धनञ्जय कहते हैं कि (श्रव्य काव्य) श्रोताओं (तथा पाठकों) एवं (दृश्य काव्य के) दर्शकों के हृदय में रति आदि स्थायिभाव काव्य में वर्णित अथवा अभिनय के द्वारा प्रदर्शित, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा सात्विक भावों के द्वारा विशेषरूप से स्पन्दित होते हुए जब आस्वादन के बिषय बना दिये जाते हैं, तब वही रस कहलाते हैं। यही कारण है कि सामाजिक अर्थात् दर्शक इत्यादि रसिक हैं और काव्य उस प्रकार के काव्य के उद्बोधन का कारण होने से रसवत् (रसात्मक सरस) कहलाता है जैसे कि लोक में आयु घृत है इत्यादि व्यवहार किया जाता है।

इसके पश्चात् आचार्य मम्मट का रस सम्बन्धी मत उल्लेखनीय हैं जो आचार्य भरत के रस सिद्धान्त का ही अनुकरण करते हुए कहते हैं-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटयकाव्योः

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः॥

व्यक्तः सः तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[14]

अर्थात् लोक में रति, आदि रूप स्थायी भाव के कारण, कार्य एवं सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक अथवा काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव कहलाते हैं, और उन विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) आदि रूप, कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग से व्यक्त वह (रति आदिरूप) स्थायिभाव 'रस' कहलाता है।

आचार्य मम्मट ने भी आचार्य भरत के समान रस की परिभाषा के उपरान्त रस सम्बन्धी चारों सिद्धान्तों (उत्पत्तिवाद अनुमितिवाद, भुक्तिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद) का विवेचन किया है तथा अभिव्यक्तिवाद को ही सर्वमान्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् आते हैं आचार्य विश्वनाथ जिनका रस विषयक मत साहित्यशास्त्र की परम्परा में अलग स्थान रखता है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के विषय में कहा है-

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।

रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥[15]

अर्थात् सहृदय हृदय में (वासना रूप से विराजमान) रत्यादिरूप स्थायीभाव जब (कविवर्णित) विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद अथवा आनन्द रूप हो जाते हैं और रस कहे जाते हैं।

आचार्य धनञ्जय के पश्चात् 17वीं शताब्दी के साहित्यशास्त्र में नव्यन्याय शैली में तत्त्वविचार के प्रवर्तक आचार्य जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ रसगङ्गाधर में रस सम्बन्धी विवेचन किया है। आचार्य जगन्नाथ ने रस को अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए दार्शनिक धरातल पर अवतरित किया है तथा आचार्य मम्मट एवं अभिनवगुप्त के रसविषयक मतों का भी विवेचन किया है।

आचार्य जगन्नाथ वेदान्त के धरातल पर रस की प्रतिस्थापना करते हुए कहते हैं कि- **'समुचितललितसन्निवेशचारुणा'**[17] इत्यादि से अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में मनुष्य अनेक प्रकार के भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है, तो कभी किसी का चिन्तन, कभी किसी-पर क्रोध, तो कभी किसी से घृणा, कभी किसी से भय खाता है तो कभी किसी कार्य में उत्साह दिखलाता है, कभी किसी पर हँसता है तो कभी किसी बात पर आश्चर्य प्रकट करता है, इसी प्रकार वह कभी शान्ति का अनुभव करता है। ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु मनुष्य के हृदय में उसका संस्कार सदैव के लिए अमिट हो जाता है, अर्थात् वासनारूप में वे समस्तभाव मनुष्य के हृदय में बसने लगते हैं। वासनारूप में मनुष्य के हृदय में स्थित वे ही भाव साहित्यशास्त्र में रति, शोक, क्रोध, जुगुप्सा, भय, उत्साह, हास, विस्मय और राग इन नामों से स्थायी भाव कहलाते, जो वस्तुतः एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं। ये चित्तवृत्तियाँ ब्रह्म के समान सत्य, विज्ञानरूप एवं स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के रूप में अनुभूति होती है। सामाजिक को ब्रह्मानन्द स्वरूप की अनुभूति तब तक नहीं होगी जब तक उस पर अज्ञानरूपी आवरण चढ़ा रहता है, तथा इस बाह्य आवरण को हटाने के लिए आचार्य भट्टनायक 'भावकत्व' नामक नवीन व्यापार की कल्पना करते हैं और कहते हैं कि भावकत्व द्वारा रस भावित हो जाता है तथा 'भोजकत्व' व्यापार द्वारा उसकी भुक्ति होती है परन्तु आचार्य जगन्नाथ भट्टनायक के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि रस की अनुभूति में भावकत्व एवं भोजकत्व नामक कोई व्यापार सहायक नहीं होते अपितु सहृदयों की अनुभूति ही रसास्वादन में प्रमाण है, इसके लिए भावकत्व नामक किसी नवीन व्यापार को मानने की आवश्यकता नहीं है।

अतः कहा जा सकता है कि अग्निपुराण का रससम्बन्धी सिद्धान्त सर्वथा मौलिक एवं सर्वग्राह्य जिसका अनुसरण परवर्ती प्रायः समस्त आचार्यों ने किया है। अग्निपुराण के रससिद्धान्त की मौलिकता का कारण यह है कि इसमें रस को साक्षात् परब्रह्म के समकक्ष स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नाट्यशास्त्र 6.33 वृत्ति, प्रथम संस्करण
2. तैत्तिरीयोपनिषद्- सप्तम अनुवाक (गीता प्रेस)
3. अग्निपुराण- 33.33
4. काव्यमीमांसा- 1 पृ0 3, प्रथम संस्करण
5. कामसूत्र- 1.65
6. नाट्यशास्त्र 6.33 वृत्ति, प्रथम संस्करण
7. नाट्यशास्त्र 6.33 वृत्ति, प्रथम संस्करण
8. अग्निपुराण- 339.1,2
9. अग्निपुराण- 339.3
10. अलङ्कारशास्त्रागम पृ0 74, सप्तमोभाग
11. अग्निपुराण- 339.1.7
12. अग्निपुराण- 339.10
13. काव्यप्रकाश- 4.28
14. साहित्यदर्पण- 3.1
15. दशरूपक- 4.1
16. दशरूपक- 4.2
17. रसगङ्गाधर, प्रथम आनन

प्राचीन एवं मध्यकालीन महत्त्वपूर्ण अवनद्ध वाद्य

*डॉ0 भीमसेन सरल**

भारत जैसे देश में हमें अवनद्ध वाद्यों का विपुल भण्डार व विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। ये वाद्य हमारे सङ्गीत में प्रयुक्त होकर सङ्गीत को पूर्णता प्रदान करने का कार्य करते हैं। वैदिक काल व उसके पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता से ही हमें इस प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है। कालचक्र और मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ कुछ वाद्यों के स्वरूप में परिवर्तन हुआ और कुछ नवीन वाद्यों का निर्माण भी हुआ।

भारतीय संगीत में नाट्यशास्त्र और संगीत रत्नाकर जैसे ग्रन्थों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। अतः सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' और 'सङ्गीत रत्नाकर' में वर्णित कुछ प्रमुख अवनद्ध वाद्यों की हम चर्चा करते हैं। 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ के 33वें अध्याय (अवनद्धातोद्यविधानाध्यायः) में अवनद्ध वाद्यों के उत्पत्ति, बनावट, वादन एवं अन्य आवश्यक परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में जिन अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख एवं वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं- पुष्कर, पणव, दर्दुर, मृदङ्ग, मर्दल, भूमिदुन्दुभि, दुन्दुभि, झल्लरी, पटह। स्वाति मुनि द्वारा निर्मित 3 प्रकार के मृदङ्ग, माटी के बने भरत ने बताये हैं तथापि भरत ने पणव, दर्दुर जैसे वाद्यों का काष्ठ का होना प्रतिपादित किया है।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के बाद दूसरा महत्वपूर्ण सङ्गीत ग्रन्थ शार्ङ्गदेवकृत 'सङ्गीत रत्नाकर' है। भरत तथा शार्ङ्गदेव के बीच के काल में कई आचार्यों ने सङ्गीत ग्रन्थों की रचना की किन्तु उन ग्रन्थों में तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित विचारों में विशेष अन्तर नहीं था। शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ के छठवें अध्याय में वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है। मार्गी एवं देशी सङ्गीत के लिए उपयुक्त एवं उस काल में प्रयोग होने वाले जिन अवनद्ध वाद्यों का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं- पटह, मर्दल, (मृदङ्ग, मुरज), हुडुक्का, करटा, घट, ढवस, डक्क, कुडुवा, घडस, रुंजा, डमरूक, मड्डिक्का, डक्कुली, सेल्लुका, झल्लरी, भाण, त्रिवली, दुन्दुभि, भेरी, निस्ताण, तुम्बकी।

नाट्यशास्त्र व सङ्गीत रत्नाकर में वर्णित कुछ वाद्य समान हैं और कुछ वाद्य ऐसे भी हैं जिनका उल्लेख सङ्गीत रत्नाकर में है किन्तु नाट्यशास्त्र में नहीं है।

नाट्यशास्त्र और संगीत रत्नाकर में वर्णित कुछ महत्वपूर्ण अवनद्ध वाद्य इस प्रकार है –

पुष्कर

पुष्कर शब्द का भरत मुनि ने अलग-अलग अर्थों में उल्लेख किया है। पुष्कर का वाम पुष्कर एवं दक्षिण पुष्कर कहकर बायें एवं दायें मुख के रूप में एवं मर्दल-मुरज का भी पुष्कर के रूप में उल्लेख किया है।[1] इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार श्री बाबू लाल शुक्ल, शास्त्री कहते हैं कि '' 'पुष्कर' शब्द सामान्यतः लकड़ी से निर्मित अवनद्ध वाद्यों के सभी सामान्य प्रकारों के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है।''[2] वास्तव में पुष्कर वाद्य क्या था यह स्पष्ट नहीं हो पाता है, तथापि 'त्रिपुष्कर' के रूप में भरत ने जिन तीन अवनद्ध वाद्यों का वर्णन किया है उससे तीन मृदङ्ग प्रकारों, जो भरत ने बताये हैं- हरीतकी, यवाकृति, गोपुच्छाकृति का वर्णन प्राप्त होता है। ये तीन वाद्य आंकिक (हरीतकी), ऊर्ध्वक (यवाकृति) तथा आलिंग्य (गोपुच्छाकृति) थे। इन (त्रि) पुष्कर वाद्यों का वर्णन इस प्रकार है-

(क) आंकिक

यह वाद्य वर्तमान कालीन मृदङ्ग या पखावज के अनुसार होकर उसे भी लिटाकर बजाया जाता था। यह अधिकतर लकड़ी का बनाया जाता था। भरतकाल में मृदङ्ग मिट्टी के भी बने होते थे। इसकी लम्बाई $3\frac{1}{2}$ बिलात होकर यह मध्य में अधिक चौड़ा रहता था। बीच में से खोखला होकर इसके दो मुख होते थे। दोनों मुखों का व्यास 12 अंगुल होता था। दोनों मुखों पर चमड़े मढ़े रहते थे। यह चमड़ा गाय या बैल का दोषरहित, सफेद, चमकदार होता था। पूड़ी के चमड़े में छेद करके डोरी या बद्धी को इनमें से डालकर दोनों पूड़ियों को कसा जाता था। नये आंकिक वाद्य के पूड़ी (चमड़े) पर गाय के घी के साथ तिल को पीसकर तैयार किये गये मसाले का लेपन किया जाता था। आंकिक के दोनों मुखों पर आवश्यकतानुसार अलग-अलग स्वर स्थापना की जाती थी। इसके साथ ही आंकिक के स्वर स्थापना के आधार पर ऊर्ध्वक के ऊपर स्वर स्थापना की जाती थी, जिन्हें मार्जना कहते थे।

(ख) ऊर्ध्वक

यह वाद्य भी लकड़ी का बना होकर बीच में से खोखला होता था। इसके एक ही मुख होता था। इसको खड़ा रखकर बजाया

---

* तबला शिक्षक, माउण्ट लिट्रा जी स्कूल, वाराणसी

जाता था। इसकी ऊँचाई 4 बिलात तथा मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। वर्तमान बायें (डग्गा) के अनुसार इसके मुख पर लगे चमड़े (पूड़ी) को डोरी से कस दिया जाता था। पुष्कर वाद्य के स्वर स्थापना में इसकी यह विशेषता थी कि इसे पंचम स्वर में मिलाया जाता था। अन्य बनावट, चमड़ा, लेपन आदि आंकिक के अनुसार ही होता था।

(ग) आलिंग्य

यह वाद्य भी लकड़ी का बना होकर बीच में से खोखला होता था। इसके एक ही मुख होकर इसे खड़ा रखकर बजाया जाता था। इसकी ऊँचाई तीन बिलात तथा मुख का व्यास 8 अंगुल का होता था। इसके ऊपर चमड़े की पूड़ी लगाई जाती थी, जिसे डोरी या बद्धी से कस दिया जाता था। इस वाद्य को खर्ज (खरज) स्वर में मिलाया जाता था। अन्य बनावट, चमड़ा, डोरी, लकड़ी, लेपन आदि आंकिक के समान ही होती थी।''[3]

नाट्यशास्त्र के वाद्याध्यय के श्लोक क्र॰ 23 से 44 तक का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जहाँ सम्पूर्ण अंग वाद्य का उल्लेख करना हो वहीं पुष्कर शब्द का नाम उल्लेख भरत ने किया है, किन्तु जहाँ पर अलग-अलग पाटाक्षर निकालने के विधि का वर्णन किया है, वहाँ आंकिक, आलिंग्य तथा ऊर्ध्वक तीनों का अलग-अलग उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भरतकाल में मृदङ्ग वादन 3 मृदङ्गों को मिलाकर किया जाता था। जैसे आज तबला वाद्य कहने पर दायाँ एवं बायाँ दोनों उसके अन्तर्गत आते हैं, उसी प्रकार पुष्कर वाद्य कहने पर उसके अन्तर्गत आंकिक, आलिंग्य तथा ऊर्ध्वक ये तीनों मृदङ्ग आते थे। यहाँ पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि त्रिपुष्कर या पुष्करत्रय वाद्य माटी के बने होने के कारण ही भरत ने उनका मृदङ्ग नाम से उल्लेख किया होगा। 16 अक्षर, 4 मार्ग, विलेपन, 6 करण, 3 यति, त्रिलय, त्रिगत, त्रिपचार, त्रियोग, त्रिपाणि, पंचपाणिप्रहत, त्रिप्रहार, त्रिमार्जना, 18 जाति और 20 अलंकार इनका निष्पादन करने में जो वाद्य सक्षम हो उसे पुष्कर वाद्य कहेंगे।[4] उपरोक्त सारे नियमों का निष्पादन आंकिक, आलिंग्य तथा ऊर्ध्वक के संयुक्त वादन से ही सम्भव था। इसी कारण इन्हें त्रिपुष्कर कहा है।

शार्ङ्गदेव ने भरतकालीन पुष्कर वाद्य को अव्यवहारिक बताकर इसका वर्णन नहीं किया है (रत्नाकर- 6/1027)।[5]

भरत के बाद के काल में शनैः-शनैः त्रिपुष्कर वाद्य का विघटन होने लगा था। भरतकाल से लगभग ग्यारहवीं सदी तक के पुरातत्व सर्वेक्षण से यद्यपि त्रिपुष्कर एवं द्विपुष्कर वाद्यों के वादन के प्रमाण मिलते हैं तथापि भरतकाल के बाद कालान्तर में त्रिपुष्कर वाद्यों के विघटन से मुख्यतः दो प्रकार के स्वतन्त्र अवनद्ध वाद्यों का विकास प्रारम्भ हुआ। एक लिटाकर बजाये जाने वाले द्विपार्श्वमुखी (आंकिक समान) मृदङ्ग या पखावज तथा दूसरे ऊर्ध्वमुखी (ऊर्ध्वक और आंलिग्य के समान) तबला जैसे वाद्य।

मृदङ्ग, मुरज तथा मर्दल

भरत ने अपने ग्रन्थ में मृदङ्ग का अलग वर्णन न करके त्रिपुष्कर के रूप में वर्णन किया है। भरतकालीन आंकिक वाद्य (मृदङ्ग), शार्ङ्गदेव कालीन मृदङ्ग तथा वर्तमान मृदङ्गम् या पखावज के समान ही था। अतः भरतकालीन आंकिक के वर्णन को मृदङ्ग का वर्णन समझा जा सकता है।[6]

शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ 'सङ्गीत रत्नाकर' के वाद्याध्याय (6ठा अध्याय) के श्लोक सं॰ 1026 में मर्दल को ही मृदङ्ग तथा मुरज कहा है। 'रत्नाकर' में 'मर्दल' का विवेचन (6/1019 से 1029 में) विस्तृत रूप में किया गया है। इसकी लकड़ी बीज के वृक्ष की होती थी। यह ठीक से पकी तथा निर्दोष होती थी। लम्बाई 21 अंगुल होकर मर्दल का अंग (खोड़) बीच में से खोखला होता था। दो मुख होकर मुख पर लकड़ी की मोटाई 1/2 अंगुल की होती थी। दाहिने मुख का व्यास 13 अंगुल तथा बायें मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। खोड़ के बीच के भाग का व्यास मुखों की अपेक्षा थोड़ा बड़ा रहता था। दोनों मुखों पर उनकी व्यास की अपेक्षा 1अंगुल बड़ी चमड़ी जो पकी तथा निर्दोष होती थी, मुखों को ढंकने के काम लाई जाती थी। इन चमड़ियों के किनारों पर 1-1 अंगुल की दूरी पर 40 छेद किये जाकर, दोनों चमड़ियों को इन छेदों में से डाले गये बद्धियों से आपस में कसकर अंग के दोनों मुखों पर बाँध दिया जाता था (वर्तमान पखावज के समान)। राख को भात में मिलाकर चिकनी लुग्दी तैयार की जाती थी। इस लुग्दी का 2/3 भाग लेकर उसका पूड़ी के आकार में बायें मुख (चमड़ी) के बीचों-बीच (वर्तमान स्याही के समान) विलेपन किया जाता था तथा शेष 1/3 लुग्दी का विलेपन इसी प्रकार दायें मुख पर किया जाता था।[7]

डॉ॰ लालमणि मिश्र अपने ग्रन्थ 'भारतीय सङ्गीत वाद्य' में लिखते हैं कि ''ऐतिहासिक दृष्टि से मदृङ्ग, मुरज आदि का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में प्राप्त नहीं होता। .....रामायण के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि उस समय अवनद्ध वाद्यों में मृदङ्ग का सर्वाधिक प्रचार था। रामायण में मुरज तथा मृदङ्ग का अलग-अलग नाम दिया गया है। जिससे यह समझना चाहिए कि इन वाद्यों के रूप में कुछ अन्तर अवश्य था। महाभारत में भी मृदङ्ग तथा मुरज के अलग-अलग नाम उपलब्ध होते हैं। कालिदास के साहित्य में मर्दल, मुरज तथा मृदङ्ग इन तीनों का उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है। महर्षि भरत के समय तक मृदङ्ग तथा मुरज का उल्लेख तो प्राप्त होता है किन्तु मर्दल का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता जबकि कालिदास ने मर्दल का भी उल्लेख किया है। शार्ङ्गदेव ने मुरज तथा मर्दल को मृदङ्ग का पर्याय माना है। अभिनवगुप्ताचार्य ने भी मुरज को मृदङ्ग का पर्याय बताया है। स्वयं महर्षि भरत ने चौतीसवें अध्याय में एक स्थान पर कहा है कि सुख प्रदान करने वाली-मांगलिक होने के कारण इसे मृदङ्ग कहते है, मुलायम मिट्टी से बनी

हुई होने के कारण इसे मुरज कहते है, भ्रमण करने वाली होने के कारण इसे माण्ड कहते हैं तथा पीटकर बजायी जाने के कारण इसे आतोद्य कहते हैं। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मुरज मृदङ्ग का ही पर्याय है।''[8]

आगे डॉ॰ लालमणि मिश्र मर्दल की चर्चा इस प्रकार से करते हैं- ''अब प्रश्न मर्दल का है। शार्ङ्गदेव ने इसे ही मृदङ्ग का पर्याय माना है। महर्षि भरत ने मर्दल का कहीं नामोल्लेख नहीं किया है। यह नाम कालिदास के साहित्य में अवश्य प्राप्त होता है। अभिनव गुप्त ने भी मर्दल का नामोल्लेख किया है। सम्भव है मृदङ्ग का यह नाम प्राकृत भाषा की देन हो जो अपभ्रंशयुग तक प्रचार में रहा तथा मध्ययुग में भाषा का सम्बन्ध पुनः संस्कृत से जुड़ जाने के कारण मर्दल के स्थान पर मृदङ्ग शब्द की पुनः प्रतिष्ठा हो गयी। नाम परिवर्तन के इस चक्कर में मृदङ्ग का वह रूप, जो प्राचीन काल से महर्षि भरत के समय तक प्रचार में रहा, कब लुप्त हो गया, इसका ठीक-ठाक पता लगाना कठिन हो गया है। जिस वाद्य को आज हम उत्तर भारतीय मृदङ्ग अथवा पखावज के नाम से जानते हैं, दक्षिण भारतीय जिसे अपना मृदङ्गम् कहते हैं, वह भरतकालीन मृदङ्ग का केवल एक भाग है। मृदङ्ग में यह परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी से ही होने लगा था, जो शार्ङ्गदेव के समय तक पूरी तरह बदल गया। यद्यपि शार्ङ्गदेव ने मर्दल को मृदङ्ग का पर्याय बताया है किन्तु यह भी कह दिया है कि इस समय भरतकालीन मृदङ्ग का प्रचार नहीं है। इसलिए मैं मर्दल का ही वर्णन करता हूँ।''[9]

अपने इसी ग्रन्थ में आगे डॉ॰ लालमणि जी लिखते हैं कि- ''वास्तव में महर्षि भरत ने मृदङ्ग का जिस प्रकार से वर्णन किया है वह सामान्यतः भ्रामक प्रतीत होता है। क्योंकि एक ओर तो उन्होंने मृदङ्ग के तीन रूप बताये हैं- हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छा। जिससे ये तीनों मृदङ्ग के ही रूप-भेद प्रतीत होते हैं, किन्तु उसके बाद ही उन्होंने यह भी कहा है कि आंकिक का हरीतकी के समान, ऊर्ध्वक का यवा के समान तथा आलिंग्य का गोपुच्छा के समान रूप होता है। उक्त वर्णन से ऐसा भ्रम होता है कि मृदङ्ग, आंकिक, ऊर्ध्वक, आलिंग्य आदि भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है। जिस प्रकार आज तबला शब्द का व्यवहार होता है अर्थात् तबला कहने से उसके दायें तथा बायें इन दोनों भागों का बोध होता है और तबला कहने पर केवल दायाँ का अर्थ भी समझा जाता है, उसी प्रकार प्राचीन काल में उक्त तीनों को मिलाकर ही मृदङ्ग समझा जाता था तथा यदि तीनों हिस्सों का अलग-अलग नाम लेना होता था तब उन्हें आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य कहकर पुकारते थे।''[10]

पणव

मृदङ्ग के समान पणव भी भारत का अति प्राचीन अवनद्ध वाद्य है। महर्षि भरत ने मृदङ्ग के बाद अवनद्ध वाद्यों में पणव को ही सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में पणव का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में हुआ दिखाई पड़ता है, लेकिन पणव का वर्णन सङ्गीत रत्नाकर में नहीं है। महर्षि भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के अध्याय 33 श्लोक 247-249 में पणव की रचना (बनावट) का विवेचन किया है।[11] इसके अनुसार सोलह अंगुल लम्बा, मध्य भाग भीतर की ओर दबा, जिसका विस्तार आठ अंगुल तथा जिसके दोनों मुख पाँच अंगुल हों वह पणव है। आधे अँगूठा के समान मोटा उसका काठ होता है और भीतर का खोखला भाग चार अंगुल के व्यास का होता है। पणव के दोनों मुख चमड़े से मढ़े जाते थे जिन्हें सुतली से कस दिया जाता था। सुतलियों का यह कसाव कुछ ढीला रखा जाता था जिसे वादन के समय बायें हाथ से मध्य भाग को दबाकर तथा ढीला कर आवश्यकतानुसार ऊँची-नीची ध्वनि निकाली जाती थी।[12]

महर्षि भरत के द्वारा बताये गये पणव के रूप को यदि ध्यान से देखा जाये तो मालूम होगा कि यह आधुनिक हुडुक ही है (**'पणवाऽन्तस्तन्त्रीको हुडुक्कारः'**, अभिनवगुप्ताचार्य), जिसे मध्यकाल में आवज तथा स्कन्धावज के नाम से जाना जाता था। इस प्रकार प्राचीन कालीन पणव पूर्व मध्य काल में हुडुक, मध्य युग में आवज तथा आधुनिक युग में पुनः हुडुक कहा जाने लगा है। इस नाम-परिवर्तन के साथ-साथ उसके आकार को छोटा अवश्य किया गया है, किन्तु उसकी बनावट, पकड़ तथा वादन क्रिया वैसी ही बनी रही।[13]

युग परिवर्तन के साथ-साथ वाद्यों की महत्ता में भी परिवर्तन होता रहता है। भरत के समय पणव मृदङ्ग के पश्चात् अपना जो विशेष स्थान रखता था वह शार्ङ्गदेव के समय तक पटह (ढोलक) ने ले लिया। यद्यपि शार्ङ्गदेव ने हुडुक और इसी जाति के अनेक वाद्यों का वर्णन किया है किन्तु जो विस्तार पटह को प्रदान किया है वह और किसी अवनद्ध वाद्य को प्रदान नहीं किया। मध्य युग में पणव का आवज रूप फिर कुछ प्रगति पथ पर दिखाई पड़ता है, किन्तु कृष्ण-भक्त कवियों के ब्रज-साहित्य के साथ-साथ आवज पुनः संकुचित होता गया और आज वह कहार तथा अहीर जाति का वाद्य बनकर रह गया है। दक्षिण भारत में आज भी कहीं-कहीं मन्दिरों में इनका प्रयोग देखने को मिलता है किन्तु उत्तर भारतीय शिव-मन्दिरों के समान उसे डमरू का बड़ा रूप ही मानना चाहिए।[14]

पटह

हिन्दी शब्द सागर में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुन्दुभि दिया गया है, परन्तु पटह न तो नगाड़ा है और न दुन्दुभि। 'संङ्गीत-पारिजात' के मतानुसार पटह का अर्थ ढोलक है। उसमें स्पष्ट लिखा है, **''पटह ढोलक इति भाषायाम्''** और फिर स्पष्ट व्याख्या दी है कि पटह भेरि जाति का वाद्य है, जो डेढ़ हाथ लम्बा होता है। सङ्गीतसार के अनुसार भी मध्यकालीन ढोलक को ही प्राचीन युग में पटह कहा जाता था। महर्षि भरत ने पटह को प्रत्यंग वाद्यों के अन्तर्गत माना है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पटह भारत के प्राचीनतम अवनद्ध वाद्यों में प्रतीत होता है।[15]

सङ्गीत रत्नाकर में पटह को मृदङ्ग-मर्दल के समान मान्यता दी है तथा उसका विस्तृत वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भरतकाल (प्राचीनकाल) से धीरे-धीरे पटह सङ्गीत में अपना स्थान प्राप्त कर शार्ङ्गदेव के काल में यह सङ्गीत के प्रमुख अवनद्ध वाद्य के रूप में उभरकर सामने आया। शार्ङ्गदेव के काल (13वीं सदी) के बाद, उसी तरह धीरे-धीरे इस वाद्य का सङ्गीत क्षेत्र में महत्व कम होता चला गया। शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ 'रत्नाकर' में पटह का विस्तृत विवेचन किया है। शार्ङ्गदेव ने इसे मार्गी एवं देशी दोनों प्रकार के सङ्गीत में उपयोगिता की दृष्टि से मार्गी पटह एवं देशी पटह के रूप में प्रस्तुत किया है और मार्गी तथा देशी पटह दोनों की रचना, वादन आदि का अलग-अलग वर्णन किया है।

(क) मार्गी पटह

मार्गी पटह की लम्बाई $2\frac{1}{2}$ हाथ होती थी। यह लकड़ी का बना होकर मध्य भाग में खोखला होता था। इसके खोड़ की परिधि 60 अंगुल की होती थी। इसके दो मुख होते थे। मुखों की अपेक्षा अंग (खोड़) बीच में से उठा हुआ होता था। दायाँ मुख 11½ अंगुल तथा बायाँ मुख 10½ अंगुल व्यास का होता था। दायें मुख पर लोहे का कड़ा व बायें मुख पर बेली (बारीकवादी) से बना गोल कड़ा (गजरा) बिठाते थे। दायें मुख पर 6 माह के मरे बछड़े की खाल तथा बायें मुख पर मृत पशु की मोटी खाल को तैयार कर चमड़ा चढ़ाने में उपयोग किया जाता था। बायें मुख तथा दायें मुख के कड़ों में 7-7 छेद करके दोनों मुखों को डोरी (वादी) द्वारा कसा जाता था। इन डोरियों में 4 अंगुल प्रमाण के धातु के 7 छल्ले डाले जाते थे। इन छल्लों का उपयोग स्वर को ऊँचा-नीचा करने में किया जाता था। बायें मुख के कड़े में एक सूत की गूँथी हुई नरम तथा मोटी डोरी कच्छा के रूप में बाँधी जाती थी, जिसका उपयोग कमर में बाँधने के लिए किया जाता था।[16]

(ख) देशी पटह

देशी पटह की रचना मार्गी पटह के अनुसार ही बतायी है, तथापि इसकी लम्बाई $1\frac{1}{2}$ हाथ, दायाँ मुख 7 अंगुल, बायाँ मुख $6\frac{1}{2}$ अंगुल व्यास का होता था। दायें मुख पर मार्गी पटह के अनुसार किन्तु बायें मुख पर जानवर के जंघा के निचले चमड़े का उपयोग होता था।[17]

दोनों पटह (मार्गी तथा देशी) में खेर (खैर) की लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। शार्ङ्गदेव के अनुसार देशी पटह जो प्रयोग में आते थे तथा जिन्हें अन्य गुणीजन 3 प्रकार के उत्तम, मध्यम तथा अधम बताते थे आकार में अलग-अलग होते थे। शार्ङ्गदेव द्वारा वर्णित पटह उत्तम प्रकार का, उससे 1 : 12 अंश से कम वाला मध्यम तथा 1 : 6 अंश कम आकार वाला अधम कहलाता था।[18]

शास्त्रों में पटह के वर्ण (पाटाक्षर), संयुक्त बोल, पाट, पाटों के देवता, हस्तपाट, पाट-हस्तक, पाटविन्यास आदि का वर्णन मिलता है।

दर्दर अथवा दर्दुर

महर्षि भरत ने दर्दुर को अवनद्ध वाद्यों में अंग वाद्य मानकर इसे पर्याप्त महत्व दिया है, किन्तु भरत के परवर्ती आचार्यों ने इस वाद्य की महत्ता स्वीकार नहीं की थी। महर्षि भरत के अनुसार यह घट के आकार का होता था। घट का व्यास 16 अंगुल प्रमाण का तथा इसका मुख नौ अंगुल का होता था, जिसके ऊपर चमड़े की पूड़ी का विस्तार बारह अंगुल का होता था। यह चमड़े की पूड़ी सुतलियों से पणव के समान ही कसी रहती थी। इसमें विलेपन (स्याही) होने का प्रमाण नहीं मिलता है। चमड़ा अन्य वाद्यों के समान ही नया, दोष रहित, चिकना, कमाया हुआ, स्वच्छ, सफेद, चमकदार बताया है। दोनों हाथों से इसका वादन होता था। भरत काल के बाद इसका महत्व कम हो गया तथा बाद में सङ्गीत आचार्यों ने घट के रूप में इसका उल्लेख किया है। 'सङ्गीत-रत्नाकर' में उल्लिखित घट चर्म रहित वाद्य है। वर्तमान दक्षिण भारतीय सङ्गीत का घटम् वाद्य भी चर्म रहित है।[19]

भूमिदुन्दुभि तथा दुन्दुभि

'दुन्दुभि' शब्द ध्वन्यनुकारी जान पड़ता है। श्री भानुजी दीक्षित ने अमरकोष की व्याख्या सुधा में इसकी इस प्रकार व्युत्पत्ति बतलाई है- **'दुन्दु इति शब्देन भाति, इति दुन्दुभिः'** (निर्णयसागर संस्करण, पृ॰ 73)। अर्थात् 'दुन्दु' ध्वनि से जो प्रकट हो, वह 'दुन्दुभि' है। एक दूसरी व्युत्पत्ति भी बतलाई है- **द्यामुभति** (शब्देन)। **'उभूपरणे'**। जो आकाश को शब्द से भर दे, वह है 'दुन्दुभि'। अमरकोष ने इसे भेरीवर्ग में गिनाया है- **'भेर्यामानकदुन्दुभी'**। अतः इसमें सन्देह नहीं कि यह अवनद्ध वाद्य नहीं था। यह वाद्य अति प्राचीन काल से प्रचलित है।[20]

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में वीणा का प्रचुर वर्णन प्राप्त होता है, उसी प्रकार अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, वाजसनेयी संहिता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि में भूमिदुन्दुभि का उल्लेख है। भूमिदुन्दुभि के निर्माण के बारे में कहा गया है कि जमीन में बड़ा गड्ढा खोदकर उसके ऊपर गड्ढे के आकार से बड़ा चमड़ा रख दिया जाता था। फिर उस चमड़े को ऊपर में खूँटियाँ गाड़कर उनके द्वारा ताना जाता था। तनाव के बाद लकड़ी की डंडियों अथवा गाय के पूँछ से पीट-पीटकर उसे बजाया जाता था। इससे अधिक जानकारी भूमि-दुन्दुभि के सन्दर्भ में प्राप्त नहीं होती। चमड़ा बड़ा होने के कारण वह किसी बड़े जानवर का होगा। भूमि-दुन्दुभि का उपयोग लोगों को एकत्रित करने, खतरे का संकेत देने आदि के लिए किया जाता था।[21] भूमि-दुन्दुभि, दुन्दुभि का ही एक प्रकार था।

दुन्दुभि का उल्लेख भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' के 33वें अध्याय के श्लोक 11 में इस प्रकार मिलता है **'देवानां दुन्दुभिः.....'** अर्थात् भरत के मतानुसार दुन्दुभि देवगणों का वाद्य था, इसका विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र में नहीं है।

शार्ङ्गदेव के ग्रन्थ सङ्गीत-रत्नाकर में दुन्दुभि वाद्य को अवनद्ध वाद्यों में रखा गया है। इस वाद्य का विस्तृत वर्णन (6/1146-1148 में) शार्ङ्गदेव ने किया है। शार्ङ्गदेव के विवेचनानुसार दुन्दुभि वाद्य एक अंगी होकर इसका आकार बड़ा होता था (आकार निश्चित नहीं बताया है)। यह आम की लकड़ी से अधिकतर तैयार किया जाता था। यह एकमुखी वाद्य था। इसको अन्दर से खोखला कर इसके मुख के व्यास से बड़े चमड़े को उसके किनारों पर छिद्र करके उन छिद्रों में से बद्धियाँ (वादियाँ) डालकर कस दिया जाता था। बड़े आकार के कारण इसकी ध्वनि बड़ी होती थी तथा इसका वादन कोणदार चर्म अथवा डांडी से किया जाता था। इसकी ध्वनि मेघगर्जना समान धुंकार स्वरूप की होती थी। इसका वादन मङ्गल कार्यों में, विजयपर्व पर तथा मन्दिरों में किया जाता था। ऐसा कहा जाता है कि मध्यकाल के उत्तर भाग में उल्लिखित नक्कारा, नगाड़ा, धौंसा आदि वाद्य दुन्दुभि के ही समान थे।[22]

सङ्गीत रत्नाकर में वर्णित दुन्दुभि में एक ही नग होता है और वह बड़ा होता है। प्राचीन दुन्दुभि तथा भूमि-दुन्दुभि एक ही नग का बड़ा नगाड़ा जैसा होता था। किन्तु जबसे उसका सम्बन्ध शहनाई आदि से हुआ तबसे उसमें भी भीषण तथा ज़ोरदार ध्वनि उत्पादन के अतिरिक्त मृदङ्ग ऐसे पाटाक्षर निकालने की भी आवश्यकता हुई। इसीलिए उस बड़े आकार के साथ एक छोटे आकार की झील का भी समावेश हो गया। इसके कारण दुन्दुभि में मृदङ्ग आदि के पाटाक्षर आसानी से निकलने लगे। भक्त कवियों तथा सङ्गीतसारादि ग्रन्थों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सङ्गीत रत्नाकर के बाद दुन्दुभि को ही नगाड़ा भी कहा जाने लगा था, जिसमें दो नग होते थे।[23]

सन्दर्भ

1. ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 83
2. नाट्यशास्त्र, भाग-IV, व्याख्याकार श्री बाबू लाल शुक्ल, पृ॰ 349
3. ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 83-84
4. त्रयत्रिंशोऽध्यायः - वाद्याध्यायः श्लोक- 37-39
5. ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 84
6. वही, पृ॰ 84
7. वही, पृ॰ 84-85
8. भारतीय संगीत वाद्य, पृ॰ 189-190
9. वही, पृ॰ 190
10. वही, पृ॰ 191
11. ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 85
12. भारतीय संगीत वाद्य पृ॰ 172 एवं ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 85
13. भारतीय संगीत वाद्य, पृ॰ 172-173
14. वही, पृ॰ 173
15. वही, पृ॰ 173
16. ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 89-90
17. वही, पृ॰ 90
18. वही, पृ॰ 90
19. भारतीय संगीत वाद्य, पृ॰-164 एवं ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 87
20. भारतीय संगीत का इतिहास, ठाकुर जयदेव सिंह, पृ॰ 30
21. ताल-वाद्य-शास्त्र, पृ॰ 87
22. वही, पृ॰ 88
23. भारतीय संगीत वाद्य, पृ॰ 167

●

अलङ्कारात्मवादे साहित्यशास्त्रे क्रान्तिपञ्चकम्

प्रो.सदाशिवकुमारो द्विवेदी[*]

साम्प्रतिकस्य संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य काव्यं नाट्यञ्चेति द्विविधेऽपि क्षेत्रे विद्यतेतरां महत्त्वपूर्णमविस्मरणीयञ्चावदानम् **आचार्याणां सनातनकवीनां रेवाप्रसादद्विवेदिनाम्** । सनातनकविभि: **काव्यालङ्कारकारिका, नाट्यानुशासनम्, अलं ब्रह्म, साहित्यशारीरकम् साहित्यालङ्कार:**[1] चेत्येतेषु ग्रन्थरत्नेषु साहित्यशास्त्रस्य अभिनवं समीक्षणमुपस्थापितमस्ति । एतेषु ग्रन्थेषु काव्यनाट्योभयशास्त्रस्य पूर्वाचार्यै: प्रतिपादितां महतीं परम्परां समनुवीक्ष्य मीमासाशास्त्रं चाश्रित्य आचार्यवर्यै: संस्थापिता: सन्त्यनेके नवीना: सिद्धान्ता: । सिद्धान्तग्रन्थानेतानधिकृत्य जायन्ते शोधकार्याणि शिक्षासंस्थानेषु सम्पूर्णेऽपि राष्ट्रे । शोधपत्रेऽस्मिन् **साहित्यालङ्कारे** प्रतिपादिता अभिनवा: सिद्धान्ता: प्रस्तूयन्ते ।

सद्य एव 2016 ख्रीष्टाब्दे प्रकाशिते **साहित्यालङ्कार (सा.)** इत्यस्मिन् ग्रन्थे आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनां, सम्पूर्णस्य अभिनवसिद्धान्तप्रवर्तकस्य साहित्यशास्त्रोपज्ञस्य सारतत्त्वं सविस्तरं 639 कारिकासु उपस्थितमस्तीति महते प्रमोदाय साहित्यतत्त्वान्वेषणतत्पराणां सहृदयकवीनां समेषाम्। द्वाविंशतिकारिकात्मकेन 'आसनबन्ध:' इत्यनेन संस्कृतभूमिकाभागेनोपनिबद्धेऽस्मिन् ग्रन्थरत्ने महर्षे: भरतमुने: प्रारभ्य इदानीं यावत् प्रवर्तमाना साहित्यशास्त्रस्य **पञ्चक्रान्तय:** विस्तरेण निरूपिता: सन्ति । ग्रन्थस्यास्य सुविस्तृता भूमिका आंग्लभाषायाम् आचार्यै: राधावल्लभत्रिपाठिमहाभागै: विलिखिताऽस्ति यत्र सोपपत्तिकं ध्वनिसिद्धान्तस्य समीक्षणं विधाय बौद्धदर्शनानुप्राणितता चैतस्य प्रमाणीकृतास्ति आचार्यवर्यै: । बौद्धानां क्षणभङ्गवादवदेवानुप्राणितोऽस्ति ज्ञानात्मके काव्ये अनिश्चयार्थप्रवर्तक: प्रधानभूतस्य चमत्कारैकमूलस्य व्यङ्ग्यार्थस्य काव्यात्मत्वेन प्रतिष्ठापक: ध्वनिसिद्धान्त: । अनेन सनातनकवीनां ध्वनिप्रत्याख्यानतर्क: समर्थनं लभते ।

साहित्यालङ्कारस्य आदौ सनातनकवि: **चत्वारि धामानि**, **पञ्च कल्पा:, साहित्यागम** इत्येतेषां विषयाणां समुल्लेखं विदधाति। आचार्योऽसौ भारतं वर्ष नमस्करोति । कथयति च आदावेव ग्रन्थस्य यदत्र भारते वर्षे चत्वारि धामानि यथा प्रतिष्ठितानि सन्ति तथा साहित्यशास्त्रेऽपि काञ्ची-शारदा-महाकाल-काशीरूपेण -

वन्देऽहं भारतं वर्षं चतुर्धामप्रतिष्ठितम् ।

वन्दे साहित्यशास्त्रं च चतुर्धामप्रतिष्ठितम् ।।सा.1।।

प्रथमं धाम वर्तते काञ्चीधाम यत्र बभूवतु: नाट्यशास्त्रस्य प्रवर्तको भरतमुनि: काव्यादर्शनाम्ना प्रसिद्धस्य काव्यलक्षणनाम्न: ग्रन्थरत्नस्य रचयिता आचार्यो दण्डी च । आसीदसौ वैदिक: साहित्यागमस्य समर्थक: शब्दकाव्यतावादी –

धामसु प्रथमं काञ्ची यत्र दण्डी बभूव वै ।

तत्रैव क्वचनासीद् वै भरतोऽपि महामुनि: ।।सा.2।।

द्वितीयं धाम वर्तते शारदाधाम कश्मीरेषु प्रतिष्ठितं यत्र अभवन् भामहादयो नैका काव्यशास्त्रिण: आगमविरोधिन: शब्दार्थोभयकाव्यतावादिन: व्यञ्जकैकमूलस्य काव्यात्मभूतस्य ध्वनितत्त्वस्य प्रवर्तका: प्रत्याख्यातारश्च भूयांसो विद्वांस: -

द्वितीयं शारदधाम कश्मीरेषु प्रतिष्ठितम् ।

यत्र भामह इत्याद्या अभूवन् काव्यशास्त्रिण: ।।सा.3।।

तृतीयं धाम वर्तते **महाकालधाम** धारानगर्याम् अवन्तिक्षेत्रे प्रतिष्ठितं यत्र प्रमुखा आलङ्कारिका: सन्ति शृङ्गारप्रकाशस्य प्रवर्तक: भोजराज:, दशरूपकस्य रचयिता धनञ्जय: तस्य वृत्तिकार: धनिकश्च। त्रयोऽपि नानुमोदन्ते ध्वनिवादं, कव्यात्मवादत्वेनानुसरन्ति 'अहमागमम्' –

तृतीयं तु महाकालधाम धारापुरीस्थितम् ।

यत्रासीद् धनिक: श्रीमानाचार्योऽत्र व्यराजत ।।सा.4।।

चतुर्थं धाम वर्तते **काशीधाम** विश्वेश्वरविहारभूमौ प्रतिष्ठितं यत्र बभूवतु: अप्पय्यदीक्षित:, मधुसूदनसरस्वती, हरिहरानन्दसरस्वती करपात्रस्वामी इत्येते प्राचीना: सनातनकविश्चेत्येते बहवश्चाधुनिका: काव्यशास्त्रिण: -

चतुर्थं धाम काशी श्रीविश्वेश्वर-विहारभू: ।

अप्पय्यदीक्षित: श्रीमानाचार्योऽत्र व्यराजत ।।सा.5।।

भारतवर्षस्य भौगोलिकं स्वरूपमवलम्ब्य प्रवर्तितानि सन्त्येतानि धामानि साहित्यशास्त्रे सनातनकविभि: ।

---

* प्रोफेसर, संस्कृतविभाग:, कलासङ्काय:, समन्वयक:, भारताअध्ययनकेन्द्रम् , काशीहिन्दूविश्वविद्यालय: वाराणसी।

साहित्यालङ्कारे अतः परम् सनातनकवयः प्रतिष्ठापयन्ति साहित्यागमस्य पञ्चकल्पात्मकतां तत्रानुशीलितानां प्रायेण समेषामेव तत्त्वानां समाहाररूपाम् । साहित्यागमस्य चत्वारः कल्पाः सन्ति-

1. **पूर्णताकल्पः दोषाभावात्मकः** प्रथमः,
2. **गुणकल्पः वर्णधर्मात्मकः** द्वितीयः,
3. **लक्षणकल्पः अस्फुटालङ्कारात्मकः** तृतीयः
4. चतुर्थः **स्फुटालङ्कारकल्पः** अलङ्कारात्मवादस्य प्रवर्तकः अलंब्रह्मवादात्मकः **ब्रह्मकल्पः।**
5. पञ्चमः **साहित्यकल्पः** भोजराजप्रवर्तितः द्वादशसमबन्धात्मकतां स्वीकरोति । साहित्यमीमांसायां कल्पोऽसौ परिष्कृतिं लभते। अग्न्र चतुर्णां पूर्ववर्तिनां समाहारः। तद्यथा-

साहित्यशास्त्रे पञ्चैव कल्पाश्च प्रभवन्तकि ।
आद्यस्तु पूर्णताकल्पो दोषाभावात्मकस्तु सः ।।सा.6।।
द्वितीयो गुणकल्पस्तु वर्णधर्मात्मकः स्फुटम् ।
कल्पेऽस्मिन् काव्यता सिद्धाऽलङ्क्रिया त्ववशिष्यते ।।सा.7।।
कल्पस्तृतीयः काव्यानामस्फुटालङ्क्रियात्मकः ।
लक्षणेत्याख्यया मान्यः संख्यातीतो व्यवर्त्तत ।।सा.8।।
स्फुटालङ्कारकल्पस्तु चतुर्थः कल्प उच्यते ।
ब्रह्मशब्देन, नो तस्मात् परं किञ्चिदपेक्ष्यते ।।सा.9।।
साहित्यशास्त्रे साहित्यकल्पाऽऽरम्भप्रजापतिः।
भोज एव स एवैकः साहित्याचार्यसत्तमः ।।370।।

इदमत्रावधेयं यद् योऽयमग्रिमः कल्पस्तस्य पूर्वकल्पोऽपि समुल्लिख्यते । ततश्च योऽयं तुरीयः कल्पः स तृतीयः । तृतीयो द्वितीयेन, द्वितीयश्च प्रथमेन गर्भितः कदलीस्तम्भन्यायेन। ब्रह्मात्मलम्भावापरपर्यायः भूमभावरूपो रसोऽप्यत्र समायातः। वस्तुतो रसालङ्कारः तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्ववर्त्मन – **रस+ब्रह्म+अलम्** इति क्रमात् । सेयमपूर्वा दृष्टिः । अभिनवानामेवायं मनोरथपूर्त्तिः **'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयती'**ति उद्गिरतां ध्वन्यालोकलोचनस्य मङ्गलपद्ये ।

अतः परम् **अहमागमस्य** निरूपणमुपलभ्यते साहित्यालङ्कारे। अहमागमस्य प्रवर्तकः अग्निपुराणे प्रतिपादितः साहित्यशास्त्रांशो वर्तते । अग्निपुराणस्य एकादशाध्यायेषु समुपलभ्यन्ते साहित्यशास्त्रस्य सर्वाण्यपि सूत्राणि यत्र पुनः अलङ्कारपदे स्थितस्य 'अलम्' इत्यस्य पदस्य ब्रह्मवाचकता समुपलभ्यते । सम्पूर्णायां साहित्यशास्त्रेतिहासस्य परम्परायां इदंप्रथमतया अत्रैवोपलभ्यते अग्निपुराणस्य 'साहित्यशास्त्रागम'-रूपेण प्रतिष्ठा । आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिना साहित्यशास्त्रस्य आगममूलकता प्रमाणीकृताऽस्ति स्वकीये हिन्दीभाषायां विलिखिते साहित्यशास्त्रस्य इतिहासग्रन्थेऽपि[2] । साहित्यालङ्कारे पुनः आचार्याः कथयन्त्येवम् –

आगमोऽग्निपुराणेऽस्य कथितस्त्वहमागमः ।
अकारादिर्हकारान्ता सृष्टिः शब्दार्थयोर्मता ।।सा.10।।
अहमेवास्त्यहङ्कारः कारस्य स्वार्थतासृतौ ।
ब्रह्मैवाभिहितं नान्यदहालमिति संज्ञया ।।सा.11।।

सनातनकविभिरत्र प्रवर्तितमस्ति अभिनवं काव्यलक्षणं – **'सुन्दरो विकल्पः काव्यम्'** इति । **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** इति यद् योगसूत्रं (1.9) वर्तते महर्षिणा पतञ्जलिना प्रवर्तितं तदेवानुसृत्य प्रस्तूयते एतल्लक्षणं काव्यस्य । शब्देनोपस्थापितः शब्दस्य विकल्पः ज्ञानात्मकः काव्यात्मतां भजते, न शब्दः । अर्थः शरीरतां नैव स्पृशति काव्ये । भोजराजोऽपि शृङ्गारप्रकाशे प्रतिपादयति शब्दस्य विकल्पात्मकतामेवम् –

विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तयोरन्योन्यसम्बन्धो नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ।।

सनातनकविमते शब्दस्य ज्ञानात्मको विकल्पः अर्थस्य ज्ञानात्मकं विकल्पं स्पृशति । स्पर्श एषोऽपि विकल्परूप एव । सेऽयं विकल्पत्रयी चमत्कारकारितां सती काव्यात्मतां भजते । अत एव काव्यस्य सर्वंसहं लक्षणं वर्तते –

विकल्पः सुन्दरः काव्यमिति काव्यस्य लक्षणम् ।
सर्वंसहं, भवत्यत्र प्रमाणं श्रीपतञ्जलिः ।।सा.31 ।।

सनातनकवय आचार्याः रेवाप्रसादद्विवेदिनः **साहित्यालङ्कारे** निरूपयन्ति यद् यदेव साहित्यं स एवालङ्कारः । द्वयोरप्यस्ति अभेदः। उभावपि 'भूमा' इत्येवंरूपेण कलायाः परमतत्त्वस्योद्घाटनाय प्रवर्तितौ । 'काव्यालङ्कार' इत्येषा संज्ञा पूर्ववर्तिभिराचार्यैरुपात्ता साहित्यशास्त्रस्य कृते तत्प्रवर्तकैः। साहित्यालङ्कारे पुनः काव्यमित्यस्य स्थाने साहित्यमिति पदमुपादीयते । भारतीयायां परम्परायां काञ्चीतः प्रादुर्भूय कश्मीरदेशं प्राप्तवती सैषा साहित्यविद्यावधू आत्मनः संरक्षणाय अवन्तिक्षेत्रं प्राप्नोति । भाट्टप्राभाकरादिभिः मीमांसकैरुपचिता सैषा साहित्यविद्या भर्तृहरिणा योगीन्द्रेण परिपोषं सम्प्राप्य भगवन्तो विश्वनाथस्य पुरीं काशीं लेभे । नव्यन्यायनिकषाञ्चिता साहित्यविद्या गोदुग्धवत् सर्वश्रेयस्करी भगवतो विश्वनाथस्य अभिषेकद्रव्यतां प्राप्नोत्यत्र। साहित्यविद्यायामस्यां साम्प्रतिक्यां ध्वनिसिद्धान्तः प्रत्याख्यातः, शब्दशक्तिवादो निरस्तः, रसस्य आस्वादास्वाद्यवादतामपहाय अभिनवः विकल्पवादः प्रवर्तितः, अलङ्कारः बाह्याङ्गत्वमपहाय तादात्म्यं प्राप्नोति काव्यशरीरे शब्दार्थात्मनि विकल्पैकस्वरूपे यत्र आन्तरिकाश्च शोभादयो अलङ्कारा प्रमापूताः, काव्यस्य

सुन्दरविकल्पात्मकत्वेनास्तित्वमाप्नोति काव्यस्य नवीनं लक्षणम्, अलंब्रह्मवादः आगमाश्रितः अहंब्रह्मवादवदेव प्रतिष्ठापितश्च साहित्यशास्त्रे विचारणाय विदुषां साहित्यतत्त्वोन्मिषितचेतसाम् ।

अलङ्कारात्मवादे क्रान्तिपञ्चकम्-

सनातनकविमते साहित्यशास्त्रे अलङ्कारात्मवादे **पञ्चक्रान्तयः** समुपलभन्ते । तत्र-

1. **प्रथमा क्रान्तिः** आगविरुद्धः आनन्दवर्द्धनाचार्यप्रवर्तितो ध्वन्यात्मवादः ।
2. **द्वितीया क्रान्तिः** अस्ति अभिधैकशक्तिवादरूपेण प्रवर्तिता ध्वनिविरोधात्मिका क्रान्तिः ।
3. **तृतीया क्रान्तिः** शब्दशक्तिवादः । नास्त्येव काचित् शब्दस्य शरीरेऽर्थप्रतिपादिका शक्तिरिति ।
4. **चतुर्थी क्रान्तिः** संशोधनात्मिका क्रान्तिः साहित्यागमस्य न्यायपरिष्कारात्मिका धाराधाम्नि भोज-धनिकादिभिः प्रवर्तमाना ।
5. **पञ्चमी क्रान्तिः** विकल्पवादात्मिका, यत्र पुनः सम्पूर्णस्यापि काव्यव्यापारस्य ज्ञानैकरूपता सिद्धान्तिता भवति महर्षेः पतञ्जलेः योगसूत्रमवलम्ब्य काव्यलक्षणस्य विधानेन ।

(1)

प्रथमा क्रान्तिः आगविरुद्धा ध्वनिसिद्धान्तप्रतिष्ठापिका आनन्दवर्द्धनाचार्यप्रवर्तिता । आनन्दवर्धनाउचार्यः नासीत् पूर्णतया वैदिकः न च पूर्णो बौद्धः । असौ बौद्धानां मध्यममार्गमनुसरति काव्यात्मनिर्धारणप्रसङ्गे। तथाहि –

असौ न वैदिकः पूर्णो नासीत् पूर्णश्च सौगतः ।
मार्गेण मध्यमेनासौ प्रावर्त्तत कलाप्रियः ।।सा.70।।

काव्यालङ्कारे अनेन स्वकीयः ध्वन्यालोक इति ध्वनिसिद्धान्तस्य प्रतिष्ठापकः ग्रन्थः 'योडर्थः सहृदयश्लाध्य' इति अर्थस्य विवेचनेन प्रारब्धः । असौ शब्दार्थयोः उभयोरपि काव्यत्वं स्वीकरोति न च स्वीकरोति दण्डिनः श्रुतिमार्गं येन **पदावली काव्यत्वेन** प्रतिष्ठापिता । ध्वनिवादी अलङ्कारस्य आगमाऽपायिताञ्च समुद्घोषयति, या च समर्थिता परवर्तिभिः ध्वनिवादिभिः अभिनवगुप्तादिभिः-

शब्दं विहाय स्वं ग्रन्थमर्थमात्रत एव सः ।
वितेने तेन तस्यास्य प्रच्छन्ना बौद्धतोदभूत् ।।सा.71।।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति भामहमार्गिणा ।
आनन्देन श्रुतेर्मार्गी दण्डी नैव प्रमाणितः ।।सा.72।।
अलङ्कारस्य बाह्यत्वमागमापायिताञ्च सः ।
प्राजूघुषदुभे नेत्रे निमील्याऽभिनवप्रियः ।।सा.73।।

सनातनकविमते ध्वनिवादिभिः अग्निपुराणे यः साहित्यशास्त्रस्य आगमः प्रतिपादितः सः क्रूरमवज्ञातः, कथमपि नोल्लिखितः स्वसिद्धान्तग्रन्थेषु । आगमेषु पुनः प्रतीयमानार्थता ध्वनेः प्रतिपादिताऽस्ति । तत्र पुनः आक्षेपादीनां व्यङ्ग्यार्थप्रधानानाम् अलङ्काराणां भेदान्तरत्वेन ध्वनिः परिकल्पितोऽस्ति । भामहः अभिनवगुप्तश्च उभावपि सार्वौ शिवानुयायिनौ । अभिनवगुप्ताचार्यः दण्डिनः सिद्धान्तं नानुमोदते । एतेषां मते आसीदाचार्यो दण्डी रसनिष्पत्तिप्रक्रियायाम् उत्पत्तिवादी लोल्लटवत् । वस्तुतः उत्पत्तिवादिनः सन्ति भरतमुनिप्रभृतयः यैः निष्पत्तिशब्दस्य उत्पत्त्यर्थः नाट्यशास्त्रस्य रसाध्याये भावाध्याये च नैकशः 'समुत्पद्यत' इति केवलमेकमेव पर्यायेण पौनःपुन्येन प्रतिपद्यते -

भरतः स्वयमेवासीदुत्पत्तिप्रतिपत्तिकः ।
यतो द्वाविंशतिं वारानुत्पत्तिं प्रयुयोज सः ।।सा.83।।
तत्राभिनवगुप्तोऽसौ भारत्यां मौनमाश्रितः ।
दृश्यते सङ्गतिं नैव प्रदर्शयति कामपि ।।सा.84।।

भरतमुनिः अस्ति उत्पत्तिवादस्य प्रवर्तकः आचार्यः सनातनमते, न पुनः लोल्लटः यस्य न लभ्यते कश्चनापि ग्रन्थः न वा काऽपि परम्परा । दण्डिनः प्रारभ्य भोजराजं यावत् प्रवर्तमानः काव्यरसविचारः काव्यमात्राश्रितः मञ्चाश्रितो वा आसीत् । अभिनवगुप्तादिभिः सहृदस्य पाठकस्य वा रसानुभूतेः विचारः कृतः तस्याः समाधानाय रसस्य अलौकिकता लोकोत्तरता च प्रायेण सर्वत्रैव प्रदर्शिता ।

सनातनकविमते अलङ्कारशब्द **'अलम्'** इत्येव पदं प्रधानभूतम् । अनेन सहृदयानां चेतसि जायमाना महती विश्रान्तिरूपा तृप्तिः सङ्केतिता । यः खलु 'कार' इत्येष प्रत्ययोऽत्र विद्यते स च स्वार्थकः ॐकारः, अहङ्कारः, चमत्कारः, अकारः, ककारः एतादृशेषु प्रयोगेषु यथा । अलमिति यदि द्वितीयान्तम् अव्ययपदं स्वीक्रियते तर्हि तस्य कुम्भकारवद् व्युत्पत्तिर्भविष्यति 'अलं करोती'ति । सनातनमते रसवदित्यस्मिन् प्रयोगे रसवद् इति शब्दः विशेषणीभूतः पदस्य काव्यस्य वा । रसवदित्यत्र रसयुक्तता प्रमाणीभवति काव्यस्य । काव्ये विद्यमाना रसाभिव्यञ्जिका सामग्री रसपदेन वाच्या भवति । भोजराजेन एनामेव सामग्रीमभिलक्ष्य रसोक्तिरिति काव्यधर्मः अलङ्काररूपः स्वीकृतः ।

सनातनकविमते अलङ्कार: अन्तरङ्गो भवति काव्येऽपि न पुन: बहिरङ्गभूत:[3] यथा ध्वनिवादिभि: स्वीकृत: । शोभाविलासादयो धर्मा: सौभाग्यवत्या: सौभाग्यं वर्द्धयन्त:[4] यथा अन्तरङ्गतां भजन्ते तथैव अलङ्कारा अपि सौन्दर्यं वर्द्धयन्त: काव्ये । ध्वनिवादिभि: स्वीकृता अलङ्काराणां बहिरङ्गता एवं निराकृताऽस्ति साहित्याङ्कारे सनातनकविना -

अन्तरङ्गा अलङ्कारा: शोभादय इव स्मृता: ।
गुणा अपि त उच्यन्ते भरतादिमहात्मभि: ।।सा.87।।
सौभाग्यवत्या: सौभाग्यं किमिति प्रश्न उत्थिते ।
पतिरित्युत्तरेणैव ननान्दा शममेति किम् ।।सा.88।।

काव्ये या रसाभिव्यञ्जिका विभावादिरूपेण विद्यमाना सामग्री सा पुन: गुणत्वमाप्नोति अलङ्कारत्वं वा यतो हि आभ्याम् अतिरिक्तं तृतीयं काव्यतत्त्वं काव्यधर्मरूपतां नाप्नोति । रसस्य अभिव्यञ्जका: विभावादय: काव्ये यदि रसरूपेण समुच्चरिता: तर्हि एतेषाम् अपि अलङ्काररूपता प्रमाणीभवति काव्यधर्मत्वात् ।

आनन्दवर्द्धनाचार्यस्य पूर्ववर्तिभि: काव्यालङ्कारकर्तृभि: ध्वनि: कथमपि काव्यस्य परात्परो धर्म: न स्वीकृत: । सर्वै: अलङ्कार एव काव्यस्य आत्मा प्रतिष्ठापित: । न पतिता एते ध्वनिरूपिणि अन्धकूपे साहित्यागमे विश्वसितवन्त: -

आनन्दवर्धनात् पूर्वं काव्यालङ्कारशास्त्रिण: ।
येऽजायन्त न तैरेषा ध्वनिसंज्ञाऽभ्युदीरिता ।।सा.98।।
तै: सर्वैरैकमत्येन काव्यात्मत्वेऽभ्यषेच्यसौ ।
अलङ्कारो, ध्वनिध्वान्ते व्यलीयन्त न ते समे ।।सा.99।।

(2)

द्वितीया क्रान्ति: अस्ति **अभिधैकशक्तिवादरूपेण** प्रवर्तिता ध्वनिविरोधात्मिका रुद्रट-मुकुलभट्ट-महिमभट्टादिभि: प्रवर्तिता। धाराधामाचार्या: भोजराज-धनिक-धनञ्जयप्रभृतयो अस्य प्रवर्तका:। आगममार्गिण: एते रसतत्त्वस्य भूमत्वाद् आमनन्ति ब्रह्मैकरूपताम् अलम्भावात्मताञ्च ।

अस्यां ध्वनिविरोधात्मकम् अभिधैकवादं सनातनकवय: प्रतिष्ठापयन्ति । परवर्तिषु आचार्येषु अभिनवगुप्त:, मम्मट:, जयदेव:, विश्वनाथ अच्युतरायमोडकादयश्च ध्वनितत्त्वस्य काव्यात्मत्वं स्वीकुर्वन्ति इति सर्वविदितम् । किन्तु तेष्वेव मुकुलभट्ट:, राजशेखर:, कुन्तक:, क्षेमेन्द्र:, महिमभट्ट:, जयरथ: भोजराजादय: ध्वनितत्त्वस्य काव्यात्मत्वं न स्वीकुर्वन्ति । एतेषु अनेके अभिधावादिन:। व्यक्तिविवेककार: महिमभट्ट: स्वकीये व्यक्तिविवेके ध्वनितत्त्वस्य अनुमाने अन्तर्भावं प्रतिष्ठापयति, तल्लक्षणे च दोषानुद्घाटयति विस्तरेण। एतेषां मते–

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमति:
संज्ञायां सा केवलम् एषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुत:।।1.26।।

आचार्यो भोजराज: शृङ्गारप्रकाशे ध्वनिमामनति, किन्तु स्वरूपभेदेन। परवर्तिषु आचार्येषु जयरथ: अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिन्यां द्वादशभि: तर्कै: ध्वनितत्त्वस्य प्रत्याख्यानं प्रतिपादयत्येवं –

तात्पर्यवृत्ति[1] रभिधा[2] लक्षणा[3] अनुमिती[4-5] द्विधा
अर्थापत्ति:[6-7] क्वचित् तन्त्रं[8] (मीमांसा) [9]समासोक्त्याद्यलङ्कृति:।
रसस्य कार्यता[10] भोग:[11] व्यापारान्तरबाधनम्[12] (व्यञ्जनाया: बाधनम्)
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तय:।। (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ.25)

ध्वनिपूर्ववर्तिषु आचार्येषु प्रतीयमानशब्द: व्यङ्ग्यार्थस्य कृते बहुप्रयुक्त: संदृश्यते । प्रतीयमानशब्दस्य स्थाने ध्वनिशब्दं व्यवहरन्ति ध्वन्यात्मवादिन:। एतेषां मते व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्यस्ति कश्चिदाग्रह: ।

एवं च वसिष्ठाय महर्षये अग्निदेवेनोपदिष्टे साहित्यशास्त्रस्य आगमरूपेण प्रतिष्ठिते अग्निपुराणस्य एकादशाध्यायात्मके **अहङ्कारागमे** उभयालङ्कारप्रसङ्गे ध्वनितत्त्वं प्रत्याख्यातं वर्तते।

अग्निपुराणे उपस्थितस्य अहंकारागमभागस्य अज्ञातकर्तृका 'काव्यप्रभावृत्ति:' इत्येषा टीका समुपलभ्यते। अस्या: प्रथमं प्रकाशनं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयत: द्वितीयं प्रकाशनं सम्पाद्य संशोध्य च कालिदाससंस्थानत: सद्य एव सञ्जातम्।[4]

अग्निपुराणस्य अहंकारागमस्य काव्यप्रभावृत्तौ अनुल्लिखितनामा, बाढं दाक्षिणात्य:, काशिकेय एव कश्चन आचार्य: भिन्नतया ध्वनितत्त्वं विस्तरेणोपस्थापयति। असौ अनार्षत्वं घोषयति तस्य ध्वनिवादस्य । अग्निपुराणस्य अहंकारागमस्य प्रथमायां कारिकायां पुराणकार: वाङ्मयं चतुष्प्रकारकं स्वीकरोति एवम् –

ध्वनिर्वर्ण: पदं वाक्यम् इत्येतद् वाङ्मयं मतम्।
शास्त्रेतिहासकाव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते।।1.1/337.1।।

कारिकाया अस्या: काव्यप्रभावृत्तौ आचार्य: ध्वनितत्त्वं पूर्वं संकेतेन विवेचयति तदनन्तरं उभयालंकारेषु अभिव्यक्त्यलंकारस्य आक्षेपनाम्नि भेदे अस्य अन्तर्भावं प्रतिपादयति विस्तरेण । आचार्योऽसौ पूर्वं ध्वनिविषये कथयति एवम् –

श्रुत्यर्थातिरिक्तार्थध्वननाद् ध्वनिरुच्यते। वक्तृणामषभिव्यक्तिविशेषाक्षेप इत्युच्यते।

वाङ्मयशास्त्रादिविषयत्वात् श्रवणेन्द्रियग्राह्योऽर्थस्तु शब्दो ध्वनिः।

स तु ध्वनि: द्विविध: एको ध्वनिमात्ररूपो वीणादिसम्भवो निरर्थक:, अपरो वर्णमय: सार्थक: । तत्रार्थो मुख्यो, लाक्षणिको, गौणो व्यङ्ग्यश्चेति । **ते चत्वारोऽर्था वर्ण्याः**, ते च वर्ण्या: यैर्ध्वनिभिर्वर्ण्यन्ते, ते च वर्णा अकारादयो ध्वनय: शिक्षाध्याये उपदिष्टा: **'श्रुत्यर्थवन्तो ध्वनयः शब्दा वर्णा'** इति ।

साहित्यशास्त्रस्य आगमरूपेण प्रतिष्ठिते अग्निपुराणे आनन्दवर्धनाचार्यस्य ध्वनि: अभिव्यक्तिरित्यनेन उभयालङ्कारेण गतार्थतां भजते एवम् –

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि।

तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्।।

9.7/345.7।।

अभिव्यव्यक्तिर्नामोभयालङ्कार: प्रकटत्वमर्थानां व्यक्तीकरत्वम्। सा खलु प्रवृत्ति: शब्दानामर्थाभिव्यक्तिकरी शक्ति:। 'अभिव्यक्ति:' इत्यस्य उभयलाङ्कारस्य द्वौ भेदौ भवत: श्रुति: आक्षेपश्च। तत्र श्रुतिर्नामाभिव्यक्ति: शाब्दं शब्दकृतं स्वार्थस्य समर्पणम्। 'शब्दार्थसमर्पणम्' पुन: शब्देन अर्थ: समर्प्यते अभिव्यक्तीक्रियते।

सा चैषा श्रुति: द्विप्रकारा भवति – नैमित्तिकी पारिभाषिकी च। नैमित्तिक्यां श्रुतौ निमित्तं त्रिविधं जातिश्च, गुणश्च क्रिया चेति।

उभयालङ्कारस्य द्वितीयभेदरूपेण प्रवर्तिते आक्षेपालङ्कारे ध्वनिशब्दव्यवहार: समुपलभ्यते-

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति स चेतरः।

स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते

यतः।।9.15/345.15।।

शब्देनाऽर्थेन वा यत्र कृत्वा स्वमुपसर्जनम्।

प्रतीषेध इवेष्टस्य यो विशेषाऽभिधित्सया।।9.16/345.16।।

तमाक्षेपं ब्रुवन्ति.....

अत्र 'ध्वनिना' इत्यस्य अर्थो वर्तते आक्षेपनाम्न्याभिव्यक्त्या व्यज्यते इति । तदेतदुपसर्जनं शब्दार्थयोरुभयोरपि आक्षेपालङ्कारस्य स्वरूपं नियमयति ।

आनन्दवर्द्धनाचार्येण प्रवर्तितं –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः

।।ध्वन्यालोकः 1.13।।

इत्येतद् ध्वनिस्वरूपं अग्निपुराणस्य आक्षेपालङ्कारलक्षणे प्रत्यक्षं समुपलभ्यते । उभयत्रापि शब्दार्थयोरुपसर्जनीभावं प्राधान्यं बिभर्ति । काव्यप्रभावृत्तिकार: अत्र ध्वने: अनार्षत्वम् उद्घोषयति । एतेषां मते अभिव्यक्त्यलङ्कारस्य आक्षेपभेदस्य पुन: पञ्चप्रकारा: भवन्ति । तद्यथा –

स्तुतं, स्तोत्रं, समासोक्ति:, अपह्नुति: पर्यायोक्तिश्चेति । एतेषाम् आक्षेपालङ्कारस्य पञ्चप्रकाराणाम् एकत्र युगपदुपस्थापने **समाख्या ध्वनिर्भवति –**

एषामेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः । 9.19/345.19।

एषां पञ्चानामाक्षेपाणां सङ्गे खल्वेकत्रावस्थाने सतीत्यतः समं युगपदित्यतः समाख्या नाम ध्वनिरुच्यते । (पृ. 199)

समाख्यानामकं ध्वनिं सोदाहरणं विवेच्य काव्यप्रभावृत्तिकार: बुधै: समाम्नातपूर्वस्य ध्वनितत्त्वस्यात्रैव अनार्षत्वमुद्घोषयति एवम्–

''एतेन शब्दव्यङ्ग्यमर्थव्यङ्ग्यमुभयव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्यार्थव्यङ्ग्यमित्येवं ध्वनयो अनृषिभिर्बृंधैयत् स्वबुद्ध्या कल्प्यन्ते तदसाधु आर्षत्वऽभावादिति । इत्येषा अभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेपश्चेति द्वयी शब्दार्थोभयालङ्कार इति ।'' (पृ. 199)

राजशेखरसूरिणा पुन: काव्यमीमांसायां माणिक्यपुञ्जे संवादभेदे सर्व: ध्वनि: प्रपञ्च: गतार्थतां नीत: -

मीमांसामानेन राजशेखरसूरिणा

माणिक्यपुञ्जे संवादभेदे गीर्णो ध्वनिः समः ।।सा.101।।

रुद्रटाचार्येण स्वकीये काव्यालङ्कारग्रन्थे अर्थश्लेषालङ्कारस्य भेदरूपेण ध्वनि: स्वीकृतोऽस्ति एवम्-

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।

अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।।10.1।।

कुन्तकाचार्य: स्वकीये वक्रोक्तिजीविते ध्वनिलक्षणं प्रस्तौति, किन्तु तस्य नामापि नोल्लिखति क्वचिदपि । ध्वनि: अनेन वाक्यवक्रतायां समाहित: । सनातनकविमते –

ध्वनिं नाम्नापि नास्प्राक्षीत् कुन्तकस्तस्य लक्षणम् ।

उद्धरन्नपि वाक्योत्थां वक्रोक्तिं पाययंश्च तम् ।।सा.103।।

न्यायमञ्जर्यां जयन्तभट्टेनापि शब्दशक्तिविचारणायां ध्वनि: समुल्लिखित: किन्तु कवीनामुत्प्रेक्षाक्षेत्रं न विचारणीयम् इत्युक्त्या न्यक्कृत: -

जयन्तो न्यायमञ्जर्यां स्मारितो ध्वनिमुज्जगौ ।

अलं कवीनामुत्प्रेक्षाविषये तत्त्वचिन्तनैः ।।सा.106।।

क्षेमेन्द्राचार्यः औचित्यविचारचर्चायां ध्वनितत्त्वं नोल्लिखति । आसीदसौ बोधवारिधेः ध्वनिप्रतिष्ठापयितुः अभिनवगुप्ताचार्यस्य शिष्यः -

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः ।

आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः ।।

कश्मीरदेशीयाः सन्ति एते आचार्याः यैः कश्मीरदेशीयस्य आनन्दवर्द्धनस्य अभिनवगुप्ताचार्यस्य च ध्वनिसिद्धान्तः प्रत्याख्यातः । सनातनकविमते न केवलं शारदाधाम्नः आचार्याः ध्वनिं न्यक्कुर्वन्ति अपितु महाकालधाम्नः भोजराज-धनञ्जय-धनिकप्रभृतयोऽपि ध्वनिधारां न समर्थयन्ति । भोजराजेन शृङ्गारत्वे रसत्वम् आम्नातम् । शृङ्गारशब्दे शृङ्ग-शब्दः विषयोन्मुखतां प्रकटयति तेनैव सहृदयानां चेतसि रसस्य भोगः जायते । तन्मते शृङ्गारशब्दस्य व्युत्पत्तिरस्ति – 'शृङ्गमियर्त्ति' इति । अत्र पुनः शृङ्गारशब्दः स्त्रीपुरुषयोः शृङ्गारं परस्परसंसर्गात्मकं नैव सङ्केतयति, सर्वेषामेव काव्यरसानां प्रतिनिधिभूतत्वात् सामान्यसंज्ञारूपेण -

अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।

व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ।।4।।

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।

स्वस्वस्थायिविशेषाच्च परिपोषादिलक्षणा ।।5।।

काव्यगुणविचारणायामत्र प्रवर्तमाना संदृश्यते स्वैरता आचार्येषु ध्वनिप्रवर्तकेषु तत्समर्थकेषु च मम्मटादिषु । भरतादिभिः विंशतिसंख्याकत्वेन प्रवर्तमाना काव्यगुणस्य परम्परा ध्वनिवादिभिः न्यक्कृता काव्यागुणत्वेन माधुर्योजप्रसादानां त्रयाणामेव च काव्यगुणानां प्रतिष्ठापनया अन्येषामवशिष्टानाञ्च एतेष्वेवान्तर्भावात्मतया -

ध्वनिमार्गे गुणानां यत् त्रैविध्यं सांख्यवन्मतम् ।

आस्तिकानां ततस्तुष्टं चित्तं हन्त यदृच्छया ।।सा.124।।

भोजराजेन सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कारे ध्वनिवादिनां गुणविषयिणी सैषा स्वैरता निराकृता एवम् -

एवं स्वैरत्वजुष्टाऽस्ति सृतिर्गुण-विचारणे ।

आचार्याणां समेषां नः शुभाऽसावागमोत्थिता ।।

(सरस्वतीकण्ठाभरणम् 3)

एवमेव जयदेवेन पीयूषवर्षेण चन्द्रालोके मन्दारमरन्दालङ्कारकारेण, साहित्यदर्पणकारेण विश्वनाथेन च ध्वनिवादिनां काव्यगुणत्रयवादिनी स्वैरता तारस्वरेण प्रत्याख्याता । अच्युतरायमोडकः रसस्य काव्यधर्मतां प्रतिपाद्य तस्य काव्यगुणत्वं स्वीकरोति साहित्यसारे स्वकीये एवम् -

धर्मा रसाः लक्षणानि रीत्यलङ्कारवृत्तयः ।

रसिकाह्लादका ह्येते काव्ये सन्ति च षड् गुणाः ।।

(साहित्यसारः 1.20)

अच्युतरायेन धर्मधर्मिणोः पृथक्त्वं न स्वीकृतम् । एतेषां मते रसः अलङ्कारतां भजते अलङ्कारश्च रसतां काव्ये । अस्यामेव साहित्यक्रान्तौ ध्वनेः साध्यता काव्यात्मरूपत्वेन न्यक्कृता । रसवदलङ्कारस्य रसयुक्तता प्रमाणीक्रियतेऽत्र रससदृशतामपहाय ध्वनिवादिभिः समर्थिताम् ।

(3)

तृतीया क्रान्तिः शब्दशक्त्यतिरेकः । क्षेमेन्द्रं यावत् शब्दशक्तिवादः साहित्यं नाजध्ने किन्त्वागमागतोऽलंब्रह्मवादोऽपि नालभत स्थानम् । शब्दज्ञाने शक्तिर्भवति, न पुनः शब्दे जडरूपत्वात् । शब्दार्थयोः ज्ञानात्मकः सम्बन्धः साहित्यपदवीं लभते । यदि शब्दस्य शरीरे शक्तिः स्वीक्रियते तर्हि विश्वस्य भाषाऽपि एकैव भविष्यति सूर्ये प्रकाशवत् –

यदि शब्दस्य देहे स्याच्छक्तिः सूर्ये प्रकाशवत् ।

ततो विश्वस्य भाषापि भवेदेकैव केवलम् ।।सा.261।।

ध्वनिवादिनः यदा काव्यं सरसं विधातुं तत्रस्थं विभावानुभावरूपिणं रसाभिव्यक्तिसामर्थ्यं स्वीकुर्वन्ति तदा कथं तैः न समुद्घोष्यते सम्पूर्णा काव्यस्था रसाभिव्यञ्जिका सामग्री '**काव्यालङ्कार**' इति । ध्वनिवादिभिः रसाभिव्यञ्जकता ध्वनितत्त्वं वा कथं नोद्घोषितं काव्यस्य अलङ्कारविशेष एव । तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम् इत्यनेन न्यायेन यदि एकत्र रसस्य ब्रह्मरूपता स्वीक्रियते अन्यत्र ब्रह्मणः अलंरूपता, तर्हि अलम् इत्यस्यापि रसरूपता स्वत एव प्रमाणीभवति –

ब्राह्मीभावं रसस्येव मत्वालंभावमेव च ।

तदभिन्नाभेदधिया रसालङ्कारगाऽप्यभित् ।।सा.271।।

अलं ब्रह्म रसो ब्रह्म रसालङ्कारयोर्युगम् ।

ब्रह्मैवेत्यागमः श्रौतो बौद्धैरेतैस्तिरस्कृतः ।।सा.274।।

(4)

चतुर्थी क्रान्तिः साहित्यागमस्य **न्यायपरिष्कारात्मिका** धाराधाम्नि भोज-धनिकादिभिः प्रवर्तमाना संशोभते । ध्वनितत्त्वमानन्दवर्द्धनेन प्रवर्तितं धनिकेन अस्वीकृतं तात्पर्येण निगिरिषितञ्च प्रत्यपादि । साहित्यपदप्रयोगः तत्परिभाषणञ्च नैवोपलभ्यते सम्पूर्णायामपि ध्वन्यलङ्कारसम्प्रदायपरम्परायाम् । तदेतत् साहित्यपदं द्वादश-सम्बन्धात्मकं विवेचितं विस्तरेण

भोजराजेन शृङ्गारप्रकाशे इदंप्रथमतया । द्वादशसम्बन्धेषु शब्दार्थयो: अष्टौ साहित्यस्य नियामका: अन्तिमाश्च चत्वार: काव्यस्य नियामका: । अष्टौ साहित्यस्य नियामका: सम्बन्धा: सन्ति- **अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यं, प्रविभागः, व्यपेक्षणम्, सामर्थ्यम्, अन्वय एकार्थीभावश्चेति ।** एतैरष्टसंख्याकै: साहित्यं निष्पद्यते । **दोषहानिः, गुणाधानम्, अलङ्कारयोगः रसावियोगश्च** इत्येतैरवशिष्टै: चतुर्भि: काव्यत्वमादधाति साहित्यम् । अत एव साहित्यकल्पप्रारम्भप्रजापति: भोजराज इति सनातनकवय: प्रतिष्ठापयन्ति –

साहित्यशास्त्रे साहित्यकल्पाऽऽरम्भप्रजापतिः ।

भोज एव स एवैकः साहित्याचार्यसत्तमः ।।सा.370।।

साहित्यविद्या राजशेखरोपज्ञा । सारस्वतेय: काव्यपुरुष: साहित्यविद्यावधूं वत्सगुल्मे पर्यणैषीद् आनुकूल्यं भजमान: । अद्भुत: विवाहोत्सव: सञ्जात: अनयो: -

सारस्वतेयः काव्याख्यः सुन्दरः पुरुषस्तु ताम् ।

साहित्यविद्यामौमेयीं वत्सगुल्मे व्यवीवहत् ।।सा.377।।

विवाहोत्सवेऽस्मिन् भगवती शारदा शैलाधिराजपुत्री पार्वती च सम्बन्धिन्यौ सञ्जातौ भगवान् शिव: ब्रह्मदेवश्च सम्बन्धिनौ। मार्दङ्गिकतां भजते महागणपति: पुष्करवाद्यानां समुद्घोषेण। प्रमोदभरिता चामुण्डा भैरवश्चात्र प्रहर्षेण शृङ्गारपूर्णं नर्त्तनं सम्पादयत: समेषां विवाहोऽत्सवेस्मिन् उपस्थितानां प्रमोदाय। नारद: तुम्बुरुश्चात्र स्वकीयै: वीणासमुद्भवै: रवै: सम्पूर्णम् अन्तरिक्षं पूरयामासतु: । पीताम्बरधरो विष्णु: जन्य: सञ्जात: देवगुरु: बृहस्पतिश्चात्र पौरोहित्यमाप्नोति विवाहमङ्गलस्य सम्पादनाय। विवाहोत्सवोऽसौ सम्प्रत्यपि प्रवर्तते कविप्रतिभायां निरवद्यतया। साहित्यविद्यावधो: काव्यपुरुषस्य विवाहानन्तरं कौतुकागारे जायमाना रसलीला सम्प्रत्यपि कवीनामन्तश्चेतसि परिस्फुरन्ती संदृश्यते –

सम्बन्धिन्यौ मिथस्तस्मात् कालादेते बभूवतुः ।

शारदा चैव शैलाधिराजपुत्री च पार्वती ।।सा.378।।

सम्बन्धिनावजायेतां पितामहमहेश्वरौ ।

विवाहयज्ञ एताभ्यामन्वस्थीयत वत्सयोः ।।सा.379।।

मार्दङ्गिको विवाहेऽस्मिन् महागणपतिः स्वकाम् ।

शुण्डां व्यापारयामास पुष्करे रावपण्डिताम् ।।सा.380।।

चामुण्डा भैरवश्चैव प्रहर्षपरमावुभौ।

नर्त्तनं प्रीतिशृङ्गारं कल्पयामासतुर्मुदा ।।सा.381 ।।

नारदस्तुम्बुरश्चैव वैणिकौ वैणिकै रवैः ।

दिवं चापि नभश्चापि पूरयामासतुर्दृढम् ।।सा.382।।

पीताम्बरधरः श्यामः सिन्धुशायी महाहरिः ।

महेन्द्राद्यैः समं जातौ जन्यो गुरुरथो गुरुः ।।सा.383।।

प्रारम्भोऽस्य विवाहस्य जातो यस्मिन् मुहूर्त्तके ।

पर्यवस्यति नारम्भो नित्यमेव प्रवृत्तिभाक् ।।सा.384।।

अनयोः कौतुकागाररसलीला हि दर्पणान् ।

कवीनामन्तरात्माख्यानधिशेतेऽधुनाऽपि वै ।।सा.385।।

रसायनविशारदौ संजातौ विवाहेऽस्मिन् अश्वनीकुमारौ परिवेषकौ । उभावपि उत्सवेऽस्मिन् समायातान् सर्वान् भोजयेते । सर्वा ऋतव: एकत्रोपस्थिता: संदृश्यन्ते । तेन सर्वासामपि ऋतूनां परिपक्वानि फलान्यासन् उपलब्धानि रसपरिपूर्णानि समेषां विवाहोत्सवे समागतानाम् । अस्मिन् मोहपूर्णे रसपरिपूर्णे चाऽवसरे निर्गुणे निराकारेऽपि ब्रह्मतत्त्वे पिस्पृक्षा जागर्ति मायारूपिण्या: त्रिगुणात्मिकाया: प्रकृते: । सर्वे दर्शनसम्प्रदाया: स्वास्तित्वविषये चिन्तिता: संदृश्यन्ते समयेऽस्मिन् दृष्ट्वा ब्रह्मण: एतादृशीं लौकिकीं प्रवृत्तिं मायातत्त्वान्वेषिणीम् । सर्वेषां तेषां मिथ्यात्वं प्रमाणीभवति ब्रह्मण: निराकारताया: परित्यागेन त्रिगुणात्मिकतायाश्च सम्प्राप्तये प्रवर्तितत्वेन । सनातनकविमते दर्शनानामेतेषामेतादृशी चिन्ता निराधारा यतो हि कविता तत्र वर्तते दर्शनभूमिकाम् आरुह्य ब्रह्मतत्त्वस्योपदेशाय प्रवर्तमाना समनुसृत्य रसानुगुण्यां सर्वसहृदयाह्लादकरीं लौकिकीं रीतिम् –

समे कालाश्च देशाश्च समे जाताः परस्परम् ।

संप्लुतिं प्राप्य निष्पत्तौ रसानां क्षमतापिताः ।।सा.388।।

ब्रह्मापि निर्गुणं साक्षात् प्रकृतिं त्रिगुणीतनुम् ।

पिस्पृक्षत्येव विश्वेषु दर्शनेषु मिषत्स्वपि ।।सा.389।।

वयं मृषोऽद्यगात्राणि भवामो दर्शनान्यपि ।

नास्ति हानिः कवित्वं तु दर्शनत्वं प्रपत्स्यते ।।सा.390।।

सनातनकविमते साहित्यदर्शनं महासमुद्रवद् वर्तते यत्र सदानीरा: अनेका: सद्विचाराणां दर्शनानाञ्च लौकिकानां नद्य: सहस्रवर्त्मा भूत्वा संप्लवन्ते । अनेकानि लौकिकानि अनुशासनान्यत्र विद्योतन्ते साहित्यविद्यायां येषां सम्मिश्रणेन संजायते अस्यां कश्चन अद्वितीय: तीर्थराजो प्रयाग: विचाराणां लोकानुशासनाय प्रवर्तमान: -

तदिदं यच्च साहित्यं तत् तु सागरसन्निभम् ।

निम्नगानां शती यत्र शतरूपा व्यलीयत ।।सा.398।।

अनुशासनजातानि मिलितानि स वै पृथक् ।

प्रयागस्तीर्थराजत्वेऽप्यषेचि निखिलैरपि ।।सा.399।।

सम्पूर्णं साहित्यपदाभिधेयं वाङ्मयं काव्योन्मुखीभूय दर्शनभूमिकामारोहति लोकस्यानुशासनाय सनातनकविमते ।

तदेतदभिनवं सिद्धान्तं आचार्या रेवाप्रसादो द्विवदिन: समुपस्थापयन्ति साहित्यशास्त्रविषयकम् अस्यां शताब्द्यां विचारणाय विदुषाम् ।

(5)

पञ्चमी क्रान्तिः विकल्पवादात्मिका वर्तते यत्र सनातनकवय: प्रतिष्ठापयन्ति काव्यस्य विकल्पैकरूपतां - **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** - इत्येतत् पातञ्जलयोगसूत्रं (1.9) परिशील्य । कथयन्त्यत्र आचार्या एवम् –

शब्दज्ञानानुपाती यो विकल्पोऽर्थस्य विद्यते ।
वस्तुशून्यस्य, संकेतस्तयोरेवेति निश्चये ।। सा.514 ।।

शब्दज्ञानानन्तरं योऽर्थबोध: जायते तत्र वस्तुन: शरीरसम्पर्को न भवति कथमपि अत: बोधोऽसौ महर्षिणा चित्तवृत्यात्मकेन विकल्परूपेण स्वीक्रियते । हिमालयशब्दस्योच्चारणेन तस्य उपस्थितिर्न भवति । यदि स्यात्तर्हि भवेन्महाननर्थ: लोकोद्वेजकर: । अत एव शब्दस्योच्चारणेन जायमाना प्रतीतिश्चित्तवृत्यात्मिका भवति । एतदधिकृत्य आचार्या: निराकुर्वन्ति शब्दशक्तिवादमेवम् –

यदि शब्दस्य देहे स्याच्छक्तिः सूर्ये प्रकाशवत् ।
तदा विश्वस्य भाषापि भवेदेकैव केवला ।। सा.515।।[5]

सनातनकविमते यथा प्रकाश: सूर्यस्य शरीरे तिष्ठति न तथा शक्ति: शब्दस्य शरीरे । सूर्ये प्रकाशवत् यदि शब्दस्य देहे शक्ति: स्वीक्रियते तदा विश्वस्य भाषाऽपि एका भविष्यति । शब्दस्यार्थबोधकत्वे सर्वेभ्योऽपि समानमेव तिष्ठेदर्थस्य बोधकत्वम्, न भवेद् देश-काल-जाति-जनितं भेदं सर्वत्र दृश्यमानम् अनुभूयमानञ्च । शब्दार्थज्ञानयो: शक्ति: स्वीकर्तव्या ज्ञानात्मयोरेकत्वेनाङ्गीकृतत्वात् –

एवं काव्यस्य या भाषा, यश्चार्थो, या च तद्धियोः ।
शक्तिः, सर्वमिदं सम्वित्स्वरूपं, न ततः पृथक् ।।

काव्यालङ्कारकारिका 121।।

कव्यालङ्कारसंज्ञायाम् अलं-शब्दस्य ब्रह्मरूपतया साहित्यागमे प्रतिष्ठिते पञ्चमी क्रान्तिराविर्भवति साहित्यशास्त्रे । साहित्यागमस्य प्रतिपादके अग्निपुराणागमे अलं-पदस्य ब्रह्मरूपता प्रमाणीभवत्येवम्–

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ।।[6]

अलम्भावस्य अलङ्कारता प्रमाणीभवत्येवम् । अलम्भावोऽह्यसौ उभयत्र व्याप्रियते सौन्दर्ये तज्जनिकायां सामग्र्याञ्च विभावानुभावादिरूपेण काव्यमात्रे विद्यमानायाम् । काव्यस्य ज्ञानैकरूपताम् अलङ्कारस्य ब्रह्मैकरूपताञ्च प्रमाणीकृत्य नवीना क्रान्ति: प्रवर्तिताऽस्ति सनातनाचार्यै: येन सम्पूर्णमपि काव्यपदाभिधेयं प्रातिभं विश्वं लभते दार्शनिकीं भूमिकां कामपि तत्त्वस्य प्रतिष्ठापिकाम् । ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन तल्लाभेन आनन्दैकरूपेण दर्शनशास्त्रस्य अलंभावात्मकस्य काव्यस्य च गन्तव्यं लभते समानतां सत्यपि सरणिभेदे –

काव्यं वाग् , वाक् परं ब्रह्म, ब्रह्म ब्राह्मी सरस्वती ।
सा वीणाधारिणी सा हि नीलकण्ठासना शिवा ।।सा.528।।
शिवो ब्रह्म, शिवा ब्राह्मी, तौ च ते च शिवा-शिवौ ।
तावलङ्कार ओङ्कारकल्पोऽहङ्कारसच्चितः ।।सा.529।।

इत्थं काशीहिन्दूविश्वविद्यालये साहित्यशास्त्रविषये अभिनवा: सिद्धान्ता: प्रवर्तिता: सन्ति रेवाप्रसाद-द्विवेदिमहाभागै: स्वकीये **'साहित्यालङ्कार'** इत्यस्मिन् अभिनवकाव्यालङ्कारग्रन्थे सद्य: प्रकाशिते अनुशील्य सम्पूर्णा सहित्यतत्त्वान्वेषिणीं परम्पराम् अपौरुषेयाद् वेदादिदानीं यावत् प्रवर्तमानाम् । विद्वद्भिरनुशीलनीया एषा समृद्धयै साहित्यशास्त्रसरण्या: द्विसहस्राधिकवर्षप्राचीनाया: भरतमुनित: इदानीं यावदुपलब्धाया: ।

संन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. सर्वेषां ग्रन्थानां प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, 28 महामनापुरी, पोस्ट –का.हि.वि.वि., वाराणसी 221005
2. **'संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास'** रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक कालिदाससंस्थानम्, 28 महामनापुरी, का.हि.वि.वि., वाराणसी-221005, 2007
3. तत्र वाच्य: प्रसिद्धो य: प्रकारैरुपमादिभि:। बहुधा व्याकृत: सोऽन्यै: काव्यलक्ष्मविधायिभि: ।। ध्वन्यालोक: 1.3 ।। तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता: अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या: कटकादिवत् ।। ध्वन्यालोक: 2.6/3.5 वृत्ति: । उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ।। काव्यप्रकाश: 8.4 ।।
4. साहित्यशास्त्रसमुच्चय: (सप्तमो भाग:)- अलङ्कारशास्त्रागम:, (अग्निपुराणागम: काव्यप्रभाटीकासहित: विष्णुधर्मोत्तरपुराणागमश्च) सम्पादकौ रेवाप्रसादो द्विवेदी, सदाशिवकुमारो द्विवेदी, प्रकाशकम् कालिदाससंस्थानम्, 2017
5. **काव्यालङ्कारकारिका (अभिनवं काव्यशास्त्रम्),** कारिका 120, रेवाप्रसादो द्विवेदी, प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, 28 महामनापुरी, पोस्ट-का.हि.वि.वि., वाराणसी 221005, ई.2014 तृतीयं संस्करणम्।
6. **अलङ्कारशास्त्रागम:** (साहित्यशास्त्रसमुच्चय:, सप्तमो भाग:) कारिका 3.1, सम्पादकौ- रेवाप्रसादो द्विवेदी, सदाशिवकुमारो द्विवेदी, प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, 28 महामनापुरी, पोस्ट-का.हि.वि.वि., वाराणसी 221005, ई. 2017 ।

मीमांसायां कर्मपदार्थस्य प्राधान्यम्

प्रो. सोमनाथ नेने[*]

भारतीयदार्शनिकपरम्परायां वैदिकानां वाक्यानां कर्मार्थत्वनिरूपणप्रक्रियायामेव वेदार्थनिर्णयाय प्रवर्तनेन मीमांसासंज्ञकेन शास्त्रेण दार्शनिकत्वमप्यवाप्तम्। **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म'**[1] इत्यनेन सूत्रेण प्रस्तावितस्य यागस्वरूपस्य धर्मात्मकस्य कर्मणः सङ्गतिसाधनार्थं यागरूपकर्मजन्यफलान्यथानुपपत्ति-प्रसूतार्थापत्त्या शास्त्रेऽस्मिन्नापूर्वं समायातम्। कर्मफलसङ्गत्यै स्वीकृतस्यापूर्वस्यान्यथा नुपपत्तिप्रसूतार्थापत्त्याऽ-पूर्वस्याश्रयत्वेनात्मतत्त्वमपि स्वीकुर्वता शास्त्रेणानेन वाक्यार्थप्रतिपादकत्वेन सहात्मनो दार्शनिकत्वमपि प्रकाशितम्। अस्य मीमांसाशास्त्रस्य दर्शनस्य वा निखिला पदार्थमीमांसा अस्मिन्दर्शने प्राथम्येनाभिमतस्य कर्मपदार्थमेव परितः व्यवस्थापिता वर्तते।

मीमांसादर्शनेऽस्मिन् द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्तिसंज्ञकाः पञ्च भावपदार्था अभिमताः सन्ति। एतेष्वपि कर्म एवास्य शास्त्रस्य दर्शनस्य वा प्रामुख्येन स्वीकृतं मुख्यं तत्त्वमिति **'कर्मेति मीमांसका'** इति लोकोक्त्याऽपि स्पष्टमभिव्यज्यते। मीमांसाशास्त्रे वेदार्थरूपेणाभिमतस्य कर्मपदार्थस्य क्रियात्मकत्वादन्ये द्रव्यादयः चत्वारः पदार्थाः साक्षात् भवन्तु परम्परया वा, अस्मिन् कर्मणि समन्वयेनैवात्मनो चरितार्थता-मभिव्यञ्जयन्ति। **अग्निहोत्रं जुहोति,**[2] **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्,**[3] एतादृशैः वाक्यैः स्वर्गादि-फलप्राप्त्यै विहितस्य कर्मणः प्राधान्यं स्पष्टं प्रतिपाद्यते। अस्मिन् कर्मणि समन्वयबलेनैवेतरेषां चतुर्णां भवपदार्थानामपि चरितार्थताऽभिमता वर्तते। एतेषु—

1- **'व्रीहीभिर्यजेत्'**[4] इत्यनेन वाक्येन व्रीहीद्रव्यपदार्थस्य, यागक्रियया सह गुणत्वेन वर्तते समन्वयः।

2- **'अरुणया पिङ्गाक्षैकहायन्या सोमं क्रीणाती**त्यत्र[5] आरुण्यात्मकस्य गुणस्य, सोमक्रियया सह समन्वयो वर्तते।

3- **'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'**[6] इत्यनेन वाक्येन पर्णताजातेः सामान्यस्य वा यागमात्रेण सह गुणत्वेन सम्बन्धः प्रतिपाद्यते मीमांसकैः।

4- **'व्रीहीन्प्रोक्षति'** इत्यत्र व्रीहीषु प्रोक्षणजन्याऽपूर्वात्मिका शक्तिरपि यागकर्मणि समन्वितेन रूपेण प्रतिपाद्यते।

पदार्थानां कर्मपदार्थेन सह उभयविधः सम्बन्धः—

मीमांसायाः भाट्टप्रस्थाने स्वीकृतेषु द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्त्यभावसंज्ञकेषु पदार्थेषु **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद्'**[8] इत्येन सूत्रेण कर्मपदार्थस्य प्राधान्यादन्येषां सर्वेषां षण्णां पदार्थानां धर्मेत्वेनाभिमते कर्म-पदार्थे समन्वयेनार्थवत्वाङ्गीकारादेतेषु केषाञ्चित्कर्मणि साक्षात्समन्वयोऽङ्गीक्रियते। येषां साक्षात् सम्बन्धो नोपपद्यते तेषां परम्परासम्बन्धेन कर्मणि समन्वयात्प्रयोजनवत्वमुपपाद्यते मीमांसाविचक्षणैः।

1. कर्मणा सह द्रव्यपदार्थस्य सम्बन्धः—

व्रीहीन्प्रोक्षतीत्यत्र[7] प्रोक्षणकर्मणि निष्पद्यते कर्मणः साक्षात्सम्बन्धः। प्रधानयागे प्रोक्षितानां व्रीहीणां। प्रोक्षणद्वारैव चरितार्थत्वात्प्रधानयागेन सहैतेषां व्रीहीणां मन्ये परम्परयैव निष्पद्यते सम्बन्धः। **व्रीहीभिर्यजेत्**[8] इत्यत्र व्रीह्यात्मकस्य पुरोडाशप्रकृतिभूतस्य द्रव्यस्य यागकर्मणि अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धः, पुरोडाशस्य माध्यमेन जायमानत्वात्परम्परया एवोपपद्यते।

1.1 कर्मणा सह गुणसम्बन्धः—

'लोहितोष्णीशा ऋत्विजः प्रचरन्ति'[9] इत्यत्र ज्योतिष्टोमयागस्य विकृतौ श्येनयागे समागतेनानेन वाक्येन लौहित्यस्य गुणस्य उष्णीशद्रव्यस्य माध्यमेन श्येनयागेन कर्मणा सह निष्पद्यते परम्परासम्बन्धः। एवमेव कर्मणा सह क्वचिदपि गुणस्य साक्षात्सम्बन्धाभावाद् **'अरुणया पिङ्गाक्षैक-हायन्या सोमं क्रीणाती'**[10]त्यादौ सर्वत्रैकहायनीद्रव्यादीनां माध्यमेन स्वीक्रियते परम्परासम्बन्धः।

1.2 यागादिभिः कर्मभिस्सह कर्मसम्बन्धः—

दर्शपूर्णमासयागप्रकरणे श्रुतानामश्रुतफलानां समिधाधियागात्मकानां कर्मणाम् आरादुपकारक-त्वाद्दर्शपूर्णमासकर्मणा सह निष्पद्यते साक्षात्सम्बन्धः। प्रोक्षणावघातादीनां सन्निपत्योपकारकत्वात् प्रधान-यागात्मकेन कर्मणा सह समन्वयायोगादवान्तरक्रियामाध्यमेनैवेतेषां प्रधानकर्मणा सह सम्बन्धस्य सम्भवादेतेषां सन्निपत्योपकारककर्मणामपि प्रधानकर्मभिः सह परम्परासम्बन्ध एव निष्पद्यते।

---

* सेवानिवृत्तः आचार्यः, संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

1.3 कर्मणा सह सामान्यसम्बन्धः—

अनारभ्याधीतं विधिवाक्यं वर्तते—**'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न (स) पापं श्लोकं शृणोतीति'**[11]। अनेन वाक्येन निखिलेषु यागकर्मसु पलाशनिर्मितस्य जुहुपात्रस्य विधानात्पलाशसामान्यस्य जुहुपात्रस्य द्रव्यस्य माध्यमेन कर्मसम्बन्धादत्र सामान्यस्यापि कर्मणा सह परम्परासम्बन्ध एव निष्पद्यते। एवमेव—**'औदुम्बरो यूपो भवती'**[12] त्यत्रापि विकृतौ यूपानुवादेन विधीयमानस्य उदुम्बरत्वस्य सामान्यस्य यूपद्रव्यस्य माध्यमेन यागकर्मणा सह पारम्परिकः सम्बन्धोऽवगम्यते।

1.4 कर्मणा सह शक्तेः सम्बन्धः—

सर्वेषां काम्यानां कर्मणां क्रियारूपतया क्षणिकत्वाद्यागादिकर्मणां फलप्राप्तिसङ्गत्यै यागादिकर्मजन्यानां फलानामावाप्तिपर्यन्तं यागकर्मफलयोरवस्थायिनी या अपूर्वरूपिणी अदृष्टात्मिका शक्तिः विवेचिता वर्तते तस्याः शक्तेः कर्मणा सह कर्मफलजनकत्वान्निष्पद्यते कार्यकारणभावरूपौपचारिकः सम्बन्धः।

1.5 कर्मणा सह अभावपदार्थस्योपकारकत्वसम्बन्धः—

मीमांसायां प्रभाकरमतेऽभावस्याधिकरणत्वेनाङ्गीकारात्पदार्थत्वमेव अभावस्य न सङ्गच्छते तथापि भाट्टमते पृथक्पदार्थत्वेनाभावस्यापि स्वीकारादन्येषां पदार्थानामनुरूपं कर्मोपकारकत्वेन कर्मणि सम्बन्धादभावस्यापि प्रयोजनवत्वं सङ्गच्छते। कर्मसमन्वितानां चतुर्णां पदार्थानामनुरूपं कर्मणि परम्परया समन्वितस्याभावपदार्थस्यापि चरितार्थता मीमांसाभिमता वर्तते। निषिद्धाचरणाभावे पापात्मकानां कर्मणां प्रागभाववशात्तेषां कथञ्चित्सञ्चिते आचरणे प्रायश्चित्तेन कर्मणा तेषां क्षालनरूपेण ध्वंसात्मकेनाभावपदार्थेन च विपरीताचरणसम्भावितेन वैगुण्येन यजमानस्य रक्षयाऽभावपदार्थस्य **'अनर्थहेतोः कर्मणः सकाशात् पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वम्'**[13] इत्यनया पङ्क्त्या पुरुषार्थसमन्विता सार्थकता यथाऽभिव्यज्यते तथैव **'दीक्षितो न ददाति'**[14] इत्यत्र सौमिकीं दीक्षां प्राप्ताय यजमानाय प्राप्तस्य दाननिषेधस्य पुरुषार्थत्वस्याशक्यत्वादस्य क्रत्वर्थत्वादत्र निषेधवाक्यार्थस्याभावस्य कर्मसमन्विता उपादेयताऽपि मीमांसकैः प्रकाश्यते।

तथाहि—**'दीक्षितो न ददाति,**[14] **न जुहोति,**[15] **न होतारं वृणीत'**[16] इमानि वाक्यानि यागप्रसङ्गेषु श्रूयन्ते। एभिः प्रतिषिद्धानां दानहोमहोतृवरणानामनुष्ठानेन पुरुषार्थे वैगुण्यं नोत्पद्यते किन्त्वनुष्ठीयमाने यागात्मके कर्मण्यवैतेषामनुष्ठानेन वैगुण्यस्य जायमानत्वादेतेषामनुष्ठानाभावस्य यागकर्मणि वैगुण्याभावात्मकस्योपकारस्य सम्पादकत्वादभावस्यात्रापि कर्मणा सहोपकारकत्वरूपः साक्षात् सम्बन्धः सङ्गच्छते—**'दीक्षितो न ददाति न जुहोत्यादिषु तु दानहोमादीनां शास्त्रप्राप्तावपि पुरुषार्थत्वेन प्राप्तत्वात् क्रत्वर्थत्वेन प्रतिषेधात....'**।[17]

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वा'दित्यनेन सिद्धान्तगर्भितेन पूर्वपक्षोत्थापितेन सूत्रेण कर्मानुष्ठाने एव सम्पूर्णस्य वेदस्य तात्पर्यं प्रतिपादयद्भिर्वाक्यार्थशास्त्रमर्मज्ञैर्मीमांसकैः साक्षात् परम्पराया वा कर्मणामनुष्ठानमेव वेदार्थत्वेन प्रतिपाद्यते।

2. कर्मभेदप्रतिपादने प्रथमो कर्मविभागः—

मीमांसाशास्त्रशिरोमणिना श्रीभट्टशङ्करेण स्वकीये ग्रन्थे मीमांसाबालप्रकाशे लौकिकवैदिकभेदेन कर्मपदार्थस्य द्वैविध्यं निरूप्य वेदार्थतया कर्मपदार्थस्य प्राधान्याद्वैदिकानां कर्मणां प्रतिपादनस्यैव मीमांसायाः प्रयोजनत्वादनेन महाभागेन लौकिककर्मविषयकं विचारं परित्यज्य शास्त्राभीप्सितं वैदिकं कर्म एव विचाराय स्वीकृत्य तस्य प्रवृत्तिनिवृत्युभयभेदेन त्रैविध्यं प्रतिपादितम्। इमानि त्रीण्यपि कर्माणि क्रत्वर्थपुरुषार्थसंज्ञकयोर्भेदयोर्द्वयोः व्यवस्थापितानि। एतेषु यज्ञस्य निष्पत्तौ सहायभूतानि कर्माणि क्रत्वर्थकर्माणि, इत्युच्यन्ते। पुरुषार्थनिष्पादकानां इष्टापूर्तादीनां कर्मणां पुरुषार्थकर्मणि जायते सङ्ग्रहः। निवृत्तिभूतानामपि कर्मणां भट्टशङ्करेण पुरुषार्थक्रत्वर्थौ भेदौ समुल्लिख्य अतिरात्रसत्रे **'नातिरात्रे'**[18] इत्यनेन निषेधवाक्येन षोडशिन् पात्रस्य यो निषेधः, सः निवृत्तिभूतस्य क्रत्वर्थकर्मणः दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शितः। पुरुषार्थविनाशकात् प्राणिमात्रस्य हिंसनान्निवृत्त्युत्पादकेन **'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'**ति[19] वाक्यं निवृत्तिपरकस्य पुरुषार्थकर्मणः प्रतिपादकत्वादनेन बोधितं प्राणिमात्रहिंसनान्निवृत्त्युत्पादकं कर्म, निवृत्तिरूपपुरुषार्थकर्मण उदाहरणत्वेन प्रकाशितम्।[20]

उभयोरेतयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकयोः वैदिककर्मणोरुदाहरणसङ्गतिं प्रदर्श्य मीमांसाबालप्रकाशकारेण उभयात्मकस्य वैदिककर्मणः उभयोः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोः कर्मणोर्मध्ये प्रथमस्य वैदिकोभयात्मकस्य कर्मणः क्रत्वर्थस्योदाहरणत्वेन **'यजतिषु येयजामहं करोति, नानुयाजेष्विति'**[21] वाक्यं प्रदर्शितम्।

अत्र नञर्थो पर्युदासत्वेन स्वीक्रियते। पर्युदासे नञर्थो भावनया सह समन्वयं परित्यज्य केनचित्पूर्वपदार्थेनैव सह संयुज्यते। अत्र पूर्वपदार्थेनानुयाजेन सह नञर्थस्यान्वयादनुयाजभिन्नेषु यागेषु **'येयजामह'**स्य पाठस्य विधानादत्रेदं निवृत्तिपरकं वाक्यं, स्वीयं क्रतूपकारकत्वात्मकक्रत्वर्थस्वरूपमभिव्यनक्ति। निवृत्तिरूपस्योभयात्मकस्य पुरुषार्थस्य कर्मणो दृष्टान्तत्वेन ब्रह्मचारिणः पुरुषस्य कर्तव्यत्वेन **'तस्य व्रतम्'**[22] इत्युपक्रम्य प्रतिपादितेषु व्रतेषु **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'**[23] इत्युदाहरणवाक्यं, प्रदर्श्यते ग्रन्थकृता।

अन्यै: व्रतैस्सह 'आदित्यानीक्षणसङ्कल्पस्यापि पुरुषार्थोपयोगित्वादस्य पुरुषार्थत्वं स्पष्टमभिव्यज्यते। तालिकयास्यार्थस्यावलोकनं कर्तुं शक्यते—

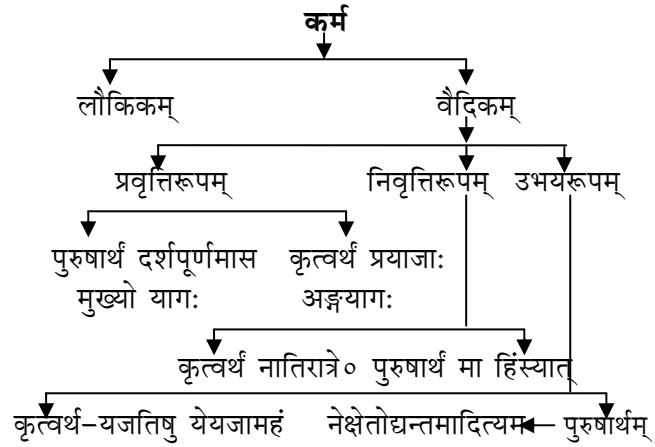

ग्रन्थकृता प्रवृत्त्यात्मकानां वैदिकानां कर्मणां क्रत्वर्थपुरुषार्थकर्मणोरतिप्रसिद्धत्त्वादेवेतयोरुदाहरणे न प्रदर्शिते। एतेषु व्रीहीन्प्रोक्षतीत्यादिभिर्वाक्येभ्य: प्राप्तानि प्रोक्षणादीनि क्रतूपकारकत्वात् प्रवृत्त्यात्मकानां वैदिकानां कर्मणामुदाहरणत्वेन स्वीक्रियन्ते। त्रैविध्येन विवेचितानि वैदिकानि कर्माणि, प्रकृतिविकृत्युभयात्मकानुभयात्मकेषु भेदेषु विभज्यैतेषामुदाहरणान्यपि शङ्करभट्टेन विवेचितानि सन्ति।

2. प्रकृतिभूतं यागात्मकं कर्म—

अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनि कर्माणि, मीमांसाबालप्रकाशकृता प्रकृतियागात्मकानां कर्मणां दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शितानि सन्ति। यत्र समग्राण्यङ्गान्युपदिश्यन्त एतादृशं कर्म, प्रकृतियागत्वेन अर्थसङ्ग्रहकृता लौगाक्षिभास्करेण निरूप्यते—**'यत्र समग्राङ्गोपदेश: सा प्रकृति:'**[24] इदमेव लक्षणं, मीमांसान्यायप्रकाशेऽप्युपलभ्यते।

2.2 विकृतिभूतं कर्म—

विकृत्यात्मकस्य कर्मण उदाहरणत्वेन भट्टशङ्करेण मासाग्निहोत्रादीनि कर्माणि प्रतिपादितानि सन्ति। इदं मासाग्निहोत्रं कर्म अग्निहोत्रयागस्य विकृतिभूतं कर्म वर्तते।

2.3 प्रकृति-विकृतिरूपं (उभयात्मकं) कर्म—

प्रकृति-विकृत्यात्मकस्योभयात्मकस्य कर्मणो: दृष्टान्तरूपेण भट्टशङ्कराचर्येण **'अग्निषोमीय-सवनीयौ द्वौ पशुयागौ प्रदर्शितौ'**।[25] एतयो: पशुयागदैक्षे योरुभयात्मकस्य स्वरूपस्य प्रदर्शनार्थं मीमांसान्यायप्रकाशे दैक्षे अग्निषोमीय: पशुयाग: सर्वेषां पशुयागानां प्रकृतियागत्वेन प्रदर्शितो वर्तते। अस्योपाकरणपर्यग्निकरणनियोजनात्मकैस्सर्वैरप्यङ्गैस्सह निखिलेतिकर्त्तव्यताऽपि स्पष्टतया निरूपिता वर्तते। अनेन सह प्राणिद्रव्यकत्वस्य सादृश्यात् सवनीय: पशुयागोऽस्याग्निषोमयागस्य विकृतित्वेन निरूपितो वर्तते। एवञ्चाग्निषोमीय: पशुयाग:, सर्वेषां पशुयागानां प्रकृतियागत्वात्स्वयं च पशुप्रकृतिप्रभवत्वसादृश्याद्दर्शयागान्तर्गतस्य सान्नाययागस्य विकृतियागत्वाद्यथा प्रकृतिविकृतियागो वर्तते एवमेव, सवनीय: पशुयागोऽप्यग्निषोमीययागस्य विकृतियागत्वेन सहैकादशिनीयागस्य प्रकृतित्वादयमपि प्रकृतिविकृतियागस्यो-दाहरणत्वेना आचार्येण **'प्रयोगविधिना च दैक्षे तदङ्गानाम् उपाकरणनियोजनादीनां मिथ: साहित्यमानन्तर्यापरपर्यायं विहितम्। तच्च साहित्त्यं सवनीयपशौ चोदकेन प्राप्तम्, तस्य प्राणिद्रव्यकत्वेन दैक्षविकृतित्वात्। सवनीयाच्चैकादशिनेषु प्राप्तम्, सुत्याकालत्वसामान्यात्। तेभ्यश्च प्राजापत्येषु प्राप्तम्, गुणत्वसामान्यात्'**। इत्यादिभि: पङ्क्तिभि: प्रतिपादितम्।[26]

2.4 प्रकृतिविकृतिभ्यां भिन्नान्यनुभयात्मकानि कर्माणि—

येषु कर्मसु अङ्गानां विधानेनातिदेशेन वा प्राप्तिर्न जायते, एतादृशानि यागात्मकानि कर्माणि प्रकृतिविकृतिभ्यां भिन्नान्यनुभयात्मकानि कर्माणीत्युच्यन्ते। इमानि कर्माणि, अनुभयात्मकत्वेन प्रतिपादयता भट्टशङ्करेण होमनारिष्टगृहमेधीयादय: यागा एतेषामुदाहरणत्वेन निरूपिता:—**'चतुर्थं यथा दर्विहोमा नारिष्टादय:। तेषां ह्यपूर्वत्वमष्टमान्त्ये उक्तम्। एवं गृहमेधीयाद्यपीति।'**[27]

2.5 चत्वारि कर्माणि—

एतेभ्यो भिन्नानन्यान्यपि चत्वारि कर्माणि, उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृतिभेदेन मीमांसाबालप्रकाशकृता भट्टशङ्करेणन निरूपितानि—**'पुनरपि वैदिकं कर्म चतुर्विधम्। उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृत्यर्थत्वेन'**।[28]

2.6 गुणप्रधानकर्माणि—

वैदिकानि यागानुष्ठानात्मकानि कर्माणि भट्टशङ्करेण गुणप्रधानतया द्विधा विभज्य अग्न्याधानाग्निहोत्रयोरेतयोरुदाहरणत्वेन प्रदर्शितानि । एतयोरग्न्याधानं गुणकर्म वर्तते। अग्निहोत्रञ्च भट्टशङ्करेण प्रधानकर्मत्वेन निरूपितम्—**'पुनरपि वैदिकं कर्म द्विविधं गुणकर्म प्रधानकर्म चार्थकर्मापरपर्यायं। तत्राद्यं यथाऽऽधानम्। द्वितीयं यथाग्निहोत्रादि'**।[29]

मीमांसाभाष्यकृता शबरस्वामिना सह वार्तिककारेणापि विहितानां कर्मणां, नित्यनैमित्तिककाम्यात्मकभेदेन त्रैविध्यं निरूप्यैतेषु अग्निहोत्रादीनां कर्मणामुदाहरणत्वेन प्रतिपादनं कृतं वर्तते। **'नित्यान्य-ग्निहोत्रादीनि'**।[30]

मीमांसान्यायप्रकाशकृताऽआपदेवेन यस्याहिताग्नेर्गृहमग्निना दग्धं तेनाग्निदाहनिमित्तेन करणीयम् अष्टादशानां पुरोडाशानां निर्वापात्मकं कर्म, निमित्तकर्मण: दृष्टान्तरूपेण प्रदर्शितम्—**'यस्याहिताग्ने-रग्निर्गृहान् दहेत्सोऽग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदिति'।**[31]

केषाञ्चित्फलानां कामनयाऽनुष्ठीयमानानि साङ्गान्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनि कर्माणि, काम्य-कर्माणीत्युच्यन्ते।

मीमांसाबालप्रकाशकृता शङ्करभट्टेन ऐहिकफलकामुष्मिकफलकाभ्यां सह नियतफलकभेदेन काम्यकर्मण: त्रैविध्यमुपपादितम्। एतेषु कारीरिश्येनजातेष्ट्यात्मकानि अस्मिन् जन्मन्येव फलप्रदायकानि कर्माण्यैहिकफलकानीत्युच्यन्ते। **'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत्'** इति विधिबोधितस्य कर्मण: सस्यार्थम् अपेक्ष्यमाणं वृष्टिरूपफलमैहिकं वर्तते। शत्रुमारणात्मकस्यैहिकफलस्य कारणत्वेनानुष्ठीयमानं **'श्येनेनाभिचचरन् यजेतेति'** विधिवाक्येनानुष्ठीयमानमभिचारकर्मअपि ऐहिकमेव कर्म विद्यते। एवमेव, जातेष्टेरपि जातस्यैहिकस्य पुत्रस्य पुतत्वमैहिकमेव फलं वर्तते। मानुषशरीरेणानुभवितुम् अशक्यत्वात्स्वर्ग-फलकानि दर्शपूर्णमासादीन्यामुष्मिकानि कर्माणीत्युच्यन्ते। ऐहिकामुष्मिकत्वेनानियतानां पशुप्राप्तिफलानां प्रापकानि चित्रा-उद्भिद्यागादीनि कर्माण्यनियतफलकानि कर्माणीत्युच्यन्ते।[32]

त्रयेष्वप्येतेषु कर्मसु काम्यानामेव कर्मणां मीमांसकै: प्राबल्यं प्रतिपाद्यते। **'बलवच्छीघ्रकारित्वात् काम्यं नैमित्तिकादपि'।**[33] इत्यनेन तन्त्रवार्तिककारिकांशेन नैमित्तिकात्कर्मण: काम्यकर्मण: प्राबल्यं प्रतिपाद्यते तथैव, **'काम्यं नित्यात् प्रबलं कामस्य शीघ्रं प्रवर्त्तकत्वादि'** त्यनया जैमिनीयन्यायमालाविस्तरस्य पङ्क्त्या नित्यादप्यस्य काव्यकर्मण: प्राबल्यं साधितमित्यवलोक्यते।[34] **'तच्च त्रिषु कर्मसु बलवत्तरम्'**[35] इत्याहु:।

2.7 पुरुषार्थक्रत्वर्थकर्माणि—

पुरुषार्थक्रत्वर्थभेदेन कर्मणां द्वौ भेदौ प्रामुख्येन वर्तते। एतयो: पुरुषाय सुखप्रदानात्मकानि दर्शादीनि इष्टापूर्तादीनि च कर्माणि पुरुषार्थजनकत्वात्पुरुषार्थकर्माणि सन्ति। पुरुषार्थभूते दर्शादीनामङ्गभूतानि प्रयाजादीनि कर्माणि क्रत्वर्थकर्मसंज्ञया निगदितानि सन्ति—**'अत्र हि द्वैविध्यमेव कर्मणामुक्तं न त्रैविध्यम्। भाष्यमप्येवमेव अङ्गं क्रत्वर्थ: प्रधानं पुरुषार्थ** इत्यादि'।[36]

3. कर्मणां जाग्रत्स्वप्नावस्थाभेदेन द्वैविध्यम्—

भाट्टचिन्तामणौ उच्यते यद्यजमानेन यथा जाग्रदवस्थायां कृतानां पुण्यापुण्यानां फलानामिहलोके लोकान्तरे वा फलमवाप्यते तथैव, स्वप्नावस्थायां कृतानां कर्मणां मिथ्यात्वेऽपि तेषां स्वप्नावस्थायामेव फलान्यप्यवाप्यन्ते। यद्यपि भाट्टचिन्तामणौ ग्रन्थकृता श्रेय:साधनत्वेन मिथ्यात्वेपि गङ्गास्नानादीनां धर्मत्वमेव प्रतिपादितन्तथापि धर्मत्वपदस्य धर्माधर्मयोरुपलक्षणत्वान्निषिद्धानां कर्मणां स्वप्नेऽप्याचरणात्स्वप्ने तेषामपि दु:खानुभूत्यात्मकस्य प्रतिकूलवेदनीयत्वस्य फलावाप्तिरुपपद्यते एव। स्वकीयमतस्य प्रामाण्व्ययार्थं ग्रन्थकृता पुराणवचनमप्युपन्यस्यते—

यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत्कर्म करोति य:।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमुपाश्नुते।।[37]

अस्य विवेचनस्येदमेव तात्पर्यं यज्ज्ञानवता यजमानेन सर्वदा शुभानामेव कर्मणां सातत्येन अनुष्ठानं कर्तव्यं येन तेषां संस्कारवशात्स्वप्नेऽपि सुखफलकान्येव कर्माण्यनुष्ठितानि स्यु:।

4. कर्मजन्यं फलजन्यकमपूर्वम्—

वैदिकानां विनोचितानां दर्शपूर्णमासाग्निहोत्रादीनां सर्वेषां काम्यानां कर्मणां क्रियारूपतया क्षणिक-त्वाद्यागादिकर्मणां फलप्राप्तिसङ्गत्यै एतेषां यागादिकर्मजन्यानां फलानामावाप्तिपर्यन्तं यागकर्मफलयोरवस्थायिनी 'अपूर्वरूपिणी एका अदृष्टात्मिका शक्ति: स्वीक्रियते। यथा राजनि मृते तस्मिन् विद्यमाना प्रभुत्वशक्ति:, तस्य पुत्रं प्रतिपद्यते तथैव, यागस्य क्रियात्वात् क्षणावसायित्वाच्चावसिते यागे तन्निष्ठा अपूर्वात्मिका शक्तिरपि यजमानस्यात्मानं प्रतिपद्य यागजन्यफलप्राप्तिपर्यन्तं तस्मिन्नेव विराजते—**'यथा प्रभुत्वं राजनि मृते तत्पुत्रे तिष्ठति तथैषा शक्तिरपि तदाश्रये यागे विनष्टे आत्मनि तिष्ठति'**।[38]

मीमांसादर्शनस्योभयो: प्राभाकरभाट्टसम्प्रदाययो: सन्दर्भेऽस्मिन् प्राभाकरैस्तावच्छक्तित्वेन शक्तिपदार्थे कर्मजन्यं फलजनकञ्चापूर्व स्वीक्रियते तथैव कुमारिलभट्टपादैरपि मृत्योरनन्तरं शरीरे नष्टेऽपि चिरकालिने फलायात्मनि फलावाप्तिपर्यन्तं विद्यमानम् अपूर्व स्वीक्रियते। एभिरुच्यते यत् स्वर्गादीनां फलानां प्राप्त्यर्थमनुष्ठीयमानानि दर्शपूर्णमासादीनि कर्माणि क्षणिकानि सन्ति। एतदर्थमेतेषां फलानां निष्पत्ति:, एतेषामनुष्ठानजन्यानामपूर्वं विना नोपपद्यते। कर्मफलानां जायमानयाऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्था-पत्त्यैवात्र यागजन्यस्वर्गफलप्राप्तिपर्यन्तमन्तराले वर्तमानस्य अपूर्वस्यास्तित्वे प्रामाण्यमुपन्यस्यते—

फलाय विहितं कर्म क्षणिके चिरभाविने।

तत्सिद्धिर्न्यान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।।[39]

5. आत्मनः कर्मसम्बन्धः—

मीमांसकेषु भाट्टानां मते यागजन्यमपूर्वं, यागानामनुष्ठानप्रक्रियायां यागाङ्गादिष्वङ्गापूर्वत्वेन व्रीह्यादिष्वङ्गेषु समुत्पद्यते। यागेऽपूर्वस्य उत्पत्त्यपूर्वत्वेन सञ्जातेऽपि विनियोगे फलाय परमापूर्वत्वेन चास्यास्तित्वार्थं कस्यचिदधिकरणस्यानिवार्यत्वाद-स्याश्रयत्वेनात्मानोऽस्तित्वं मीमांसकै: स्वीक्रियते।

मीमांसायां आत्मतत्त्वमपि कर्मणामनुष्ठानस्य सङ्गत्यै स्वीक्रियते। आत्मतत्त्वस्य कर्मार्थताया: प्रतिपादनं स्वयं कुमारिलभट्टैरपि कृतं वर्तते। श्लोकवार्तिके एभिरुच्यते यद्—

आत्मा ज्ञातव्य इत्येन्मोक्षाय न चोदितम्।

कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वादात्मज्ञानस्य लक्ष्यते।।[40]

इति यदुपनिषदि आत्मज्ञानं प्रतिपाद्यते तत्कर्मानुष्ठानस्योपपत्त्यर्थमेव वर्तते, न तु मोक्षार्थमिति वदता आत्मतत्त्वप्रतिपादनस्यापि कर्मार्थतां प्रतिपादयता भट्टपादै: आत्मतत्त्वापेक्षयापि कर्मण: प्राधान्यं स्पष्टं प्रतिपादितं वर्तते।

6. कर्मणो मोक्षसाधनत्वम्—

कर्माश्रयत्वेन यजमानरूपेणात्मन: सांसारिकमेव स्वरूपमत्र वार्तिककृता कुमारिलभट्टेन विवेचिते वार्तिकांशे प्रकाशितं वर्तते। वार्तिकमिदं प्रकारान्तरेण व्याख्यायता भट्टसोमेश्वरेणात्रात्मन: क्रत्वर्थत्वेन सहास्य मोक्षार्थत्वमपि प्रकाशितं वर्तते। अत्रैभिरुच्यते यद्वार्तिके—**'अत एवात्मा ज्ञातव्य इत्येतदि'** त्यत्र प्रयुक्तेन एतच्छब्देनायमेवार्थोऽवाप्यते यज्जन्मरणेषु संसरणशीलस्य बद्धात्मन एवोपदेश: कर्मसु प्रवृत्त्यै कृतो वर्तते अत एव, तद्विन्नाय संसाराद्विरक्ताय कृतस्यात्मज्ञानस्य प्रयोजनं मोक्ष एव स्वीकरणीयम्।[41]

आत्मतत्त्वज्ञानस्य क्रत्वर्थत्वेन सहैव 'मोक्षात्मके' परमपुरुषार्थेऽपि कर्मानुष्ठानस्य कारणता मीमांसाभिमता वर्तते। भट्टसोमेश्वरेण न्यायसुधायां **'ननु नि:श्रेयसं ज्ञानाबन्धनहेतोर्न कर्मण:'** इत्यत्र प्रथमपङ्क्तौ 'ननु' शब्देनाशङ्कामुत्थाप्य—

'नैकस्मादपि तत्किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्' इति द्वितीयपङ्क्तौ ज्ञानकर्मणो: समुच्चयस्यैव मोक्ष-निरूपिता एभि: कारणता प्रतिपादिता वर्तते।[42] भट्टकुलावतंसै: कमलाकरभट्टमहाभागैरपि मीमांसाकुतूहलसंज्ञके स्वनिर्मिते ग्रन्थे ज्ञानकर्मसमुच्चयोरपि या मोक्षनिरूपिता साधनता वर्तते तत्र समुच्चये यन्मोक्षसाधनत्वं तदङ्गाङ्गिभावरूपेण विद्यते समप्रधानत्वेन वेति प्रश्नं समुत्थाय समाधानार्थमेभिरुच्यते यद् **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तरति शोकमात्मवित्'** इत्यादिभिर्श्रुतिवाक्यैर्यथा तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं प्रतिपाद्यते तथैव, **'तमेतं वेदानुवचनेन विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन', 'सत्येन लक्ष्यस्तपसा ह्येष आत्मा'** इत्यादिभिर्श्रुतिवचनै:, कर्मण: मोक्षसाधनताऽपि स्पष्टतया निरूपिता वर्तते। एवमेव श्रुतिवद्धारित-स्मृतावप्ययमेवार्थो निरूपित:। तत्रोच्यते 'यदाकाशे पक्षी उभाभ्यामेव स्वपक्षाभ्यां गतिमाप्नोति तथैव, नित्यस्य शाश्वतस्य ब्रह्मण: स्वरूपावाप्त्यात्मको मोक्षोऽपि ज्ञानकर्माभ्यामुभाभ्यामेव साधनाभ्यामवाप्यते। नत्वेकेनैव—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां खे पक्षिणां गति:।

तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्।।[43]

एवञ्च कमलाकरभट्टै: ज्ञानकर्मणो: समुच्चयस्य मोक्षसाधनता, श्रुतिस्मृत्योरुभयोपि प्रमाणाभ्यां वचनाभ्यां साधिता।

विमर्श:—

भारतीयदर्शनेषु मीमांसादर्शनं मुख्यतया वेदार्थनिर्णायायैव प्रवर्तते। अस्मिन्दर्शने सर्वेषामेव वैदिकवाक्यानां साक्षात्परम्परया वा कर्मानुष्ठानम् एव तात्पर्यं निर्धार्यते। वेदार्थत्वेनाभिमतस्य कर्मपदार्थस्य प्रतिपादनप्रक्रियायामात्मतत्त्वस्य प्रतिपादनादस्य शास्त्रस्य दार्शनिकं स्वरूपमपि चिन्तनपरम्परायां स्वीक्रियते। मीमांसायामभिमतेष्वात्मतत्त्वेन सहितेषु पदार्थेषु सर्वेष्वपि कर्मपदार्थ एव प्राधान्येन स्वीकृतो वर्तते। दर्शनक्षेत्रे प्रतिपादितेषु पदार्थेषु येषां कर्मानुष्ठानेषु उपादेयता वर्तते त एव मीमांसाया: पदार्थमीमांसायां परिगणिता: सन्ति। कर्मसु समन्विता: पदार्था:, द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्त्यभावात्मका: षटसङ्ख्यका विवेचिता: सन्ति। एतेषु तृतीये क्रमे परिगणितस्य 'कर्मण:' प्राधान्यादन्येषां सर्वेषां पदार्थानां कर्मस्वन्वयादेव चरितार्थताया: प्रतिपादनादस्य शास्त्रस्य **'कर्मेति मीमांसका:'** इत्युक्त्यापि कर्मप्राधान्यमेव पूर्णरूपेणाभिव्यज्यत इति शम्।

सन्दर्भा:—

1. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म: - जैमिनिसूत्रम्–1.1.2
2. अग्निहोत्रं जुहोति - तैत्तिरीयसंहिता–1.5.89
3. दर्शपूर्णमासाभ्यां - शतपथब्राह्मणम्–1.6.4
4. व्रीहीभिर्यजेत - आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्–6.31.14

5. अरुणया पिङ्गाक्षैकहायन्या - तैत्तिरीयसंहिता–6.6.7
6. यस्य पर्णमयी - तैत्तिरीयसंहिता–3.5.7, 2
7. व्रीहीन्प्रोक्षति - तैत्तिरीयब्राह्मणम्–3.2.5
8. आम्नायस्य - जैमिनिसूत्रम्–1.2.11
9. लोहितोष्णीषा - षड्विंशब्राह्मण–3.8
10. अरुणया - तैत्तिरीयसंहिता–7.1.6, 2
11. यस्य पर्णमयी - तैत्तिरीयसंहिता–3.5.7, 2
12. औदुम्बरो यूपो - मीमांसान्यायप्रकाश: न्यायबोधिनी, पृ०– 228; चौखम्बा विद्याभवनम् प्रकाशनम्, वाराणसी, सन् 2003.
13. अनर्थहेतो: - मीमांसान्यायप्रकाश, न्यायबोधिनी, पृ०–411
14. दीक्षितो न - मैत्रायणीयसंहिता–3.6.5; मीमांसान्यायप्रकाश: न्यायबोधिनी, पृ०–440
15. न जुहोति - मैत्रायणीयसंहिता–3.6.5
16. न होतारम - मीमांसान्यायप्रकाश: न्यायबोधिनी, पृ०–234
17. दीक्षितो न ददाति- मीमांसान्यायप्रकाश: न्यायबोधिनी, पृ०–439
18. नातिरात्रे - तैत्तिरीयसंहिता–6.6.11
19. न हिंस्यात्सर्वा - मीमांसाबालप्रकाश: पृ०–86; चौखम्बासंस्कृतसीरीज़ ऑफिस–वाराणसी, सन् 2009
20. द्रष्टव्य - मीमांसाबालप्रकाश: पृ०–86
21. यजतिषु येयजामहम-मीमांसान्यायप्रकाश:न्यायबोधिनी, पृ०–427
22. तस्यव्रतम् - मीमांसान्यायबोधिनी–130-131
23. नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् - मनुस्मृति–4.37
24. यत्र समग्राङ्गोपदेश: - अर्थसंग्रह, पृ०–53 चौखम्बासंस्कृतसीरीज़ ऑफिस–वाराणसी, सन् 2008
25. यथाऽग्निषोमीयसवनीयमपश्वादि - मीमांसाबालप्रकाश:, पृ०–85
26. प्रयोगविधिना - मीमांसान्यायप्रकाश: न्यायबोधिनी, पृ०–324
27. चतुर्थं यथा दर्विहोमा नारिष्टादय: - मीमांसाबालप्रकाश:,पृ०–85
28. पुनरपि - मीमांसाबालप्रकाश:, पृ०–85
29. पुनरपि - मीमांसाबालप्रकाश:, पृ०–85
30. नित्यान्यग्निहोत्रादीनि - मीमांसाशाबरभाष्यम्–1.1.1
31. यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् - मीमांसान्यायप्रकाश: न्यायबोधिनी, पृ०–328
32. मीमांसाबालप्रकाश:, - पृ०–85-86
33. बलवच्छीघ्र० - तन्त्रवार्तिकम्–3.6.10
34. काम्यं नित्यात् - जैमिनीयन्यायमालावस्तर:–12.2.13
35. नित्यनैमित्तिकाम्यभेदेन कर्मणां त्रिविधता व्यवतिष्ठते। एतानि विहितकर्माणि भवन्ति - भारतीयदर्शनेषु कर्मवाद:, पृ०–27; कालिदास अकादमी, उज्जैन, मार्च 1988.
36. अत्र हि द्वैविध्यमेव - मीमांसाबालप्रकाश: पृ०–81
37. यस्यां यस्यामवस्थायाम् - भाट्टचिन्तामणि:, पृ०–8; चौखम्बासंस्कृतसीरीज ऑफिस-वारणसी, सन् 1933.
38. यथा प्रभुत्वम - सुदर्शनाचार्यविरचित: शास्त्रदीपिकाप्रकाश:, पृ०–309
39. फलाय विहितम - तन्त्रवार्तिकम्, अजिता, पृ०–36 द्वितीयो भाग:; श्रीगङ्गानाथझा केन्द्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, प्रयाग:–1990.
40. आत्मा ज्ञातव्य - श्लोकवार्तिकम्
41. अत एवात्मा - श्लोकवार्तिकम्, पृ०–816; कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृत-विश्वविद्यालय:, दरभङ्गा।
42. मीमांसादर्शनविमर्श:, - पृ०–70; प्रतिभाप्रकाशनम्, नवदिल्ली–2008.
43. उभाभ्यामेव - मीमांसाकुतूहलम्, पृ०–37; सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालय:, वाराणसी–1987.

●

श्रीरामानुजदर्शनस्य रामानन्दतारिक्तदर्शनेषु प्रभावः

*प्रो. भगवत्शरणशुक्लः**

श्रीलक्ष्मीपरिसेविताङ्घ्रियुगले भक्तैकरक्षाव्रतः

श्रीवत्साङ्कितविग्रहः सुरवरः पिताम्बरालङ्कृतः।
नेत्रे पद्ममिते च कौस्तुभमणिः स्रक् चास्ति वन्या शुभा

चक्राद्यायुधभूषितोऽमृतकरो विष्णुः सदा पातु नः।।

नामामि रामानुजपादपङ्कजं वदामि रामानुजनामनिर्मलम्।

स्मरामि रामानुजदिव्यविग्रहं करोमि रामानुजदासदास्यताम्।।

लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम्।

अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।।

''प्रेमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि इति साङ्ख्यकारिकानुसारेण[1] प्रत्येकं शास्त्रे प्रमाणपुरस्सरं प्रमेयविवेचनं क्रियते। प्रमाणसिद्धप्रमेयाणामेव शेमुषीकैः समादरात्। यद्यपि परमतत्त्वचिन्तने सर्वाण्यपि दर्शनानि स्वीयं योगदानं कुर्वन्ति, तथापि परब्रह्मचिन्तने वेदान्तदर्शनमेव समाद्रियते परमविचारकैस्तपस्विभिराचार्यैः। वेदानाम् अन्तः= निर्णयो यस्मिन् दर्शने तत् वेदान्तदर्शनम्। निर्णयश्च परब्रह्मचिन्तनरूपः। वेदानाम् संहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषदाम्, अन्तः= चरमो भागः वेदान्तः= उपनिषत्। अन्तशब्दः ''अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः'' इति नानार्थकोशात् अनेकार्थकः। निश्चयनिर्णयौ पर्यायत्वेन वाचस्पत्यमिति कोषे निर्णीतौ। निर्णयो नाम ''विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणम्।''[2] वेदान्तसारग्रन्थे आचार्यसदानन्दः[3] वेदान्तपदार्थमुक्तवान्। ''वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शरीरकसूत्रादीनि'' इत्येवं अनेन ज्ञायते यत् योगरूढ्या उपनिषदां तदनुसारीणि ब्रह्मसूत्राणि गीताशास्त्रम् एतेषां व्याख्यानग्रन्थाः वादग्रन्थाश्च समेषां वेदान्तपदेन ग्रहणं भवति। अत एव प्रस्थानत्रयीशब्देन उपनिषद्ब्रह्मसूत्रगीताग्रन्था अङ्गीक्रियन्ते।

सम्प्रति वेदान्तदर्शनस्यानेके सम्प्रदायाः सन्ति। येषां सिद्धान्ता आचार्यैः संस्थापिताः सन्ति- अद्वैतसिद्धान्तः, भेदाभेदसिद्धान्तः, विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः, द्वैतसिद्धान्तः, द्वैताद्वैतसिद्धान्तः, शैवविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः, वीरशैवविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः, शुद्धाद्वैतसिद्धान्तः, अविभागाद्वैतसिद्धान्तः, अनित्यभेदाभेदसिद्धान्तः। एतेषां परिचयः सारण्या इत्थं ज्ञायते।

क्रमः	आचार्याः	ख्रीष्टाब्दः	ब्रह्मसूत्र भाष्यम्	सिद्धान्ताः
1.	शङ्कराचार्याः	788-820	शरीरक भाष्यम्	अद्वैत सिद्धान्तः
2.	भास्कराचार्याः	1000	भास्कर भाष्यम्	भेदाभेद सिद्धान्तः
3.	रामानुजाचार्याः	1140	श्रीभाष्यम्	विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तः
4.	रामानन्दाचार्याः	1356	आनन्द भाष्यम्	विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तः
5.	मध्वाचार्याः (आनन्दतीर्थाः)	1238	पूर्णप्रज्ञ भाष्यम्	द्वैतसिद्धान्तः
6.	निम्बार्काचार्याः	1250	वेदान्तपारि जातभाष्यम्	द्वैताद्वैत सिद्धान्तः
7.	कण्ठाचार्याः	1270	शैवभाष्यम्	शैवविशिष्टा द्वैतसिद्धान्तः
8.	श्रीपत्याचार्याः	1400	श्रीकर भाष्यम्	वीरशैवविशिष्टा द्वैतसिद्धान्तः
9.	बल्लभाचार्याः	1479-1544	अणुभाष्यम्	शुद्धाद्वैत सिद्धान्तः
10.	विज्ञानभिक्षवः	1600	विज्ञाना मृतभाष्यम्	अविभागा द्वैतसिद्धान्तः
11.	बलदेवाचार्याः (चैतन्यमहाप्रभु मत स्थापकाः)	1725	गोविन्द भाष्यम्	अनित्यभेदा भेदसिद्धान्तः (अचिन्त्यभेदा भेद-सिद्धान्तः)[4]

एतेषु सिद्धान्तेषु रामानुजाचार्यमध्वाचार्यनिम्बार्काचार्यबल्लभाचार्यबलदेवाचार्याः वैष्णवदार्शनिकाः, तेषां दर्शनं च वैष्णवदर्शनं विद्यते। यद्यपि आचार्यरामानन्दस्यापि दर्शनं वैष्णवदर्शनमेव विद्यते अतः तस्यापि उल्लेख आवश्यकः तथापि तेषां दर्शनमपि विशिष्टाद्वैतदर्शनमेव न तु ततो भिन्नम्। केवलमुपासनापरम्परायामेव भेदो वर्त्तते। एतेषां वैष्णवदर्शनानां परम्परायाः परिचयश्चेत्थमस्ति –

---

*व्याकरणविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

क्रमः	वै० दर्शनम्	सिद्धान्तः	प्राचीनपरम्परा मूलम्
1.	रामानुजदर्शनम्	विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः	श्रीसम्प्रदायः (लक्ष्मी)
2.	रामानन्ददर्शनम्	विशिष्टद्वैतसिद्धान्तः	श्रीसम्प्रदायः (सीता)
3.	मध्वदर्शनम्	द्वैतसिद्धान्तः	ब्रह्मसम्प्रदायः
4.	निम्बार्कदर्शनम्	द्वैताद्वैतसिद्धान्तः	सनकसम्प्रदायः
5.	बल्लभदर्शनम्	शुद्धाद्वैतसिद्धान्त	रुद्रसम्प्रदायः
6.	चैतन्यदर्शनम्	अनित्यभेदाभेदसिद्धान्तः (अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तः)	ब्रह्मसिद्धान्तः (चैतन्यमहाप्रभु सम्प्रदायः)[5]

एतेषु वैष्णवदर्शनेषु प्राचीनं वैष्णवदर्शनं विशिष्टाद्वैतदर्शनं विद्यते। विशिष्टाद्वैतदर्शनं यद्यपि भगवता श्रीमन्नारामयणेन प्रवर्त्तितमिति लक्ष्मीनाथसमारम्भामिति[6] परम्परातो ज्ञायते तथापि कलियुगे विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य प्रतिष्ठापकाचार्येषु प्रथमः नाथमुनिरित्यपरनामधेयो रङ्गनाथमुनिरासीत् (824-924) खीष्टाब्दमध्ये। द्वितीयाः श्री यामुनाचार्याः सन्ति यैः सिद्धित्रयमहापुरुषनिर्णयागमप्रामाण्यालवन्दार-
महास्तोत्रप्रभृतिदिग्रन्थाः विरचिताः। यैः दर्शनमिदं दर्शनजगति सम्यक् प्रतिष्ठां प्राप्नोत् ते सन्ति भगवन्तो रामानुजाचार्याः, यैः ब्रह्मसूत्रेषु श्रीभाष्यम्, वेदार्थसंग्रहः, वेदान्तसारः, (श्रीवैष्णवदर्शनस्य) वेदान्तदीपः, गद्यत्रयम्, गीताभाष्यम् इत्येते ग्रन्थाः विरचिताः। एतैरेव विशिष्टाद्वैतदर्शनं सम्यक्तया दर्शनपदवीमालभत। अत एव एते विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तस्य प्रतिष्ठापका मुख्या आचार्याः सञ्ज्ञाताः। अत एवायं विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तो रामानुजदर्शनमिति नाम्ना प्रथितः। अन्येषु महत्सु आचार्येषु सुदर्शनसूरिः, वेदान्ताचार्यः वेङ्कटनाथ इत्यपरनामधेयः, लोकाचार्यः, वरवरमुनिः, श्रीनिवासाचार्यः, रङ्गरामानुजाचार्यः रङ्गाचार्यः अनन्ताचार्यः प्रभृतयः सन्ति।[7] अधुनापि अनेके मनीषिण आचार्याः दर्शनमिदं पोषयन्तो रक्षयन्तश्च विद्यन्ते।

विशिष्टाद्वैतमते प्रमाणेषु आचार्याः प्रत्यक्षम्, अनुमानं, शब्दः इत्येवं प्रमाणत्रयं मन्यन्ते। प्रमाणविषये यामुनाचार्यो लिखति सिद्धित्रयग्रन्थे –

''तथा अनुमानसमधिगम्यः आगमैकवेद्यः मानसप्रत्यक्षवेद्यः ग्राहकतयैव सकलविषयवित्तिषु प्रत्यक्षः ज्ञानस्वभावतयानुदितानस्मितस्वरूपप्रकाशः स्वयंज्योतिः, ईदृशोऽप्यागमानुमानयोगजप्रत्यक्षैः स्वेतरसकलविलक्षणस्वाभाव्येन विशदविशदतरविशदतमतयाऽन्ततो यथावदपरोक्ष्यत इति।''[8]

एवमेव प्रमाणप्रमेययोर्मिथोऽविनाभावं प्रतिपादयन्तो भगवद्रामानुजाचार्याः प्रमाणविषये प्रसङ्गतः लिखन्ति–

''इन्द्रियजन्मनः प्रत्यक्षस्य ह्येष स्वभावनियमः यत् स्वसमवायवर्त्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्, न सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानाञ्च स्मरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्त्तिनोऽपि ग्रहणदर्शनात्। अत एव प्रमाणस्य प्रमेयाविनाभावः।''[9]

एवमेव यतीन्द्रमतदीपिकायां प्रथमेऽवतारे, वेदान्तकारिकावली' इत्यत्र द्वितीयकारिकायां प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणानां विवेचनं विद्यते। प्रमाणलक्षणमपि नैयायिकतुल्यं प्रमाकरणं प्रमाणमित्येव विद्यते। तत्र प्रत्यक्षप्रमाणं साक्षात्कारिप्रमाकरणमिति लक्षणेन लक्षितम्। एतच्च निर्विकल्पकसविकल्पकभेदाभ्यां द्विविधम्। तत्र प्रथमं न निष्प्रकारकं ज्ञानमिति रूपमपितु गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमपिण्डग्रहणं निर्विकल्पकम्, सविकल्पकं च सप्रत्यवमर्शं गुणसंस्थानादिविशिष्टद्वितीयादिपिण्डग्रहणम्,
उभयमप्येतद्विशिष्टविषयमेव गृह्यते। अविशिष्टग्राहिणो ज्ञानस्यानुपलम्भादनुपपत्तेश्च।[10]

प्रत्यक्षस्वरूपञ्चेत्थमस्ति यतीन्द्रमतदीपिकायां प्रतिपादितम्- ''आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां प्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्। अतो घटादिरूपार्थस्य चक्षुरादीन्द्रियस्य च सन्निकर्षे सति अयं घटः अयं पटः इति चाक्षुषज्ञानं जायते। एवं स्पार्शनप्रत्यक्षादयोऽपि। द्रव्यग्रहणे संयोगसम्बन्धः (सन्निकर्षः) द्रव्यगतरूपादिग्रहणे समवायानङ्गीकारात् संयुक्ताश्रयणं सम्बन्धः (सन्निकर्षः)।''[11]

इत्येवं तत्र प्रमाणमिदं वैशद्येन प्रतिपादितम्। अत्रैव स्मृतेः प्रत्यभिज्ञायाः प्रतिभायाश्चान्तर्भावः विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानुसारेण श्रीनिवासाचार्येण स्वीकृतम्।[12]

अनुमानप्रमाणस्य विवेचनमत्र नैयायिकतुल्यमेवास्ति। अत्रैवानुमानप्रमाणे उपमानप्रमाणमर्थापत्तिप्रमाणं चान्तर्भावयति यतीन्द्रमतदीपिकाकारः।[13]

शब्दप्रमाणे तल्लक्षणम् अनाप्तानुच्चरितवाक्यजनिततदर्थविज्ञानं शब्दानाम्, तत्करणं शब्दप्रमाणम्। अनाप्तानुच्चरितत्वमिति कथनेन अपौरुषेयस्य वेदस्यापि प्रामाण्यं भवति। वेदानुसारित्वात् वेदाङ्गत्वाच्च स्मृतीनामितिहासपुराणादीनां व्याकरणादिषड्वेदाङ्गानां

प्रामाणिकाचार्याणां सूरीणां ग्रन्था अपि शब्दप्रमाणत्वेन अङ्गीक्रियन्ते।

प्रमाणत्रयविवेचनानन्तरं प्रमेयाणां विवेचनं क्रियते। प्रकर्षेण यन्मेयं प्रमेयमिति कथ्यते। तच्च प्रमेयं विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते द्विविधं= द्रव्याद्रव्यभेदात्। उपादानं द्रव्यम्। अवस्थाश्रय उपादानम्। गुणाश्रयो द्रव्यमित्यपि द्रव्यसामान्यलक्षणं वक्तुं शक्यते। द्रव्याणि प्रकृतिकालशुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरभेदात् षड्विधानि सन्ति। द्रव्यं च जडम् अजडमिति भेदेनापि विभक्तुं शक्यते। प्रकृतिः सांख्यमतानुसारमेव सत्त्वरजस्तमोरूपा त्रिगुणात्मिका चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका विद्यते। कालश्च गुणत्रयरहितो जडद्रव्यविशेषो नित्यो विभुश्च विद्यते। स च भूतभविष्यद्वर्तमानभेदेन त्रिविधः। युगपत् क्षिप्रचिरादिव्यवहारकारणम्। निमेषकाष्ठाकला-घटिकामुहूर्त्तदिवसपक्षमास-ऋत्वयनसंवत्सरयुगादिव्यवहारकारणं च विद्यते। अन्तिमा संख्या चास्य परार्धपरिमिता विद्यते। परार्धद्वयजीवी च ब्रह्मा भवति। इति हेतोः कालसंख्या उपाधिभेदात् परार्धपर्यन्ता विद्यते।[14]

नित्यविभूतिर्नाम शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरसाधारणं लक्षणमजडत्वम्। अजडत्वं नाम स्वयंप्रकाशत्वम्, शुद्धसत्त्वं नाम सत्त्वादित्रिगुणव्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्वम्। निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वं वा। शुद्धसत्वमेव नित्यविभूतिपदेन कथ्यते। नित्यविभूतिश्च त्रिपाद्विभूतिपदेनापि गृह्यते। विशिष्टाद्वैतदर्शने परमात्मनः श्रीविभूतिः नित्यविभूतिरिति विभूतिद्वयमङ्गीक्रियते। इयं नित्यविभूतिः भगवतो नारायणस्य दिव्यं वैकुण्ठधाम इत्यस्य वाचिका।[15]

धर्मभूतज्ञानपदेन ज्ञानमेवोच्यते। यतोहि ज्ञानमात्मनो धर्मः अतः तज्ज्ञानं धर्मभूतज्ञानं कथ्यते। स्वयंप्रकाशत्वे सत्यचेतनद्रव्यत्वे सति सविषयत्वम् इति तल्लक्षणम्। धर्मभूतज्ञानस्य मनः सहकारिकारणं विद्यते। तच्च धर्मभूतज्ञानं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृतिसंशयनिर्णयविपर्ययभ्रमविवेकादयः
भक्तिप्रपत्तिप्रभृतयो गुणा अनन्ताः जीवात्मनः धर्मभूतज्ञानविशेषा एव इत्येवं जीवेषु कथितम्। एवमेव भगवतो श्रीमन्नारायणस्यापि ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजस्सौशील्यवात्सल्यमार्दवार्जव[16]
सौहार्दसाम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यचातुर्यस्थैर्यशौर्यपराक्रमादयोऽनन्तकल्याणगुणा ज्ञानशक्त्योर्विस्तृतभूताः धर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषाः सन्ति।[17]

ज्ञानविशेषभूतयोर्भक्तिप्रपत्योः स्वरूपं विवेचनीयमस्ति। यतो हि भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नश्श्रीमन्नारायणो मुमुक्षुभ्यो मानवेभ्यो मोक्षं प्रयच्छति। अतस्तयोर्मोक्षोपायत्वं विद्यते। मोक्षोपायत्वेन कथिता कर्मयोगज्ञानयोगादयः भक्तिद्वारैव मोक्षसाधनानि। मुमुक्षोः उपदेशाज्जीवेश्वरयथार्थज्ञानवतः शक्त्यनुसारेण फलासक्तिरहितानिषिद्धकाम्यनित्य-नैमित्तिकरूपपरिगृहीतकर्मविशेषः कर्मयोगः कथ्यते। कर्मयोगान्निर्मलान्तःकरणस्य मानवस्य ईश्वरशेषत्वेन प्रकृतिवियुक्तस्वात्मचिन्ताविशेषः ज्ञानयोगः। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपाष्टाङ्गयुक्तः तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपो भक्तियोगः। प्रपत्तिश्च न्यासविद्या। सा च **''अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायतायाञ्चा प्रपत्तिश्शरणगतिः''** इति कथिता। सा च पञ्चाङ्गरूपा-

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वरणं तथा।।

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये अङ्गपञ्चकमीरितम्।।''[18]

प्रतिपादितानि जीवस्य लक्षणानि यतीन्द्रमतदीपिकायाम् अणुत्वे सति चेतनत्वम्, स्वतःशेषत्वे सति चेतनत्वम्, एवमेव आधेयत्वविधेयत्वपराधीनकर्तृत्वपरतन्त्रत्वादिधर्माः जीवे भवन्ति। तादृशधर्मवान् जीवो भवति। प्रत्यक्त्वचेतनत्वात्मत्वकर्तृत्वप्रभृतिधर्माः ईश्वरे जीवे च समानाः सन्ति। तत्र प्रत्यक्त्वं नाम स्वस्मै स्वयमेव भासमानत्वम्। ज्ञानाश्रयत्वं चेतनत्वम्। शरीरप्रतिसम्बन्धित्वम् आत्मत्वम्। सङ्कल्पज्ञानाश्रयत्वं च कर्तृत्वं कथ्यते। जीवश्चायं देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्धिभ्यः विलक्षणो नित्यः प्रतिशरीरं भिन्नः अणुपरिमाणः विभुः प्रतिपादितः। अयं बद्धमुक्तनित्यभेदात् त्रिविधः।[19]

बद्धाः अनुवृत्तसंसाराः चतुर्दशभुवनाण्डकटाहवर्त्तिनो ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताश्चेतनविशेषा। अत्रैव समे रुद्रेन्द्रवरुणादिदेवाः सनकादिनारदादिदेवर्षयः सर्वे वसिष्ठादिब्रह्मर्षयः, मरीच्यादिप्रजापतयः, दिक्पाला, पितरः, सिद्धगन्धर्वकिन्नरादिदेवयोनयः, दैत्यदानवादियोनयः, सर्वे मनुष्याः, पशवः, पक्षिणः, सरीसृपपतङ्गकीटादयाः, वृक्षाः पर्वताः, तृणादयः, सर्वे जलचराः, स्वेदजाः, उद्भिज्जाः, पिण्डजाः, अण्डजाः, जीवाः गृह्यन्ते। एतेषामनेके भेदाः अपि सन्ति। यथा बद्धजीवाः शास्त्रवश्याः शास्त्रावस्या इति भेदेन द्विविधाः। शास्त्रवस्याः बुभुक्षुमुमुक्षुभेदेन द्विविधाः। अर्थकामपरधर्मपरभेदेन बुभुक्षवः द्विविधाः। धर्मपराश्च देवतान्यपरभगवत्परभेदेन द्विविधाः। भगवत्पराश्च अर्तोजिज्ञासुः अर्थार्थीति भेदेनत्रिविधाः। मुमुक्षवश्च कैवल्यपरमोक्षपरभेदेन द्विविधाः। तत्र मोक्षपराः भक्तप्रपन्नभेदेन द्विविधाः। भक्त्या प्रपत्त्या च भगवत्कृपया प्राप्तमोक्षाः भगवदनुभवजनितप्रहर्षाद्यार्विभूतगुणाष्टकाः
उत्तरावधिरहितब्रह्मानुभववन्तः कथ्यन्ते। नित्याश्च कदाचिदपि भगवदभितविरुद्धाचरणाभावेन ज्ञानसङ्कोचप्रसङ्गरहिता अनन्तगरुडविश्वक्सेनप्रभृतयः सन्ति।

ईश्वरत्वं नाम सर्वेश्वरत्वसर्वशेषित्वसर्वकर्मासमाराध्यत्वसर्वकर्मफलप्रदत्व-सर्वाधारत्वसर्वकार्योत्पादकत्वधर्मवत्वे सति स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरित्वम्। अयञ्चेश्वरः सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टवेषेण जगदुपादानकारणं विद्यते। सङ्कल्पविशिष्टरूपेण निमित्तकारणं, कालाद्यन्तर्यामिरूपेण सहकारिकारणं च भवति। एवं सकलकारण लक्षणलक्षितत्वादखिलजगत्कारणं भगवान् श्रीमन्नारायणः सिद्धयति। अयं च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मत्वेन जगतः कारणम्, स्थूलचिदचिद्विशिष्टब्रह्मत्वेन च कार्यमिति विशिष्टाद्वैतवेदान्तिनां सिद्धान्तो विद्यते। यथा शिशुत्वबालत्वपौगण्डत्वयौवनत्वप्रभृतिविकारा शरीरस्य न तु जीवस्य, तथा चिदचिद् देहिनः, परमात्मनोऽपीति न। अन्यथा याः निर्विकारबोधिकाः श्रुतयस्ताभिर्विरोधः स्यात्। चित् च अचिच्च परमात्मनः शरीरे विद्येते ''जगत् सर्वं शरीरं ते, अहमात्मा गुडकेश!, अहमात्मा हि लोकानाम्, यदम्बु वैष्णवः कायः तत्सर्वं वै हरेस्तनुः, तस्मात् कायात् प्रभवन्ति सर्वे, सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् इत्येवं श्रुतिगीतापुराणादिषु प्रतिपादितम्। नियमेन तदाधेयत्वविधेयत्वशेषत्वादेः शरीरस्वरूपस्य संसारे विद्यमानत्वाज्जगद्देह ईश्वरस्तद्गतदोषैरसंसृष्टः।

अयमीश्वरः विभुः (व्यापकः)। स्वरूपतो धर्मभूतज्ञानतो विग्रहतश्च त्रिविधः। अनन्तोनाम देशतः कालतो वस्तुतः इति त्रिविधपरिच्छेदरहितः। सत्यत्वज्ञानत्वामलत्वादया धर्माः ईश्वरस्य स्वरूपनिरूपकधर्माः ज्ञानशक्त्यादयश्च तन्निरूपितस्वरूपधर्माः।[20] सृष्ट्युक्तधर्माः सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वप्रभृतयः तस्याश्रयणोपयुक्त धर्माः वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादयः, रक्षणोपयुक्तधर्माश्च कारुण्यादयः सन्ति। एतस्य वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाः व्यूहरूपाः सन्ति। मत्स्यकूर्मप्रभृत्यवताराः विभवरूपाः। षोडशोपचारराजोपचारप्रभृत्यर्चनां स्वभक्तकृतां ग्रहीतुं भगवतोऽर्चावतारो भवति। यथा वेंकटेशशालिग्रामप्रभृतिमूर्तयः। इत्थमीश्वस्य निरूपणं भवति। भगवान् रामानुजोऽपि चिदचिद्विशिष्टब्रह्मविषये तथैव प्रतिपादयति-

''परं ब्रह्म स्वभावत एव निरस्तनिखिलदोषगन्धं समस्तकल्याणगुणात्मकं जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारान्तः प्रवेशनियमनादिलीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः सर्वावस्थावस्थितस्य पारमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणः शरीरतया रूपत्वं शरीररूपतत्वंशशक्तिविभूत्यादिशब्दैः तत्तच्छब्दसामानाधिकारण्येन चाभिधाय तद्विभूतिभूतस्य चिद्वस्तुनः स्वरूपेण अवस्थितिम् अचिन्मिश्रतया क्षेत्रज्ञरूपेण स्थितिं चोक्त्वा क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्यपापात्मककर्मरूपाविद्यावेष्टितत्वेन स्वाभाविकज्ञानरूपत्वाननुसन्धानमचिद्रूपार्थाकारतया अनुसन्धानं च प्रतिपादितम् इति परं ब्रह्म सविशेषं तद्विभूतिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते।''[21]

अद्रव्यपदार्थत्वेन चात्र सत्त्वरजस्तमसां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां संयोगशक्त्योश्च ग्रहणं भवति। एतेषु सत्त्वरजस्तमांसि प्रकृतेर्गुणाः प्रकृतिसम्बद्धाद् जीवगुणा अपि। शब्दादयः पञ्च महाभूतगुणाः। शुद्धसत्वं त्रिपादभूत्यां तत्प्रवर्तकेश्वरे च। संयोगशक्तिगुणौ षड्द्रव्यसाधारणौ स्तः। इत्थं संक्षेपेण प्रमेयनिरूपणमत्र सिद्धान्ते विद्यते।

मध्वसिद्धान्तो हि द्वैतसिद्धान्तः। विशिष्टाद्वैतदर्शनसदृशमेवात्रापि प्रत्यक्षानुमानागमेतिप्रमाणत्रयमङ्गीकृतमस्ति। यथार्थज्ञानकरणं प्रमाणम्। तच्च त्रिविधं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात्। स्वरूपेन्द्रियं साक्षि अपि प्रत्यक्षरूपं प्रमाणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षद्वारा चक्षुरादिषडिन्द्रियाणि ज्ञानजनकानि। संस्कारद्वारा मनः स्मरणसाधनम्। यथार्थस्मृतिरपि प्रमाणम्। व्यक्तिज्ञानं समुचितदेशादौ सिद्धिश्च अनुमानसहकारि। शक्तिज्ञानम् आकाङ्क्षासत्त्योश्च ज्ञानं शाब्दज्ञानकारणम्। प्रत्यक्षादिजन्यं ज्ञानं सविकल्पकमेव। न तु निर्विकल्पकम्, प्रमाणाभावात्। अनुमानञ्च केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकि इति भेदेन त्रिविधम्। स्वार्थपरार्थभेदेनापि द्विविधम्। आगमः पौरुषेयापौरुषेयभेदाद् द्विविधः। आप्तोक्तः पौरुषेयः शब्दः प्रमाणम्। आप्तत्वं च विवक्षितार्थज्ञानवत्वे सति भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकारणापाटवादिदोषशून्यत्वे सति वेदानुसारित्वम्। अपौरुषेयस्तु अखिलो वेदः प्रमाणम्। प्रमाणानां प्रामाण्यम् उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वम्। ज्ञानकारणमात्रजन्यत्वम् उत्पत्तौ स्वतस्त्वम्। ज्ञानग्राह्यसाक्षिग्राह्यत्वनैयत्वं ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम्। अन्यथाऽनवस्थानात्।[22]

प्रमेयाश्च-

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषविशिष्टाशिंशक्तिसादृश्याभावाः दश पदार्थाः। तत्र द्रव्याणि परमात्मलक्ष्मीजीवाव्याकृताकाशप्रकृतिगुणत्रयमहत्तत्वाहङ्कारतत्त्वबुद्धि मनइन्द्रियमात्राभूतब्रह्माण्डाविद्यावर्णान्धकारवासनाकालप्रतिबिम्बभेदाद् विंशतिरेव। गुणाश्च रूपरसगन्धादिशौर्यैदार्य-सौभाग्यपर्यन्तगणिता अनेकविधाः कथिताः। कर्म च विहितनिषिद्धानिषिद्धभेदेन त्रिविधम्। विहितमपि काम्याकाम्यभेदेन द्विविधम्। तच्च ब्रह्मादिसर्वजीवानां लक्ष्मीनारायणयोस्तु लीलया मोहनाय वा।

सामान्यं नित्यमनित्यभेदेन द्विविधम्। प्रतिव्यक्त्यनुगतम्। भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषा सर्वपदार्थनिष्ठाः। समवाय एतैर्नाङ्गीक्रियते। विशेषणसम्बन्धेन विशेष्यस्य य आकारः तद् विशिष्टम्। तद्विविधम् नित्यमनित्यञ्च। नित्यं सार्वज्ञादिविशिष्टं परब्रह्मादि। द्वितीयं दण्डादिविशेषणसम्बन्धेन

परिणतं दण्ड्यादि। अंशी तु हस्तवितस्त्याद्यतिरिक्तः पटादिर्गगनादिश्चानुभवसिद्धः। शक्तिश्च अचिन्त्य शक्तिराधेयशक्तिस्सहजशक्तिः पदशक्तिश्चेति भेदेन चतुर्विधा। तत्राचिन्त्यशक्तिः श्रीमन्नारायणे सम्पूर्णा, अन्यत्र यथायोग्या सादृश्यं च अतिरिक्तपदार्थः एतेषां मते वर्त्तते। न तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यमलादिषु नाना। एकनिरूपितमपरवृत्ति। अभावश्चतुर्विधः:प्रागभावः प्रध्वंसाभावः अन्योऽन्याभावः अत्यन्ताभावश्च। इति पदार्थपरिचयः।

द्रव्यपरिचये तावदत्र परमात्मा अनन्तगुणपरिपूर्णः सृष्ट्याद्यष्टकर्त्ता सर्वज्ञः, परममुख्यया वृत्या सकलपदवाच्यः, जडजीवप्रकृतिभ्यो विलक्षणः, ज्ञानानन्दाद्यात्मकसकलकल्याणविग्रहस्वरूपः, सर्वस्वतन्त्रः एकःसन्नपि नानारूपः, स्वरूपगुणावयवक्रियादिभिरत्यन्ताभिन्नः।

भगवती लक्ष्मीश्च परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना, परमात्मवन्नित्यमुक्ता तद्भार्या नानारूपा, परमात्मवज्जडदेहरहिता परमात्मतुल्यसर्वशब्दवाच्या देशकालाभ्यामेव परमात्मना समव्याप्ता विद्यते। जीवाश्च अज्ञानादिदोषयुक्ताः संसारिणोऽसंख्याकाः गणशोऽनन्ताः सन्ति। ते च मुक्तियोग्यनित्यसंसारितमोयोग्यभेदेन त्रिविधाः सन्ति। एवमेव मध्वसिद्धान्तसारे अन्येषामपि द्रव्याणां गुणकर्मादिपदार्थानां च व्याख्यानं विद्यते। अत्रापि परमतत्त्वेन च अखिलहेयप्रत्यनीकाखिलकल्याणगुणगणविशिष्टो भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायण एव गृह्यते। तद्वत् भगवतीलक्ष्मी अपि गृह्यते। अत्र लक्ष्मीश्च प्रकृतिनिरूपणप्रसङ्गे तदभिमानिनी अव्याकृताकाशाभिमानिनी च कथितास्ति। मध्वसिद्धान्तो यद्यपि नैयायिकसिद्धान्तेन प्रभावितः उभयोः द्वैतसिद्धान्तत्वात्। तथापि मध्वसिद्धान्ते समवायपदार्थो विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तवन्नादृतः। प्रमाणत्रयमत्रापि तद्वत् स्वीकृतम्। ईश्वरस्य स्वरूपं, मुक्तेः स्वरूपं, जीवस्य स्वरूपं च तुल्यं प्रतिपादितम्। तदृष्ट्या मध्वसिद्धान्तोऽपि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुकरोति। संक्षेपेण मध्वसिद्धान्तः पद्येनानेन दर्शितः -

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो

भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।

मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-

मक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः।[23]

मध्वसिद्धान्ते लक्ष्मीः पदार्थत्वेन कीर्त्तिता। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते तु आराधनायां लक्ष्मीः स्वीक्रियते किन्तु पदार्थत्वेन तस्याश्चर्चा नैवागता। तथापि भगवान् रामानुजाचार्यः गद्यत्रये प्रथमे गद्ये भगवत्याः लक्ष्म्याः स्वरूपं प्रतिपादयति– ''भगवन्नारायणाभिमतानुरूपस्वरूपरूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याण-गुणगणां, पद्मवनालयां, भगवतीं, श्रियं, देवीं, नित्यानपायिनीं, निरवद्यां, देवदेवदिव्यमहिषीम्, अखिलजगन्मातरम् अस्मन्मातरम्, अशरणशरण्याम् अनन्यशरणः शरणमहं प्रपद्ये।''[24] अनेन लक्ष्मीप्रतिपादकवचनेन मध्वसिद्धान्तेऽपि लक्ष्मीः पदार्थत्वेन प्रतिपादिता दृश्यते।

निम्बार्कसिद्धान्ते भगवद्रामानुजसिद्धान्तानुसारमेव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म परमतत्वेनाङ्गीक्रियते। भगवन्निम्बार्काचार्यस्य सिद्धान्तः द्वैताद्वैतसिद्धान्तः। एतस्य मते जीवः अवस्थाभेदेन ब्रह्मणो भिन्नः अभिन्नश्चापि वर्त्तते। चिद् जीवः ज्ञानस्वरूपः इन्द्रियं विना विषयज्ञानकरणेऽसमर्थः ज्ञानाश्रयः ज्ञातेत्यर्थः। तत्र ज्ञानस्वरूपं ज्ञानाश्रयत्वं च यथा सूर्ये प्रकाशमयत्वं प्रकाशाश्रयत्वं तद्वद् वर्त्तते। जीवस्य स्वरूपभूतज्ञानं गुणभूतज्ञानं च यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्नमेव तथापि धर्मधर्मिभावेन भिन्नता वर्त्तते। निम्बार्कभाष्यस्य व्याख्याता आचार्यनिम्बार्कस्य प्रधानशिष्यः श्रीनिवासाचार्यो लिखति निम्बार्कसिद्धान्तविषये –

''अनाविद्धेन जीवेन दैवाज्जन्मसमये मधुसूदनावलोकितेनानुष्ठानानुष्ठितसाधनकदम्बेनोपासितगुरुचरणेन वेदान्तवेद्यब्रह्मश्रवणमननिदिध्यासनैर्लब्धतद्दर्शनेन मुमुक्षुणा मुक्तिः सम्पादनीयेति मुक्तिः कार्यकारणप्रकृतिरूपबन्धनिवृत्तिपूर्विका भगवद्भावापत्तिः, ''परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यत'' इति श्रुतेः। ''तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।'' ''अस्मिन्नस्य च तद्योगमस्ति'' इत्यादिसूत्रेभ्यश्च।

''निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा।

भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता।।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावयोपपद्यते।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता।।

इत्यादिस्मृतिभ्यः भावपदं च स्वयमेव व्याख्यातं श्रीमुखेन ''इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता इति। इत्यनया रीत्या मोक्षविषये प्रतिपादयति।''[25]

तत्रैव विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तसममेव तत्त्वत्रयं चिदचिद्ब्रह्मात्मकं विवेचयन् लिखति-

''तत्त्वं त्रिविधं चिदचिद्ब्रह्मभेदात्। सूत्रेणापि जिज्ञास्यं जिज्ञासुस्तदज्ञानमूलभूता त्रिगुणा अर्थान् माया चेति तत्त्वत्रयस्योक्तत्वात् अन्यथा जिज्ञासानुपपत्तेः -

''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।''

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

इत्यादि ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मकोऽहमर्थरूपो भगवदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकोऽणु परिमाणक: प्रतिशरीरं भिन्नो बन्धमोक्षार्हश्चित् पदार्थ:। यथाहु: -

''ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।

अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु:।।

अनादिकायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।

मुक्तं च भक्तं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम्।।[26] इति

इत्येवमत्र चित् अचित् पदार्थायो: विचार: तद्भिन्नत्वेन ताभ्यां विशिष्टत्वेन ब्रह्मण: परत्माख्यस्य विचार: कृतोऽस्ति। ब्रह्मणोऽपि विचार: पृथक्तया सम्यग् विहित:। तद्यथा- ''ब्रह्मपदार्थस्तु पूर्वं व्युत्पादित: वक्ष्यमाणजगत्कर्तृत्वादिगुणगणनिलय: परब्रह्मनारायणवासुदेवादिशब्दाभिधेय: श्रीकृष्ण:।''[27] इत्येवं सम्यक्तया भगवन्निम्बार्काचार्यसिद्धान्ता: ब्रह्मसूत्रभाष्येऽस्मिन् प्रतिपादिता:। तत्रापि पदार्थविचारे प्रमुखतया विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रभाव: स्पष्टतया प्रतीयते। पदार्थभेदविषये त्वत्र ब्रह्म, चिद्=जीव:, अचित्=जगत् इति च त्रय: पदार्था: विभक्ता:। तत्र अचित् पदार्थ: प्राकृताप्राकृत काल भेदेन त्रिविध:। एते समेऽपि पदार्था: श्रीनिवासाचार्येण स्वभाष्ये सम्यक्तया विवेचिता:। अत्रापि प्रमाण्त्रयमेव स्वीक्रियते इति बोध्यम्।[28]

बल्लभाचार्यसिद्धान्त: शुद्धाद्वैतसिद्धान्त:। एतस्य मूलं रुद्रसम्प्रदाय: तत्प्रवर्त्तकाचार्यश्च विष्णुस्वामी। अस्यैव सम्प्रदाये ज्ञानदेवनामदेवत्रिलोचनबल्लभप्रभृत्याचार्या: सन्ति। आचार्यबल्लभ: तमेव सिद्धान्तमादाय स्वीयं शुद्धाद्वैतमूलकं पुष्टिमार्गं पोषितवान्। शुद्धं=मायया अलिप्तम् अद्वैतमेक च तद् ब्रह्म शुद्धाद्वैतं कथ्यते। शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे प्रतिपादितमेतद् –

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै:।

कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्।।[29]

श्रीमद्बल्लभाचर्यमतेऽपि अणुभाष्यानुसारेण प्रत्यक्षानुमानागमेति प्रमाणत्रयमेव मन्यते। यद्यपि प्रमेयाणां पृथक्तया तथा विभाजनं न केनापि तन्मतानुयायिना आचार्येण विहितं तथापि अणुभाष्यदृष्ट्या ब्रह्म, जीव: प्रकृत्यात्मकमखिलं जगच्च प्रमेयत्वेन ग्रहीतुं शक्यन्ते।

अत्रापि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ततुल्यमेव ब्रह्मपदेन श्रीमन्नारायणाख्यं श्रीकृष्णपदवाच्यमेवाङ्गीक्रियते। तच्च ब्रह्म स्वाभाविकतयैव सर्वां सृष्टिं विदधाति। सृष्टिरपि तत्स्वरूपैव यथा अहि: तत् कुण्डलं च भिन्नं नास्ति तथैव ब्रह्म तत्सृष्टिश्च एकैव। इत्येवम् ''उभयदेशान्वहिकुण्डलवत्।। 3/2/26'' इति सूत्रं व्याचक्षण: कथयति –

''अहिकुण्डलवत् यथा सर्परज्जुरनेकाकार: कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं, भक्तेच्छया तथा स्फुरति, कल्पनाशास्त्रे हीदं बाधकम्, अनेककल्पनागौरवञ्चेति न तु केवलं श्रुत्यैकसमाधिगम्ये न वा शास्त्रवैफल्यं एवं साधनार्थत्वात्''[30] तन्मते एतच्च ब्रह्म आधिदैविकरूपेण श्रीकृष्णाख्यं परब्रह्म, आध्यात्मिकरूपेण वेदाद्याख्यमक्षरब्रह्म, आधिभौतिकरूपेण प्रकृतिमहदादिसमस्तभूतस्वाथवरजङ्गमादिसृष्टिरूपं जगत् भवति। इत्थमेतस्य रूपत्रयं भवति –

ज्ञानक्रियाशक्त्योर्विषयभूतभूतमात्रारूपजगतो भगवदभेदं प्रतिपादयन् 'स एष प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृत इति उपसंहरति ब्रह्मधर्मै:, अत:क्रियाज्ञानविषयरूपो भगवानेवेति प्रतिपाद्य न तावन्मात्रं ततोऽप्यधिक इत्येकोपासनैव विहिता तस्माज्जडजीवरूपत्वात् सर्वात्मकं ब्रह्मैवेति महावाक्यार्थ: सिद्ध:।[31]

जीवश्च भगवदंश: इत्येवमाचार्यवल्लभ: प्रतिपादयन् लिखति- ''एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते। बन्धोऽस्याविद्यमानादिविद्यया च तथेतर'' इति भगवता जीवस्यैवाविद्यावत्वप्रतिपादनात्।।''[32]

अनेन जीवस्य भगवदंशत्वं अविद्यया बन्धत्वं च ज्ञायते। विद्यया कार्यविधानेन च ज्ञायते। विद्ययैव अविद्याया: निराकरणं विधाय मोक्षाधिकारी भवति जीव:। सायुज्यविषये बल्लभाचार्यो लिखति –

''न्यायोपबृंहितसर्ववेदान्तप्रतिपादितसर्वधर्मवत्ब्रह्म तस्य श्रवणमननिदिध्यासनैरन्तरङ्गै:, शमदमादिभिश्च बहिरङ्गैरतिशुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थ।''[33]

जीवस्य मोक्षश्च पुरुषोत्तमप्रप्ति: कथिता। अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्या प्राकृतधर्मविरहितेन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते एवम्भूते जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवति। स च परमात्मा भक्त्यैव लभ्यते। भक्त्याहमेकया ग्राह्य: इत्यादि श्रुतिवाक्यै: भक्त्या त्वनन्यया शक्य: इत्यादिस्मृतिवाक्यैश्च ज्ञायते।[34]

परब्रह्मप्राप्तये तत्परिचये श्रुतिस्मृतिभि: तदधिकारेण ब्रह्मविद्यां निरूप्य तत्प्राप्तये स्वकृपालुस्वभावात् भक्तिप्रपत्ती: उक्तवान्। अनेन बुध्यते यत् मोक्षप्राप्तये भक्त्या प्रपत्त्यैव च आराधना विधेय।

मुक्तिविषये आचार्यः कथयति श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिः, ततो मुक्तिः, पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतत्वस्त्यनुग्रहसाध्यत्वात् तत्र च पापादेरप्रतिबन्धकत्वात् श्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च भवति भक्तिरित्येवं व्याख्यातवान्।[35]

पुष्टिमार्गो मुक्तये प्रमुखं साधनं मन्यते बल्लभाचार्यः। पुष्टिशब्दाभिप्रायश्चेत्थम् – ''कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते। विहिताभ्यां ज्ञानभक्तिभ्यां मुक्तिः मर्यादा च भवतः। तद्रहितानामपि स्वस्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः कथ्यते। अत्र मर्यादादिकज्ञानस्य भक्तेश्च मर्यादालभ्यमोक्षं प्रति हेतुत्वम्। पुष्टिमार्गीयभक्तेर्ज्ञानस्य च पुष्टिमार्गीयमोक्षं प्रति हेतुत्वमतो नात्र व्यभिचारप्रसक्तिः। प्रमेयरत्नार्णवे मुष्टिमार्गस्य लक्षणं विहितमस्ति –

अनुग्रहेणेव सिद्धि लौकिकी यत्र वैदिकी।

न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।[36]

पुष्टिमार्गेऽङ्गीकर्तुः न ज्ञानादेरपेक्षा भवति, मर्यादामङ्गीकृतस्य तु ज्ञानाद्यपेक्षा भवति इत्येवाणु भाष्ये प्रतिपादितम्।[37]

मर्यादाभक्त्याः पुष्टभक्त्याश्च यत् स्वरूपं तदित्थमस्ति – मर्यादाभक्त्यां भक्तो भगवतः चरणारविन्दौ भजति पुष्टिभक्त्यां च भक्तो भगवतोमुखारविन्दस्याराधनां विदधाति। मर्यादाभक्तिः सापेक्षफला अर्थात् भक्त्या फलप्राप्तिः उद्देश्यं भवति। किन्तु पुष्टिभक्त्या फलापेक्षा न भवति। मर्यादाभक्त्या परमात्मसायुज्यरूपा मुक्तिः, पुष्टिभक्त्या च जीवपरमात्मनोरभेदबोधो भवति। इत्थं प्रमाणदृष्ट्या भक्तिप्रपत्तिदृष्ट्या मुक्तिदृष्ट्या जीवब्रह्मदृष्ट्या च विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तस्य प्रभावोऽस्मिन् सिद्धान्ते ज्ञायते।

अपरं वैष्णवमतमस्ति चैतन्यमहाप्रभुमतम्। एतस्य सिद्धान्तः अनित्यभेदाभेदसिद्धान्तो भवति। अयमेवाचिन्त्यभेदाभेदसिद्धान्तोऽपि कथ्यते। यतोहि भगवतश्श्रीकृष्णस्य याः स्वरूपादिशक्तयः सन्ति। ताः तस्मिन् अभिन्नरूपेण चिन्तयितुमशक्यत्वादत् भिन्नरूपेण प्रतीयन्ते। एवमेव भिन्नरूपेण तासां चिन्तनमप्यशक्यम्, अभिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वात्। इत्थं शक्तिमान् श्रीकृष्णः तस्याः शक्तयश्च भेदाभेदरूपेण प्रतीयन्ते। उभयोरेव अचिन्त्यशक्तिकारणात् अचिन्त्यत्वम्। एवमेव अचिन्त्यशक्तिकारणात् प्रपञ्चोऽयं भगवता श्रीकृष्णेन सह न तु भिन्नतया न चाभिन्नतया प्रतीयते। अनयैव दृष्ट्या सिद्धान्तोऽयम् अचिन्त्यभेदाभेदसिद्धान्तः प्रसिद्धो वर्त्तते दर्शनजगति। कथयति च तथा जीवगोस्वामी भगवत् सन्दर्भस्य सर्वसंवादवादिन्याम् –

''स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तमितुमशक्यत्वाद् भेदः भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदावङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ, स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्''।[38] एवमेव सिद्धान्तरत्नेऽपि प्रतिपादितवान् आचार्यबलदेवविद्याभूषणः -

''तस्मात् तयोर्भेदाभेदौ स्याताम्। न च विरोधः, एकरूपेण विरोधेऽपि भिन्नरूपेणाविरोधात्। मृत्तिकात्वादिना अभेदः घटत्वकपालत्वादिना तु भेद इति। देहदेहिनोर्गुणगुणिनोश्च ब्रह्मत्वेन अभेदः गौणत्वेन, मुख्यत्वेन च भेदः। एवं जीवेशयोश्च।''[39]

चैतन्यवैष्णवसिद्धान्ते प्रमाणप्रमेययोः सम्यग्व्याख्यानं विहितमस्ति। बलदेवविद्याभूषणः कथयति ''प्रमाणैः विना प्रमेयसिद्धिर्न इत्यतस्तानि तावन्निरूप्यन्ते''[40] इति स चाग्रे विविधमतानि प्रमाणविषये प्रतिपादयन् स्वसिद्धान्ते कथयति –

तदेव प्रत्यक्षानुमानशब्दः प्रमाणानि इति वृद्धाः, उपमानादीनामेष्वन्तर्भावात् पृथक् प्रमाणता नेत्याहुः।

प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सितेति।।[41]

अनेनैतान्यैव त्रीणि प्रमाणानि स्वीकृत्य व्याख्यातानि। एतस्मिन् सिद्धान्ते ईश्वरजीवप्रकृतिकालकर्मभेदात् प्रमेयाणि पञ्च सन्ति। तत्र विभुः, विज्ञानानन्दः सर्वज्ञादि गुणविशिष्टः पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णाख्यः ईश्वरः। तत्र प्रमाणं च विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यः सर्वत्र स सर्ववित्, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः स उत्तमपुरुषः इत्यादि श्रुतयः सन्ति। ईश्वरश्चायं सर्वेषां स्वामी जनिविनाशशून्यः तस्य भक्तानां कृते अविर्भावो भवति। अत एवोक्तं गीतायाम् –

''अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।''[42]

जीवश्चच ''एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणाः पञ्चधा संविवेश'' इति श्रुतिप्रमाणात् -

''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते।''

इति पुराणवचनात् –

''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तं पीठस्थं ये तु यजन्ति विप्रास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्''

इत्युपनिषद्वचनाच्च अणुः चैतन्यः बहुसंख्याकः ज्ञानगुणो विद्यते।[43]

अयं जीवः श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगात् परमात्मानं प्राप्नोति। सा च भक्तिः ''तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण'' इति वचनात्

शास्त्रज्ञानपूर्विकैवानुष्ठेया। मुक्ता अपि जीवा हरिमुपासन्ते'' इति तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः इति श्रुतेर्वचनाज्ज्ञायते।

प्रकृतिश्चात्र सत्त्वरजस्तमश्चेतिगुणत्रयाश्रया नित्या जनयित्री अनाद्यन्तवती भूतभाविनी इति विचारिता। प्रकृतिलक्षणमाचार्यबलदेवविद्याभूषण लिखति-

''सत्वादिगुणत्रयाश्रयो द्रव्यं प्रकृतिर्नित्या च सा।

गोरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभविनी।।

सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुधा विभोरित्यादि श्रुतेश्च।

त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्।

अचेतना पदार्था च नित्या सततविक्रिया।

त्रिगुणं कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृतेः रूपमुच्यते।।

इत्यादिवचनैः सः प्रकृतिस्वरूपं बोधयति। प्रकृतेरेवेयं सम्पूर्णा सृष्टिरवलोक्यते।[44]

त्रैगुण्यशून्यो जडो द्रव्यविशेषः कालः। स च भूतभविष्यद्वर्तमानयुगपच्चिरक्षि-प्रादिव्यवहारस्य सृष्टिप्रलययोश्च कारणं क्षणादिपरार्द्धान्तः चक्रवत्परिवर्तमानः कथ्यते। प्रमाणत्वेन श्रुतिरियं वर्तते- **''ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविधः योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धोः। चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वं निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयान्'' तंत्वीशानं क्षेमधावत् प्रपद्ये इति**[45] इत्येवं कालस्य विवेचनं ग्रन्थेषु कृतमस्ति।।

कर्म च कृतिसाध्यं क्रियारूपमस्ति। तच्च शुभाशुभभेदेन द्विविधम्। शुभं कर्म च काम्यनित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तभेदेन चतुर्विधम् स्वर्गादीनां साधनं ज्योतिष्टोमादिकर्म काम्यं वर्त्तते। अकृते प्रत्यवायजनकं सन्ध्योपासनोऽग्निहोत्रादिकर्म नित्यम्, पुत्रजन्माद्यनुबन्धि जातेष्ट्यादिकर्म नैमित्तिकं कर्म, दुरितक्षयकरं चान्द्रायणादिव्रतं प्रायश्चितमिति कर्म भवति। अशुभं च वेदेन निषिद्धं नरकाद्यनिष्टसाधकं चौरहिंसाऽसत्यभाषणब्राह्मणहननादिकर्म कथ्यते।

मुमुक्षूणां कृते निषिद्धमिव काम्यकर्म अपि निषिद्धं भवति। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तकर्माणि तु चित्तशुद्धिकरत्वात् सदा अनुष्ठेयानि भवन्ति। ब्रह्मज्ञानोदयात् पूर्वं सञ्चितं यत् शुभाशुभं कर्म तत् नश्यति स्वयमेव। ततः परं क्रियमाणं यत् कर्म तेन विद्वान् न विलिप्यते। यथा पद्मपत्रं जले न श्लिश्यते तथैव ब्रह्मवित् पापे कर्मणि न लिप्यते।

सर्वकर्मबन्धविनिर्मुक्तो जीवः हरिपदं प्राप्य अक्षयसुखभाग् भवति, तत्रैव निवसति, ततः पुनर्न निवर्त्तते। ''अश्नुते सर्वान् कामान् न च पुररवर्त्तते'' इति श्रुतेः, ''यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'' इति स्मृतेश्च प्रमाणत्वेन सत्त्वात् तथा ज्ञायते।

एतस्मिन् मतेऽपि मोक्षसाधकं भक्तिरेव। भगवतः श्रीमन्नारायाणस्य श्रीकृष्णाख्यपरब्रह्मणः नित्यसन्निधिप्राप्तिरेव मोक्षः। जीवः ईश्वरो जगच्च सर्वमपि सत्यम् इति बोधितमस्ति। संसारः जीवश्च एते सर्वे भगवतः शरीरत्वेनात्रापि अभिमताः सन्ति।[46] प्रतिपादितं च तथा सुबालोपनिषदि –

''अन्तः शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्य एतीत्यादौ यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं, यस्य वायुः शरीरं, यस्याकाशः शरीरं, यस्य मनः शरीरं, यस्य बुद्धिः शरीरं, यस्याहंकारः शरीरं, यस्य चिन्तं शरीरं, यस्याव्यक्तं शरीरं, यस्याक्षरं शरीरं, यस्य मृत्युः शरीरम्। स एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ''इत्यभिधानादैक्यश्रुतीनां शरीरशरीरिभावेनाभेदो विद्यते।[47]

इत्येवं प्रकारेणात्रापि विशिष्टाद्वैतमतस्य सम्यक् प्रभावोऽङ्गीकृतो विद्यते। यद्यपि समेष्वपि वैष्णवसिद्धान्तेषु किञ्चिद् भेदो विद्यते तथापि सर्वेषां सिद्धान्तेषु ब्रह्मपदेन श्रीमन्नारायणस्य ग्रहणं, मोक्षसाधनत्वेन भक्तिप्रपत्योश्च ग्रहणं वर्त्तते। जीवस्याणुत्वं बहुत्वं चेतनत्वादिधर्माः सर्वैरङ्गीकृताः। जगद् जीवः ब्रह्म समेऽपि नित्यपदार्थाः। अतः तत्त्वतः समेषां तुल्यता वर्त्तते। आद्यत्वात् सर्वत्र विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तस्य च प्रभावो वर्त्तते इति दिक्।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. सांख्याकारिका-4.
2. न्यायसूत्रम 1/1/81.
3. वेदान्तसारः- अनुबन्धचतुष्टानिरूपणे प्रारम्भे।
4. भारतीयदर्शन- बलदेव उपाध्याय पृ०336.
5. भारतीयदर्शन- बलदेव उपाध्याय पृ०385.
6. आलवन्दारस्तोत्रम् यामुनाचार्यविरचितम्।
7. भारतीयदर्शन- बलदे उपाध्याय- पृ०385-391.
8. सिद्रित्रयत्मसिद्धिः पृ०6 निर्णयसागर प्रकाशन 1954.
9. श्रीभाषां, महासिद्धान्तविवेचने पृ० 732 श्रुतिप्रकाशिका सहितम् श्रीविसिष्टद्वैतप्रचारिणीसभा प्रकाशनम् 1989
10. यतीन्द्रमतदीपिका चौखम्बा वाराणसी प्रका०, पृ० 151 सन् 2009
11. तत्रैव।
12. यतीन्द्रमतदीपिका- पृ० 19-33.
13. तत्रैव द्वितीयावतारे।
14. तत्रैवतृतीयावतारे।
15. यतीन्द्रमतदीपिका- सप्तमावतारे।
16. वेदान्तकारिकावती 7/16, 17.

17. तत्रैव आरण्यावतारे।
18. श्रीभाष्यम् स्मृतिपुरायघट्टः श्रुतिप्रकाशिकासहिते, पृ० 220, 229.
19. यतीन्द्रमतदीपिका- अष्टमावतारे।
20. यतीन्द्रमतदीपिका- नवमावतारे।
21. श्रीभाष्यम् स्मृतिपुराणघट्टः श्रुतिपकाशिकासहितं पृ०9 220-229.
22. मध्वसिद्धान्तसारः मूलम्, पृ०19-23.
23. (क) भारतीयदर्शन- बलदेव उपाध्याय, पृ० 401-407.
    (ख) मध्वसिद्धान्तरसारः, विष्णुतत्त्वनिर्णयः
24. गद्यत्रये शरणागतिगद्ये प्रथम गद्यम् ।
25. निम्बार्कभाष्ये, पृ०10.
26. निम्बार्क भाष्य, पृ०11।
27. तत्रैव, पृ०17-18 ।
28. तत्रैव पृ०19, भारतीयदर्शन- बलदेव उपाध्याय, पृ०408-412
29. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड पृ०28.
30. अणुभाष्यम् 3/2/26.
31. अणुभाष्य- 9/9/3 पृ० 29.
32. अणुभाष्य- 9/9/3 पृ० 29.
33. अणुभाष्य- 9/9/3 पृ० 49.
34. अणुभाष्य- 9/9/3 पृ० 49.
35. अणुभाष्य- 9/9/29 पृ० 301.
36. प्रमेयरत्नाग्रवम् 1/1/3 पृ०29.
37. अणुभाष्यम् 1/1/3, पृ० 29.
38. भगवत्सन्दर्भे सर्ववादिनीटीकायाम् ।
39. सिद्धान्तरत्नम्- 316, 317.
40. सिद्धान्तरत्नम्।
41. वेदान्तस्यामन्तकः पृ0 1.
42. गीता- 4/6.
43. वेदान्तस्यामन्तक पृ0 29-22.
44. सिद्धान्तरत्नम्, पृ0 316, 317.
45. वेदान्तस्यामन्तकः पृ0 36.
46. सिद्धान्तरत्नम् पृ0 314-315.
47. सुबालोपनिषदि सप्तमखण्डे।

●

सांख्यदर्शने प्रकृतितत्त्वम्

डॉ0 सिद्धिदात्री भारद्वाज[*]

साख्यदर्शनं भारतीयेषु आस्तिकदर्शनेषु प्रधानं नितराम् उपयोगि च विद्यते। अन्वर्था चेयं सांख्यसंज्ञा भाति। विश्रूयते पद्यमेतत्—

''संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।

चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः।।

संख्या नाम सम्यक् विवेकेन तत्त्वकथनम्। तत्त्वकथनं प्राधान्येन उद्दिश्य पुरुषं सकार्यां प्रकृतिं च विविच्य सांख्यदर्शने सम्यक्तया प्रतिपाद्यते। अतएव भगवता वासुदेवेन स्वमुखेन सांख्यशास्त्रं प्रशंस्यते। तद्यथा— ''एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'' इति[1] अत्र सांख्यशब्देन योगरूढतया सांख्यशास्त्रमेव गृह्यते। तेनैव तत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसप्रयोजकत्वप्रत्यावेदनात्। सांख्यदर्शनसम्मतं निःश्रेयसस्वरूपं नाम त्रिविधस्य दुःखस्य अत्यन्ताभावः। सोऽयम् अत्यन्ताभावः निवृत्तिस्वरूपः। एतल्लक्षणलक्षितं परमपुरुषार्थं प्रति सत्त्वपुरुषयोः भेदज्ञानद्वारा तत्त्वज्ञानमेव प्रयोजकं ब्रुवते सांख्याः। **अयमाशयः** तत्त्वज्ञानं परमपुरुषार्थं निःश्रेयसं प्रति कारणं भवति। तत्र व्यापारः सत्त्वपुरुषयोः भेदज्ञानं भवति। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् इत्येवंलक्षणं व्यापारलक्षणं सत्त्वपुरुषयोः भेदज्ञाने सुतरां संघटते। सत्त्वपुरुषयोः भेदज्ञानं तत्त्वज्ञानेन जन्यते। अथ च तत्त्वज्ञानजन्यं (प्रयोज्यं) यत् निःश्रेयसं तत् प्रति सत्त्वपुरुषयोः यद् भेदज्ञानं तज्जनकं भवति अतः तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपं व्यापारलक्षणं सत्त्वपुरुषयोः भेदज्ञाने सुतरां संघटते। एवञ्च निष्कर्षः एष सम्प्राप्तो भवति—

''तत्त्वज्ञानाव्यवहितोत्तरम् उद्भाव्यमानम् अपवर्गं प्रति तत्त्वज्ञानं कारणं भवति। आत्मनि अपवर्गः स्वप्रतियोगिचरमदुःखभोगानुकूलव्यापाराश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन तिष्ठति। तदव्यवहितपूर्वक्षणे स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन तत्त्वज्ञानं तिष्ठतीति तत्त्वज्ञानापवर्गयोः कार्यकारणभावः सुतरां संगच्छते।

व्यवहारावेदकत्वे सति पारमार्थिकावेदकत्वं सांख्यदर्शने नितरां संघटते। अतएव न्यायवैशेषिकाभ्यां योगदर्शनेन च समं जातायां तुलनायां सांख्यदर्शनस्यैव परमोपादेयतया प्रतिष्ठापनं परीक्षकैः विधीयते। अतएव स्मर्यते—

''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढत्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।।इति।[2]

निर्वाणमय एवायमात्माज्ञानमयो मलः।

दुःखाज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः।।[3]इति

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।

अत्र वः संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्।।[4]इतिच

यद्यपि ईश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यकारिकायां क्वापि सच्चिदानन्दविग्रहं परब्रह्म प्रस्फुटिततया न निरूप्यते। अथाऽपि अवैदिकत्वं सांख्यकारिकाग्रन्थस्य न शक्यते आपादयितुम्। तथाहि अवैदिकत्वे को हेतुः भवितुमर्हति? न तावत् वैदिकसिद्धान्तार्थाप्रतिपादकत्वम् अवैदिकत्वे हेतुः भवितुमर्हति। तथात्वे बौद्धशास्त्रस्य आर्हतशास्त्रस्य चार्वाकशास्त्रस्य च यत्किञ्चिद् वैदिकसिद्धान्तभूतस्य पुण्यस्य अहिंसनस्य सत्यवदनस्य सुनियन्त्रितव्यहारस्य सत्स्वास्थ्यस्य वा वैदिकसिद्धान्तार्थस्य प्रतिपादनं सुलभमेवेति बौद्धादिशास्त्रस्यापि वैदिकत्वम् आपद्येत। तद्वद् वेदान्तदर्शने यावतां वैदिकसिद्धान्तभूतानाम् समेषाम् अर्थानां प्रतिपादनं नोपलभ्यते, प्रत्युत कतिपयानामेव वैदिकसिद्धान्तभूतानाम् अर्थानां प्रतिपादनम् उपलभ्यते इति तुल्यन्यायेन बौद्धशास्त्रं यदि अवैदिकं स्यात् तर्हि वेदान्तशास्त्रमपि अवैदिकमेव आख्यायेत। तदेवं यावद् वैदिकसिद्धान्तार्थाप्रतिपादकत्वम् अवैदिकत्वम् इति वचोपि नाऽस्थेयम्। अतः वेदाभिमतार्थविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वमेव अवैदिकत्वे तन्त्रम्। एतच्च बौद्धग्रन्थे आर्हतग्रन्थे चार्वाकग्रन्थे अवैदिकत्वं साधयति, न तु वेदान्तग्रन्थे, न्यायवैशेषिकग्रन्थे मीमांसाग्रन्थे सांख्ययोगग्रन्थे वा।

अवैदिकत्वसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तृपुरुषप्रणीतत्वम् इति। तदनुसारम् आस्तिकदर्शनग्रन्थानां वैदिकत्वम् अथ च नास्तिकदर्शनग्रन्थानाम् अवैदिकत्वं सुस्पष्टं विवेचितम् आभाति।

सांख्यकारिकाग्रन्थस्य रचयिता तत्रभवान् ईश्वरकृष्णः महर्षिपरम्परायाम् अनुपालितो बभूव। आसीद् भगवान् महामुनिः कपिलाचार्यः शास्त्रेषु देवर्षिगणैः अपि वर्णितमहिमा महान् कृपालुः स मायाप्रपञ्चस्य महान्तम् आयामं विजानाति स्म। विश्रूयते च अस्य मायाप्रपञ्चस्य प्रधानस्य त्रिभिः गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः सततप्रतायमानताम्। एभिः लोहितशुक्लकृष्णैः गुणैः दाह्यताम् उपगताः किल भवन्ति काले काले प्राणिनः। यथा यथा चैते प्राणिनः विभिन्नविषयाणाम् आशासमूहानाम् यत् परिपक्वं तैलं मोहमये कटाहे

---

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पुनः पुनः अतिशयेन च परितप्तम् अविज्ञायैव भृज्ज्यमानाः भवन्ति भवपाशैः अंकुशिताश्च भवन्ति तदा दुःखाद् दुःखं पतन्तः क्वाऽपि विश्रामम् अलभमानाः प्रतिकूलवेदनीयैः दुःखैः मुहुर्मुहुः ताड्यमानाः जिहासितानामपि तेषां दुःखानां हानोपायम् अविदन्तः मनस्येव दुःखहानोपायजिज्ञासां धारयन्तः गतिविश्रामम् अलभमानाः इतस्ततोऽनुधावन्ति। तान् उद्धर्तुकामः भगवान् कपिलः महामुनिः अवततार अथ च सांख्यसूत्राणि व्यरचयत्। महता कृपयाविष्टोऽसौ तत्त्वज्ञानाधिकारिणे सत्पात्राय श्रीमते आसुरिमुनये पञ्चविंशतितत्त्वानां विवेकज्ञानं सत्वपुरुषान्यताज्ञानप्रयोजनकं प्रदाय अवतारकृत्यं पूरयामास। कपिलशिष्यः तत्रभवान् आसुरिः गुरोः परम्पराम् अवाप्य ऋषये पञ्चशिखाय समर्प्य कृतार्थतां लेभे। अथ ऋषिः पञ्चशिखः उदारः सात्त्विक-आचार्यः ईश्वरकृष्णाय तां परम्परां प्रददौ। विशुद्धश्रुतिपद्धत्या प्रविविक्तं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं तन्मयं सम्प्रदायं च स्वगुरोः समवाप्य करुणया सांख्यशास्त्ररूपेण त्रिविधदुःखनिवर्तकं तत्त्वज्ञानम् अवतारयितुं जिज्ञासुभ्यः समर्पयिष्यन् सांख्यकारिकां ग्रन्थरत्नं रचयामास। एते आचार्याः तत्रभवद्भिः श्रीवाचस्पतिमिश्रैः सांख्यकारिकायाः तत्त्वकौमुदीं व्याख्यां कुर्वाणैः आदौ मंगलरूपेण प्रणम्यन्ते—

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।

पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः।।इति।

भागवतकाराः आसुरेः कपिलशिष्यत्वं मुखतः वर्णयन्ति। तद्यथा—

''पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।

प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्।।[5]**इति**।

कपिलस्य प्रशिष्यः आसुरेस्तु शिष्यः पञ्चशिखः अपि आचारवान् अधिकारी विद्वान् सांख्यशास्त्रं जिज्ञासूनां मध्ये सम्प्रचारितवान्। यथोक्तम्—

''आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।

पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः।।[6]**''**इत्यादि।

अथ श्रुतिषु परमेश्वरस्य स्वरूपं शक्तिश्च श्रूयते—

''तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।[7]''इति।

''तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति[8]

''तज्जलान्'' इति[9]

''अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः''[9]

''अक्षरात् परतः परः' इति [10]

''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' इति च[11]

श्रुत्यर्थम् एनं स्मृतिरपि अनुगच्छति। तद्यथा—

''यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।''इति[12]

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्।।इति[13]

योगक्षेमं वहाम्यहम्।इति च[14]

सांख्यकारिकायां श्रुतिस्मृतिषु प्रोक्ताः परमेश्वरस्य शक्तिविभूतिस्वरूपादयः न प्रतिपाद्यन्ते। तथापि सर्वथा सांख्यशास्त्रं परमेश्वरस्य निरूपणं नैव कुरुते इत्येवं वक्तुं न शक्यते। कुत इति चेत् उच्यते। स्वयं कपिलो महामुनिः सांख्यदर्शनस्य प्रवर्तकः आचार्यः पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां सांख्यदर्शने परमेश्वरसिद्धिं दार्ढ्येन प्रतिपादयति। तद्यथा— प्रत्यक्षज्ञानलक्षणस्य प्रतिपादनाय सूत्रम् उपात्तम्— 'यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् इति।' अनेन सूत्रेण प्रतिपादितं प्रत्यक्षज्ञानलक्षणम् ईश्वरप्रत्यक्षे अव्याप्तं भवति।अमुम् आशङ्कां कश्चिन्नास्तिकः कथं कुर्यात्?

वैदिकाः सांख्यदार्शनिकाः परिणामवादम् आतिष्ठन्ते। को नाम परिणामः इति जिज्ञासायामुच्यते— सतः द्रव्यस्य अवस्थान्तरापत्तिः परिणामः' इति। आप्रकृतेः आ च पृथिव्याः प्रत्येकं तत्त्वं तत्तत्कार्यरूपतया परिणमते। सांख्यसम्मतस्य परिणामवादस्य विवर्तवादेन सह विरोधः शाश्वतिकः आस्ते। विशिष्य अद्वैतवेदान्तिभिः विवर्तवादः आस्थीयते। तन्मते एकं निर्गुणं ब्रह्मैव परमार्थसद् वस्तु विद्यते। एतस्मिन् अधिष्ठानभूते सद्ब्रह्मणि सर्वमेतज्जगत् असदेव सद्वद् भासते। तदेवम् उभयोः एनयोः परिणामविवर्तवादयोः विरोधः स्वरूपतः एव सुस्पष्टं प्रतिभाति। परिणामवादिभिः यानि पञ्चविंशतिः तत्त्वानि स्वीक्रियन्ते तेषां सम्यक् अवबोधाय चतुर्धा विभाजनम् आद्रियते—

1. केवलप्रकृतिः
2. प्रकृतिविकृत्युभयरूपम्
3. केवलविकृतिः
4. अप्रकृतिविकृतिरूपश्चेति

प्रधानं नाम तत्त्वं केवलप्रकृतिः इत्यभिधीयते। अस्यैव अपरं नामधेयं मूलप्रकृतिरिति। यद्यपि प्रधानस्य इव महतः अहंकारस्य पञ्चतन्मात्राणां च प्रकृतित्वं विद्यते किन्तु महदादिषु सप्तसु तत्त्वेषु केवलप्रकृतित्वं न विद्यते अतः केवलप्रकृतिसंज्ञके विभागे एकमेव तत्त्वं समाविशति न त्वन्यत्। तदेतत् प्रधानं त्रिगुणात्मकं भवति। के ते त्रयो गुणाः इति जिज्ञासायामुच्यते सत्त्वं रजः तमश्चेति त्रयो गुणाः

भवन्ति। एषां त्रयाणामपि गुणानां प्रधाने साम्यावस्थापन्नता भवति। यदि गुणानामेषां साम्यं प्रधाने न अस्थास्यत् तदा इदं सत्त्वं, इदं रजः इत्येवं व्यवहारयोग्यता समापतिष्यत्, किञ्च साम्यं विना तत्त्वत्रयस्य व्यपदेशः औचितीं भजेत। तदेवं प्रधानं त्रिगुणम् एकमेव तत्त्वं व्यपदिश्यते। गुणपदवाच्याः सन्तोऽपि अमी सत्त्वादयः द्रव्यरूपाणि एव सन्ति। तत एव तु महदादिद्रव्योपादानकारणत्वम् एषाम् उपपद्यते। द्रव्यस्य यत् लक्षणं संयोगाश्रयत्वं विभागाश्रयत्वं वा तदपि सत्त्वादिषु सम्यक् संघटितं भवति। अत्रेयं जिज्ञासा जागर्ति यदि सत्त्वादयः द्रव्याणि सन्ति तर्हि एतेषां गुणपदेन व्यपदेशः कथम् आद्रियते। अत्र इदं प्रतिसमाधानं भवति- पुरुषभोगसाधनतया पुरुषः सत्त्वाद्यपेक्षया प्रमुखः भवति, पुरुषापेक्षया तु भोगसाधनं सत्त्वादि गौणं भवति, गौणत्वादेव गुणपदेन सत्त्वादीनां व्यवहारः प्रसृतो भवति। एतावता एतत् सुप्रतीतं भवति यत् यथा पृथ्वीद्रव्यं, सा च न गन्धस्वरूपा किन्तु गन्धव्यतिरिक्तैव सा भवति गन्धस्तु पृथिव्यां समवायेन विलसति तदेवं पृथ्वी द्रव्यं, गन्धः गुणः इत्युक्तं भवति। प्रधानेन साकं सत्त्वादीनां या स्थितिः सा तु तादृशी न भवति। अतः नैतत् वक्तुं शक्यते प्रधानं सत्त्वादित्रयव्यतिरिक्तं द्रव्यम् अथ च तदीयाः सत्त्वादयः गुणाः इति।

अस्यां स्थितौ सत्त्वादीनां त्रयाणां भोगसाधनतया गुणपदव्यपदेश्यानामपि वास्तवं द्रव्यत्वमेव। एषां त्रयाणां द्रव्यानां साम्येन या स्थितिः सैव प्रधानं तच्च तत्त्वम्। तदेतत् पञ्चविंशतितत्त्वेषु अन्यतमं भवति। तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रधाने सुष्ठु संघटितं भवति। प्रधानात् महतः तत्त्वस्य जायमानत्वात्। कामं महदादिसप्तानामपि तत्त्वानां तत्त्वान्तरारम्भकत्वं निर्बाधम् अथापि सत्त्वादीनां साम्यम् इत्येतत् स्वरूपं तु प्रधाने एवं अनुगतं भाति न तु महदादिषु तत्त्वेषु। प्रकृष्टा कृतिः अस्याः इति व्युत्पत्त्या महत्सदृशस्य तत्त्वस्य आरम्भकता केवलं प्रधाने एव लसतीति नैतल्लक्षणम् अतिव्याप्तं शक्यते आपादयितुम्। अतः सत्त्वादीनां द्रव्यत्वेन विलसितानां त्रयाणां न प्रधानधर्मत्वम् किन्तु प्रधानस्वरूपत्वमेव इति सांख्यदर्शनराद्धान्तः समुज्जृम्भते। यथा च समष्टिप्राधान्येन वनमिति व्यपदेशः व्यष्टिप्राधान्येन वृक्षाः इति तथैव समष्टिप्राधान्येन प्रधानमिति प्रकृतिरिति वा व्यपदिश्यते व्यष्टिप्राधान्येन तु सत्त्वं रजः तमः इत्येतत् त्रितयमिति व्यपदेशमात्रम्।

योऽयं व्यवहारः इमे गुणाः प्रकृतेरिति स तु वनस्य इमे वृक्षाः इति व्यपदेशेन साम्यम् आवहति। अतएव सुस्पष्टम् उद्घुष्यते सूत्रेण सत्त्वादयः प्रकृतेः गुणाः न सन्ति प्रत्युत प्रकृतिस्वरूपाः सन्तीति। तद्यथा—

''सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वादिति।''[18]

अत्रेयं जिज्ञासा जागर्ति यदि सत्त्वादयः त्रयः द्रव्याणि साम्यं भजमानाः प्रधानस्वरूपाः सन्ति तदा तेषां सत्त्वादीनां प्रकृतिसम्भवत्वं यदुच्यते तन्नोपपद्येत। गीतञ्च भगवता वासुदेवेन ''सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः'' इति।[19]

तत्र तावत् **एतत्प्रतिसमाधानं जागर्ति**— उपर्युक्तगीतावचने गुणपदं प्रकृतिस्वरूपभूतान् गुणान् नाभिधत्ते अपितु प्रकृतिकार्यभूतान् वैषम्यावस्थापन्नान् सत्त्वादीन् गुणानेव समभिधत्ते। वैषम्यावस्थापन्नाः किल सत्त्वादयः गुणाः महत् - तत्त्वादीनाम् उत्पत्तौ कारणताम् अङ्गीकुर्वते। न हि अभिलाषवतापि केनचन विदुषा गुणपदेन अत्र प्रकृतिस्वरूपभूतानां सत्त्वादीनां ग्रहणं शक्यते उपपादयितुम्। यतो हि प्रधान-स्वरूपभूतानां त्रयाणामपि सत्त्वादीनां नित्यत्वम् अभ्युपेयते। न च नित्यस्य उत्पत्तिः शक्यते सम्भावयितुमपि। तदेवं स्वरूपभूतसत्त्वादीनां नित्यानाम् उत्पत्तेरभावात् प्रकृतिसम्भवाः इति पदेन सङ्गतिः सुदुर्लभा इति।

अत्र इयमपरा जिज्ञासा जागर्ति किमेतत् वैषम्यं नाम सत्त्वादीनाम् यत् महदादितत्त्वान्तरसमुत्पत्तौ कारणतां भजते। तत्रोच्यते ''परिणामविशेषः वैषम्यम्'' अर्थात् सत्त्वरजस्तमसां प्रत्येकम् अनेकव्यक्तीनां यन्मिथः सजातीयं संवलनं भवति तेन लघुत्वयुतप्रकाशादिफलोपहितः परिणामविशेषः समुदेति येन इदं सत्त्वं इदं रजः एतत् तमः इत्येवं व्यवहारयोग्यता समुदिता भवति। एवञ्च वैषमीम् अवस्थाम् आगतं यदेतत् गुणत्रयं तत् प्रधानापेक्षया पृथगेव तत्त्वत्रयम् आस्थेयम्। अमुमेव आशयं वितन्वानाः केचन सांख्यशास्त्रमर्मज्ञाः अष्टाविंशतितत्त्वपक्षम् उन्मीलयन्ति।

त्रिषु वैषम्यं प्राप्तेषु एषु सत्त्वम् एव इष्यते— लघु प्रकाशकञ्च। तद्वत् रजः एव इष्यते - उपष्टम्भकं चलञ्चेति। अथ च तमः एव इष्यते—गुरु आवरणं चेति।

अत्रेदम् अवधार्यम् यस्मात् गुणत्रयेषु अन्यतमस्य वैषम्यं गतस्य सत्त्वस्य लघुत्वं तत एव तत्कार्येषु इन्द्रियेषु तत्त्वेषु विषयग्रहणौन्मुख्यं नाम पाटवं परिलक्ष्यते।

लघुत्वादेव सत्त्वस्य प्रकाशकत्वमिष्यते। यतश्च कारणगुणाः कार्ये संक्रमन्ते अतः सत्त्वगुणकार्येषु इन्द्रियेषु विषयप्रकाशत्वं संघटते। यदिदं रजः तत् स्वभावात् चलम् अर्थात् सक्रियं भवति। तदेतद् रजः, सत्त्वं तमश्च उपष्टम्भयति। **अयमाशयः** यदिदं सत्त्वं यद् वा तमः तयोः अक्रियत्वं भवति। न हि तत्र काचन स्वाभाविकी प्रवृत्तिरिष्यते। अतः कार्योत्पादे सत्त्वं तमश्च उपष्टम्भयद् रजः प्रवर्तकमिष्यते। चलत्वादेव रजसः उपष्टम्भकत्वं संगच्छते।

यदेतद् गुणत्रयमध्ये तमो विद्यते तस्य गुरुत्वमिष्यते। तच्च गुरुत्वं स्थितिहेतुभूतः धर्मः प्रोच्यते। सोऽयं धर्मः लघुत्वं विरुणद्धि। तमःप्रकर्षेण सत्त्वस्वभावा इव रजःस्वभावाः अपि प्रतिबध्यन्ते। सोऽयं प्रतिबन्धः आवरणमित्युच्यते। आवरणहेतुभूतत्वात् गुरुत्वमूलकम् आवरकत्वं तमसि इष्यते। यदुक्तम्—

''सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।

गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृतिः॥''[20]

मिश्रचरणाः कारिकास्थम् एवपदं भिन्नक्रमेण योजयन्तः तदावृत्तिमपि प्रतिपादयन्ति। तदेवं कारिकया साधु अयमर्थः लभ्यते—

1. सत्त्वम् एव लघु प्रकाशकं चेष्टम्।
2. रजः एव उपष्टम्भकं चलञ्च इष्टम्।
3. तमः एव गुरु आवरकं चेष्टम् इति।

इदमत्र ध्येयम् — प्रकृतेः स्वरूपतया सम्मतं सत्त्वं रजः तमो वा प्रत्येकम् अनेकविधं भवति। सत्त्वव्यक्तीनां नानात्वम् इष्यते। काश्चिद् सत्त्वव्यक्तयः अणुपरिमाणाश्चेत् काश्चित् पुनः विभुपरिमाणाः भवन्ति। मध्यमपरिमाणास्तु नेष्यन्ते। तथात्वे सत्त्वस्यापि घटपटादिवत् अनित्यत्वं वज्रलेपायितम् आपद्येत। सत्त्ववद् रजोव्यक्तिः तमोव्यक्तिश्च नानाविधा इष्यते। कारणभूतानां सत्त्वव्यक्तीनां रजोव्यक्तीनां तमोव्यक्तीनाञ्च अणुपरिमाणता विभुपरिमाणता वा आद्रियते न तु मध्यमपरिमाणता। कार्यभूतं सत्त्वं रजः तमो वा मध्यमपरिमाणमपि भवत्येव। तस्य अनित्यत्वं घटपटादिवत् सर्वथा अभीष्टमेव। सत्त्वत्वादयः उपाधयः गुणविभाजकत्वेन सम्मताः यतः त्रयः सन्ति अतः तदभिप्रायेण गुणत्रयोक्तिः उपपत्तिमञ्चति। तदेतत् प्रधानाख्यं तत्त्वं प्रत्यक्षं भवितुं नार्हति, प्रत्यक्षप्रमाणाविषयत्वात्। कार्येण कारणस्य अप्रत्यक्षस्यापि अनुमानप्रमाणेन सिद्धिः निर्बाधा भवति। तद्यथा— महदादि कार्यं सुखदुःखमोहात्मकद्रव्यकार्यं कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात् वस्त्रादिकार्यभूतशय्यासनादिवत्। अनेन अनुमानेन प्रमाणेन सिद्ध्यतः प्रधानस्य एकं नामधेयं विद्यते आनुमानिकमिति। ब्रह्मसूत्रभाष्यादौ आनुमानिकनाम्ना एव प्रधानाख्यस्य मूलप्रकृतितत्त्वस्य चर्चा प्राप्यते।

प्रधानसंज्ञकं मूलप्रकृतितत्त्वं महत्तत्त्वम् उत्पादयति। अध्यवसायात्मिका या बुद्धिः तस्याः गुणप्रकर्षात् महदिति नामधेयं मनीषिभिरादृतम्। धर्मः ज्ञानं वैराग्यम् ऐश्वर्यञ्चेति ये प्रकृष्टाः गुणाः ते बुद्धौ सम्बध्यन्ते। प्रकृष्टगुणयोगात् बुद्धिः प्रकृष्टा कृतिरस्याः इति व्युत्पत्त्या प्रधानं प्रकृतिसंज्ञया योजयति। महत्तत्त्वमपि प्रधानतत्त्ववत् त्रिगुणात्मकम् इष्यते। त्रिगुणात्मके महति सत्त्वांशप्राधान्यं भवति। सत्त्वांशप्राधान्याभिप्रायेणैव इत्यमुक्तिः संगच्छते—

''सात्त्विकांशात् प्रधानात्तु महत्तत्त्वमजायत'' इति।[21]

अन्तःकरणवृक्षस्य त्रयः अवयवाः भवन्ति— बुद्धिः अहंकारः मनश्चेति। तत्र महत्तत्त्वं तत्त्वत्रयात्मकस्य अन्तःकरणवृक्षस्य अङ्कुरावस्था इति प्राहुराचार्याः। तदेवम् अध्यवसायवृत्तिकम् अन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते चेत् अभिमानवृत्तिकम् अन्तःकरणम् अहंकारः अथ च संकल्पवृत्तिकम् अन्तःकरणं मन इत्युच्यते।

प्रधानतत्त्वस्य इव बुद्धितत्त्वस्यापि नानाविधता मनीषिभिरादृता। एतत् महत्तत्त्वम् आब्रह्मणः आ च स्थावरान्तं जीवानां प्रत्येकम् एकैकं भवति तच्च उपाधिरूपम्। अत्रेदमवधेयम् — महति तत्त्वे कामं सत्त्वांशप्राधान्यमस्तु अथापि क्वचिद् रजस्तमसोरपि प्राकट्यं भवति। एतत्तु प्रसिद्धम् यद् ब्रह्मणः उपाधिभूतायां बुद्धौ रजसः प्राकट्यं भवति तद्वत् विष्णोः सत्त्वस्य अथ महेशस्य उपाधिभूतायां बुद्धौ तमसः प्राकट्यं भवति। लोके क्रूरकर्मणां केषाञ्चित् बुद्धितत्त्वानि रजसः तमसो वा प्राकट्ये तिरोभूतसत्त्वानि महच्छब्दवाच्यानि भवन्ति अथापि अमहान्ति इव भान्ति अधर्मेण अज्ञानेन अवैराग्येण अनैश्वर्येण च उपेतानि। ये जीवाः तादृशोपाधिसमुपेताः भवन्ति ते क्षुद्रपदवाच्याः अपुण्यचर्वणाः अधर्माचरणे सुखं प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते च धर्माचरणात्।

अत्रेयं जिज्ञासा स्वरसतः समुदेति-सांख्यसम्मतः सृष्टिक्रमः कीदृशः स्वीक्रियते। तत्र पुनरेतत् समाधानं जागर्ति अव्यक्तनाम्नी मूलप्रकृतिः स्वभावात् प्रवृत्तिशीला भवति। न चेयं कस्यापि वशंवदा अस्ति। स्वतन्त्रा इयं प्रकृतिः सर्गादौ स्वयमेव क्षुब्धा संजायते। अथ इयं जीवविशेषेण नारायणसंज्ञकेन संयुज्यमाना भवति। सेयम् अन्यैः सजातीयैः प्रकृत्यंशैः मिलिता सती महत्तत्वं जनयति। आचार्यैः एतत् महत्तत्त्वं चेतनाचेतनोभयात्मकम् अङ्गीक्रियते। यस्तत्राचेतनांशः तस्योत्पत्तिः न गौणी किन्तु चेतनांशस्य उत्पत्तिः गौणी अर्थात् अभिव्यक्तिस्वरूपा मन्यते। या पुनः आदिशक्तिः सापि जीवविशेषस्वरूपा एवास्ते। सृष्ट्यारम्भे सा अभिव्यज्यते तत्र च हेतुः महत्तत्त्वकारणीभूतविषमावस्थगुणत्रयसम्बन्धः। पुराणेषु एषा याभिः संज्ञाभिः व्यवह्रियते तासु मुख्याः इमाः सन्ति— प्रवृत्त्यधिष्ठात्री देवता, महालक्ष्मीः, अम्बा, दुर्गा इत्येवमादिः। यावत्कालं जीवैः सह प्रधानादीनाम् उपाधीनां सम्बन्धो न जायते तावत्कालं जीवसमष्टिः निर्विशेषा तिष्ठति। एषा समष्टिरेव ब्रह्मशब्देन शास्त्रेषु गीयते। स्वयम्भूस्तु सविशेषा जीवसमष्टिः अङ्गीक्रियते। स्वयम्भुवि जीवेषु वा व्यष्टिभूतेषु ते ते निखिलाः विशेषाः प्रधानाद्युपाधिसम्बन्धेन भासमानाः औपाधिकाः एव स्वीक्रियन्ते। स्वयम्भुवि उपाधिः लिङ्गशरीरम् इत्युच्यते। कानि पुनः अष्टादश तत्त्वानि इति चेद् उच्यते— महत्, अहंकारः, मनः, ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, तन्मात्रपञ्चकञ्चेति। यत्र क्वचन सप्तदशानां तत्त्वानां समुदायः लिङ्गशरीरम्, इत्युच्यते तत्र अहंकारस्य बुद्धौ अन्तर्भावः विज्ञेयः। बुद्धेः वृत्तिभेदः प्राण इत्याख्यायते तदेतत् प्रसङ्गेस्मिन् न विस्मर्तव्यम्। यथा वह्नेः अभिव्यक्तिस्थानम् इन्धनं तद्वत् प्रधानादिः उपाधिः आत्मचैतन्यस्य अभिव्यक्तिस्थानं भवति। सर्गादौ स्वयम्भुवः उपाधिभूतम् एकमेव लिङ्गशरीरम् उत्पद्यते। अनन्तरं व्यष्टिजीवानाम् उपाधयः व्यष्टिलिङ्गशरीराणि तदंशभूतानि ततः विभज्यन्ते। यथा पितुः लिङ्गशरीरात् पुत्रलिङ्गशरीरम् अभिव्यज्यते। स्वयम्भुवः एतन्माहात्म्यं यदसौ स्वलिङ्गशरीरावयवान् सूक्ष्मान् अल्पान् स्वांश्चेतने संयोजयति अथ सर्वान् प्राणिनः सृजति। जीवाः वस्तुतः परस्परं भिन्नाः नाना भवन्ति। व्यष्टिभूतानां जीवानां समष्टिः स्वयम्भूः इत्युच्यते। यथा दीपेन घटादिः अभिव्यज्यते सन्नेव न तु उत्पाद्यते तथैव सन्नेव जीवानां मिथो भेदः शरीरादिभिः उपाधिभिः अभिव्यज्यते न तु असन् भेदः उपाधिना अभिव्यज्यते। **अयमाशयः** जले स्वाभाविकः उष्णस्पर्शः असन्नेव तेजसा स्वकीयः स उष्णस्पर्शः अभिव्यज्यते तद्वत् अत्र अभिव्यक्तिः नैव समादरमर्हति यतो हि जीवेषु अन्योन्यभेदः नैसर्गिक एवास्ते। योऽयं स्वयम्भूः स स्थूलशरीरोपाधिम् आदाय नारायणसंज्ञया विभूषितो भवति। कस्तावद् तदुत्पत्तिक्रमः इति जिज्ञासायामुच्यते— महत्तत्त्वाद् उत्पद्यमानः अहंकारः तद्दशमांशो भवति। अहंकारात्तन्मात्रद्वारा उत्पाद्यमानम् आकाशं तद्दशमांशभूतं भवति, अथ तद्दशमांशः

आकाशाद् वायुः, वायोः तेजः, तेजसो जलं, जलात् पृथ्वी चोत्पद्यते। सैषा स्थूलशरीरस्य बीजं भवति। एतद्बीजम् अण्डरूपेण परिणमते। अण्डमध्ये तद्दशमांशभूतं चतुर्दशभुवनात्मकं स्वयम्भुवः स्थूलशरीरं विज्ञेयम्। सोऽयं स्वयम्भूः स्थूलशरीरोपाधिकः नारायणः इत्युच्यते। या तन्मात्रोत्पतिः या वा इन्द्रियोत्पत्तिः तयोः कार्यकारणभावो नास्ति अतः तयोः क्रमनियमोऽपि नास्ति। एवञ्च एतद् निर्धारणं कर्तुं न शक्यते यत् तन्मात्रोत्पत्तेः प्राग् इन्द्रियोत्पत्तिर्भवति अथवा इन्द्रियोत्पत्तेः प्राक् तन्मात्रोत्पत्तिरिति। इन्द्रियाणां मध्ये इदमेव प्रथमम् उत्पद्यते इत्यत्रापि कश्चन नियमो नास्ति परं तन्मात्रोत्पत्तौ राजते कश्चन क्रमः। तद्यथा— यः तामसोऽहङ्कारः तस्मात् प्रथमं शब्दतन्मात्रम् उत्पद्यते। अथ अहंकारसहितात् शब्दतन्मात्रात् स्पर्शतन्मात्रम् उत्पद्यते। तदिदं शब्दस्पर्शोभयगुणकं भवति। एतस्मात् अहंकारसहितात् स्पर्शतन्मात्रात् रूपतन्मात्रम् उत्पद्यते तच्च शब्दस्पर्शरूपत्रितयगुणकं भवति। अथ अहंकारसहितात् रूपतन्मात्रात् रसतन्मात्रं चतुर्गुणकमुत्पद्यते। तदनु अहंकारसहितात् रसतन्मात्रात् पञ्चगुणकं गन्धतन्मात्रमुत्पद्यते। यानि पञ्च तन्मात्राणि यादृशगुणकानि सन्ति तेभ्यः तादृशगुणकानि एव महाभूतानि उत्पद्यन्ते।

तदेवं प्रथमं प्रधानसंज्ञकं तत्त्वं मूलप्रकृतिरित्याख्यायते। केवलप्रकृतिरित्यपरं नाम तस्य। महत्, अहंकारः शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रञ्चेति सप्त तत्त्वानि प्रकृतिविकृत्युभयरूपाणि भवन्ति। अथ श्रोत्रं त्वक् चक्षुः रसनं घ्राणं वाक् पाणिः पादः पायुः उपस्थम् मनः इति एकादशेन्द्रियगणः, आकाशं वायुः तेजः जलं पृथ्वी चेति पञ्च महाभूतानि मिलित्वा षोडशको गणः केवलविकृतिरिति प्रोच्यते। अथ यः पुरुषः पञ्चविंशं तत्त्वं स न कस्यापि प्रकृतिः न वा विकृतिः भवति। ततोऽस्य कृते अप्रकृतिविकृतिरिति शब्दः प्रयुज्यते। तदेवं सांख्यसम्मतानां तत्त्वानां पञ्चविंशतिसंख्याकानां चतुर्धा विभागः बालव्युत्पत्तिसिद्धये शास्त्रकारैः समाद्रियते—

1. मूलप्रकृतिः
2. प्रकृतिविकृतिः
3. केवलविकृतिः
4. अप्रकृतिविकृतिरिति

प्रकारान्तरेण सांख्यदर्शनसम्मतानां तत्त्वानां द्वैविध्यं संकीर्त्यते—

1. चित्
2. अचित्

तत्र चित् पुरुषः अचित् प्रधानम्। अनयोः पुरुषप्रधानयोः चिदचितोः विवेकज्ञानेन पुरुषः संसारबन्धात् प्रमुच्यते। अचित्प्रधानस्य परिणामभूताः महदादयः सन्ति त्रयोविंशतिसंख्याकाः। स्वयं प्रधानम् अव्यक्तपदवाच्यं भवति, तदीयाः परिणामास्तु व्यक्तपदवाच्याः भवन्ति, पुरुषस्तु चित्पदवाच्चः प्रसिद्ध्यत्येव। एवञ्च न लौकिकेन उपायेन न वा वैदिकेन कर्मजालेन दुःखत्रयस्य ऐकान्तिकी आत्यन्तिकी च निवृत्तिः सम्भवति। तादृशनिवृत्तिस्वरूपः अपवर्गः लौकिक-वैदिककर्मव्यतिरिक्तेन सांख्यदर्शनप्रतिपादितव्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानेनैव पुरुषस्य फलितो भवतीति सांख्यदर्शनस्य काचन महनीया समादेयता वरीवर्तीति निश्चप्रचम्। यदुक्तम्—

दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥[22]

पुरुषप्रधानयोः चिदचितोः अविवेकात् जायमानः संसारबन्धः पुरुषान् क्लेशयति। अथ अनयोः विवेके समुदिते पुरुषः अपवर्गेण युज्यते। विविक्ततया सम्यक् प्रबोधाय एव सांख्याचार्यैः प्रधानस्य परिणामभूतानां महदादिपृथ्वीपर्यन्तानां तत्त्वानाम् आकलनं विवेचनञ्च तेषु तेषु ग्रन्थेषु विहितम्।

तत्त्वानां चतुर्धा विभाजनम् अपि बुद्धिवैशद्याय आचार्यैः प्रकल्पितम्। कारिकया चैतत् संकलितम् आचार्येण ईश्वरकृष्णेन—

''मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥''[23]

अत्र प्रधानस्य कृते मूलप्रकृतिशब्दः प्रयुज्यते यानि महदादीनि पृथिव्यन्तानि त्रयोविंशतितत्त्वानि तेषां मूलञ्चासौ प्रकृतिः प्रधानं भवति। अस्य तु प्रधानस्य मूलप्रकृतेः मूलान्तरं न कल्पनीयम्, तथा कल्पने तस्यापि मूलम् अन्यत्, अथ तस्यापि मूलम् अन्यद् इत्येवम् अनवस्थादोषः वज्रलेपायितो भवेत्। बीजाङ्कुरयोः बीजस्य कारणत्वं अङ्कुरस्य वेति जिज्ञासायां सत्यां विवेचना एव अवलम्बभावं भजते। **तथाहि**बीजस्य कारणम् अङ्कुरः लोके उपलभ्यते। यथा आम्रफलबीजम् आम्रवृक्षं विना प्राप्तुं न शक्यते किन्तु योऽयम् अङ्कुरः आम्रवृक्षः तस्य किं कारणम् इति जिज्ञासायाम् इदमेव उत्तरं प्राप्यते यत् अस्मिन् आम्रवृक्षे यद् आम्रं फलति तत्र विद्यमानं यद् बीजं तत्तु एतस्य आम्रवृक्षस्य कारणं भवितुं नार्हति। अतः बीजान्तरमेव अस्य वृक्षस्य कारणं भवितुमर्हति। पुनः जिज्ञासा समुदेति तस्य बीजस्य किं कारणमिति। एतस्य आम्रबीजस्य कारणत्वं तु नैव वक्तुं शक्यते। अतः तस्य बीजस्य वृक्षान्तरमेव कारणं भवति। एवं तस्यापि वृक्षान्तरस्य कारणं बीजान्तरमेव भवितुमर्हति। अतः एतत् पर्यवसितं भवति अनादिभूतयोः बीजाङ्कुरयोः कार्यकारणभावे अनवस्थादोषः दोषतया न परिगण्यते। गत्यन्तराभावात्। बीजाङ्कुरयोः कार्यकारणभावः अनवस्थादोषं न चिन्तयति, तद्वत् प्रधानस्य किमपि मूलं तस्यापि किमपि मूलम् इत्यत्रापि अनवस्था दोषाय न प्रकल्प्येत इति तु नादरणीयम्, यतोहि बीजाङ्कुरयोः प्रत्यक्षादिप्रमाणेन परस्परं कार्यकारणभावः सिध्यति, सिद्धे च कार्यकारणभावे बीजाङ्कुरयोः मध्ये प्रथमं बीजम् अङ्कुरो वा इति जिज्ञासायां प्रवाहानादिता सिध्यति।

प्रवाहानादितां स्वीकृत्यैव अनवस्थायाः दोषरूपता स्थलविशेषे अपाक्रियते। सोऽयं न्यायः प्रधानस्य किं कारणम् इति जिज्ञासायां किमपि प्रधानकारणं केनापि प्रमाणेन न सिध्यति। अतः अत्र बीजाङ्कुरन्यायेन अनवस्था न दोषाय इति वक्तुं न शक्यते। तदेवं सुविचिन्त्य सूत्रितम्—

'मूले मूलाभावाद् अमूलं मूलम् इति।'[24]

सांख्यदर्शनस्य किं प्रयोजनम् इति जिज्ञासा स्वरसतः समुदेति। कस्यापि वस्तुनः प्रयोजनं यावद् विदितं भवति तावत् तत्प्राप्तये तदवबोधाय कस्यापि प्रवृत्तिः न जायते। अतएव लौकिकाभाणकः प्रसिद्ध्यति— 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। इति।[25] सांख्यशास्त्रस्य यः प्रतिपाद्यो विषयः सोऽपि तदैव जिज्ञासाविषयो भवति यदा तस्य प्रयोजनं स्यात्। अस्ति तावत् प्रयोजनम् दुःखत्रयसम्बन्धविघातः। सन्ति हि जगति दुःखिता जनाः। नहि कश्चन संसारी जनः दुःखविरही अस्ति। प्रतिकूलवेदनीयं हि दुःखं सर्वस्य जिहासितं भवति। शास्त्रकाराणां दृष्टौ जिहासितं दुःखं शक्यते समुच्छेत्तुम्। द्विविधायां स्थितौ दुःखस्य समुच्छेदः शक्यो भवितुं दुष्करः, यदि दुःखं नित्यं स्यात् अथवा दुःखोच्छेदोपायः अपरिज्ञातः स्यात्। अथ दुःखस्य समुच्छेदः भवतु नाम शक्यः तथापि शास्त्रविषयं ज्ञानम् यदि तत्र उपायो न भवेत् अथवा तदपेक्षया उपायान्तरं सुकरं भवेत्। अस्यां स्थितौ दुःखं नास्ति अथ जिहासितं तन्नास्ति इति एतद्द्वयं प्रतिषेद्धुं कारिकांशः उपस्थापितः— 'दुःखत्रयाभिघातादिति'।[26]

अयमर्थः– दुःखानां त्रयम् दुःखत्रयम्। तच्च आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्च। आध्यात्मिकं दुःखं द्विविधं भवति- शारीरं मानसञ्च। तत्र वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्येन जायमानं दुःखं शारीरम् उच्यते। अथ कामं क्रोधं लोभं मोहं भयम् विषादं विषयविशेषादर्शनं वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखं मानसम् उच्यते। शारीरं मानसं च विविधं दुःखम् आन्तरेणैव उपायेन निवर्त्यं भवति। अतः अनयोः आध्यात्मिकं दुःखम् इति संज्ञा प्रथते। यत् दुःखं बाह्येन उपायेन निवर्त्यं भवति तद् द्विविधम्— आधिभौतिकम् आदिदैविकञ्च। यत्मनुष्यं पशुं पक्षिणं सरीसृपं स्थावरं वा निमित्तीकृत्य जायते तद् दुःखम् आधिभौतिकम् इत्युच्यते। यत्पुनः यक्षं राक्षसं विनायकं ग्रहादीनाम् आवेशं वा निमित्तीकृत्य जायते तद् दुःखम् आधिदैविकमित्युच्यते।

सांख्यदर्शने सुस्पष्टं प्रतिपाद्यते यत् दुःखं रजोगुणस्य परिणामः इति। तत्प्रभेदः अवान्तरप्रभेदश्च सर्वोऽपि प्रतिकूलवेदनीयतया स्थितः प्रत्यात्मवेदनीयः विद्यते। अस्ति च अन्तःकरणवर्तिना त्रिविधेन दुःखेन चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसम्बन्धः। सोऽयम् अर्थः दुःखत्रयाभिघातात् इति पदेन सुस्पष्टम् अभिहितो भवति। भवति हि प्रतिकूलतया वेदनीयं सर्वमेव वस्तु जिहासायां कारणम्।

नानाप्रभेदलसितस्य त्रिविधस्य दुःखस्य अवघातकः हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्य एव भवति न तु लोके उपलभ्यमानः। तदेवं दुःखत्रयाभिघातात् व्यथितस्य सर्वस्यापि जनस्य तदपघातकभूते हेतौ स्वरसतः जिज्ञासा समुदेति। तादृशश्च हेतुभूतः उपायः व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्मकः पर्यन्ततः चिदचिद्विवेकः सप्रपञ्चं नूनम् उपादेयः। तत्र का नाम जिज्ञासा इत्युच्यते। ज्ञा धातोः सनि प्रत्यये द्वित्वादौ कृते जिज्ञास-शब्दात् सन्नन्तात् अप्रत्ययात् इति अप्रत्यये स्त्रीत्वे जिज्ञासाशब्दः कृदन्तः निष्पद्यते। सेयं जिज्ञासा किं प्रयोजनं साधयति इति जिज्ञासायां न्यायभाष्यकृद्भिः प्रोक्तम्—

'अप्रतीयमाने अर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवृत्तिः जिज्ञासा इति।[27] अर्थात् कस्यापि जनस्य जिज्ञासा एव तेन अप्रतीयमाने अर्थे प्रत्ययाय=बोधाय तस्य प्रवर्तनं करोति यदिदं त्रिप्रकारकं बहु प्रभेदं दुःखं जनान् क्लेशयति तेषां दुःखानां वाङ्मनःकर्मजत्वं विश्रूयते। तैः एतैः दुःखैः जनः निर्वेदम् अधिगच्छति, सति च निर्वेदे जनस्य हृदि दुःखमोक्षविचारणा समुदेति। यदुक्तम् —

वाङ्मनःकर्मजैर्दुःखैर्निर्वेदो जायते पुनः।

निर्वेदात् जायते तेषां दुःखमोक्षविचारणा।।[28]

दुखानां यद् वर्गीकरणं— आध्यात्मिकम् आधिदैविकम् आधिभौतिकञ्चेति तेषां शब्दानां व्युत्पत्तिस्तावत् निरुच्यते—

आत्मनि इति अध्यात्मम्, अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम्। तद्वत् देवे इति अधिदेवम्, अधिदेवं भवम् आधिदैविकम् अथ च भूते इति अधिभूतम् अधिभूतं भवम् इति आधिभौतिकम्। यद् देवानाम् इदं तद् दैवम् इत्युच्यते। यद् दिवः प्रभवति तद्वा दैवम् इत्युच्यते। दैवम् अधिकृत्य यत् किमपि जायते क्लेशादिकं तद् आधिदैविकं दुःखम् इति व्याख्यानं स्वीकुर्वन्ति गौडपादाचार्याः। यदुक्तम्—

''देवानामिदं दैवम्, दिवः प्रभवतीति वा दैवम् तदधिकृत्य यद् उपाजायते''।

पुराणकृतः त्रिविधं दुःखं प्रपञ्चयन्तः समाहुः—

''आध्यात्मिकोऽपि द्विविधः शारीरो मानसस्तथा।

शारीरो बहुभिर्भेदैर्भिद्यते श्रूयतां च सः।।

शिरोरोगप्रतिश्याय-ज्वर-शूलभगन्दरैः।

गुलमार्शः श्वयथुश्वासछर्द्यादिभिरनेकधा।।

तथाक्षिरोगातीसारकुण्ठांगामयसंज्ञितैः।

भिद्यते देहजस्तापो मानसं श्रोतुमर्हसि।।

कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः।

शोकासूयावमानेर्ष्यामात्सर्यादिभयस्तथा।।

मानसोऽपि द्विजश्रेष्ठ तापो भवति नैकधा।

इत्येवमादिभिर्भेदैस्तापो आध्यात्मिको मतः॥

मृगपक्षिमनुष्याद्यैः पिशाचोरगराक्षसैः।

सरीसृपाद्यैश्च नृणां जायते चाधिभौतिकः॥

शीतवातोष्णवर्षाम्बुवैद्युतादिसमुद्भवः।

तापो द्विजवरश्रेष्ठः कथ्यते चाधिभौतिकः॥

(विष्णुपुराणम् 6/5/2/8)

एवञ्च दुखत्रयेत्यादिना श्लोकपूर्वार्द्धेन सुस्पष्टं प्रतिपादितं भवति यत् सांख्यशास्त्रीयस्य कस्यचिदपि ग्रन्थरत्नस्य सूत्रभाष्यप्रकरणाद्यन्यतमस्य रचयिता यतः प्रतिपित्सितम् अर्थं प्रतिपादयति येन असौ अवधेयवचनो भवति। तत्र प्रतिपादितः उपायविशेषः सुष्ठु ज्ञायते तदनु अनुष्ठीयते च तदा नूनं परमपुरुषार्थः फलति। एतावता शास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषयिणी जिज्ञासा कस्यचिदपि प्रेक्षावतः जायते इति उत्कृष्टप्रयोजनवत्त्वम् एतस्य शास्त्रस्य सुनिश्चितं भवति।

तत्र काचन आशङ्का उदेति— सत्यपि त्रिविधे दुःखे जिहासितत्वेपि तस्मिन् कामं शक्यहानता भवतु, अथ शास्त्रोक्तः उपायः तदुच्छेदे पर्याप्तं समर्थो भवेत् अथाऽपि यदि लौकिकः उपायः दुःखोच्छेदाय सुकरः विद्यते तर्हि न कश्चन प्रेक्षावान् अनेकजन्माभ्यासपरम्परायाससाध्यम् अतिदुष्करं तत्त्वज्ञानम् अपेक्षेत। तदेवं सांख्यशास्त्रग्रन्थः मन्दप्रयोजनः स्यादिति। **अत्रोच्यते**— सांख्यशास्त्रोक्तः यः तत्त्वविवेकः स एव वस्तुतः दुःखोच्छेदहेतुः न तु तदन्यः कश्चनापि उपायः। यदुक्तं कौमुदीकृता— **'अवघातकश्च हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो नान्यः इत्याशयः'** इति।

यः कश्चन लौकिकः उपायः सुकरः इत्युच्यते तत्र शारीरदुःखप्रतीकाराय रसायनप्रभृतयः भिषग्वरैः उपदिष्टाः बहवः उपायाः विश्रूयन्ते। मानसदुःखस्य प्रतीकाराय अपि वनिताऽऽसव-सुभोजन-विलेपन-वसन-भूषणप्रभृतिः उपायः शतशः विद्यते। यत् पुनर्दुःखं व्याघ्रादिसमुत्थम् आधिभौतिकं तत्प्रतीकारोपायः नीतिशास्त्राभ्यासः मणियन्त्रादिनियन्त्रितनिरत्ययस्थानावलम्बनादिः सुकरः अस्ति। तद्वद् यक्षराक्षसादिनिबन्धनम् आधिदैविकं यद् दुःखं तस्यापि उपायः सुकरः भवति— यथा मण्यादेः धारणं, मन्त्रादेः पाठादिः, औषधादेः सेवनादिकञ्च। किन्तु विचार्यताम् लौकिकेन उपर्युक्तेन केनचित् सुकरेण उपायेन किं त्रिविधेषु दुःखेषु कस्यापि दुःखस्य एकान्ततः अत्यन्ततो वा अभावः सम्पादयितुं शक्यते? नैव शक्यते। एवञ्च यः यः सुकरः उपायः लौकिकः प्रोक्तः सः सर्वोऽपि ऐकान्तिक-आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तौ अनुपायः एव भवति। अतः सांख्यशास्त्रोक्तः यः तत्त्वविवेकः तद्विषयिणी जिज्ञासा व्यर्था इति वक्तुं नैव शक्यते। यदुक्तम्—

''न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्।'' इति[29]

''यथाविधि-रसायनादिकामिनी-नीतिशास्त्राभ्यास-मन्त्राद्युपयोगेऽपि तस्य तस्य आध्यात्मिकादेः दुःखस्य निवृत्तेः अदर्शनात् अनैकान्तिकत्वं, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्तिकत्वम् इति सुकरोऽपि ऐकान्तिकात्यन्तिक- दुःखनिवृत्तेः न दृष्ट उपायः इति नापार्था जिज्ञासा'' इति च।[30]

इदमत्र ध्येयम् – परमार्थतः पुरुषः पुष्करपलाशवन्निर्लेपः एवास्ते। ये च भोगादयः विकाराः ते चित्तस्य धर्माः सन्ति न पुरुषस्य। किन्तु जपाकुसुमसन्निधानवशात् यथा रक्तः स्फटिकः इति प्रतीतिः जायते तथा चितिचित्तयोः सन्निधानात् चित्तवृत्तीनां चिति आरोपणात् सुखी दुःखी मूढो वास्मि इति पुरुषे औपाधिकः भोगः अध्यवसीयते न तु वास्तविकः। यथोक्तम्— 'गृहीतान् इन्द्रियैरर्थानात्मने नमः' [31]इति। अयमेवार्थः विशदीकृतः — 'कुसुमवच्च मणिः' इति[32] सूत्रभाष्ये।

सन्दर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/39
2. श्रीमद्भगवद्गीता
3. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
4. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
5. भागवत म0पु0 1/3/00
6. तदेव
7. ईशावास्यो0
8. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
9. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
10. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
11. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
12. श्रीमद्भगवद्गीता 15/18
13. तदेव 10/41
14. तदेव 9/22
15. श्रीमद्भगवद्गीता 15/18
16. तदेव 10/41
17. तदेव 9/22
18. सांख्यप्रवचनसूत्रम् 6/39
19. श्रीमद्भगवद्गीता 14/5
20. सांख्यकारिका, 13
21. श्रीमद्भागवत म0पु0 वचनम्
22. सांख्यकारिका, 1-2

23. सांख्यकारिका, 3
24. सांख्यप्रवचनसूत्रम्
25. गुरुमुखात् प्राप्तम्।
26. सांख्यकारिका - 1
27. न्यायभाष्यम् 1/1/22
28. सांख्यप्रवचनभाष्यम् 2/35
29. सारबोधिनी, पृ0 4 (उद्धृतम्)
30. वायुपुराणम् 58/20
31. सांख्यसूत्रम् 1/2
32. सांख्यतत्त्वकौमुदी, बृ0 - 29

●

''प्रज्ञा''
नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट– 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

   ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

   (अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

   (ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

   (स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

   लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

   दिनांक एवं स्थान .....

   मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

●

वेदेषु सप्तांगराज्ये राष्ट्रस्य स्वरूपमहत्वयोः प्रतिपादनम्

डॉ0 सुरेशचन्द्रब्रह्मा एवम् डॉ0 माधवजनार्दनरटाटे***

वेदेषु राज्यविभागीकरणविषयस्यास्य परिपोषिका सामग्री लभ्यते। तत्र 'अहं रूद्रेभिः'' इत्यष्टर्चयुक्तसूक्तमिदं दार्शनिक-नैतिक-सामाजिकादिविषयोपकारकम्। यद्यपि सूक्तस्य वर्णनं सामान्यतः दैवतं द्योतते, परं राजनीतिकदृष्ट्या विचारे कृते सति सूक्तगतरूद्रवसुराष्ट्रीसंगमनाजनादीनां शब्दानां सम्यगर्थसंगतिः राज्याङ्गस्य प्रकृतेर्विभागेषु मंत्रोपजीव्या विज्ञायते, यत्र सामाजिकोत्क्रान्तेः लोकतन्त्रस्य च तत्त्वानि सन्ति। तदेव क्रमेण विविच्यते।[1]

अत्र प्रसंगानुसारेणास्याः व्रह्मवादिन्याः शासनसंचालनकत्वं राष्ट्रशक्तिविशेषयुक्तत्वञ्चापि अनुभूयते यथा–

''अहं रूद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरूणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नि अहमश्विनोभाः।।''

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना संबभूव।।[2]

इत्यादि- ऋचाभिः विज्ञायते यद् वैदिकराष्ट्रं सुसम्पन्नसर्वांगपरिपूर्णं सम्यगनुशासितं चासीत्। यत्र सर्वे पृथग् भूत्वापि बृहत्समाजराष्ट्रयोः सम्यक्तया पूरणार्थं संचालनार्थं च निमित्तरूपेण सर्वनियन्तृराष्ट्रशक्तिं विशेषमभजन्त। येनाङ्गाङ्गिभावमाश्रित्य स्वाधिकारकर्त्तव्ययोः पालने राष्ट्रं समृद्धं संरक्षितं चासीत्। उपर्युक्तानाम् ''अहं रूद्रेभि''रित्यादिभिः ऋचानुसारेण रुद्रवस्वादीनां वर्तमानशासनपद्धत्या सह तुलनात्मको विचारः कर्तुं शक्यते। येन राज्यांगप्रकृतिविभागप्रमुखादिशब्दानामपि समन्वयो भवेदित्यधिकृत्य सूक्तगत–विभागाधिकरिणां संक्षिप्ता तालिका पुरः स्थाप्यते-

यथाक्रमः-

	अधिकारिणः	**अर्थाः**	**विभागाः**
1	रुद्राः	वीराः राजभटाः प्रहरिणः	सुरक्षाविभागः
2.	वसुः	धनिकः	अर्थविभागः
3.	आदित्यः	प्रकाशकः	गुप्तचरविभागः
4.	विश्वेदेवाः	गणाः सामान्यकर्मचारिणश्च	जनप्रशासनविभागः
5.	मित्रः	सुहृद् विद्वांश्च	उपप्रधानप्रशासन-विभागः
6.	वरुणः	प्रधानप्रशासकः	विधिमान्यगुप्तचर-विभागः
7.	इन्द्रः	शूरः क्षत्रियो राजा च	राज्यविभागः
8.	अग्निः	ज्ञानी वक्ता पुरोहितो नेता च	प्रधानमन्त्रालय-विभागः
9.	अश्विनौ	वैद्यः	स्वास्थ्यविभागः
10.	त्वष्टा	शिल्पी अभियन्ता च	सार्वजनिकनिर्माण-विभागः
11.	पूषा	पोषणकर्ता	खाद्यविभागः
12.	सोमः	आल्हादकः मदप्रतीकः ओषध्यश्च	कृषिविभागः
13.	भगः	कल्याणकर्ता	समाजकल्याण विभागः

एवमेव राष्ट्रस्य विभागकरणे, विभिन्नेषु वैदिकस्थलेष्वपि एतेषां राज्यानामुल्लेखोऽस्ति।[3]

यथा– 1. साम्राज्यम्, 2. भौज्यम्, 3. स्वाराज्यम्, 4. वैराज्यम्, 5. पारमेष्ठ्यम्, 6. महाराज्यम्, 7. आधिपत्यमयम्, 8. समन्तपर्यायी, 9. सार्वभौमम्, 10. सार्वायुषम्, 11. एकराज्यम्, 12. द्विविधं द्विराजं बा, 13. गणराज्यम्, 14. उग्रम्, 15. नीचम्, 16. गणराज्यम्, 17. राष्ट्रिकम्, 18. आक्रन्दम्, 19. विप्रराज्यम्, 20. यमराज्यम्, 21. अपरूद्धम्, 22. जानराज्यम्[4], 23. वहुपायस्वाराज्यञ्चेति। एतेषां प्रकाराणां विविधा उल्लेखा दिग्देशयोग्यतानुसारेण विभिन्नेषु पुस्तकेषु विवेचिताः सन्ति।[5]

वैदिककालीनराष्ट्रस्थशासनप्रणाल्याः विवेचनम्

राष्ट्रस्य शासनप्रणाल्याः विषये वैदिककालात् अद्यावधिं यावत् साङ्गोपाङ्गं विधिना सह प्राप्यते। अत्राऽहं वैदिककालीनशासनप्रणाल्याः विषये किंचित् विवेचयामि–

वेदेऽपि राजनीत्यनुसारेण नीतिपूर्वकशासनप्रणाल्याः वर्णनं लभ्यते। वेदे शासनं सुनियन्त्रितं सुव्यवस्थितञ्चासीत्। वेदेषु वरूणमित्रयोः सम्बन्धे यत्र वरूण एव श्रेयान् वर्तते, तत्राथर्वेदीयरात्रिसूक्ते वरूणं पुरस्कृत्याशेषराज्यशासनस्य सञ्चालनस्य

* अतिथिप्राध्यापकः, धर्मशास्त्रमीमांसाविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

** अध्यक्षः, धर्मशास्त्रमीमांसाविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

वर्णनं लभ्यते। अयं यमेन्द्रादीनामपि शासने उपयोगी वर्तते। वरुणः स्वसहायकैः सम्मिल्य शासनस्य तिसृणां शाखानां सञ्चालनमकरोत्। अस्य सहयोगिनः स्वस्वविभागेषु अतीव दक्षाः सन्नद्धाश्च स्वकर्त्तव्यं निरवहन्।

विदितमस्तु यद् व्यावहारिके जगति सर्वप्रथमं तपः उत्पन्नम् । समस्तविधीनां नैतिकगुणानाञ्चाधारभूतं शासकीयं तत्त्वं ऋतमजायत, येन सर्वे विभागाः प्रभाविताः अभवन्। त्रयस्य संक्षिप्ता तालिका पुरः स्थाप्यते यत् –

संस्थानाम[6]	इड़ा	सरस्वती	भारती
अधिकारी	इन्द्रः	यमराजः	वरुणः
कार्यम्[7]	राष्ट्रनिवासिनां धारणम् ,	दुष्टानां संहारः,	श्रेष्ठविदुषां दिवनाम्नी
	पोषणं नागरिकाणाञ्च प्रबन्धः	राष्ट्रस्य प्रबन्धश्च[8] दण्डदानं दण्डनिर्णयश्च[9]	सर्वोत्कृष्टा सभा, विधिनिर्माणं[10], न्यायः गुप्तचराधिकारश्च।[11]
विभागः	कार्यकारिणी रक्षाव्यवस्था च।[12]	दण्डदात्री सभा	ऋतसदनम्।

तत्र राजराज्ययोर्यावदुत्पत्तिरेव नासीत् तावद् ऋतस्यैव शासनं प्राचलत्। तदा सर्वे स्वभावतः एव अनुशिष्टा आसन्। समयपरिवर्तनानन्तरं यदा जना लोभमोहादीनां दुर्भावनया च संवलिताः परस्परम् अयुध्यन्त तदा एतत् शमयितुमुपायमन्विष्यद्भिर्विज्ञैः सम्मिल्य शासनाय राज्ञः राज्यस्य च व्यवस्था कृता। तदा शासनाधिकारः राज्ञः पुरोहितादिप्रमुखाणां राज्याधिकारिणां हस्ते समागतः। शासनविषये कतिपये आधुनिका विचारकाः "शासनव्यवस्था वैदिककालानन्तमेव सम्भूतेति'' स्वीकुर्वन्ति। यतो राजनीतिप्रतिपादकेषु ग्रन्थेषु विषयपरिपोषकाणां वैदिकोदाहरणानामभावो दृश्यते। तैः पाश्चात्यानामेव विदुषां मतानि विपुलतया प्रमाणत्वेनोद्धृतानि। भवतु नाम, विषयमवलम्ब्य यदा वेदाध्ययनं क्रियते तदा विज्ञायते यद् वेदेषु सूत्ररूपेण अस्य सर्वाङ्गीणो विचारो वर्तते, यस्य मन्वादिभिस्तेषां टीकाकारैः; मेधातिथ्यादिभिश्च वैदिकसंकेताः स्पष्टीकृताः। सत्यमेतत् प्रतीयते यद् वेदादिप्राचीनग्रन्थेषु विषयोऽयं धर्मेण विधिना व्यवहारेण चरित्रेण न्यायेन च सहोल्लिखितोऽस्ति।

विविधैर्विचारकैः न्यायशब्दस्य 'राजशासनम्'' 'न्यायिकनिर्णय'श्चार्थः कृतोऽस्ति।[13] यद्यपि न्यायधर्मादिशब्दाः शासनस्य विविधेष्वर्थेषूपात्तास्तथापि शासनं स्वकीयां भिन्नामेव सत्तां स्वीकरोति। ऋगादिषु शब्दोऽयं स्पष्टरूपेण राजकीयशासनार्थे वर्तते।[14] तथैव यद्यप्यथर्ववेदीयानि 'शाशदानः[15], 'शासदानाम्'[16] 'शासदानाम्'[17] 'शासद्महे[18]', शासः शास्मि'[19] एतानि शब्दरूपाण्यपि राजशासनमेव समर्थयन्ति। तथापि 'शास' इति क्वचित् 'असिधेनुका' इत्यर्थकोऽस्ति।[20] शासनेऽस्य साधनरूपेणोपयोगो भवत्येव।

पुनरुक्तम्– भारतीयानामाचार-व्यवहार-समाज-राज्यव्यवस्था श्रुतिप्रामाण्यमूलास्ति। तत्र ऋग्वेदस्याङ्गभूत-ऐतरेयब्राह्मणग्रन्थे एका शासनविषयिणी घोषणा वर्तते यत्– ॐ स्वस्ति। साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठराज्यं महाराज्यं आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुषः आन्ताद् आपरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराड़ इति।[21]

अस्यां घोषणायां अष्टप्रकाराणां राज्यानामस्त्योल्लेखः। इतोऽतिरिक्तं जनराज्यस्य गण (संघ) राज्यस्य चापि विवेचनं दृश्यते। मन्त्रेषु राज्यविज्ञानानां बीजानि सन्ति। परन्तु चतुःसमुद्रायां विष्वम्भरायां भारतीयायां भूमौ कस्मिन् भागे उपर्युक्तविधासु किं प्रकारिणी शासनप्रणाल्यासीदिति ब्राह्मणभागेषु विस्तरेण वर्तते। यथा–

1. साम्राज्यम्

सर्वप्रथमं साम्राज्यं भगवतो रामस्य, रावणस्य च साम्राज्ये दिग्दर्शनम्। रावणस्य साम्राज्यं विजित्यापि रामः स्वशासने, नायत्तीकृतवानपि तु तत्रापि रावणभ्रातरं विभीषणमेवार्थ-विधानानुसारेण साम्राज्यं समर्पयेदिति स्पष्टम्।[22] वैदिकसाम्राज्यवादस्य स्वरूपं 'यशसे विजिगीषूणाम्, 'यथापराधदण्डानाम्' 'त्यागाय सम्भृतार्थानाम्' इत्यादि शब्दकदम्बैः कालिदासेन ऐतिहासिकमहाकाव्ये रघुवंशे प्रथमसर्गे वर्णितम्। पराजितानामुन्नत्यै उत्तमशासनव्यवस्थादानमेव वैदिकसाम्राज्यवाद इति।

2. भौज्यम्

''भौज्यम्'' अर्थात् पृथिव्याः नैसर्गिकसीम्ना वेष्टितं राज्यम्। यथोत्तरेण हिमवता दक्षिणे च सागरे वेष्टितत्वात् भारतवर्षं भौज्यराज्यम्। यावता प्रजायाः भोजन-वस्त्र-धन-सुरक्षादिना भारो वोढुं शक्यते तावता राज्यसीमेत्यपि, भूजू, धातोः पालनाभ्यवहारार्थकत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्।

3. स्वाराज्यम्

स्वाराज्यशासनप्रणाल्यपि सुन्दरवैदिकशासनमस्ति। अद्यतने युगे स्वाराज्ये वयं वसामः। स्वा-स्वराज्ययोरन्तरमपि स्पष्टम् तथा हि स्वरभेदः विधानभेदम् अनुशासनभेदं च जनयति। स्वराज्ये स्वस्य सत्ताशुद्धिः सर्वस्वमेव राज्येनायत्तीक्रियते। सर्वेऽप्यधिकाराः स्वाराज्ये व्यक्तिपर्यवसायिनः, स्वराज्ये सर्वकारशासनपर्यवसायिन इति महदन्तरं सुधीभिरवगन्तव्यम्। वैदिकार्थात् आत्मोन्नतिमूलकस्वराज्यमेव 'स्वाराज्यम्', स्वाराज्ये स्वस्य शुद्धिः पवित्रतानिर्दोषताप्रभृतीनां गुणानां विकासाय प्रयत्नो विधीयते। अत एव कुलीनाः संयमिनः पुरुषा एव राज्यव्यवस्थायामधिकारिणो भवन्ति। परन्तु स्वराज्ये स्वस्य शुद्धिमुपेक्ष्य राज्यतन्त्रशक्तया स्वसम्बन्धिनां भौतिकसुखहेतोरन्येषां हत्यापि क्रियते। अत एव राष्ट्रीकृतं तन्त्रमेव स्वराज्यम्। उत्पादन-

वितरण-दण्ड-शिक्षास्वास्थ्यादि-समस्याः राज्येन स्वार्थाय समुत्पाद्यन्ते। आधुनिकजनतन्त्रमेव स्वराज्येन तुल्यम्।

4. वैराज्यम्

विगतं राज्यं वैराज्यम्। नृपतिरहिता राज्यव्यवस्था। प्रजा धर्मानुसारेणैव स्वकीयां सर्वविधव्यवस्थां करोति। इदमपि वैदिकं शासनविधानमेव। वैराज्यशासनप्रणाली सर्वप्राथम्येन प्रचलितासीत्। तदुक्तमथर्ववेदे–

''विराड् वा इदमग्र आसीत्''[23] विगतः राजा राज्यं वेति विराड् इति व्युत्पत्त्या अर्थात् अग्रे प्रारम्भे राजा शासको वा नासीत्। तदुक्तम् –

न राज्यं न च राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥[24]

5. महाराज्यम्

बहूनां क्षुद्रराज्यानां संघः महाराज्यम्। अनेकानि राज्यानि स्वेच्छयैव एकीकृतं संविधानमङ्गीकुर्वन्ति। स्पर्धायां लघवो न प्रभवन्ति। तस्मान्महाराज्यशासनप्रणाल्या विष्वमेकं नीडं भवति। स्वार्थो यदि नियन्त्रितस्तदा महाराज्यादपि विश्वकल्याणं भवति।

6. आधिपत्यमयम्

अधिपति–पतिशब्दौ राज्यपदसूचकौ। तेषां सम्मत्या प्रचाल्यमाना राज्यव्यवस्थैव आधिपत्यमयं राज्यम्। अस्य वैदिकशासनविधेः विकृतिः आंग्लैः व्यूरोक्रिसी'' उच्यते। राज्याधिकारिणां नियन्त्रणे इयं शासनव्यवस्था भवति।

7. समन्तपर्याया

यस्मिन् राज्यानि सामन्तानामाधीन्ये व्यवस्थीयन्ते तदेव समन्त (सामन्त) पर्यायि राज्यम्। माण्डलिकाः सामन्तः। आर्षशासनविधिमनुसृत्य सामन्तराज्यमपि राष्ट्रकल्याणकारि भवति। रामस्य शासनक्षेत्रे बहवः सामन्ता आसन्। अनेकेषां राज्यानां स्थितौ सत्यामपि ''रामराज्यम्'' एककविभिः प्रशस्तम्। 'रामराज्यम्' अर्थात् वेदशास्त्रानुमोदितन्यायप्रक्रियामवलम्ब्य राष्ट्रकल्याणार्थं राज्यं लोकतन्त्रेण समन्वितम् इति

8. पारमेष्ठ्यं राज्यम्

परमेष्ठी पितामहः। सर्वेषामुपरि परमेश्वरस्य, धर्मस्य शासनाधिकार एव पारमेष्ठ्यराज्यम्। पारमेष्ठ्यराज्य राजतन्त्रस्यानुशासने सर्वविधशासनानि कल्याणकारीणि विरुद्धतन्त्राणि मात्स्यन्यायकदम्बितानि भवन्ति। वैदिककाले पारमेष्ठ्यतन्त्रस्यैव प्राबल्यमासीत्। इक्ष्वाकु-सगर-दिलीप-अज-रघु-पुरु-दुष्यन्त-भरतादीनां राज्यानि आसन्नितीतिहासपुराणकाव्यादिषु वर्णितम्। ''तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म'' इति श्रुतिः पारमेष्ठ्यमेव राज्यं ब्रूते।

9. जानराज्यम्

वैदिकयुगे ''जानराज्यम्' अपि प्रचलितमासीत्। जनतायै हितं राज्यमेव जानराज्यम्। इदमेव जनराज्यशब्देनाप्युच्यते। स्वत्वमवलम्ब्य वा राज्यमवलम्ब्य वा उभयथापि धर्मनियन्त्रिताः सर्वा एव शासनव्यवस्थाः शोभनाः। धर्मविरुद्धाः सर्वे एव पूर्वोक्ताः शासनविधयः जनतायाः धनधर्मादिकं ध्वंसयन्ति।

सन्दर्भ-सूची

1. अथर्ववेदः 4/30, ऋग्वेदः 10/125
2. अथर्ववेदः 4/30, ऋग्वेदः 10/125
3. तै.ब्रा. 1/3/2/2, ऐ.ब्रा. 8/12, गा.ग्रौ.सू. 17/16/3
4. आयुर्वेदः पृ 44-54 (मातृभूमि और स्वराज्य शासन)
5. वैदिक कोश, प्राचीन भा.भा.प. पृ 27-30, प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका पृ 47-55, जातक कालीन भारतीय संस्कृति पृ 50-63
6. यजुर्वेदः 27/19
7. यजुर्वेदः 28/1
8. यजुर्वेदः 4/36
9. वाल्मीकिरामायणे युद्धकाण्डे 21/2
10. ऋग्वेदः 1/24/10
11. अथर्ववेदः 1/33/2, 4/16/4
12. अथर्ववेदः 1/21/1-4, ऋग्वेदः 10/152/1-4 अपि च वि.द्र.प्रा.भा. जनतन्त्रम् पृ सं. 53/57
13. प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका पृ 138
14. वैदिकाकोशः पृ सं. 320, प्रतीकानि ऋ. 1/112/3, छा.उ. 5/3/7
15. अथर्ववेदः 1/10/1
16. अथर्ववेदः 20/87/4
17. अथर्ववेदः 8/4/24
18. अथर्ववेदः 5/2/5, 20/10/8
19. अथर्ववेदः 1/20/4, 20/65/2
20. वैदिककोषः पृ 5/6
21. ऐ.ब्रा. 1/3
22. वाल्मीकिरामायणम्
23. अथर्ववेदः 8/10/1
24. म. भा. शा. प. 1

मानसिकरोगपरिशीलनम्

अश्विनी पाण्डेय एवम् डॉ० ब्रजभूषण ओझा***

व्याधिना को न पीड़ित इत्युक्त्यनुसारेण सर्वदु:खमयेऽस्मिन् संसारसागरे जननमरणचक्रावर्तगर्तपतिता: सर्वेऽपि मानवा: नानाविधरोगव्याधिना पीडिता: महत्कष्टमनुभवन्तो दरीदृश्यन्ते। तत्र हि अधुनातनकाले मानसिकरोग: रोगानां समूहे सर्वोपरि विद्यते। जना: मानसिक-मस्तिष्कस्य रोगवशात् जीवने त्रस्तो विद्यते। ज्योतिश्शास्त्रे अस्य रोगस्योल्लेख: तस्य निवारणोपायाश्च प्रतिपादित: परं पर्याप्तं ज्ञानं नोपलभ्यते। रोगस्य निर्धारणकाले शास्त्रोक्ता: रोगयोगा: कारकमारकग्रहाश्च ग्रहाणां धातव:, त्रिदोषा: इत्याद्यंशानामध्ययनं कृत्वा रोगस्य स्थिति: विषये सम्यक्तया ज्ञात्वा यदि तस्य निवृत्यर्थं प्रयत्नं क्रियते तर्हि अवश्यमेव जना: हर्षेन जीवनयापनं कर्तुं शक्नुवन्ति।

ज्योतिश्शास्त्रे सर्वेष्वपि होराग्रन्थेषु रोगविचार: प्रतिपादितोऽस्ति। रव्यादयो ग्रहा: मेषादयो राशयश्च मानवशरीरस्य विविधानि अङ्गानि धातून् च प्रतिनिधीत्वं कुर्वन्ति। यदि जातकस्य जन्मकुण्डल्यां ग्रहराश्यादय: प्रतिकूला: भवन्ति तर्हि अनिष्टफलं एवं कालपुरुषस्य निर्धारितेषु अङ्गेषु धातुदोषवशात् रोगान् समुत्पादयन्ति।

रव्यादयो ग्रहा: मानवशरीराणामङ्गानि प्रतिनिधित्वं कुर्वन्ति। ग्रह: यथा यथा शरीरस्य अङ्गस्य प्रतिनिधित्वं करोति, तदेव ग्रह-गुण-दोषान् तेषु तेषु अङ्गेषु प्रददाति।

रोग: - शरीरस्य यत् यत् दु:खस्वरूपं तत् सर्वमपि ''रोग'' शब्देन व्यपदिश्यते।

ज्योतिषशास्त्रे मुख्यतया रोगा: द्विधा विभक्ता:।

1. निजरोग:
2. आगन्तुकश्च इति

यस्य चर्चा प्रश्नमार्गे विस्तृततया लभ्यते। यथा-

सन्ति प्रकार भेदाश्च रोग भेदनिरूपणे।

ते चाप्यत्र विलिख्यन्ते यथा शास्त्रान्तरोदिता:।।17

रोगास्तु द्विविधा ज्ञेया निजागन्तुविभेदत:।

निजाश्चागनतुकाश्चापि प्रत्येकं द्विविधा: पुन:।। प्रश्नमार्ग: 12/18

निजा शरीरचित्तोत्था दृष्टादृष्टनिमित्तजा:।

तथैवागन्तुकाश्चैवं व्याधय: स्युश्चतुर्विधा:।।19

अस्मिन् शोधनिबन्धे विचार्यमाण: रोग: मानसिकरोग: विद्यते। अस्य रोगस्य परिधिनिज (सहज) रोगक्षेत्रे निहितं वर्तते।

निजरोग:

नैकेषु ज्योतिषग्रन्थेषु जन्मजातरोगा: बहुचर्चिता:। निजरोगो– नेत्रहीनत्वं, पङ्गुत्वं, कुब्जत्वं, बाहुहीनत्वमित्यादिरोगा: समुपवर्णिता:। एतेषां रोगाणां गणना निजरोगेऽन्तर्निहिता। निजरोगस्यापि भेदद्वयमस्ति-

1. शारीरिकरोग:, 2. मानसिकरोगश्च

प्रश्नमार्गे शारीरिकमानसिकरोगस्य वर्णनं दृश्यते। शारीरिकरोग: केनप्रकारेण जायते तस्य विषये एवं वर्णितमस्ति-

वातपित्तकफोद्भूता: पृथक्संसर्गजास्तथा।

सन्निपातभवाश्चैते शारीरा: कीर्तिता गदा:।। प्र०मा० 12/20

वात-पित्त-कफदोषान् पुन: वात-पित्त-कफ-मिश्रणात् पित्त-कफ-मिश्रणेन, वात-कफमिश्रणेन, पित्त-कफमिश्रणेन वात-पित्त-कफानां मिश्रणेन च शारीरिकरोगानामुत्पत्तिर्जायते।

मानसिकरोगा:

वातपित्तकफानां वैपरीत्येन शरीरे जायमाना: विकारात्मका आमया: शारीरा: क्रोध-ईर्ष्या-शोक-उन्मादरोगादिभि उत्पन्ना: मनोविकारा: मानसा: यथोक्तं प्रश्नमार्गे-

क्रोधसाध्वसशोकादिवेगजातास्तु मानसा:।

ज्ञेयारन्ध्रमनोनाथमिथे योगेक्षणादिभि:।। प्र०मा० 12/22

मनसि मस्तिष्के च जायमान: रोग: मानसिक: रोग: भवति।

मानसिकरोगाविचार:

कालपुरुषस्य मन: भवति चन्द्र:। स: चित्तस्य प्रतिनिधित्वं करोति यस्य जातकस्य जन्मकुण्डल्यां चन्द्रस्य स्थिति दुर्बला भवेत् तस्य शरीरे मानसिकरोगस्य बाधा अवश्यमेव दृश्यते। लघुजातके वराहमिहिराचार्येण कथितम्-

---

* शोधच्छात्र:, लब्धस्वर्णपदकद्वयम्, ज्योतिषविभाग:, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय: काशीहिन्दूविश्वविद्यालय:, वाराणसी
** सहायकाचार्य:, व्याकरणविभाग:, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय: काशीहिन्दूविश्वविद्यालय:, वाराणसी

आत्मा रविः शीतकरस्तु चेतः

सत्वं धराजः राशिजोऽथ वाणी।

ज्ञानं सुखं चेन्द्रगुरुर्मदश्च

शुक्रः शनिः कालनरस्य दुःखम्।। लघुजातकम्

तातश्चात्मप्रभावो द्युमणिरथमनोमातरौ शीतरश्मि। प्र०मा० 14/31

अनेन प्रकारेण बहुषु जातकग्रन्थेषु मानसिकरोगकारकग्रहः चन्द्र इति प्रतिपादितम्।

चन्द्रजन्यरोगाः

निद्रालस्यकफातिसारपिटकाः शीतज्वरं चन्द्रमाः

शृङ्गख्ज्जाब्दाहतिमग्निमान्द्यकृशतायोषिदद्वाथाकामलाः।

चेतश्शान्तिमसृविकारमुदकाद् भीतिश्च बालग्रहात्

दुर्गाकिन्नरधर्मदैवफणभृद् यक्षाच्च पीडां वदेत्।। प्र०मा० 12/67

पाण्डुदोषजलदोषकामलापीनसादिरमणीकृतामयैः।।

जातकपारिजात 12/76

विधुर्विविधते रुचिमग्निमन्दताम्बुदोषशीतज्वरपाण्डुकामलाः।

प्रमेहवाताधिकताकलानिलातिसारमसृग्विकृतिं च पीनसम्।।

गदावली 9/7

1. निद्रारोगः 2. आलस्यम् 3. कफः
4. अतिसारः 5. पिटकः 6. शीतज्वरः
7. मन्दाग्निः 8. अरुचिः 9. हरिद्रकम्
10. रक्तविकारः 11. चित्तव्याकुलता 12. पाण्डुरोगाः
13. जलोदरः 14. कामिला 15. पीनसः
16. स्त्रीजन्यरोगः 17. प्रमेहः 18. वाताधिक्यम
19. मानसरोगः इत्यादयः रोगाः कारकाः सन्ति चन्दः।

रोगचिन्तनम्

तद्भावस्वामिभिः षष्ठशयुक्तैरथवा तद्दृष्टग्रहैः चिन्त्यते। यथोक्तं फलदीपिकायाम् ज्योतिषशास्त्रे रोगविचारः षष्ठाष्टमत्यभावैः तदावस्थितग्रहैः -

रोगस्य चिन्तामपि रोगभावस्थितैर्ग्रहैर्वा व्ययमृत्युसंस्थैः।

रोगेश्वरोणाऽपि तदन्वितैर्वा द्वित्र्यादिसंवादवशाद्वदन्तु।।14/1

रोगनिर्धारणस्य क्रमः

1. रोगभावः 2. अष्टमाधिपतिः व्यभावाधिपतिश्च 3. षष्ठस्य ग्रहस्थितिः

4. लग्नेशात् लग्नाश्रितग्रहात् वा रोग चिन्तनम्

5. नीचादिग्रहस्थितग्रहैः रोगविचाराः क्रियन्ते। 6. पापग्रहेभ्यः प्रभावितो ग्रहः।

7. अस्तादिदोषयुक्तः 8. मारकमथवाऽनिष्टकारकत्वम्।

सौरिभीरिपुंसङ्ग्रामो गवोष्ट्रक्रूरकर्मणाम्।

मातुलातङ्कशङ्कानां रिपुस्थाद्विनिर्णयः।। (भुवनदीपकः)

षष्ठो भावः रोगभाव इति व्यवह्रियते। षष्ठस्थानात् रोगस्य विचारः क्रियते यतो हि षष्ठेशः रोगसूचकाः। रोगस्थाने संस्थितो रोगाधिपः स्वां प्रकृतिमाश्रित्य स्वकारकत्वधर्मानुगुणं रोगं प्रददाति।

मानसिकरोगस्य प्रमुखकारकः चन्द्रः, यदि चन्द्रः निर्बलं भूत्वा तिष्ठति तर्हि कफविकारं, मानसिकरोगं नेत्रविकारञ्च सूचयति। षष्ठेशः परिवर्तनयोगे यस्मिन् भावे भवति तत्सूचकाङ्के तत्सम्बद्धजने वा रोगं सूचयति। जातकस्य जन्मकुण्डल्यां प्रथमभावादैव सम्पूर्णशरीरस्य चिन्तनं भवति। एतदर्थं मानसिकरोगाणां विचार अस्यैव भावात् क्रियते। यथोक्तम् –

देहस्य सौष्ठवं स्वास्थ्यं स्थितिः श्रियो यशः सुखम्।

जयो वपुश्च तत्सर्वं चिन्तनीयं विलग्नतः। प्र०मा० 14/3

शरीरवर्णाकृतिलक्षणानि यशोगुणस्थानसुखा सुखानि।

प्रवासतेजो बलदुर्बलानि फलानि लग्नस्य वदन्ति सन्तः।।

जातकपारिजातः 11/13

स्वस्थशरीरे स्वस्थमनः निवसति। यावत् पर्यन्तं शरीरं न भवति तावत् पर्यन्तं तत्र स्वस्थमनः न तिष्ठति।

लग्नस्य तथा लग्नेशस्य बलाबलनिर्णयेन शारीरिकवृद्धिः मानसिकस्थितिः च विचार्यते। अनयोर्दौर्बल्येन सर्वदा मानसिककष्टं जीवने आयाति। लग्नं तनुस्थानमित्यस्मात् लग्नात् सम्पूर्णशरीरस्य ग्रहणम्। तनुभावः तथा तनुभावाधिपः पापैः दृष्टः युतो वा न शुभप्रदः अपि च स्वास्थ्यहानिकरः भवति। यस्य लग्नस्थो चन्द्रः पापग्रहस्य मध्ये भवेत् क्षीणयुक्तः शुभदृष्टिविहीनो भवेत् तर्हि अवश्यमेव जातकेन मानसिकरोगी भवितुं शक्यते नात्रसंशयः।

मानसिकरोगेषु अनेके प्रसिद्धरोगाः विहिताः वर्तन्ते। रोगेषु प्रमखः वर्तते तत्रापि प्रामुख्येन अत्यन्तपीडाजनकं रोगद्वयं वर्तते। यथा अस्मिन् काले जनाःशिरोरोगात् अत्यधिकं प्रभावितवन्तः। कार्यसम्पादनाय प्रातःकालादारभ्य अर्धरात्रिपर्यन्तं कार्यं कुर्वन्ति जनाः तत्कालीनपरिस्थितिजन्यमपि कष्टमनुभूयन्ते।

शिरोरोगस्य कारकत्वम्

वातपित्तादिकोपवशात् मनसि मस्तिष्के च वेदना जायते। वातपित्तदोषवशात् शिरोवेदना सूर्याज्जायमाना भवन्ति मानसिकशिरोवेदना चन्द्रात्, बुधाच्च शिरसि व्रणादिना या वेदना भवति सा तु कुजादिपापग्रहैः विचिन्त्या। केचन रव्यातिप्राप्तयोगाः-

1. एकस्मिन्नेव राशौ राहुकुजशनयः तिष्ठन्ति चेत् शिरोवेदना

2. पापग्रहराशौ लग्ने सति, गुरुचन्द्रौ पापयुतौ चेत् शिरोवेदना एसोत्येशऽशेश्वरांशेशे केन्द्रे पापयुतदृष्टे मस्तकरोगः यमारराहव एकर्क्षगा मस्तकरोगः

3. लग्ने विद्यमानः राहुः पापग्रहेण युतो दृष्टो वा चेत् शिरोवेदना (बृ० यवनजातकम् 8)

4. सूर्यस्य दशाकले शुक्रान्तरदशायां शिरोवेदना जायते।

5. बुधदशायां कुजभुक्तौ च शिरोवेदना भवति।

एवमेव अधिकांशतया जातकानां जन्मकुण्डल्यां गोचरवशादपि च स्थितिः भवेदेवं लग्ने तु पापग्रहाणां प्रभाववशात् जनानां मनसि पीडाः भवन्ति।

अथोन्मादरोगः

1. वातोन्मादः 2. पित्तोन्मादः 3. कफोन्मादः

4. सन्निपातोन्मादः 5. आगन्तुकोन्मादः

मुख्यरूपेण उन्मादरोगस्य परिगणना पञ्चप्रकारैः क्रियन्ते। उन्मादलक्षणान्यधिकानि दरीदृश्यन्ते तदा उन्मादरोगः प्रष्टः वाच्यः (प्रश्नमार्गे:)। प्रश्नमार्गे अष्टविध उन्मादः विवृतोऽस्ति। तद्यथा – 31-31 1/2 प्रश्नमार्गे-

1. लग्नभावे गुरुः सप्तमे भावे शनिः भवति चेदेक उन्मादयोगः।

2. लग्नभावे गुरुः सप्तमे भावे कुजः भवति चेदपर उन्मादयोगः।

3. लग्नभावे शनिः 5, 7, 9 भावे कुजः भवति चेदपर उन्मादयोगः।

4. चन्द्रः मौढ्येन बुधेन युक्तः लग्ने भवति चेदपर उन्मादयोगः।

5. क्षीणचन्दः शनियुक्तो द्वादशभावे भवति चेदपर उन्मादयोगः।

6. क्षीणचन्द्रः शनियुक्तो द्वादशभावे भवति चेदपर योगः।

7. पापयुक्तः बुधः 3-6-12 भावे भवति चेदपर उन्मादयोगः।

उन्मादरोगस्य चिकित्साविधिः -

वातोन्मादे स्नेहपानं पित्तोन्मादे विरेचनम्

श्लैष्मिके नस्यवमनमागन्तुष्वखिलाः क्रियाः।

सर्वे नश्यन्ति चोन्मादा जापहोमादिकर्मतः।। प्र०मा० 12/41, 42

वात उन्मादे स्नेहपानं करणीयम्। पित्तोन्मादे विरेचनस्य दानं करणीयम्। कफोन्मादं नासिकायाम् औषधी आगन्तुकोन्मादे स्नेहयुक्त प्रेमयुक्तश्च सर्वा क्रिया अवश्यमेव करणीया।

उन्मादरोगाणां क्षयार्थं जपः होमादय अनुष्ठानेन विधिपूर्वकमर्चनादि च क्रियते चेत् उन्मादरोगस्य शान्तिः भवति इत्थमुन्मादाः विनष्टाः भवन्ति।

मानसिकरोगस्य प्रमुखकारकः चन्द्रः मानसिकरोगस्य विचारः लग्नभावात् कर्त्तव्यः।

वेश्मसौख्यं मनः प्रीतिं सुहृत्स्वजनसङ्गमम्।

जलोत्थसस्यपानान्नानार्याप्तिं पूर्णचन्द्रमाः।। प्र०मा० 7/13

पूर्णचन्द्रः मनसि प्रीतिकरं भावं जनयति। गृह – सुहृत् वान्धवादिना साकं मधुरसम्बन्धं स्थापयति। अनुकूलप्रतिकूलस्य सुखदुःखस्य च प्रतिनिधित्वं चन्द्रः करोति।

रोगनिवारणोपायाः

रोगानां शान्त्यर्थं अनेकानेकयुक्तिः साधनीय, पूर्वार्जितासु स्वकर्मवशात् रोगः जायन्ते, तदा दैवं प्रतिकूलं वर्तते। दैवप्रतिकूलनिवारणार्थं रोगकारकग्रहस्य रत्नधारणं पूजा-अर्चना-हवनादिकर्मानुष्ठानेन यत् क्रियते तदानुसारेण रोगस्य निवृत्तिः भवति।

जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते।

तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः।। प्र०मा०

रोगस्य शान्तिः

ध्यानमन्त्रजपादिद्वारा एवमोषधीनां सेवनेन च रोगाणां निवृत्तिः शरीरात् भवति।

औषधं पथ्यमाहारं तैलाभ्यङ्गं प्रतिश्रयम्।

रोगिभ्यः श्रद्धया दद्याद्रोगी रोगनिवृत्तये।। प्र०मा०

सम्यक् रीत्या औषधसेवनेन गुरुणां वचनपालनेन च इत्यादि प्रकारेण च रोगस्य निवृत्तिः भवति।

पालनाद् गुरुवाक्यानां देवब्राह्मणवन्दनात्।

वेदादिश्रवणाद्वापि साधूनामपि भाषणात्।

मनः शुद्धेजेपाद्दनाद्धोमाध्वरदर्शनात्।

नो कुर्वन्ति ग्रहाः पीडो दुष्टस्थाने स्थितापि ते।।।इति शम्।।

●

योगस्येतिहासः तत्सामान्यनिर्दशनञ्च

श्रीमणिकान्ततिवारी[*] एवम् प्रो. एस. सुब्रहमण्यम् शर्मा[**]

मानवजीवनस्य सर्वशास्त्रानुमोदितमुख्यलक्ष्यविषयस्त्वेक एव स त्वाऽत्मदर्शनं स्वस्वरूपानुसंधानं वेति। एतस्यैवापरभिधानम् मोक्षप्राप्तिः, त्रिविधदुःखनिवृत्तिः, अज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्चेत्यादयः। एतादृशोद्देशप्राप्तिर्निमित्ताय विभिन्नमार्गाणामुपस्थापनं भवति। तेषु मार्गेषु ''योग'' इत्यभिधानकमार्गस्य प्रायो वैदिककालादारभ्याधुनिककालपर्यन्तं प्रतिस्तरेषु प्रासंगिकता दरीदृश्यते। समाध्यर्थकयुज्धातोः ''योजनं योगः'' इत्याकारकविग्रहे ''भावे''[1] सूत्रेण भावार्थक – 'घञ् प्रत्यये कृते यो योगश्शब्दो निष्पद्यते स अङ्गी अर्थात् फलरूपकोऽसंप्रज्ञातसमाधिवाचकः, तथैव युज्धातोः 'युज्यते चित्तमनेनेति योगः' इत्यस्मिन्विग्रहे 'करणाधिकरणयोश्च'[2] सूत्रेण करणार्थकघञ्प्रत्यये कृते यो योगश्शब्दो निष्पद्यते स त्वङ्गं साधनरूपात्मक संप्रज्ञातसमाधिवाचकश्चेति । योगदर्शनस्य प्रथमसूत्रव्याख्यानावसरे व्यासभाष्ये ''योगः समाधिः स च सार्वभौमिश्चित्तस्य धर्मः[3] अतो योगार्थः समाधिरेव इति स्पष्टम् । योगे चिन्तनप्रधानदार्शनिकदृष्टया तथा च देहादारभ्य चित्तस्य निरोधावस्थितिः पर्यन्तं क्रियात्मकरीत्या द्वौ पक्षौ स्तः । अनयोः पक्षयोः क्रियात्मकपक्षस्यप्राबल्यमनुभवात्सिद्धमिति। अष्टांगयोगे यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधीनां गणना पातञ्जलयोगदर्शने संप्राप्यते । चित्तवृत्तिनिरोधात्मकयोगस्यैतान्यष्टावङ्गानि।

योगस्यादिस्रोतो ज्ञानाय साधनद्वयं वर्त्तते प्रथमस्तु प्राचीनपुरातत्त्वानामवशेषाः, अपरन्तु साहित्यम् । सिन्धुघाटीकालीनसभ्यतायाः प्राप्तपुरातत्त्वानामवशेषैः तात्कालिकभारते योगविद्यायाः प्रचलनमासीदित्यात्मकं प्रमाणं प्राप्यते। एतावतेव प्राचीनसूत्रसाहित्येषु लोकप्रियोपदेशात्मकपौराणिकसाहित्येष्वपि च योगस्य स्वरूप-विस्तारगहनत्वविषये च वर्णनं प्राप्यते। विंशतिश्शताब्द्याः प्रारम्भे प्रागैतिहासिकयुगानामवशेषाः न्यूनमात्रायां प्राप्ताः परञ्च मोहनजोदड़ोहडप्पास्थानयोरन्वेषणेन एकस्याः विपुलसमृद्धसम्पन्ननागरिकसभ्यतायाः ज्ञानमभवत् ।

सिन्धुनद्याः क्षेत्रे एतस्याः सभ्यतायाः विस्तारेणास्या अभिधानन्तु सिन्धुघाटीसभ्यताऽभवत् । मोहनजोदड़ोहडप्पास्थानयोश्चप्राप्तभग्नावशेषेषु किञ्चद्वस्तु एतादृशं वर्त्तते, येनाधारेण ज्ञातुं शक्नुमो वयं यत् तस्मिन्कालेऽपि योगविद्यायाः प्रसार आसीत् । तस्य कालस्य प्राप्तवस्तुषु मुद्राः, धातुप्रस्तरमृत्तिकाभिर्निर्मितमूर्त्तयश्चोपर्यङ्कितालेखाः मुख्यरूपेण योगशास्त्रीयविभिन्नमुद्राणां सूचकाः सन्ति। प्रस्तरनिर्मितमूर्त्तिषु कटिप्रदेशस्याधो भागस्य नाशो दृश्यते। एतेषु मूर्तेषु मनुष्याः कटिवस्त्रयुक्ताः दृश्यन्ते। एतत्सु मूर्त्तिषु नेत्राण्यर्धोन्मीलितानि शाम्भवीमुद्रायास्स्थितध्यानावस्थितानि प्रदर्शितानि सन्ति। विभिन्नमुद्रणेषु त्रिमुखनग्न-नरस्य चतुष्पीठे पद्मासनावस्थितस्थितिः प्राप्यते। मूर्तिखण्डेषु विभिन्नमुद्राणामासनानाञ्च यथा - योनिमुद्रा-शाम्भवीमुद्रा-नभोमुद्रा-पद्मासनादीनाञ्च स्पष्टदर्शनं भवति। जोनमार्सलमहोदयानुसारेण इयं प्राचीनयोगिजनानां मुद्रास्थितिर्वर्त्तते। मूर्तिष्वङ्कितकृतिविषये मतैक्यन्नास्ति । केचन विद्वांसः पशुपतिशिवस्याऽकृति मन्यन्ते केचन त्वादिनाथस्य ऋषभदेवस्येति। विभिन्नमुद्रणेऽङ्किताकृतिः यदि आदिशिवस्य वर्त्तते तर्हि सर्वातिप्राचीनधर्मरूपे शैवधर्मस्याथवा योगतन्त्रस्य स्थितिर्मन्येत । वैदिककालिकविभिन्नसाहित्येऽपि यथा वेदस्य ज्ञानखण्डीयोपनिषदि, आदिकाव्ये, विभिन्नशिवोक्ततन्त्रशास्त्रे च योगस्य स्पष्टोल्लेखः प्राप्यते। उपनिषत्सु तु काश्चिद् पूर्णरूपेण योगशास्त्राश्रितानि सन्ति, यथायोगकुण्डल्युपनिषद् योगतारकोपनिषद्, श्वेताश्वेतरोपनिषदिति। आनुषङ्गिकरूपेण तु प्रायः सर्वत्रैवास्य वर्णनं प्राप्यते । अतो निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्यते यत् वैदिककालादेव योगस्य स्थितिर्वर्त्तते, वेदवदेव योगोऽपि अनादिरिति।

भारतीयास्तिकदर्शनेषु योगदर्शनमप्यन्तर्भवति। योगदर्शनं साङ्ख्यदर्शनस्याऽनुपूरकं शास्त्रमिति शास्त्रज्ञानां चिन्तनं वर्त्तते। अर्थात् साङ्ख्यदर्शनेन लक्ष्यसिद्धयर्थं ये सैद्धान्तिकपक्षाः विमृश्यन्ते, तेषामेव योगदर्शने व्यावहारिकतामादाय विभिन्नसाधनैः प्रयत्नयुक्ताचरणैः प्राप्यते । अत एव योगदर्शनं साङ्ख्यदर्शनस्याऽनुपूरकम् इति वचने नास्ति कश्चित् संशयलेशः। उभयत्र दर्शनेषु वर्णनशैल्यामेव भेदो दरीदृश्यते अर्थात् साङ्ख्ये सैद्धान्तिकवर्णनशैली, योगे च व्यावहारिकशैली, न तु तत्त्वेषु कश्चिद्भेदः।

योगस्य सामान्यार्थः - निखिलचित्तवृत्तीनां मनोव्यापाराणां निरोधनमिति। तदेवोक्तं शेषनागावतारैः भगवत्पतञ्जलिपादैः योगशास्त्रे योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[4] इति। मनुष्याणां समस्तव्यवहाराः चक्षुश्श्रोत्रघ्राणरसनत्वग्रूपज्ञानेन्द्रियपञ्चकैः पाणिपादपायूपस्थवाग्रूपकर्म्मेन्द्रियपञ्चकैः सम्पाद्यन्ते । मानवाचरणस्य

* शोधच्छात्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, 56-57 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, डी ब्लॉक, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

साधनत्वादेतानि दश इन्द्रियाणि करणत्वमाप्नुवन्ति । एतेषां सम्बन्धः शरीरस्य बाह्यक्रियया सत्त्वात् बाह्यकरणानीति व्यवहारो दृश्यते। तथा च मनुष्यः स्वान्तः व्यवहाराय मनोबुद्धध्यहङ्कारान् साधनत्रयानुपयुङ्क्ते । अत्रोक्तबाह्यान्तः करणेषु मनः प्रामुख्यं भजते। एतन्मनः एव बाह्यकरणानां प्रेरकं नाम इन्द्रियाणां सर्वाः अपि क्रियाः मनोऽधीनाः भवन्ति। मनः स्वस्याऽपि निग्रहं करोति, बुद्धयहङ्कारयोः अपि, अनेन उपर्य्युक्तकरणद्वयेषु मनः प्रधानं वरीवर्त्ति । योगदर्शने मनः चित्तमित्याख्यायते, अस्य व्यापाराः चित्तवृत्तिः इति । सम्पूर्णचित्तवृत्तीनां निग्रहः एकाग्रयुक्तमनसा विधीयते। अर्थात् मनसः एकाग्रत्वे सति इन्द्रियाणां समेऽपि व्यवहाराः अवरूद्धयन्त इति। एतदेव चित्तवृत्तिनिरोध, स एव योगः इति कथ्यते । तदेवोच्यते बुधैः - मनः विविधविषयेषु अप्रवृत्त्या, तस्य योगः, अर्थात् शान्ताद्यवस्थाप्राप्तेः या प्रक्रिया युज्यते स एव योगः इति।

यदा मानवस्य शारीरिकमानसिकात्मिकस्थितिः अनियन्त्रिता जायते तदा स्वात्मानं दुःखी अशान्तश्चानुभूय चिन्तायुक्तो भवति। अनेनैव प्रकारेण पदार्थः भावविशेषो वा प्रतिकूलो दृश्यते तदा मनः स्थितिः अव्यवस्थीयते, अशान्तायते च। अशान्तमनः एव दुःखस्य रोगस्य वा कारणम् । तस्मान्मनसः शान्तये य उपायः कल्पितः स एव योगः । यदा मनसः अशान्तत्वमपगच्छति तदा मनसि समता समुत्पद्यते, स एव योगो नाम्नाऽभिधीयते । तदेवोक्तं गीतायाम् भगवद्भिः - समत्वं योग उच्यते इति।[5]

एवं सकलमानसव्यापाराणां निरोधः योगः, यत्र च चित्तवृत्तीनां निरोधोपायाः वर्णिताः तत् योगशास्त्रम् । चित्तवृत्तिभिः एव संसारे कर्म्मबन्धनं जायते, कर्म्मबन्धनैः एव प्राणिशरीरनिष्ठजीवात्मा संसारस्य चतुरशीतिलक्षसङ्ख्यात्मकयोनिषु परिभ्रम्य नानाक्लेशान् सहते। संसारगतदुःखभागयं जीवात्मा तावन्न मुक्तो भवति यावत्पर्य्यन्तं साधनापन्थानं प्रविश्य, चित्तमेकाग्रीकृत्य, तस्य निखिलान्तः बाह्यप्रवृतीन् निरुध्य, तेषु स्वत्वं न निर्वर्त्तयति । मानवस्य चित्तवृत्तिकारणेनैव अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः इति पञ्च क्लेशाः उत्पद्यन्ते। एतेषां पञ्च क्लेशानां शमनाय, व्यावहारिकसाधनापथप्रदर्शनाय च योगदर्शनं प्रवर्त्तते। चित्तवृत्तीनां निरोधेन क्लोशोपशमनात् जीवात्मपरमात्मनोः योगो भवति।

योगशास्त्रकारानुसारम् - मानवीयप्रकृत्या भिन्नतत्त्वैः नियन्त्रणद्वारा पूर्णतां प्राप्त्ये विहितविधिपूर्वकप्रयत्न एव योग उच्यते। चेतनेच्छाशक्तियुक्तमवगमशक्तियुक्तं मनः नियन्त्रणमतीवावश्यकम् । योगशास्त्रे पतञ्जलिना तादृशः अभ्यासाः उक्ताः यैः शारीरिकविकृतीनां चिकित्सा, शरीरस्य मालिन्यनिवारणम्, अपि च एतेषामभ्यासेन शक्तेराधिक्यम् , यौवनाधिक्यम् , स्वास्थ्याधिक्यञ्च सम्प्राप्य तदनन्तरमेतदुपयोगः आध्यात्मिकविकासाय करणीयः, तेन मानवजीवनस्य परमलक्ष्यं कैवल्यं प्राप्तुं शक्नुयाम । न च पातञ्जलेः मुख्यलक्ष्यमाध्यात्मिकप्रतिपादनम्, अपितु व्यावहारिकरीत्यासंयमजीवनेन मोक्षप्राप्तिविधानज्ञापनमेव।

योगेन जीव चैतन्यस्योत्तमपदवीं प्राप्नोति, तेन मानसोपकरणप्राशस्त्यमवलम्ब्य जीवसाध्यसामान्यावधिमप्यतिक्रमितुं सहते। योगशास्त्रेण भारतीयपारम्परिकाधारभूतविचाराः अर्थात् भौतिकजगदापेक्षया आत्मिकस्य श्रेष्ठता, मौनसाधना, एकान्तसेवनम् ध्यानम् , समाधिः, अपि च बाह्यावस्थां प्रति औदासीन्यमित्यादीनां स्पष्टतयावगमनात् आधुनिकविचारधारायाः तुच्छता परिलक्ष्यते। तथा च निःसंकोचरूपेण वक्तुं पारयामो यत् येषां मनोवृत्तिः कृत्रिमबाह्यवस्त्वाडम्बरेण अतिक्रान्ता, रसाभावरूपकठोरपरिश्रमिका, भौतिकलिप्सायुक्ता, इन्द्रियजन्योत्तेजनकरणकात्मयथार्थानुभवविरक्ता च वर्त्तते, तादृश्याः वृत्तेः पूताय योगसाधनातीवावश्यकी।

एवंरूपेण पातञ्जलयोगदर्शनस्य धारणाऽस्ति यत् मानवः तज्जीवनस्य समस्तकल्पनातीतनिधिभिः सम्पन्नः, येन किमपि पातुं समर्थो भवति। दर्शनमिदं जीवं गाम्भीर्यक्रियास्तरप्राप्तिपथं बोधयति। योगः शरीरस्य मनसः आत्मनश्च शुचितामाधाय ब्रह्मानन्दमयस्वरूपस्य साक्षात्कारार्थं सिद्धतामादधाति।

संसारस्य निखिलशुभाशुभकर्म्मणि प्रवृत्तेः मूलकारणं मनः एवाऽस्ति । चञ्चलात्मकं मनः इति तर्कशास्त्रीरित्या मनुष्यस्य मनसः चाञ्चल्यं स्वतः सिद्धमेव। मनसः चाञ्चल्यादेव दृढव्रतीनां, महातपस्विनां, योगिनां, सन्यासिनाञ्च व्रततपःसाधनायोगादयोऽपि भ्रष्टीभवन्ति । यो मनुष्यः वश्यमनस्को भवति, स एव साधनायां पूर्णतामवाप्य लक्ष्यसिद्धौ सफलीभवति। मनः, तस्य व्यापाराणां निरोध अत्यन्तावश्यकः। एकाग्रतयाऽभ्यासनैरन्तर्य्येण च तद्वृत्तयः अवरुध्य मनः वशं कर्त्तुं शक्यते । पूर्णरूपेण एकाग्रतया मनः वशीकृत्य नित्यस्थिरतां प्राप्नोति, तदानीं प्रमाणजन्यानुभवविरुद्धसत्यस्य साक्षात्कारो जायते, अलौकिकस्य सत्ययैहिकसत्यानुभवविरुद्धः स्वाभाविक एव। नानासाधनविशेषैः उपायैश्च चित्तवृत्तिनिरोधमूलकैः आत्मसाक्षात्कारो नाम पारमार्थिकसत्यानुभव एव भगवत्पतञ्जलिना योग इति व्यवह्रियते।

योगः सामान्यतया द्विविधः- सम्प्रज्ञातयोगः, असम्प्रज्ञातयोगश्च । तत्रापि आद्यः सम्प्रज्ञातयोगो द्विविधः सविकल्पकः निर्विकल्पकश्च । एवम् अन्तिमासम्प्रज्ञातयोगस्तु निर्बीजसमाधिः (धर्म्ममेधसमाधिः) इति कथ्यते। असौ निर्बीजसमाधिरेव योगस्य परमं लक्ष्यम्, एतेनैव आत्मनः स्वरूपप्रतिष्ठापनं नाम कैवल्यं भवति। केचित् विद्वान्सः योगस्य सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन द्वैविध्यममन्यमानाः त्रैविध्यं स्वीकुर्वन्ति, तन्मते तु सविकल्पयोगः, निर्विकल्पकयोगः निर्बीजयोगश्चेति । अनेन मतान्तरेण योगस्य मौलिकता न नश्यते।

महर्षिपतञ्जलिना प्रतिपादितयोगोऽन्तिम राजयोगः, यतो हि मनसः चाञ्चल्यं दूरीकृत्य समाध्यवस्थायाः प्राप्तुं सहायकप्रक्रियायाः विशदप्रतिपादनं करोति। हठयोगप्रतिपादितसिद्धान्तानुसारं हठयोगः कायिकक्रियासु आधिपत्यसम्पादको वरीवर्त्ति । देहवशीकरणं पातञ्जयोगस्यैकदेशः एव। एवं प्रकारेण अद्यत्वे प्रसिद्धयोगः वस्तुतः हठयोगराजयोगयोः मिश्रितस्वरूपः एवास्ति। योगदर्शननाम्ना ख्यातिलब्धे दर्शनशास्त्रे प्रचलितः योगोऽपि हठयोगराजयोगयोः मिश्रितस्वरूपः, यस्मिन् मनः शरीरयोः समस्तक्रियाणां निरोधनं विधाय जीवात्मनः मुक्तिः एव प्रधानप्रतिपाद्यो वर्त्तते।

मन्त्रयोगस्तु विश्वासचिकित्साऽधृतोऽस्ति । प्राचीनभारते अनेकस्थानेषु मन्त्रादिना समस्तकार्य्यसिद्धयर्थं दीर्घकालपर्य्यन्तमुपायाः बोभूयेरन् । एवं भारते मन्त्रादिप्रयोगः दीर्घकालिकः आसीत् । वर्त्तमाने ईसाईविचारकाः मन्त्रविधिप्रयोगः स्वमतपरिणामः इति वदन्ति । तन्न, एकधर्मावलम्बिविश्वासचिकित्सेति वक्तुं न पारयामः। एम क्युईमहोदयाः प्राचीनचिकित्सां स्मारयन्ति। विश्वासद्वारा चिकित्साकरणं प्रकृतिव्यवस्थायां हस्तक्षेपो नास्ति । स्नायुजालसम्बद्धरोगः, इच्छाऽऽघातजन्यरोगः, मानसिकाऽऽघातजन्यरोगश्चेत् एव मन्त्रैः चिकित्सा सम्भवा।

ईश्वरनिष्ठास्थया तन्निष्ठविश्वासेनैव कतिपयैः आचार्य्यैः योगः सेश्वरसाङ्ख्य इति नाम्नाऽपि व्यवह्रियते। किन्तु ईश्वरस्य प्राप्तिः योगस्य चरमं लक्ष्यं नास्ति, अपितु अलौकिकस्वात्मानुभव योऽसम्प्रज्ञातसमाधेः परिणामः तथा च योऽनिर्वचनीयाऽखण्डानन्दरूपोऽस्ति । योगः प्राणेषु ईश्वरस्य धारणा असम्प्रज्ञातसमाधिपर्य्यन्तं गमनसाधनमात्रमस्ति । योगस्येश्वरः निर्विकारः परमात्मा वर्त्तते, न तु जगतः स्रष्टा नियन्ता वा। अनेनैव परमात्मना सह जीवात्मनः संयोगः एव योगो वर्त्तते । एवञ्च सांसारिकवियोगनामकः प्रकृतिपुरुषवियोगः योगः इति कथ्यते । अनेन प्रकारेण योगस्याऽऽधारोऽनुभवः, योगस्य सम्बन्धः आन्तर्जगता सहाऽस्ति, न तु बाह्यसंसारेण । काँश्चन शारीरिकक्रियाः अवश्यं बाह्यसंसारस्य द्योतकाः, किन्तु एताः योगस्य प्रथमसोपानः एव। अतः एताः योगस्य मूलाधाराः न सन्ति।

योगशास्त्रस्योच्चतमोद्देश्यः मोक्षप्राप्तिरेवाऽस्ति। तथा च तदुद्देश्यप्राप्त्यर्थं शास्त्रोऽस्मिन् विविधसाधनानां साङ्गोपाङ्गविवेचनं प्रस्तुतम्, येन मनुष्यः अज्ञानावरणं भङ्क्त्वा स्वात्मप्रकाशेनाऽऽलोकितो भवति । तदैव सः स्वात्मानमनुभुय परमात्मनः साक्षात्कारे समर्थो जायते। जीवात्मपरमत्मनोः संयोग एव योगोऽभिधीयते। एनं जीवात्मपरमात्मनोः समवस्थाजन्यः समाधिः इत्याख्यायते।मेदिनीकोशानुसारं योगशब्दप्रयोगः अर्थान्तरेषु प्राप्यते -

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिव्यानयुक्तिषु ।

वपुः स्थैर्य्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे ।। इति ।।

अर्थात् अपूर्वार्थसम्प्राप्तौ, सङ्गत्याम् , ध्याने, युक्तौ, शरीरस्थिरतायाम्, प्रयोगे, विष्कम्भे, भेषजे चेत्यादिष्वर्थेषु योगशब्दः प्रयुज्यते । अस्माकं संस्कृत्याः, सभ्यतायाः, सकलविद्यानाञ्च स्रोतांसि वेदाः इति मन्यन्ते धीमद्भिः। वेदाः अस्माकं निखिलशास्त्रविद्यानामुद्गमस्थानिकाः प्राचीनतमग्रन्थाः सन्ति। एतेषामीश्वरकृतत्वादपौरुषेयाः ऐश्वर्य्यज्ञानपरिपूर्णाश्च सन्ति। योगविद्यायाः बीजमपि वेदे विद्यमानत्वात् योगपरम्परायाः अपि आदिमस्रोतः वेद एव भवति । प्राचीनकालादेव ऋषिभिः महर्षिभिः योगविद्याभ्यासः परमतत्त्वस्य साक्षात्काराय, आत्मकल्याणाय, मोक्षप्राप्तये च क्रियते स्म। अत एव वक्तुं पारमायो वयं यत् योगपरम्पराऽपि तावती प्राक्तना वर्त्तते यावान् सृष्टिः, तद्विकासक्रमश्चेति नात्यत्राऽतिशयोक्तिः । योगशब्दाप्रयोगः वैदिकमन्त्रेषु, शतपथब्राह्मणे उपनिषत्सु दरीदृश्यते । महाभारतस्य मोक्षधर्म्मप्रकारे साङ्ख्ययोगयोः विशदी चर्चा प्रवर्त्तते।

यदि यस्य कस्याऽपि ज्ञानस्य मूलतत्त्वं वेदाः स्युः, तर्हि तत्परवर्तिग्रन्थेषु उपनिषदादिषु च तज्ज्ञानस्य तद्विद्यायाः वा विकासः पर्य्याप्तरूपेण प्राप्यते । अत एव अस्याः विद्यायाः मूलस्रोतः उपनिषदेवेति भ्रमात्मकज्ञानं भवति। योगविद्याविषयेऽपि एष भ्रमप्रतीतिर्वर्त्तते। उपनिषत्सु योगविद्यायाः विस्तरात् ताः एव मूलभूतत्वेन प्रसिद्धिं प्राप्ताः । यद्यपि अष्टाधिकशतसङ्ख्यात्मिका एव औननिषत्परम्परेति श्रूयते, किन्तु अद्यत्वे द्विशताधिकोपनिषदः प्राप्यन्ते। अतः विवादविषयोऽयं परित्याज्य एतदेवोच्यते यत् अक्षयज्ञानराशिरूपोपनिषत्सु योगस्य विवेचनं व्यापकतया सुश्रूयत इति। तत्रापि प्राधान्येन ऋग्वेदस्य कौषीतकिब्राह्मणे, नादबिन्दौ च, शुक्लयजुर्वेदस्य बृहदारण्यके, हंसे, त्रिशिखाब्राह्मणे, मण्डलब्राह्मणे, अद्वयतारके च, कृष्णयजुर्वेदस्य कठतैत्तिरीयकैवल्यश्वेताश्वतराऽमृतबिन्द्वमृतनादक्षुरिकातेजोबिन्दुध्यान-बिन्दुब्रह्मविद्ययोगतत्त्वयोग- शिक्षायोगकुण्डलिनीवराहेषु च, सामवेदस्य छान्दोग्यमैत्रायणीमैत्रेयीयोगचूड़ामणिजाबालदर्शनेषु च, अथर्ववेदस्य मुण्डकशाण्डिल्यपाशुपत्ब्रह्ममहावाक्योपनिषत्सु योगविषयकविचाराः तद्विवेचना च प्रस्तूयते, यो गाम्भीर्य्यमननपरिणामस्वरूपोऽस्ति । अन्यास्वपि उपनिषत्सु योगचर्चा प्रसङ्गानुसारं दृश्यते एव। उपनिषदामुत्तरवर्त्तिग्रन्थेषु साहित्येषु च विस्तारेण अल्पेन वा योगसम्बद्धविचाराः समुपलभ्यन्ते। क्रमेऽस्मिन् दर्शनशास्त्रोद्भवः सञ्जातः तत्र आत्मा, तद्विषयकविचाराः विवेचिताः, तेन योगस्य वैशद्यं सञ्जातम् । एवञ्च योगविद्या स्वातन्त्र्येण दर्शनरूपेण दृष्टिपथमागतम् , तथा च षट्सु दर्शनेषु प्रमुखस्थानं प्राप्तम् । योगस्य दर्शनरूपेणप्राप्तोपलब्धेः श्रेयः भगवत्पतञ्जलिपादाः एवलभन्ते। एतैः योगदर्शनसिद्धान्तानां

क्रियात्मकरूपं प्रदाय मनुष्यजीवनाय अत्यन्त्योपगित्वमेषां साधितम्। दर्शनेऽस्मिन् आध्यात्मविद्या तर्कप्रमाणैः परिमापिता नास्ति, अपितु व्यावहारिकत्वप्रदर्शनेनाऽस्य मानवमात्रस्य अपरिहार्य्याङ्गत्वेन प्रतिष्ठापितम् । अन्ये दार्शनिकास्तु याकोबीवर्य्याः योगस्य स्वतन्त्रशास्त्रत्वमङ्गीकुर्वन्ति । तत्रैव फ्राऊवालनरमहोदयाः याकोबीवर्य्याणामवधारणा षड्दर्शनाधारीभूता उत्तरवर्त्तिनी इति वदन्ति। एवमेते साङ्ख्ययोगौ एकदर्शनस्यैव भागद्वयमिति स्वीकुर्वन्ति। एतेषां मते योगः दार्शनिकविद्या एव नास्ति, अपितु कैवल्यप्राप्तये सर्वजनोपयोगी मार्गः सुलभश्चास्ति । तथा च वृषगणाः साङ्ख्यसिद्धान्तस्य प्रमुखव्याख्यातारः सन्ति, तथैव पतञ्जलिरपि साङ्ख्यस्यैव प्रायोगिकस्वरूपस्य योगदर्शनस्य व्याख्यातेति मन्यते।

योगशास्त्रे दर्शनानन्तरवत् मतभेदाः न सन्ति। अनेन शास्त्रान्तरैः स्वलक्ष्यानुसारं योगविद्या स्वीक्रियते, तत्रापि योगस्य मोक्ष एव परमलक्ष्यमिति प्रसिद्धम् । धर्म्मशास्त्रेष्वपि योगदर्शनमिदं प्रमुखस्थानं लभते। धर्म्माचार्य्यैः योगविद्याम् आत्मसात्कृत्य स्वाचरणेन सामान्यजनान् अपि तदाचरणाय प्रेरयन्ति । अनेन योगदर्शनस्य सिद्धान्ताः सामान्यजनेषु व्यावहारिकरूपेण प्रतिष्ठापिताः योगिभिः । योगदर्शने साङ्ख्यतत्त्वानि अक्षरशः न स्वीक्रियन्ते, अपि च साङ्ख्येतरदर्शनानामपि प्रभावो दरीदृश्यते।

जैनदर्शनेन योगविद्यायाः विधीन् संस्कृत्य परिष्कृत्य चात्मसादकारि। नैकेषु विषयेषु जैनधर्म्मयोगविद्ययोः समत्वं दृश्यते। तस्मादेव जैनधर्म्मानुयायिनः तीर्थङ्कराः योगमुद्रां संधृत्य योगिनः बभूवुः। साधनायाम् आचरणशैथिल्यं वारणाय साधनाध्यानौ परिष्कृत्य काठिन्यमादधन्तः, तेन कैवल्यमार्ग प्रशस्तीकृतवन्तः। तेनैव प्रकारेण बौद्धेरपि भिक्षूणामाचारणाय योगविधयः अनिवार्य्याङ्गत्वेन स्वीकृताः। एतदतिरिच्य अन्यैः साधुसन्यासिभिपरि योगविद्या एव स्वलक्ष्यं प्रापि। एवं रूपेण योगक्षेत्रमतिविस्तृतं वर्त्तते। अद्यत्वेऽपि यदा मानवः जातिदेशधर्म्मादिबन्धनानि मुक्तवा योगोन्मुखाः भवन्ति । प्राचीनकाले योगविद्यां साधनत्वेन स्वीकृत्य तेन आत्मकालुष्यमपाकृत्य निर्मलतां साम्पादयन्ति स्म। किन्तु आधुनिकयुगे तु योगो नाम शारीरिकमानसिकस्वास्थ्यरक्षकः चिन्तामुक्तकः भौतिकसाधनोपलब्धक इति मन्यन्ते । एवं कालप्रभावात् मोक्षसाधनत्वरूपेणाग्राह्य देहस्वास्थ्यबाह्यप्रदर्शनाय प्रसिद्धिङ्गतः।

तथा च औपनिषदीयकाले योगस्वरूपं तदुत्तरवर्त्तिकाले न दृश्यते, कालेन परिवर्त्तनं सञ्जातम् । एवं पुराकालाद्भिन्नो योग अधुना कतिपय आसनरूपेणैवाधृतो वरीवर्त्ति । केचन पाश्चात्यविद्वान्सः अष्टाङ्गयोगविधयः न चित्तवृत्तिनिरोधाय, अपितु, पुरुषस्य स्वस्वरूपावस्थानबोधायेति वदन्ति। अष्टाङ्गविधिभिः विवेक उत्पद्यते, तत्स्वरूपन्तु - पुरुषः प्रकृतेर्भिन्नः इति । एतदेव कैवल्यमस्ति । अष्टाङ्गविधिः ज्ञानात्मिकोऽस्ति, चित्तवृत्तिनिरोधस्य ज्ञानात्मिकाभावात् न योगविधिः सः । वस्तुतस्तु उभावति कैवल्यं चित्तवृत्तिनिरोधश्च योगस्याऽभिन्नाङ्गान्येव ।

योगस्य भेदाः

उपनिषदि योगस्य चर्चा वैशद्येन संश्रूयते । योगाध्ययनेन ज्ञायते यत् योगप्रतिपादकोपनिषत्सु ध्यानाभ्यासज्ञानकर्म्मक्रियामन्त्रलयहठराजयोगाः भेदत्वेन स्वीक्रियन्ते। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषदि योगो मोक्षोपलब्धिसाधनं इति प्रतिपाद्य ज्ञानकर्म्मयोगभेदेन द्वैविध्यमस्य निरूपितम् । तथा च -

ज्ञानयोगः कर्म्मयोग इति योगो द्विधा मतः[6] ।।

अत्र कर्म्मयोगाय क्रियायोगशब्दः प्रयुक्तः । एवञ्च वराहोपनिषदि मन्त्रलयहठयोगभेदेन योगस्य त्रैविध्यमुल्लिख्यते । उपनिषदन्तरेषु पूर्वोक्तभेदत्रयेण सह राजयोगमपि परिगण्य चातुर्विध्यमाचख्यन्ते । तदेवोच्यते -

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः[7] ।।

मन्त्रो हठो लयो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात् ।

एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते[8] ।।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये।

मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा[9] ।।

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्वदर्शिभि ।

आसनं प्राणसंरोधो ध्यानञ्चैव समाधिकः[10]।।

चतुष्टयात्मकयोगस्य ''प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयमि'' ति प्राणापानसमायोग इति लक्षणं विहितम् । अन्यत्र शास्त्रान्तरेषु ध्यानासनसमाधिप्राणायामोः चतुष्टयाः योगाङ्गात्वेन स्वीकृताः-

एतच्चचतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्।

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशरदैः[11]।।

मन्त्रयोगः

मन्त्रयोगे ब्रह्मविष्णुशिवदेवतानां मन्त्रैः जाप्यं वत्सराजर्षिवद् सिद्धि प्राप्नुवन्ति,

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा।

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसञ्ज्ञितः[12]।।

साधकानां मन्त्रजपेन सिद्धिप्राप्तिः कथं भवतीत्युच्यते

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशात् तु यो जपेत् ।

क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।।

अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः[13] ।

यः साधकः मातृकाद्युक्तमन्त्रैः द्वादशवर्षपर्य्यन्तं जपादिकं विधाति सः क्रमशः अणिमादिसिद्धिविषयकज्ञानं प्राप्नोति। अनेन मन्त्रयोगेन अल्पधीमतोऽपि योगिनो भवन्ति । मन्त्रयोगे सामान्यजनाः नैरन्तर्य्यश्वासनिः श्वासेन मन्त्रं कथं जप्यते इत्युच्यते-

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।

हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ।।

गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।

सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते[14] ।।

अर्थात् मनुष्यस्य श्वासः हकारेण निर्गच्छति, सकारेण पुनः प्रविशति। एवं सर्वैः श्वासोच्छवासरूपेण हंस हंस इति मन्त्रजपः क्रियते । अत्र गुरुवाक्यप्रभावात् सुषुम्नायां तद्वयत्यासेन सोऽहम् , सोऽहम् इति मन्त्रं जप्यते, स एव मन्त्रयोगोऽभिधीयते ।

एवञ्च इष्टदेवतायाः मन्त्रजपनमेव मन्त्रयोगः । पुराकाले सम्भवतः मन्त्रयोगसाधकः अधमसाधकत्वेन गण्यते स्म।

लययोगः

नवचक्रेषु संलग्नो भूत्वा सिद्धिप्राप्तिरेव लययोगो वर्त्तते । शास्त्रेषु लयोयोगस्वरूपमित्थं प्रतिपादितम् -

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसञ्ज्ञितः।

नवस्वेत हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः ।।

अर्थात् कृष्णद्वैपायनादिमहात्मभिः नवचक्रेषु लयं प्राप्य योगसिद्धिकरणमेव लययोग उच्यते। केषुचन शास्त्रेषु लययोगः चित्तलय इति सञ्ज्ञायते -

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरेक्यं यदा भवेत् ।

तदैक्ये साधिते ब्रह्मन् ! चित्तं याति विलीनताम्[15]।।

पवनः स्थैर्य्यमायाति लययोगोदये सति।

लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्[16]।।

यदा जीवात्मपरमात्मनोः ऐक्यं भवति, तदा चित्तं लीनतां प्राप्नोति। लययोगोत्पन्ने सति वायुः स्थिरतां याति। तेन लयप्राप्तित्वेन स्वात्मानन्दरूपसौख्यं परमं पदञ्च प्राप्यते।एवञ्च लययोगः आत्मपरमात्मनोः ऐक्यप्रक्रियाऽस्ति । योगेऽस्मिन् चित्तं स्वयं विलीय तन्मयि भवति। अस्याभ्यासात् अलौकिकस्वात्मानन्दोऽनुभूयते, तल्लोकोत्तरवर्णनातीतो भवति।

हठयोगः

हठशब्दघटकहकारः सूर्य्यवाचकः, हठशब्दघटककारः चन्द्रवाचकः, एतद्द्वयोः ऐक्यमेव हठयोगः, तदेवोच्चयते -

हकारेण तु सूर्य्यः स्यात् ठकारेणन्दुरुच्यते ।

सूर्य्यचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।।

हठेन गृह्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्[17]।

अर्थात् हकारवाच्यसूर्य्यठकारवाच्यचन्द्रमसोः ऐक्यं हठ इति कथ्यते । अस्माद्धठात् सर्वदोषोत्पादिका जड़ताऽपि विनश्यति। हठयोगेन शरीरस्थमलानि दूरीभवन्ति, तस्मात् देहशुद्धिर्जायते । हठयोगेन पूतशरीर एव राजयोगाय उपयुक्तो भवति। योगेनानेन विवेकस्य मार्गः प्रशस्तो जायते।

योगतत्त्वोपनिषदनुसारं हठयोगस्य विंशतिसङ्ख्यात्मकाङ्गानि भवन्ति । तत्र प्रथमाष्टाङ्गानि तु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इति प्रसिद्धाष्टाङ्गान्येव । अन्यानि द्वादश महामुद्रा-महाबन्ध-महावेध-खेचरी-जालन्धबन्ध- उड्डियाबन्ध-मूलबन्ध-दीर्घप्रणवसन्धान-सिद्धान्तश्रवण- वज्रोली-अमरोली-सहजोलीत्याख्यात्मकानि सन्ति। एतेषां विशत्यङ्गानामभ्यासाद्धठयोगसिद्धिर्भवति ।

राजयोगः

सम्पूर्णयोगस्याधारत्वेनाऽधृतयोगः राजयोगः । योगशास्त्रोक्तप्रत्याहारतः समाधिपर्य्यन्तं चत्वारि अङ्गानि राजयोगेऽन्तर्भवन्ति। अष्टाङ्गेषु अन्तर्भूतयमनियमौ तु सर्वसाधारणाय व्यवहार्य्यावेव । तत्र नित्यं आसनप्राणायामभ्यासेन शारीरिकस्वास्थ्यं संवर्ध्यते। ज्ञानविवेकसाधनाकर्म्मबन्धनेभ्यः मुक्तये, कैवल्याय च प्रत्याहारध्यानधारणासमाधयः उपयोगिनः, एतेषामभ्यास एव राजयोग उच्यते ।

उपनिषदि रजसः रेतसश्च योग एव राजयोगः, रोतसिति शिववाचकः, शरीरस्य सूर्यः, रजसिति च शक्तिवाचकः शरीरस्य चन्द्रःतयोः शक्तिशिवयोः योगः राजयोग इत्यभिधीयते। तदेवोक्तम्-

रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृतः।

अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः[18]।।

हठयोगस्य उक्तविंशत्यङ्गानामभ्यासं विना राजयोगो न सिद्धयति। राजयोगसिद्धौ सत्यां योगिनः विवेकवैराग्यमुत्पन्ने सति परमपुरूषोत्तमविष्णुः साक्षात्क्रियते।

योगस्याष्टाङ्गानि

योगस्याऽष्टाङ्गत्वेन प्रसिद्धानि – यमनियमासनप्राणायामप्रात्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टङ्गानि[19] इति।

एतेषामष्टाङ्गत्वादेव योगदर्शनम् अष्टाङ्गयोग इत्यप्यभिधीयते । एतेषामाचरणात् को वा लाभ इति जिज्ञासायां पतञ्जलिनोक्तम् -

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः[20]।। इति ।।

एतेषामभ्यासेन चित्तमलमपगम्य निर्मलायते । सः योगी आत्मस्वरूपं बुद्धीन्द्रियाहङ्कारेभ्यः पृथक्तवेन प्रत्यक्षीकरोति। उक्ताष्टाङ्गानि मानवजीवनस्य शुद्धीकरणायातीवावश्यकानि। प्रवर्त्तमानयुगेऽस्मिन् स्वार्थपरिग्रहादुराचारप्रवृत्तिवशात् मानवजीवनस्य आस्थायाम्, नैतिकमूल्येषु, उत्तमादर्शेषु च ह्रासत्वं समागतम् । तस्मात् मानवः यथार्थान्मुक्तः सन् कृत्रिमताडम्बरभौतिकतोन्मुखी भवति। तेन प्राचीनसंस्कृतेः सभ्यतायाश्च मूल्येष्वल्पताऽऽगता । योगाभ्यासेनाऽन्तः करणशक्तीनां प्रवर्धनाद्विचारहीनत्वं दूरीभवति। तस्मात् मनुष्यजीवनं सरलं सात्विकञ्च सञ्जायते।

अष्टाङ्गघटकाद्यद्वयं यमनियमौ मनुष्यस्य नैतिकविकासाय उपयुज्येते । उभयोः सम्बधः मानवाऽन्तःकरणेन वर्त्तते। एताभ्याम् अन्तःशुद्धिर्जायते, तेन सात्विकभावोत्पन्नत्वात् मानवस्य आत्मिकशक्तेः विकासः सम्भवति। आत्मिकशक्तिवर्धनात् भौतिकजगत् हेयमिति मत्वा तत्तद्विषयेषु निवृत्तमानसः स्वात्मानुभवे केन्द्रीभवति। यमैः अहिंसासत्याऽस्तेब्रह्मपरिग्रहाभ्यासैरू दुर्वृत्तिं त्यजति। एवञ्च नियमैः शौचसन्तोषतपस्वाध्ययेश्वरप्रणिधानमाध्यमैः स्वान्तः करणविकारानपाकृत्य ऋजुत्वं भजते।

आसनप्राणायामेत्यङ्गद्वयेन मनुष्यस्य शारीरिकक्रियाः नियन्त्रयति। उभाभ्यां मानवशरीरः स्वस्थः रोगमुक्तो भवति, विकारयुक्तशरीरोऽपि एतयोरभ्यासात् स्वस्थतां प्राप्नोति। आसनान्यत्र विशेषेण नानाङ्गविहितभिन्नक्रियारूपाणि । प्राणायामोऽस्तु दीर्घश्वासग्रहणतदवरोधनप्रक्रियेति । योगस्य प्रत्याहाराङ्गेन इन्द्रियाणां बाह्यप्रवृत्तिः नियम्यते। प्राणायामेन मनः इन्द्रियाणि संशुद्धय, प्रत्याहारेण च इन्द्रियाणां बाह्यप्रवृत्तिम् अन्तः सम्पाद्यते। साधनासिद्धये प्रत्याहारः प्रमुखसाधनं वर्त्तते । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराः इति पञ्चाङ्गानि बहिरङ्गसाधनानीत्युच्यन्ते। एतेषां साधनायाः बाह्यस्वरूपेणैव सम्बन्धत्वात् । धारणाध्यानसमाधयस्तु साधनायाः अन्तर्भूतसाधनानि। अत्र धारणा नाम मनसः एकदेशावच्छिन्ने स्थिरीकरणमिति । एतदेव चित्तस्य देशबन्ध इत्यपि सञ्ज्ञायते। तदा चित्तं ध्यायं ध्येयाकारे परिणतिं प्राप्य स्वस्वरूपाभावे सति पृथगनुभूतिविरक्तं सन् ध्यानमेव समाधिरूपेण परिणमति। यस्मात् जीवात्मपरमात्मनोः संयोगात् अक्षयपदं मोक्षं प्राप्नोति।

संदर्भ सूची

1. पा० सू० 3/3/18
2. पा० सू० 3/3/117
3. यो० सू० पृ० सं० 2
4. यो० सू० 1/2
5. गीता 2/48
6. त्रि० ब्रा० उ० 23
7. यो० त० उ० 19
8. यो० शि० उ० 1/129-130
9. यो० रा० उ० 1
10. यो० रा० उ० 2
11. यो० रा० उ० 3
12. यो० रा० उ० 4
13. यो० त० उ० 21-22
14. यो० शि० उ० 1/130-132
15. यो० रा० उ० 4-5
16. यो० शि० उ० 1/134-135
17. यो० शि० उ० 1/ 133-134
18. यो० शि० उ० 1/134
19. यो० द० 2/29
20. यो० द० 2/28

सहायकग्रन्थसूची

1- पातञ्जलयोगदर्शनम् – पतञ्जलिः- चौखम्बसंस्कृतप्रकाशनम्, वाराणसी, वि०स० 2067

2- हठयोगप्रदीपिका- स्वात्मारामः - गोरक्षनाथमन्दिरः गोरखपुरम् - वि० सं० 2058

3- गोरक्षसंहिता, श्रीगोरक्षनाथः - गोरक्षनाथमन्दिरः, गोरखपुरम् - वि०सं० 2058

4- घेरण्डसंहिता, हिन्दाव्याख्या - श्री घेरण्डः, डॉ० राघवेन्द्रशर्मराघवः- चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, देहली - 2009

5- योगरसायनम् – स्वामिब्रह्मानन्दः, पांडुरंगजावप्रकाशनम् मुम्बई

6- शिवसंहिता, हिन्दाव्याख्या - डॉ० राघवेन्द्रशर्मराघवः - चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, देहली - 2011

7- शैवोपनिषदः- महादेवशास्त्री – ओरियन्टलबुकसेन्ट, देहली - 2008 ई०

8- सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः- श्रीगोरक्षनाथः, स्वामीद्वारिकादासशास्त्री- चौखम्बाविद्याभवनम् वाराणसी- 2006 ई०

9- 108 उपनिषद् साधना खण्ड, रामशर्मा आचार्य, शांति कुंज हरिद्वार, 2005 ई०

10- Anatomy of Hathyoga - Coulter H. David - MLBD New Delhi- 2007

11- Light on Yoga - Lyengar B.K.S. Harper Collins Publisher London-1996

BREAST FEEDING AND WEANING PRACTICES DURING EARLY CHILDHOOD IN RELATION TO DIFFERENT CASTE GROUP IN URBAN AND RURAL AREA

PROF. B. B. KHARE* AND SUPRIYA KHARE**

This research work aims to highlight the breast feeding and weaning practices existing in different caste groups of urban and rural part of Varanasi district which is affected by traditional and cultural values. This is a unique study which reflects the effect of traditional and cultural values existing in Varanasi district in different caste groups of urban and rural parts of Varanasi district. This study will be helpful to public health policy makers in issuing the recommendations for improving safe and healthy practices during breast feeding and weaning and also in finding reasons for promoting proper breast feeding practices which helps in taking health care of the new born.

Breast feeding practices are widely used in urban and rural areas of the country which are affected by the traditional and cultural values prevailing in the community. WHO/UNICEF[1-4]have emphasised the importance of breast feeding practices which should be improved in the country to prevent the infants from various morbidities and infections. Various recommendations and suggestions have been issued by WHO/UNICEF[3] and breast feeding policy-statement based on the report of the special committee was formed. In developed countries the IMR declined due to breast feeding practices, use of hygienic method, better environmental facilities and better living standard, introduction of early weaning, sanitation and access of health services have beneficial effect on infant health. The breast milk is not only the best complete food for infants but also have anti-infective and anti-allergic properties. Plank and Melavesi[5], Agarwal et al.[6-7] and Mihrshahi et al.[8] have shown that artificially fed infants are more prone to diarrhoeal, respiratory and other infections more commonly as compared to breast feed babies. The breast fed new born babies have reduced clinical infection and also have several advantages in improving infant health[9]. The use of substitute milk, their preparation with unsafe water, unclean bottles and unhygienic methods of cleaning bottles/utensils used have more chances of repeated infection[10].Kumari et al.[11] have emphasised on the initiation of breast feeding of new born infants over other traditional pre-lacteal new born feed knowledge, attitudes and new born feeding practices. Gupta and Gupta[12] have studied the infant feeding practices in Punjab and the effect of intervention of education on it. Rao and Rai Pathak[13] have pointed out that during the critical period of infancy, breast feeding and weaning practices plays an important role in determining the growth of an infant. Ommenet al.[14] have studied the breast feeding practices of urban and rural mothers. Mandalet al.[15]have studied feeding practices in urban slum area of West Bengal. Rogers et al.[16] have objective to identify the specific cultural and behavioural factors that might be influenced to increase colostrum feeding in rural area of North Ethiopia to improve infant health. A country wide study was planned by Indian Academy of Paediatrics to study the current trends in infant and early childhood feeding practices with the following objective:

1. To find the current status of infant and early childhood feeding practices covering all States and Union Territory of the country.
2. To identify the impact of parental education, caste, socio-economic status, place of residence on infant feeding.
3. To identify the time of weaning and various weaning foods used in different caste, religion and socio-economic groups.

The report on the collaborative study *"Current Status of Infant and Early Childhood Feeding Practices"* sponsored by Indian Academy of Paediatrics' was published by Agarwal et al.[10] Further, Khare ct al.[17] published the work on feeding and weaning practices during infancy and early childhood period for various ten important States of India.

∗Professor and Head, Department of statistics, Institute of Science, Banaras Hindu University, Varanasi.
∗∗Research Scholar, Department of statistics, Institute of Science, Banaras Hindu University, Varanasi.

WHO recommended the practice of exclusive breast feeding of infants for the first six months after birth. Breast feeding is a simplest, healthiest and least expensive method. It fulfils the infants need for nutrition and growth and it also reduces the child mortality. Some cultural beliefs and misconceptions prevailing in the society affect the breast feeding practices. No proper knowledge regarding timing, duration, correct technique of feeding, importance of breast feeding is available in the society. Maiti et al.[18] have studied the breast feeding of mothers having child less than three years to access the knowledge, attitude and actual practices. It was an observational (cross-sectional) study at immunization clinics of Odisha. In Tamil Nadu, some studies such as prevalence of exclusive breast feeding practices among rural women, breast feeding and weaning practices among literate mothers, knowledge, attitudes and regular practice of breast feeding have been studied by Radhakrishnan and Balamuriya[19], Dondekar et al.[20], and Chinnasami et al.[21]respectively.The breast feeding and weaning practices are affected by the traditional system and cultural values which was prevailing in the community from a long time. There were various studies on breast feeding and weaning practices in urban and rural areas in different parts of the countries are available on the basis of cross-sectional studies mainly based on Hospital clinics. The present study was conducted to find to find the traditional and cultural effect on breast feeding and weaning practices prevailing in upper caste (UC),other backward caste (OBC) and scheduled caste (SC) residing in rural and urban parts of Varanasi district. The study also aims to find the pattern and trend of feeding practices prevailing in different caste group mothers residing in urban and rural part of Varanasi.

1. Material and Methods

1.1 Source of collection of data

The data for study of breast feeding and weaning practices during early childhood was collected from rural and urban part of Varanasi district during year 2000. Some urban and rural areas in Varanasi district was purposely selected where families having mothers with children below 36 months belonging to upper caste, backward caste and Scheduled caste were available. The data of urban and rural part of Varanasi district for different caste groups reflects the traditional and cultural values on the breast feeding and weaning practices during infancy and early childhood which are inherited among the mothers from a long time. The upper caste groups contains Brahmins, Kshatriyas, Vaishyas, Kayasthas and other persons belonging to higher caste of other religion other than hindus. The backward caste consists Yadavas, Sonkar, Koayari,Kahar,Kushwaha,Kurmi, Rajbhar, Mauryas, Thathera etc. So, this study was designed to see the existing pattern of breast feeding and weaning practices, hygienic practices used and the effect of existing environmental profile among the different group of families of urban and rural part of Varanasi district and also to find the remedies and suggestions for the improvement of breast feeding and weaning practices during infancy and early childhood.

1.2 Sampling Design

All the urban and rural areas of Varanasi district were considered under the study and purposely those urban and rural areas were selected were families belonging to OBC and SC resides. The upper caste group families were selected mainly from urban areas of Varanasi. The sample of size 300 was selected for urban and rural part belonging to different caste group are given as follows:

Upper caste	Backward caste		Scheduled caste	
urban	Urban	rural	Urban	rural
70	45	67	42	126

The questionnaire was prepared and the data was tested on the basis of pilot survey and further several omissions and addition of questions followed by improvements in some questions in the questionnaire was made. The final questionnaire was filled using personal interview method. The whole data was analysed using SPSS software and Statistical Analysis was carried out using different test for significance.

The majority of families of upper caste, OBC and SC are belonging to middle class families and nuclear family in urban and rural areas. The data was collected at home from the urban and nearby parts of rural area where OBC and SC families are residing.

2. Feeding Practices for new born after delivery

After delivery, the feeding practices used for first feed, method of first feed and time for first feed are very important factor which are related to health of new born. Various methods are traditionally used by the older persons and the advice of neighbour doctor/

nurse are prevailing in the community. It is important to note the prevailing practices after delivery and to suggest proper measures for healthy use of practices to new born.

Table 1: Percentage Distribution of first feeding practices for new born after delivery in families according to caste and Place of residence.

	Upper caste	Backward caste		Scheduled caste	
	urban	**Rural**	**Urban**	**Rural**	**Urban**
First feed after delivery	**(69)***	**(67)**	**(45)**	**(125)**	**(42)**
water	7.2	4.5	-	4.8	4.8
Glucose	44.9	16.4	13.3	6.4	2.4
Sugar Water	27.5	31.3	64.4	30.4	42.9
Honey	8.6	26.9	15.5	28.0	28.6
Dilute Milk	7.2	16.4	-	15.2	7.1
Pure Milk	-	3.0	4.4	7.2	11.9
Breast Milk	4.3	1.5	2.2	8.0	2.4
Method of First Feed	**(68)**	**(67)**	**(45)**	**(126)**	**(42)**
Bottle	4.4	1.5	6.7	3.2	2.4
Earthen Diya	-	3.0	2.2	7.1	-
Cotton swab	66.2	74.6	68.9	65.1	59.5
Steel Bowl	4.4	1.5	11.1	11.1	2.4
Any metallic utensil with cotton swab	20.6	17.9	6.7	8.7	33.3
Breast	4.4	1.5	4.4	4.8	2.4
First Breastfeeding after delivery	**(69)**	**(67)**	**(45)**	**(125)**	**(42)**
(0-6)hrs	23.2	11.9	31.1	19.2	4.8
(6-12)hrs	58.0	35.8	28.9	25.6	2.4
(12-24)hrs	14.5	19.4	13.3	13.6	7.1
(24-48)hrs	2.9	4.5	13.3	9.6	11.9
(48-72)hrs	1.4	28.4	13.3	32.0	73.8

*Figures in parentheses gives sample size.

2.1 First feed after delivery

It has been observed that water, glucose, sugar water, honey, dilute milk, powder milk and breast milk are more prevalent as first feed to the new born after delivery. From table 1, we observe that the upper caste women belonging to urban area mainly (72.4%) give glucose/ sugar water as first feed. In case of OBC women in urban area 13.3%, 64.4% and 15.5% give glucose, sugar water and honey respectively while in case of rural area glucose (16.4%), sugar water (38.3%), honey (28.9%) and dilute milk (16.4%) was being given to new born as first feed. Majority of

women belonging to SC in urban and rural area using sugar water, honey and dilute milk/ milk (urban: 83.4%; rural: 73.5%).

2.2 Method of first feed

The method used for first feeding are mainly bottle, earthen diyas, cotton swab, steel bowl/ metallic pot and breast were traditionally used in practice. From the table 1, we observed that majority of women of upper caste (urban: 91.2%), backward caste (urban: 85.7%; rural: 84%) and Schedule caste (urban: 95.2%; rural: 84.9%) are using cotton sab and steel bowl/ metallic pot with cotton swab.

2.3 Time for first feed after delivery

From the table 1, it has been observed that upper caste women (urban: 95.7%), backward caste (urban: 73.3%; rural: 67.1%) and SC women (urban: 14.3%; rural: 58.4%) gave first breast feed to their babies during 24 hrs. Only 2.9% and 1.4% women of upper caste belonging to urban area gave first feed to their babies on second and third day while it was observed that major percentage of women belonging to backward caste (urban:13.3%; rural:28.4%) and Schedule caste (urban:73.8%; rural:32%) gave first breast feed on the third day.

3. Duration and time for exclusive breast feed

Table 2: Percentage distribution of duration and time for exclusive breast feed.

	Upper caste	Backward caste		Scheduled caste	
	Urban	Rural	Urban	Rural	Urban
Duration of exclusive Breastfeeding(in months)	**(69)**	**(63)**	**(42)**	**(121)**	**(38)**
1-3	17.4	15.9	9.5	18.2	21.1
4-6	63.8	34.9	50	43.8	55.3
7-12	14.5	47.6	23.8	28.1	21.1
>12	4.3	1.6	16.7	9.9	2.6
Minimum	2	1	1	1	1
Maximum	20	18	26	24	24
Mean	5.86	6.94	8.67	7.18	6.11
Median	6.00	6.00	6.00	6.00	6.00
Standard deviation	3.44	3.60	6.27	4.60	4.05
Duration of exclusive Breastfeeding to elder child(in months)	**(49)**	**(55)**	**(40)**	**(101)**	**(34)**
1-3	8.2	7.3	2.5	13.9	5.9
4-6	61.2	36.4	42.5	35.6	61.8
7-12	22.4	49.1	35.0	32.7	23.5
>12	8.2	7.3	20.0	17.8	8.8
Minimum	2	1	1	1	3
Maximum	25	24	36	24	24
Mean	7.29	8.62	10.60	8.38	7.15
Median	6.00	7.00	7.00	7.00	5.50
Standard deviation	4.96	4.46	7.93	5.02	4.45
When child is breastfeed	**(69)**	**(67)**	**(45)**	**(126)**	**(42)**
On demand	69.6	77.6	77.8	86.5	90.5
On schedule	30.4	10.4	17.8	11.9	9.5
On demand and on schedule	-	11.9	4.4	1.6	-

3.1 Duration of exclusive breast feed to new born

From table 2, we observe that the minimum duration of exclusive breast feed was one month and maximum duration was 26 months among the families of upper caste, backward caste and SC. It is remarkable to note here that 50% women of each caste belonging to urban and rural areas gives at least six months exclusive breast-feed to their new-born babies. It has also been observed that majority of women of upper caste (urban: 95.7%), OBC (urban: 83.3%; rural: 98.4%) and SC (urban: 97.4%; rural: 90.1%) give exclusive breast feed up to one year. The average exclusive breast feed was minimum 5.86 months among upper caste urban women while it was maximum among the backward caste (urban: 8.67 months) and SC women (rural: 7.18 months).

3.2 Duration of exclusive breast feed of elder child

The exclusive breast feed among the mothers of just elder child was minimum one month and maximum 36 months. It was observed that 50% of the urban women of upper caste give exclusive breast feed for six months while 50% of women of OBCs (urban and rural) and SC (rural) gives exclusive breast feed for 7 months. While only, 50% urban women of SC gives exclusive breast feed for 5.5 months only. The majority of the women of all UC, BC, SC belonging to urban and rural area were using exclusive breast feed up to 1 year. But, the percentage was comparatively less than the percent of the present study in each case. The mean time for exclusive breast feed was 7.29±4.96 in urban area of the upper caste. The (mean± sd) time for BC (urban 16.6±7.93, rural 8.62±4.46) and SC (urban 7.15±4.45, rural 8.38±5.02) women. These figures are significantly higher than the mean values of the present study women. This shows that on the average the females of all the communities gave exclusive breast feed for their elder child for a greater period than the present women. These results show that the present women of different castes in urban as well as rural area pay less attention on exclusive breast feeding.

3.3 Time for child breast feed

The women generally breast feed to their child on demand, on scheduled times and either on demand or on scheduled time. From the table 2, it has been observed that majority (69.6 to 90.5%) women breast feed their child on demand and 9.5 to 30.4% women breast feed to the child on schedule. it was observed that only 11.9% rural and 4.4% urban women of BC and only 1.6% of women breast feed to their child on demand or on schedule.

4. Age of starting supplementary milk with/without breast milk

The women start feeding supplementary milk with or without breast feed. The use of supplementary milk without breast feed was noted among the SC women of rural area. From table it was observed that the majority of the females of upper caste(urban), BC (urban, rural) and SC starts supplementary milk up to 2 months only.1.5% to 4.3% of females of upper caste (urban), BC(rural) and SC (urban) start supplementary milk after 12 months. It is to be noted that about 50% of the women of different castes in urban and rural area start supplementary milk after 6 months. Only SC (urban) female starts supplementary milk at an early age of 5.5 months. This is due to the poor nutritional status of the female of SC residing in urban area. The mean age of starting supplementary milk in upper caste (urban) and SC (urban) women were found to be 5.77 and 5.52 months. in upper caste families the mean value is low because of ignorance and personal health care while in SC caste, it is due to the poor nutritional status.

From the table 3, it is seen that UC (urban), BC (urban and rural) and SC (urban) are not using supplementary milk without breast milk. Only 25% SC (rural) women are starting supplementary milk without breast milk and among them 45.2% and 54.8% women are using supplementary milk with and without breast milk up to 12 months and more than 12 months respectively. The maximum age for starting supplementary milk without breast feed was 48 months. This is due to the poor nutritional status, economic condition and the traditional practices prevailing in the community. It was also observed that 50% of the women started supplementary milk without breast feed after 15 months. While 5% of the women started supplementary milk with breast feed after 6 months in all caste belonging to urban and rural area except 5.5 months in SC of urban area.

Table 3: Percentage distribution of breast-feeding versus supplementary feeding in families with respect to caste and Place of Residence.

	Upper caste	**Backward caste**		**Scheduled caste**	
	Urban	**Rural**	**Urban**	**Rural**	**Urban**
Age of starting supplementary milk along with breast-feed(in months)	**(70)**	**(65)**	**(44)**	**(126)**	**(42)**
0-3	18.6	18.5	13.6	21.4	28.6
4-6	62.9	33.8	47.7	42.1	50.0
7-12	14.3	46.2	22.7	27.0	19.0
>12	4.3	1.5	15.9	9.5	2.4
Minimum	0	0	0	0	0
Maximum	20	18	26	24	24
Mean	5.77	6.72	8.27	6.95	5.52
Median	6.00	6.00	6.00	6.00	5.50
Standard Deviation	3.49	3.74	6.39	4.70	4.25
Age of starting supplementary milk without breast-feed(in months)	**(0)**	**(0)**	**(0)**	**(31)**	**(0)**
0-3	NA	NA	NA	9.7	NA
4-6	NA	NA	NA	6.5	NA
7-12	NA	NA	NA	29.0	NA
>12	NA	NA	NA	54.8	NA
Minimum	NA	NA	NA	0	NA
Maximum	NA	NA	NA	48	NA
Mean	NA	NA	NA	17.65	NA
Median	NA	NA	NA	15.00	NA
Standard Deviation	NA	NA	NA	12.85	NA

5. Age of introducing Semi solid to the new born

The introduction of semisolids among new born should not be made at an early age, due to weak immunity of the new born digestion of the semisolid by the new born is not appropriate. However, the introduction of the semisolid at a proper age should be given to the child as it fulfils the need of the protein, carbohydrate and calories of the children.

From table 4, we observe that about 5% of women gives semisolid to the children between age 7 to 12 months. The majority 36.7% and 56.7% women of upper caste introduce semisolid to the babies between the age 4-6 and 7-9 months respectively. The women of backward castes (rural) are mainly introducing semisolid to the babies between 7-9,9-12 and 13-18 months respectively. The maximum 4.63% women of urban area belonging to BC introduce semisolids to their babies between 7-9 months.

Table 4: Percentage distribution of age of introducing semisolids food in different families in relation to caste and Place of residence.

	Upper caste	Backward caste		Scheduled caste	
	Urban	Rural	Urban	Rural	Urban
Age for introducing semi solid food(in month)	**(60)**	**(51)**	**(41)**	**(65)**	**(35)**
1-3	-	-	-	-	2.9
4-6	36.7	-	12.2	6.2	20.0
7-9	56.7	25.5	46.3	29.2	37.1
10-12	1.7	29.4	12.2	27.7	25.7
13-18	-	39.2	9.8	12.3	8.6
19-24	1.7	3.9	12.2	16.9	2.9
25-30	1.7	2.0	4.9	4.6	-
31 & above	1.7	-	2.4	3.1	2.9
Minimum	4	7	6	6	3
Maximum	36	30	36	36	36
Mean	8.17	13.61	12.56	14.89	10.26
Median	7.00	12.00	9.00	12.00	8.00
Standard Deviation	5.39	4.80	7.31	7.68	6.27

The majority 29.2%, 27.7%and 29.2% women of SC introduce semisolids between age 7-9, 10-12, 13-24 months in rural area. In urban majority 20%, 37.1% and 25.7% women of SC living in urban area introduce semisolid between the ages 4-6,7-,and 10-12 months. The mean age of introducing semisolids in upper castes (urban: 8.7±5.39), Backward castes (urban: 12.56±7.31), rural (13.8±4.8) and SC (urban: 10.26±6.27, rural: 14.89+7.68) was observed. The mean age of introducing semisolids in backward (urban and rural) and SC (rural) is significantly higher than the upper caste and SC urban women babies.

Conclusion

From the results of the present study we conclude as follows:

1. Majority of the families of UC (urban) used glucose (44.9%) and sugar water (27.5%) as first feed after delivery while the families belonging to BC and SC mainly feed sugar water and honey as first feed after delivery.
2. Majority of the families (UC : 81.2(urban), BC: 47.7 (rural), 60% (urban), SC : (44.8% (rural),7.2%(urban)) give first breast feeding within 12 hours except in case of SC where majority of families give first breast feed between (48-72)hours in urban area (73.8%) and rural area (32%).
3. The median age for exclusive breast feed is 6 months for all caste while mean age for exclusive breast feed was 8.67 months, the maximum in case of BC (urban).
4. The time for exclusive breast feed was highest amongst elder children of different castes than in the case of new born of the present study.
5. The age of starting supplementary milk along with breast feed was highest in BC (urban) and lowest in SC (urban). The practice of starting supplementary milk without breast feed was found only in SC (rural).
6. The use of semisolid started from 3 months to maximum 36 months. The mean age of starting

semisolid was maximum (14.89 months) in SC (rural) and minimum (8.17 months) in UC (urban).

References

1. Report of the Govt. of India to the Joint UNICEF/WHO Meeting on "Strategies for Health for all by the year 2000", New Delhi (1979) SEA/HFA/Meet 319.
2. World Health Organization Contemporary patterns of breast feeding Geneva, WHO, 1981.
3. Recommendations of Joint WHO/UNICEF meeting on infant and young Feeding of Oct. 1979(Held in Geneva 9-12 Oct 1979).
4. Report on the National Seminar on implementation of strategies for promoting infant feeding March, 1984, NIPCCD.
5. Plank S. and Melavesi L: Infant feeding and infant mortality in rural child, WHO Bulletein1973, 48, 203-210.
6. Agarwal D. K, Katiyar G.P and Agarwal K N. Feeding practices in the District Varanasi. Ind. Pediatr 1981, 18: 65-70.
7. Agarwal D K, Agarwal K N, Tiwari I C, Singh R and Yadav K N S, Breast feeding practices in urban slums and rural areas of Varanasi J. Trop Pediatr 1982, 82:89-92.
8. MihrshahiS, Oddy W H and Peal J K , Association between infant feeding pattern and diarrhoeal and respiratory illness: A cohort study in Chittagong Bangladesh, Int. breast feed journal 2008, 3 (1), 23-28.
9. Grant James, P The state of world children UNICEF Publication 14-17, 1984.
10. Agarwal D K, Agarwal K N and Khare B B (1985).Current status of infant and early childhood feeding practices (Report on the collaborative study sponsored by Indian Academy of Pediatrics). Published by UNICEF New Delhi & BHU printed at Rekha Printers PVT. Ltd, New Delhi-110020.
11. Kumari S, Saili A, Jain S, Rhargavau U, Gandhi G and Seth P Maternal attitude and Practices in initiation of new born feeding. The Ind. J Pediatrics.(1988) 55:905,
12. Gupta A, Gupta S, Obstetric and infant feeding practices in Punjab. Effect of education intervention. Indian Pediatrics (1992), 29, 333-335.
13. Rao S and Rai Pathak V, Breast feeding and weaning practices in relation to nutritional status of infants. Ind Pediatr. 1992, 29 (2), 1533-39.
14. Ommen A, Watsa M, Paul VK, and Agarwal R, Breast feeding practices of urban and rural mothers. Ind. Pediatr 2009, 46(10), 691-94.
15. Mandal P K, Sardan J C and Chaterjee C, A study on breast feeding practices among infants in rural area of West Bengal. Ind. J. of Prentive and social Med, 2007, 38(12), 28-31.
16. Khare B B , Agarwal D K and Agarwal K N, Feeding and weaning practices during infancy and early childhood period in India, Ind. J. Prev. soc. Med. 1993,24(4),126-138.
17. Maiti A, Sarangi L, Sahu SK and Mohanti S S, An assessment on breast feeding and weaning practices in Odisha, India: American J. of Public Health Research, 2015, 3(4a), 49-52.
18. Radhakrishnan S and Balamuriya S S: Prevalence of exclusive breast feeding practices among rural women in Tamil Nadu, Int. J. of Health and Allied Sciences, 2012, 1(2), 64-68.
19. Dandekar R H, Shafee M and Kumar R, Breast feeding and weaning practices among literate mothers: A community based study I rural areas of Perambalur, Tamil Nadu, The Health Agenda 2014, 2 (1), 15-21.
20. Chinnasami B, Sundar S, Kumar J Sadasivam K and Pasupathy S. Knowledge, Attitude and practices of mothers regularly Breast feeding in South India Hospital, Biomedical. Pharmacol. J. 2016, 9 (1), 680-89.

●

CONTEMPORARY ISSUES OF LAW

SHAMBHU SHARAN* AND PROF. B. TRIPATHI **

In recent years, certain issues of significance have been prominently dealt with either throzugh courts of law or through ordinances and policies. Women, children and patients in permanent vegetative state have got certain judgments addressing different issues related with them. Be it on Euthanasia, Adultery or Death Sentence. There are some sub-themes emerging with the main themes like children living in jails along with their mothers or recalling a long overdue of the practice of full court reference after the death of advocates par excellence, for academicians par excellence too.

Though it is not possible to refer all cases related to the vulnerable class in one write up, therefore, the paper has focussed only on some of the contemporary issues of law. It has been divided under parts.

Part one

Lest we forget…

James Heckman the Nobel Laureate has rightly observed that quality early childhood development can be an important contributor to a successful national economic development strategy. The importance of children and child care is well established though various International conventions, declarations and National Policies and programmes made for ensuring the 'Best Interest of Children[i]'. So far as the sensitivity of early childhood is concerned, the Human Development Report (HDR) released in July 2014 lays great emphasis on early childhood as the most sensitive phase in the formation of life capabilities. The first 1,000 days of life, between a woman's pregnancy and her child's second birthday, are recognised by child development authorities as the critical window of time for influencing lifelong health and intellectual development. India now has a National Early Childhood Care and Education (ECCE) Policy 2013 that lays down government's commitment to providing the comprehensive inputs necessary for the holistic development of all children below six years of age.

It is also noticeable that in relation to the significance of the first 1,000 days in the formation of life capabilities, it is important to recognise that children will not reach their full potential through nutrition alone. There is ample evidence from research in the neurosciences that the development of the brain is dependent upon the stimulation he/she receives in early childhood. The argument between nature and nurture is over. Genetics and early experience play an equal part in shaping our cognitive abilities; though brain development continues through life, its pace is most rapid in the first few years. Scientists point out that half of all potential for mental development is reached before the age of three. Psychosocial stimulation is hence the key to optimal brain development in early childhood.

Edwin H. Sutherland[ii] through his theory of 'Differential Association', tried to establish that 'Criminal Behavior Is learned'. It is mainly relevant to secondary deviance like jails, leading to a notion that criminal behavior is learned through the differential association with criminals following the definition of law violations. The criminogenic influence of incarceration has worsened the pitiable conditions of prison inmates. It has been described by number of memoirs of prison survivors[iii].

Hon'ble Supreme Court is continuously focusing on prison reforms and release of those under trial prisoners who have spent more than half of the period of punishment in jails[iv]. A decade has passed after the verdict of R.D.Upadhyay[v] case regarding adoption of welfaristic, reformative and rehabilitative measures for those children who are living with their mothers in jails.

Following the jurisprudence of Criminal Law ie; presumption of innocence, burden of proof, beyond reasonable doubts, and benefit of doubt a considerable number of accused persons is exonerated from criminal liability and it may also happen with female accused persons.

---

* Research Scholar, Faculty of Law, Banaras Hindu University, Varanasi.
** Professor, Law Faculty, Banaras Hindu University, Varanasi.

Against this backdrop, an attempt has been made to highlight the importance of emergent intervention for the cause of children so that justice is done with those who are living with their mothers in prisons of India. A miscarriage of justice primarily is the conviction and punishment of a person for a crime they did not commit. The doctrine of 'double jeopardy' proscribes double punishment for single offence. In case of female offenders an absolutely innocent infant/child is prescribed to live with his mother (either convicted or under trial) in jail up to the age of six years. It is not only a gross violation of Human Rights but also a severe miscarriage of justice through which such children are exposed to learn criminal behavior. It can only be solved through enacting and implementing provision for suspension of punishment of those female offenders who are either pregnant or having children below the age of six years.

It is an appeal towards the cause of basic and fundamental human right of innocent babies who are suffering without any fault of their own. It is a high time to take up this issue seriously so that they may not turn to the adult criminality.

Part Two

Tribute to academicians

Rajeeva Dhavan, an advocate par excellence, a human rights activist, and a Commissioner of the International Commission of Jurists, author and co-author of numerous books on legal and human rights topics, a regular columnist in the leading newspapers and reputed journals in India wrote an article on "Death of Distinguished Lawyers Where will the Next Ones Come From"(EPW,24 JUNE, 2017). In the article he has not only paid tribute to two eminent lawyers Anil Divan and Tehmtan Andhyarjuna, but also taken a discourse on a significant aspect in the legal space. It is quite inspiring that Rajeeva Dhavan, being blessed by a towering personality, has recognized Anil Divan and Tehmtan Andhyarjuna as the best in knowledge, acumen and forensic ability. He has enriched the lawmen through his wonderful article on "Publish and be damned: the Contempt power and the present at the bar of the Supreme Court" (1979) and book on Contempt of Court and the Press (1982). Only a man of his stature can enrich the readers with huge information, comment and critique over trend of full court reference.

It can be submitted, that there should also be a full court reference on the death of an academician par excellence because he/she also serves the nation through their academic writings. Professor Lotika Sarkar who died on 23rd Feb, 2013, was the first Indian graduate and received Ph.D degree from Cambridge University was inclusive, sharp, humorous, pioneer, activist and multifaceted figure and fought for the change in Rape Laws after the infamous Mathura Rape case. She had written number of books too. National Policies and Legal Reforms (1980) Handbook on Women and Law (1990) and Women's Movement and the Legal Process (1995) are a few. She had suffered enormous agony and trauma when she had to go from pillar to post to get back her property.

With this humble submission I would like to say at last that till Rajeeva Dhavan is enlighting the Court the "Grand Advocates" can never be thing of the past. If we could start paying tribute to the academicians, they can also not be a thing of the past.

Part Three

Right to have a dignified death

A 538 page judgment delivered by five judges Constitution Bench in the case of Common Cause V. Union Of India[vi], focusing on philosophy, morality, dignity and economics of life, uphold the negative connotation of ' Right to Die' under the positive fundamental right of 'Right to Live' with certain safeguards. Now right to die with dignity is a fundamental right.

Since superficial observations spread over very easily and convey wrong messages to mislead the people in general and youth in particular therefore, an attempt has been made to mention those apprehensions and raise few questions with certain observations to be taken into account in further proceedings.

Apprehensions; 1) No one knows the extent up to which the right of 'Right to Die' will reach (Due to such apprehensions Ignorance of Law is still not a defence in Criminal Law of India). 2) The judgment favors state's public health insurance scheme lest it should avoid the enormous cost of intensive care and treatment. 3) The judgment may lead to exclude the attempt to suicide from the purview of an offence. 4) The judgment may be treated as a wonderful remedy by those declared legally bound to take care of their parents and elderly[vii].

After infamous case of Nirbhaya, it was established in Shakti Mills case of Mumbai that raped person is not a victim rather survivor who does not

lose its composure at the time of identification parade and 'rape is worse than death' is a patriarchal connotation. Thus, the judgment based on a pathetic and vegetative condition of Aruna Shanbaug (a rape victim) raises a question that 'are we Aruna Shanbaug in waiting' who should execute the 'living will' till we are of 'sound mind' as no person of sound mind ever thinks for death in a vegetative condition barring a few who are under severe depression, stress and dismay.

The observation ends with two more questions first, does the judgment follow Western Medical Jurisprudence of 'Do Not Resuscitate' while accepting 'Passive Euthanasia' as passive euthanasia is nothing but an omission of a duty. Second, do those criminals punished for life imprisonment till there last breath could demand for passive euthanasia as there is neither dignity nor probability of reform in their remaining life.

However, we should also not forget the middle class phenomenon of the judgment.

Part Four

Decriminalization of the offence of adultery

Nearly two decades are left with the completion of two centuries old controversy of the offence of adultery. Right from the Draft Penal Code till the recent petition filed by Joseph Shine attempts have been made to discern the contours of the offence of adultery. In the case of Joseph Shine V. Union of India[viii] the Supreme Court has struck down 158 year old Section 497 of the Indian Penal Code, which criminalizes adultery, as unconstitutional.

Section 497 IPC draws certain influences on substantive and procedural aspects viz; the accused married or unmarried, must have sexual intercourse not amounting to rape with a woman whom he knows or has reason to believe to be the wife of another person who has neither consented nor connived for such sexual intercourse. After commission of such act only the husband is entitled to file a complaint against the accused who can be punished with maximum five years of punishment if found guilty. The wife of the complainant is neither treated as *participis- criminis* nor as an abettor and the wife of the accused if he is married, is not entitled to file complaint against her errant husband and left with only one civil remedy of seeking divorce against him.

Apart from section 497 IPC, there is another relevant provision in the form of exception 1 of section 300 dealing with sudden and grave provocation, mainly invoked while murdering one's wife after founding her in a compromising situation, if sufficiently proved, the husband is held guilty of murder converted into culpable homicide.

Historically Adultery has been a common deviance among major societies. This has been recognized under Hindu, Muslim and Roman systems of law. Lord Macaulay had decided not to make adultery an offence but the Law Commission in its second report did not think it advisable to exclude the offence of adultery, therefore, it stood in its present form under section 497 IPC. Almost after 100 years the Law Commission could not succeed in making the offence gender neutral in its 42nd report by recommending culpability of both man and woman guilty of the offence and reducing the quantum of punishment from five to two years. Though, at that time also the commission did not recommend the right of the wife of errant husband to file complaint against him.

So far as the Constitutionality of section 497 on substantive as well as procedural aspects is concerned the Supreme Court has observed on every occasion that the arguments challenging the constitutional validity go to policy of law and not to its legality. Meaning thereby, unless the section is modified by a Criminal Law Amendment Act, the provisions will be held constitutionally valid.

Time and again the very construction of law has been criticized as sexist, biased and prejudiced. The term consent and connivance always poses women as subaltern, subordinate and submissive. At this juncture when an individual is back on the agenda and right to sexual privacy has been recognized as a fundamental right and three judges bench headed by the Chief Justice of India has observed the biblical provision of adultery as archaic and when the petition has been referred to a constitutional bench to deal with the controversial issues engaged in the offence of adultery, it observed that "Any provision of law affecting individual dignity and equality of women invites wrath of constitution. It's time to say that husband is not the master of wife. Legal sovereignty of one sex over other sex is wrong"[ix],

The judgment of CJI Misra held that Section 497 violated a woman's right to dignity, resulting in infringement of Article 21 of the Constitution of India. The judgment borrows from the findings of Justice

Nariman's judgment in Triple Talaq case. The Court however clarified that adultery will be a ground for divorce. It was also stated that if an act of adultery leads the aggrieved spouse to suicide, the adulterous partner could be prosecuted for abetment of suicide under Section 306 of the IPC. The judgment also struck down Section 198(2) of the Code of Criminal Procedure, as a consequence of striking down of Section 497 IPC.

Part Five

'No more Rustom now'

Perhaps no one has forgotten the blockbuster Bollywood thriller movie ' Rustom', released in 2016. It was based on a classic case named K. M. Nanavati v. State of Maharashtra[x]. Actually, the exception 1 of section 300 of Indian Penal Code deals with such sudden and grave provocation by reason of which the offender is deprived of the power of self- control and causes the death of the person giving provocation or of any other person by mistake or accident. This exception, subject to the satisfaction of 3 provisos mentioned therein, converts murder into culpable homicide.

In India as well as in English law the confession of a wife that she had committed adultery is enough to cause provocation to any reasonable man. Though courts have opined differently over applying subjective and objective test conjointly or separately to determine the case of provocation but they are having unanimous opinion over accepting the exception in case of murdering either perpetrator's own female spouse or her paramour. Right from the case of Boya Monigadu v. Queen Empress the judicial trend, while accepting adulterous relationship as sufficient enough to cause sudden and grave provocation, has re-established the deep rooted, prejudiced and patriarchal mindset in which wife is merely a chattel of his husband who cannot cross the *Laxman- Rekha* (boundary) of marital relationship. The judiciary would have been appreciated more had it opined to suggest the husbands to take divorce in spite of murdering any one.

Since adultery itself has been decriminalized by the Supreme court of India, therefore, I would like to submit two suggestions, first, that cases of murder due to spouses' adulterous union should not be covered under 'sudden and grave provocation' either through subjective test or through objective test or both and second, one more proviso should be added to exception 1 of section 300 IPC which should run as under-

Proviso 4 – That the provocation is not given by the adulterous union of spouse.

Part Six

Death sentence: Deterrence Unanswered

The process of making of laws is a very important feature of the justice system in general and criminal justice system in particular. Since it is a fact that all laws are made by the legislature in an anticipation of not to be broken. But it is also a fact that laws are broken. Though it is not a fact that after every case of breaking of law, the public will show as much resentment as it has shown in Mathura case or Nirbhaya case or Unnao or Kathua case. Again, it is a fact that after every such resentment, laws have been thoroughly amended following a fact that public memory is very short.

Presently, we are concerned with the Criminal Law Amendment Act, 2018 for making laws more stringent and more draconian. It has again changed the Criminal law as a whole ie; the IPC, CrPC, IEA along with POCSO[xi].

Enhancing the quantum of punishment after every high profile case does not achieve its avowed objective of deterring the persons having criminal proclivity. It rather victimizes the survivor, as we have seen in Shakti Mills case of Mumbai.

The existence of Death Sentence has been recognized as a political compromise long back. Therefore, politics on every commutation and on every execution is *sine-qua-non* of vote banking. Forthcoming elections have always played a role of catalysts in exaggerating the issue.

The political ideology cannot be discerned through execution of one and commutation of other. However, the academic discourse could certainly be divided into two parts ie; retaintionists and abolitionists. So long the sentence exists in Statute, any case of final verdict imposing Death Sentence should be dealt with as an advanced stage or last stage of cancer. Where the patient knows that he is on the verge of death. Despite the fact he and his family strive for every single movement. Operation though dangerous but opted as last resort in anticipation of miracle if it could happen. In such case no one can distinguish between funeral fire and mental worry[xii] as

observed by Justice Jagannatha Shetty in Smt.Triveniben v.State of Gujrat[xiii] that funeral fire burns only the dead one while the mental worry burns the living one. In cancer it is the funeral fire which burns the patient through mental sress and agony. Similarly, a mercy petition is a petition in anticipation of commutal but neither the time limit within which a petition should be disposed of, nor the certainity of commutal is mentioned in the Statute Book. Meaning thereby, *Volenti-Non-Fit-Injuria* maxim should be applied in such cases and delay in disposal should not be treated as a ground of commutal of Death Sentence into Life Imprisonment.

A judge himself may be in favour of Death Sentence in one case with strong arguments and in another may argue against the Death Sentence. Now the time has come to reconsider one thing either one is in favour of existence of Death Sentence in Statute Book for any relevant crime or is against the Death Sentence without taking into account the case of crime like abolitionists, Countries, Conventions and Committees.

The most relevant cases of delay in Death Sentence are the cases in which the convicted person has not filed the mercy petition and silently waiting for their execution and date is either not fixed or if fixed than postponed due to some reason or the other.

Death sentence is a sentence which is highly debatable, delayed and denied in most of the cases as it has to be applied in 'rarest of the rare[xiv]' case followed by aggravating and mitigating circumstances in traditional offences. So again and again making provision of death sentence while considering a particular offence as capital offence only consoles the public sentiment till a new Unnao or Kathua takes place.

Therefore, it is submitted that the Government would have been appreciated more had it assured severity, celerity and certainty of punishment as sine-qua - non of deterrence. We hope that now we shall have a policy of establishing more special courts, more forensic labs, trained and sensitized police and prosecutors, more medical and rehabilitative facilities to restore the survivor and the society.

Concluding observations

In an overview of some of the contemporary issues of law, the paper tried to touch the issues of children, women and patients. The judgment, through which an attempt has been made to protect the individuality of wife, also creates scope for further intervention in the qualified immunity of sudden and grave provocation. The last part of the paper focuses on the penological purpose of death sentence as to whether it deters or not.

References

i United Nations Convention on Rights of Children, 1989, Article 3

ii Edwin H. Sutherland and Donald R. Cressy, Principles of Criminology, General Hall, Rowman and Littlefield publishers, INC, Eleventh Edition, 1992

iii See, www.nytimes.com,www.wordswithoutborders.org

iv Bhim Singh V. Union of India,5-09-2014,pib.nic.in, accessed on 3-05-2016

v R.D. Upadhyay V. State of A.P and Others, 13-04-2006,http/indiakanoon.org,accessed on 3-04-2007

vi 09-03-2018, www.livelaw.inaccessed on26-03-2018

vii See, Maintenance of Parents and Senior Citizen Act, 2007.

viii September 27,2018, www.livelaw.com,accessed on 05-10-2018

ix Ibid;

x 1962.AIR 605

xi See, Criminal Law Amendment Act, 2018

xii Ananth Laksman and Sarayu Natrajan, 'Capital Punishment : The Question of Delay', *EPW*, September 18-24, 2004, 4216-4217 at 4217

xiii (1989)1 SCC 678

xiv Bachan Singh V. State Of Punjab AIR 1980 SC 898

●

RIGHT TO HEALTH AND HEALTH INSURANCE

PROF. S. TRIPATHI* AND O. P. TRIPATHI**

Health is one of the basic requirements of human being. Nowadays India is facing problem of degradation of health. The Constitution of India is supreme law to govern the whole Nation. The condition of health is worsening day by day in spite of various health schemes and policies. The Supreme Court is performing Nobel function of interpretation of provisions of Constitution. The framers of Indian Constitution have rightly inserted various provisions regarding health of public. Further the role of Indian Supreme Court is significant in protecting health of people at large with the help of various decisions. The effective implementation of Laws enacted based on Constitutional provisions will control the present problem. The very purpose behind Constitutional framework is to achieve goals set out in its Preamble. The Preamble to the Constitution of India confers rights on citizens, imposes duties on them and issues directives to State to protect the rights of its citizens. The Constitution of India is the basic law of India; it aims to secure social, economic and political justice. Among the various rights under Indian Constitution, Right to Health is an important one. Development of the nation depends upon the healthy population. The basic law of the State safeguards individual rights and promotes national wellbeing. It is the duty of the State to provide an effective mechanism for the welfare of the public at large.

Health is the most important factor in national development. It is a condition of person's physical and mental state and signifies freedom from any disease or pain. Right to health is a vital right without which none can exercise ones basic human rights. For protection of health from serious health problems certain preventive measures are necessary. It may be in the way of taking medicine, consult with doctors or by taking health insurance policy. In view of the increase in the cost of health care and treatment, health insurance is becoming increasingly essential in today's world. This article emphasized provision regarding to health under Indian Constitution and health insurance scenario in India.

The Government is under obligation to protect the health of the people because there is close nexus between Health and the quality of life of a person. There are various provisions under the Constitution of India which deal with the Health of the Public at large. The founding fathers of the Indian Constitution rightly inserted Directive principles of State Policy (DPSP) with a view to protect the health of the public at large. Health is the most precious prerequisite for happiness[1]. Following are the important provisions in the Constitution of India for the protection of Right to Health.

Right To Health As Understood Under Directive Principles Of State Policies (DPSP)

Part IV of the Indian Constitution deals with certain principles known as Directive Principles of State Policy. Although the Directive Principles are asserted to be fundamental in the governance of the country they are not legally enforceable. They are guidelines for creating a social order characterized by social, economic, and political justice, liberty, equality, and fraternity as enunciated in the Preamble.[2]

These principles are fundamental in the governance of the country and the State is under the duty to apply these principles while exercising its law making power. The following directives are of relevance perspective of Right to Health.

1. Article 39: Certain principles of policy to be followed by the State:

This Article secures health and strength of the workers, men and women. It also mandates that children be given the opportunities and facilities to develop in a healthy manner and in condition of freedom and dignity and that childhood and youth are protected against exploitation and against moral and material abandonment[3]. It is true to say that Article 39 (e) and (f) indicates that the Constitution makers were rather anxious to protect and safeguard the interests and welfare of workers and children. It enunciates that the working class is important in nation building and

∗Professor of Law School, Banaras Hindu University, Varanasi.
∗∗M. Phil (Law) Research Scholar

therefore state government shall provide protection to their health. In **Lakshami Kant Pandey v. Union of India**[4], BHAGAWATI, J. while delivering the opinion of the court observed that: It is obvious that in civilized society the importance of child welfare cannot be overemphasized because the welfare of the entire community, its growth and development depends upon the health and well-being of its children. Children are a supremely important national asset and the future well-being of the nation depends on how its children grow and develop. Further, In **Sheela Barse v. Union of India**[5], Supreme Court has held that "A child is a national asset and therefore, it is the duty of the State to look after the child with a view to ensuring full development of its Personality."Article 39 Clause (f) was modified by the Constitution 42nd Amendment Act, 1976 with a view to emphasising the constructive role of the State with regard to children.[6]

2. Article 42: Provision for just and humane conditions of work and maternity relief: This Article necessitates that the State shall make provision for securing just and humane conditions of work and maternity relief[7]. In **U.P.S.C. Board v. Harishankar**[8], Supreme Court has held that Article 42 provides the basis of the larger body of labour law in India. Further referring to Article 42 and 43, the Supreme Court has emphasised that the Constitution expresses a deep concern for the welfare of the workers. The Court may not enforce the Directive Principles as such, but they must interpret law so as to further and not hinder the goal set out in the Directive Principles. In **Bandhua Mukti Morcha v. Union of India**[9], BHAGWATI, J. observed: This right to live with human dignity enshrined in Article 21 derives its life breath from the Directive Principles of State Policy and Particularly clauses (e) and (f) of Article 39 and Article 41 and 42. Since the Directive Principles of State Policy are not enforceable in a Court of law, it may not be possible to compel the State through judicial process to make provision by statutory enactment or executive fiat for ensuring these basic essentials which go on to ensure a life of human dignity.

In **P Sivaswamy v. State of Andhra Pradesh**[10], the Supreme Court has held that Article 42 of the Constitution makes it the obligation of the State to make provisions for securing just and humane conditions of work. There are several Articles in Part IV of the Constitution which indicate that it is the States obligation to create a social atmosphere befitting human dignity for citizens to live in. The gist of Article 42 is that it stands as the basis of the body of labour law and welfare of the workers. The Court must interpret law to achieve the goals set out in the DPSP.

3. Article 47: Duty of the State to raise the level of nutrition and the standard of living and to improve public health: Article 47 enumerates that the State shall regard the raising of the level of nutrition and the standard of living of its people and the improvement of public health as among its primary duties and, in particular, the State shall endeavour to bring about prohibition of the consumption except for medical purposes of intoxicating drinks and of drugs which are injurious to health[11]. Art 47 is helpful for imposing stringent conditions on liquor trade with reference to Article 19(6). In **Vincent Panikurlangara v. Union of India**[12] the Court stated that "maintenance and improvement of public health have to rank high as these are indispensable to the very physical existence of the community and on the betterment of these depends, the building of the society of which the Constitution makers envisaged. Attending to public health, in our opinion, therefore is of high priority perhaps the one at the top".

The Supreme Court while interpreting Article 47 has rightly stated that public health is to be protected for the betterment of the society. Further it has been held that, in this welfare era raising the level of nutrition and improvement in standard of living of the people are primary duties of the State.

4. Article 48-A: Protection and improvement of environment and safeguarding of forests and wildlife: Article 48 A requires that, the State shall endeavour to protect and improve the environment and to safeguard the forests and wildlife of the country[13]. This article was inserted by the 42ndamendment Act 1976. It obligates the State to endeavour to protect and improve the environment and to safeguard the forest and wild life of the country. In **M.C. Mehta V. Union of India**[14], it was held that, "Art 39 (a), 47 and 48-A by themselves and collectively cast a duty on the State to secure the health of the people, improve public health and protect and improve the environment"

Fundamental Duties:

PART- IV-A of Indian Constitution deals with fundamental duties of citizens.

Article 51- A: Fundamental duties:

It shall be the duty of every citizen of India- (g) to protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wild life, and to have compassion for living creatures. It shows that every citizen is under the fundamental duty to protect and improve natural environment since it is closely related to public health.

Right To Health Under Fundamental Rights

Part III of the Indian Constitution deals with fundamental rights. The fundamental rights are not absolute; they are subject to reasonable restrictions. The prime function of the Supreme Court is to interpret the law. The Constitution of India has not included right to health i. e. right to enjoy the highest attainable standard of physical and mental health under a specific provision. But it is the Indian judiciary who treat right to health an integral part of right to life which is fundamental for all human beings under Article 21 of the Constitution. The Supreme Court has given recognition to right to health vide different techniques of interpretation. "The government is under Constitutional obligation to provide health facilities[15]." Right to health is also one of the rights, which is implied under right to life and personal liberty as guaranteed by the Constitution of India.

1. Article 19 (1) (g):

According to Article 19 (1) (g) all citizens shall have the right to practice any profession, or carry on any occupation, trade or business subject to restrictions imposed in the interest of general public under clause (6) of Article 19. In **Municipal Corporation v. Jan Mohammed[16]**, the Court held that the expression in the interest of the general public in clause (6) of Article 19 is of wide import comprehending public order, public health, public security , morals, economic welfare of the community and the objects mentioned in Part IV of the Constitution. Further, In **Burrabazar Fire Works Dealers Association and Others v. Commissioner of Police, Calcutta[17]**, the Supreme Court has held that Article 19 (1) (g) does not guarantee the freedom which takes away that community's safety, health and peace. It can be said that the reasonable restrictions as imposed on the freedoms are in wide in sense that Court has the power to interpret the same in the interest of general public. One must therefore consider Public health as pertinent while enjoying the freedoms under the Constitution. Also in recent times on many occasions the Supreme Court has highlighted the significance of public health while delivering many judgments.

2. Article 21: Protection of Life and Personal Liberty:

The multi-dimensional view of Article 21 is an important development in Indian Constitutional jurisprudence. The Supreme Court has come to impose positive obligations upon the State to take steps for ensuring for the individual a better enjoyment of his life and dignity under its comprehensive interpretation of Article 21. The right to health as extended under Article 21 relates with maintenance and improvement of public health, improvement of the environment etc. The Supreme Court in **C.E.R.C. V. Union of India[18]**, held that right to health, medical aid to protect the health and vigour of a worker while in service or post-retirement is a fundamental right under Article 21. One other issue relating to medical care and health arose in **Mr. X. v. Hospital Z**[19], in which the question before the court was can a doctor disclose to the would be wife (with whom the marriage is contracted) of a person that he is HIV positive or does it violate the right to privacy of the person concerned. The court answered both questions in negative. Further, the Court stated that the lady proposing to marry such a person is also entitled to all human rights which are available to any human being. Therefore it includes the right to be told that a person, with whom she was proposed to be married, was the victim of a deadly disease which is communicable. The Supreme Court in this instance gave primacy to the Right to Health over right to privacy. In **Parmanand Katara v. Union of India[20]**, the Supreme Court has considered a very serious problem existing in medico-legal field such as cases of accident in which the doctors usually refuse to give immediate medical aid to the victim till, legal formalities are completed. In some cases the injured die for want for medical aid pending the completion of legal formalities. The Court stated that preservation of health is of paramount importance. Once life is lost it cannot be restored. Hence, it is the duty of doctors to preserve life without any kind of discrimination. In **Paschim Banga Khet Mazoor Samity v. State of W.B.[21]**, the Court ruled that under welfare State policy, the primary duty of the government is to provide adequate medical facilities for its people. The Govt. discharges this application by running hospitals

and health centers to provide medical care to those who need it. In **State of Punjab v. Ram Lubhaya Bagga**[22], the Supreme Court has recognized that provisions of health facilities cannot be unlimited. It has to be to the extent to which finance permit. No country has unlimited resources to spend on any of its projects. The above judgments azzre the extended view of Article 21 through which Supreme Court held that "Right to Health" is one of the fundamental rights. It is the liberal interpretation of the Article 21 that "Right to Life" means something more than mere survival and mere existence.

Article 25 and Article 26 Freedom to Profess or Practice Religion and Freedom to manage Religious Affairs Article 25 guarantees to every person and not citizen of India the right to profess and practice religion and Article 26 gives special protection to religious denominations. Both can be enjoyed by any person subject to public order, morality and health and other provisions of the respective part of the Constitution. The person has the right to enjoy these freedoms but it should not adversely affect the right of others including that of not being disturbed in their activities[23].

Responsibilities of Institutions of Local Self Government:

The Indian Constitution observes a federal political structure. There is a division of legislative powers between the union and the states and assigns certain matters are related to concurrent competence. In this scheme, the subject of Health has been left to the States to a large extent.

Article 243-W of the Constitution provides that the legislature of the State may by law, endow the municipalities with such powers and authorities as may be necessary to enable them to function as institutions of local self-government[24]. This power is connected with matters included in the Twelfth Schedule, item 6 i.e. Public health, sanitation conservancy and solid waste management.

There is, however, a significant difference between local government authorities and the State health authorities, the latter having enormous powers to make available financial resources and make key appointments. Healthy alliances between the two types of authorities are crucial, if health is to be effectively promoted[25]." Similar provision is made for the Panchayats under Article 243-G in matters connected with Eleventh Schedule under item 23 i.e. health and sanitation, including hospitals, including primary health centers and dispensaries.

Legislative Competence

Article 246 gives three lists with specific areas of law made by the parliament and the state legislatures, namely the Union list, the state list and concurrent list. The concurrent list contains item on which both of them have the power to make laws. The directly health care related item does not appear at all in the union list. In state list, the major health related item is No.6: Public Health and Sanitation, hospitals and dispensaries, in the concurrent list three health related item are given: item 19: drug and poison, item no. 26: legal, medical and other professions, item no. 29: prevention of the extension from one state to another of infectious or contagious disease or pests affecting men, animal or plants. In this way the constitution of India, though do not carry any express provisions relating to health insurance gives health a supreme position and mandates states to develop and promote health care, is to develop and promote health insurance.

Role of Various Committees for Health Planning

Health Planning in India has been based on the suggestion of various committees which have been formed right from the time of independence. These committees were formed by the Govt. of India from time to time to review the existing health situation and recommend measure for further action. The recommendations of these committees have shape the formulation of various five year plans which forms the back bone of health policy in India. The first committee constituted to understand the existing health condition of the nation was the **Sokhey Committee**. This was a subcommittee on Health of the National Planning Committee set up by the Indian National Congress in 1938. Another important committee that was appointed by the Government of India in 1943, was **Bhore Committee** also known as the Health Survey and Development Committee with Sir Joseph Bhore as the Chairman. The main recommendation of the committee were: Integration of preventive and curative services at administrative level and development of Primary health center in two stages. One is short term measure and another is long term measure.

Some other committees which were formed in subsequent year to take of the existing health needs of the country and make suggestion for the formulation

of health programs were The Mudaliar Committee (1959), Chadah Committees (1963), Mukherjee Committee(1965), Jugalwalla Committee (1967), Kartar Singh Committee(1973), and Shrivastav Committee (1975). Each of these commettees made their own specific recommendations which helped in shape the health services in the country

Need of Health Insurance

Health is wealth. For protection of health from serious health problems certain preventive measures are necessary. It may be in the way of taking medicine, consult with doctors or by taking health insurance policy. In view of the increase in the cost of health care and treatment, health insurance is becoming increasingly essential in today's world. A health insurance policy is a contract between an insured and an individual or a group, in which the insurer undertakes to provide specified health insurance benefit to the insured in consideration. Three are several factors responsible for raising the demand of health insurance.

- Human beings are facing serious health problems due to aggravation of environmental pollution.
- Difficulties in meeting the cost of medical treatment and hospitalization encourage people to go for health insurance.
- Government policies and regulations in the form of taxation benefits have also helped in promoting health insurance.
- Lifestyle changes have also lead to the spread of many diseases like AIDS endangering human life.
- Most companies, these days are providing the advantages of health insurance to its workforce, thus, boosting the demand for health insurance.

Health Insurance Scenario in India

Health is a human right. It's accessibility and affordability has to be ensured. The escalating cost of medical treatment is beyond the reach of common man. While well to do segment of the population both in Rural and Urban areas have accessibility and affordability towards medical care, the same cannot be said about the people who belong to the poor segment of the society.

Health care has always been a problem area for India, a nation with a large population and larger percentage of this population living in urban slums and in rural area, below the poverty line. The government and people have started exploring various health financing options to manage problem arising out of increasing cost of care and changing epidemiological pattern of diseases[26]. The control of government expenditure to manage fiscal deficits in early 1990s has let to severe resource constraints in the health sector. Under this situation, one of the ways for the government to reduce under funding and augment the resources in the health sector was to encourage the development of health insurance. In the light of escalating health care costs, coupled with demand for health care services, lack of easy access of people from low income group to quality health care, health insurance is emerging as an alternative mechanism for financing health care.

Indian health financing scene raises number of challenges, which are:

- Increase in health care costs
- High financial burden on poor eroding their incomes
- Need for long term and nursing care for senior citizens because of increasing nuclear family system
- Increasing burden of new diseases and health risks
- Due to underfunding of government health care, preventive and primary care and public health functions have been neglected

In the above scenario, exploring health financing options became critical. Naturally, health insurance has emerged as one of the financing options to overcome some of the problems of our system.

In simple terms, health insurance can be defined as a contract where an individual or group purchases in advance health coverage by paying a fee called "premium". Health insurance refers to a wide variety of policies. These range from policies that cover the cost of doctors and hospitals to those that meet a specific need, such as paying for long term care. Even disability insurance, which replaces lost income if you cannot work because of illness or accident, is considered health insurance, even though it is not specifically for medical expenses.[27]

Health insurance is very well established in many countries, but in India it still remains an

untapped market. Less than 15% of India's 1.1 billion people are covered through health insurance. And most of it covers only government employees[28]. At any given point of time, 40 to 50 million people are on medication for major sickness and share of public financing in total health care is just about 1% of GDP. Over 80% of health financing is private financing, much of which is out of pocket payments and not by any pre-payment schemes. Given the health financing and demand scenario, health insurance has a wider scope in present day situation in India. However, it requires careful and significant efforts to tap Indian health insurance market with proper understanding and training.

Various Health Insurance Products Available In India

The existing health insurance schemes available in India can be broadly categorized as:

1. Voluntary health insurance schemes or private-for-profit schemes

2. Mandatory health insurance schemes or government run schemes (namely ESIS, CGHS)

3. Insurance offered by NGOs/Community based health insurance

4. Employer based schemes

Despite the rosy picture painted by these numbers, the current healthcare system in India faces major challenges owing to several social, economic and political factors. Broadly speaking, the healthcare system faces the triple challenge of raising service quality and providing equitable access while addressing and tackling the changing disease incidence profiles. Even though several health policy like Pradhan Mantri Jeevan Jyoti Bima Yojana 2015, National Health Policy 2017 and Ayushman Bharat Programme 2018, healthcare sector in India is poised at a crossroads where the right policy action is extremely critical in determining the future course of the sector. The industry faces major challenges owing to the changing demographics of the country, the poor state of the public health infrastructure, lack of financial resources, paucity of human capital and poor governance. The staggeringly low contribution of the public sector in the healthcare industry sits at the center of all these problems. While the National Health Policy tries to address the majority of these challenges, it lacks significantly in terms of the feasibility of implementation and also inadequate finances

Conclusion

The term "Right to Health" is nowhere mentioned in the Indian Constitution yet the Supreme Court has interpreted it as a fundamental right under "Right to Life" enshrined in Article 21. It is a significant view of the Supreme Court that first it interpreted Right to Health under Part IV i.e. Directive Principles of State Policy and noted that it is the duty of the State to look after the health of the people at large. In its wider interpretation of Article 21, it was held by the Supreme Court that, the "Right to Health" is a part and parcel of "Right to Life" and therefore one of fundamental rights provided under Indian Constitution. In the real sense, the court has played a pivotal role in imposing positive obligations on authorities to maintain and improve public health. But merely giving Right to health is not sufficient for protection of people from harmful health problems. So adequate law is necessary to regulating the right to health and health insurance in India. Health insurance is like a knife. In the surgeon's hand it can save the patient, while in the hands of the quack, it can kill. Health insurance is going to develop rapidly in future. The main challenge is to see that it benefits the poor and the weak in terms of better coverage and health services at lower costs without negative aspects of cost increase and overuse of procedures and technology in provision of health care. So we need adequate legislation and mechanism to protect health and insure health insurance to the weaker section of people of our country.

References

1. Chouri, Dnyneshwar, "Constitutional Perspective of Right to Health in India'. The IUP Law Review, Vol. II No. 1, Jan, 2012, p. 46

2. Sood, Deepika, Índian Perspective of Right to Health', available at http://www.legalindia.in/indian-perspective-of-right-to-health

3. Sood, Deepika, Índian Perspective of Right to Health', available at http://www.legalindia.in/indian-perspective-of-right-to-health

4. AIR 1984 SC 469

5. AIR 1986 SC 1786: (1986) 3 SCC 596

6. Pandey, Dr. J. N., "Constitutional law of India", Central Law Agency, Allahabad, 44th Ed. 2007, p. 380

7. Jain, Prof. M. P., Ïndian Constitutional law", Lexis Nexis Butter worths Wadhwa,
8. AIR 1979 SC 65: (1978) 4 SC 16
9. AIR 1984 SC 802
10. AIR 1988 SC 1863
11. Bakshi, P. M., "The Constitution of India", Universal Law Publishing Co. Pvt. Ltd., New Delhi, 9th Ed, 2009, p. 90
12. AIR 1987 SC 990: (1987) 2 SCC 165
13. Seervai, H. M., "Constitutional Law of India", 4th Edition, Universal Law Publication, New Delhi, 2006
14. JT 2002 (3) SC 527
15. State of Punjab v. Mahinder Singh Chawla AIR 1997 SC 1225
16. AIR 1986 SC 1205: (1986) 3 SCC 20
17. AIR 1998 Cal. 121
18. AIR 1995 SC 922
19. AIR 2003 SC 664
20. AIR 1989 SC 2039
21. 1996 (4) SCC 37
22. AIR 1998 SC 1703
23. Church of God in India V.K.K.R. Majestic Cololy Welfare Association (2000) 7 SCC 282
24. Jain, Prof. M.P., Supra note 7, p. 474
25. Abhichantani Justice, R. K., "Health as a Human Right-Role of Courts in Realisation of the Right", available at http://gujarathighcourt.nic.in/Articles/articles.htm
26. Periasamy,. Dr. P., Principals and Practice of Insurance, Himalaya publishing House, 5th Edition Calcutta p. 351
27. Sethi,. J. and Bhatia,. N., Elements of Banking Insurance, Easern Economy Edition, 1st Edition p. 244
28. According to 2011 census date in India

●

DEVALUED BLACK WOMANHOOD: CAPITALIST PATRIARCHY AND SEXISM AUGUST WILSON'S MA RAINEY'S BLACK BOTTOM

P. SHUSHMITA VATSYAYAN*AND PROF J. S. JHA**

August Wilson (1945-2005) is one of the pioneer and prolific dramatists of the American stage. He wrote a cycle of ten plays chronicling each decade of the twentieth century. His plays are upheld for their blatant depiction of black lives in America. The present paper aims to voice the hitherto silenced voices of the play. The critics of *Ma Rainey's Black Bottom* (1982) have ignored some of the underlying issues and concerns of the play. The critical oeuvre of the play concerns largely with the male musicians who form the main plot of the play, and Ma as a blues singer, a preserver of African heritage and so on. Little has been said about the discriminatory practices wielded against women characters.

Ma Rainey's Black Bottom (1982) is set in the 1920s in a recording studio in Chicago. The play is a composition of discreet multiple voices speaking and exerting their notions on the stage. The plot is set at a white owned recording studio, where the emphasis is largely on the male musicians. The leader of the group is Ma Rainey who remains absent for half of the first act of the two act play.

Denigration of Black Womanhood in Capitalist-Racist America

Capitalism is the economic system in which labour is exploited and power rests in the hands of a select few. It is a highly oppressive form of economy where both the labour and the consumers are exploited to the maximum extent. The white recording studios were accused of being capitalist in nature. These studios made huge profits out of blues singers and still did not treat them as artists but as factors of production. James Lawrence Taylor, Jr. notes, "Under this white capitalist patriarchy, whites control the means of blues production, obligating black musicians to please studio executives" (1).

Ma Rainey's Black Bottom begins with the interaction of Irvin and Sturdyvant. The two share a friendly and intimate bond which is based on racial and social equality. The play begins with Sturdyvant's fear of Ma's unprofessionalism. Their conversation shows a disregard for Ma's songs and her music.

> STURDYVANT: I am not putting up with any Royal Highness…Queen of Blues bullshit!
>
> IRVIN: Mother of Blues, Mel. Mother of Blues. (2)

Irvin's reprimand sounds as a mockery of Ma's stature. They are the ones who make money out of the blues and Ma but they disregard and belittle her.

Sturdyvant stands as the symbol of capitalist patriarchy in the play. He is perpetually in the lookout to make more money by exploiting blues women like, Ma Rainey. He ridicules her by including the song of her rival (Bessie Smith) in the list of songs to be recorded. This was done to invoke Ma's agitation and also to force her to stoop to the dictates of capitalist patriarchy. He is worried about staying strong in the business. He is prejudiced about women as weaker professionals. He bestows more confidence in the music of amateur Levee whom the playwright describes as inept, "He plays wrong notes frequently. He often gets his skill and talent confused with each other."(2). It reflects that Levee lacks the necessary talent that a blues recording artist must own. Sturdyvant feared that Ma's music is getting out dated and hence must be substituted by something new.

He is conspiring to replace Ma with Levee. The reason is both capitalist and sexist. Ma Rainey is a strong singular female voice who can speak for her rights at the highest pitch of her voice. She can get for herself what she wants because she has the commercial talent of music which will always keep her materially secured. Ma Rainey is a threat to the masculinity of the male characters of the play. Her strong personality is intimidating to all the men of the play who are not used to see women and more so a black woman as so assertive. Secondly, Sturdyvant plans to pay lesser to the young Levee who is fishing for a break in the music industry. He wants to exploit Levee's impulsive nature to hire him at a lower price than Ma. Sturdyvant wants to replace Ma with Levee

∗Research, Scholar, Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi.
∗∗ Professor, Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi.

because he wants to create an insecure work environment under which she would start behaving gullibly and submissively.

Sturdyvant and Irvin are obsessed with the term "control". They repeatedly use the phrase "under control". This desire to control especially Ma Rainey reveals their sexist and capitalist nature. Wilson describes Sturdyvant as "…visible in the control booth….is insensitive to black performers and prefers to deal with them at arm's length." (2). Wilson's description of Sturdyvant has various underlying connotations attached to it. For the most part of the play he is seen in the control booth. His positioning in the control booth reveals that he wants to not only own the recording studio but also control its artists, i.e, factors of production. The control booth is in close coherence with Michele Foucault's concept of Panopticon since Sturdyvant observes everyone from the control booth without their notice and with the purpose to control and discipline them.

The capitalist strain of the play is pointed out by Alan Nadel,

> The tragedy of *Ma Rainey* foregrounds… is that although the band can supply the notes, none of them, not even Ma Rainey at the peak of her power, can control the record. For the record to be produced … Ma Rainey must sign away her voice. (3)

Sturdyvant's purpose has been to use Ma's voice purely for commercial ends, "I just want to get her in here… record those songs and …get her out. Just like clockwork, huh?" (2). Sturdyvant's presence in the play is sporadic but whenever he appears he is directly or indirectly in conflict with Ma, who is the sole reason for all his profits. He does not even tend to her simple demands such as availing a bottle of coca cola. He is reluctant to fulfill the demands of Ma not because they are irrational but because they would bring a black woman to a higher pedestal. He does not want to let loose "control" over the factors of production (Ma and her band members). This is explicated by his incessant worry about Ma signing the contract.

Black women in America stood at the lowest rung of the social hierarchy. The blues came not only as a solace to their scarred souls but also provided them with job opportunities. Angela Y. Davis explains the business mechanism of music industry,

> …in the 1920s many black women were sought after– and often exploited by- burgeoning recording companies….That women were given priority over men as recording artists attests to the reductive marketing strategies of the then- embryonic recording industry….The companies' attempts to construct and tap a new black market were elaborated around the assumption that because the initial successes were with women's blues, only women could be successful recording artists. (4)

Thus it is evident that the recording companies like the one owned by Sturdyvant did not record the women's blues because they regarded it as worthy pieces of art but as valuable exchange products. Sturdyvant knows the music industry, he is aware of the dangers of replacing an established singer by the naïve and impulsive Levee. Ma being a tool in the industrial set up stands in the white recording studio to fulfill both her passion and livelihood. She stands at the lower rung of production process because her music is a mechanical product which needs to be marketed and recorded by the white recording studios. Unlike the aesthetic importance attached to music, her songs are products which float in a capitalist economy. She is repeatedly denigrated by making her realize that she is merely a factor in the production process.

Silenced and Voiced: The Two Sets of Women

The play is exposed to the sexist tendencies not only from the white capitalist class but also from the black male musicians and in part by the author as well. The play has two sets of women- one who are present on the stage and the other who are given representations by men on the stage. The two live characters are Ma Rainey and Dussie Mae. The two absent female characters are Levee's mother and Toledo's wife. Beginning with the sexist representation by the author- the two silenced characters are deprived of self- identity. They not only lack voice but are even stripped of a name. They are cast in the image of either a mother or a wife.

Levee narrates the story of his mother's rape that he witnessed as a boy of eight. In his narration we find the presence of sexism prevalent in the dominant cultural lexicon. The linguistic expression furthers the argument, "My daddy's name was Memphis… Memphis Lee Green…had him near fifty acres of good farming land. Folks called him an uppity nigger… My mama was frying up some chicken…" (2). If we observe the description of the parents of Levee we can notice the sexist use of language. The father is acknowledged with his name Memphis Lee Green, as someone who has sprung up the barriers of race both socially and economically. A sense of achievement

and masculine prowess is attached with the description of his father. The mother is introduced in a singular line, "My mama was frying up some chicken". The stereotypical presentation of the woman working in the protective space of home and the father taking up the heat of the outside world is evident. The narration implicitly posits that the sphere of women is home and hearth and the outside world is for men. It points to the gender stereotypical perception that a man is the provider whereas the woman is the dependent. It leads to gender specific roles for men and women.

Levee furthers this male- female dichotomy by narrating the story further, "It was coming on planting time and my daddy went …to get some seed and fertilizer. Called me, say, "Levee you the man of the house now. Take care of your mama while I'm gone."'(2). Memphis Lee's insistence that a woman needs a man for her protection points to the sexist scheme of thought. The lingual analysis of the language reveals that the playwright implicitly implies that a man is necessary for the protection of a woman from the outside evil forces. Levee's description of his mother's rape points to some of the stereotypical perceptions about women and how race and class affects one. She underwent the ordeal when Memphis Lee was out of the town, i.e., when she was devoid of male protection. This takes one to the myth of Sita who was kidnapped by Ravana when her husband (Ram) and brother in law (Lakshman) were out for hunting and she trespassed the protective circle drawn by patriarchy (Lakshman). Secondly, when her son was bleeding to death the doctor did not tend to him owing to the delivery of a cow. The white doctor did not tend to the woes of a mother who was groaning under the fear of her son's death and her own infliction. This clearly exposes how white males devalued black womanhood. The crying mother in the worst of human conditions is valued lesser than an animal.

Levee's description of his childhood ordeal comes to a final resolution when his father extracted revenge from four of the eight or nine rapists. Memphis Lee was the martyr who was burnt alive for seeking revenge against the white molesters. Though Memphis Lee was no lesser than a hero, his portrayal is larger than life whereas the woman who suffered so much (rape, near death of child, brutal death of husband) is ousted from the discussion. The readers or the audience fail to know what happened to Mrs. Green, the anonymous woman. The ballyhoo regarding the rape was largely used to boast the bravery of the male line of the Green family. The martyrdom is placed on Memphis Lee whereas the ordeal of the woman is left mid- way. Thus Mrs. Green is silenced for the rest of the play.

The silence is furthered in the case of Toledo's wife who is cast in a whimsical mould. Toledo is scarred by his experience of marriage in which he was a self- confessed "fool". His wife deserted him because he was a heathen. This is his assertion; the other half is left silenced. The woman is not given a chance to describe her perspective on why she left him one day uninformed. Toledo, no doubt, used rhetoric to explain his part of the story. He does not malign her, "To this day I can't say she wasn't a good woman" (2). He does not out rightly call her bad but gradually treads on the path of vindictive rhetoric. He says, "The church was more important than I was. So she left one day packed her bag and moved out. Come home one day and my house was empty! And I sat down and figured out that I was a fool …"(2).

Why did she turn to the Church? What was lacking in the marriage that compelled the woman to take the final step? Toledo saw it as the religious conflict that led to the separation but the woman's point of view is unheard. He even agrees that there must be something that "I wasn't giving her. Else she wouldn't have been up there at the church in the first place. I ain't blaming her." (2). These words reflect the hidden guilt that Toledo has regarding the failure of his marriage. He inadvertently confirms to his guilt. But his male ego forces him to wrap his vulnerable part and shift the load of failure in marriage onto his wife and circumstances. He says, "I ain't blaming her. I just said it wasn't gonna happen to me again …Toledo been a fool about a woman. That's part of making life." (2).

Toledo is supported by the other male musicians even without knowing the woman's side of the story. Cutler whom Wilson deems as the "most sensible" man does not bother to divulge his opinions without probing into the matter. He says, "…I been a fool too….I can't see where you was being a fool for that. You ain't done nothing foolish …A fool is responsible for what happens to him." (2). It reflects that these men clump their different stories together and see themselves as fools cheated by women. They devalue women and hold them responsible for everything that goes haywire in their relationships.

Though Ma Rainey is a potent voice of the play she has been deliberately devalued. The playwright is guilty of describing the male musicians and Ma Rainey in different strains. His description of Ma is more exterior, objectified and sensual. He describes her as,

> Ma Rainey is a short, heavy woman. She is dressed in a full- length fur coat with matching hat, an emerald- green dress, and several strands of varying lengths. Her hair is secured by a headband that matches her dress. Her manner is simple and direct, and she carries herself in a royal fashion. (2)

Wilson's description of Ma is replete with her outer look. Nothing is said about her music unlike the male musicians. The description by Wilson pertains to her clothes and ensemble, with a brief hint at her manners. Kim Marra asserts that, "Rather than subverting or deconstructing black female stereotypes, Wilson in this play pushes them to extremes."(5). Wilson's description of Ma can be compared with his description of the male musicians. He describes Cutler as, "the most sensible… His playing is solid…unembellished….He has all the qualities of a loner except introspection". Slow Drag is described as, "deceptively intelligent….Innate African rhythms underlie everything he plays", Toledo as, "the only one in the group who can read….self- taught… his insights are thought provoking" (2).

Though the play is named after Ma Rainey, her presence in the play is secondary to the male musicians. She serves as the subplot of the play. Tara T Green writes, "…the women in Wilson's plays commonly do not play dominant roles…they are usually outnumbered by men" (6). Joan Herrington points out that, "the original work had only five characters; it did not include the four band members who are central to the play. Wilson could not move the plot further for years with these set of characters. He could not determine how the scenes would unfold. Wilson asserts, "I suddenly realized there were these four musicians there, waiting in the band room. In them, I found the key to the play- the divisions, the tensions, the meaning of their lives." (7) Thus, the point is clear that though Wilson could find the germ of his play in Ma Rainey and the blues he could not build the main plot around the experiences of a black female singer. This is a kind of disregard for the female experience and hence, its secondary representation.

It is quite evident that Ma is casted in a masculine mould to show her as the apostle of her race. She is seen as hurling abuses, tantrums and spite which is generally marked as a masculine characteristic. In an interview questioned about his perception of women in the plays Wilson responds: "I doubt seriously if I would make a woman the focus of my work simply because of the fact that I am a man…"(6). This shows that Wilson could not cohere with the experiences of women and found them other-worldly. Hence his description of women sometimes came as close to either a man or a stereotypical female.

Wilson's near frugal description of the historical character Ma Rainey needs to be discussed as both a real and a fictional character. Ma Rainey was a celebrated blues singer of the 1920s who recorded largely for the Paramount and Columbia recording studios. During the 1920s the blues genre of music was in great vogue among the blacks. This was the time when blacks were migrating from the South to the industrial cities of North in search of job opportunities. Women were marching towards the new horizon with hopes of independence from the bondage of the South. Davis opines that,

> …the women's blues… challenged the notion that women's "place" was in the domestic sphere. Such notions were based on the social realities of middle- class white women's lives, but were incongruously applied to all women, regardless of race or class. (4).

Ma Rainey was a deviant. She did not confirm to any of these stereotypical frames both in the play and in the real life. She was independent of any of the social roles that were thrust upon black women in America. Her songs were redolent of the independence that she exercised in her life. She chose to sing about love and sexuality openly and unabashedly. She also chose to be independent about her sexuality.

Her financial and sexual freedom was a major threat not only to the white supremacists but also to her fellow black male musicians. Kim Marra discusses the stereotypical gender jealousies and insecurities that black men suffered. To assert their manhood they needed black women upon whom they could vent their repressed energies. She writes, "In the case of black men, for whom economic opportunities for asserting manhood have often been denied, this exploitation of black women becomes the primary means of demonstrating phallocentric masculinity." (5). Levee's ambitions forced him to backstab Ma and draw opportunities for his own advancement. He disregards

her music as, "ain't nothing but old jug band music…I got style." (2).

Ma was not deluded about her status. She knew that the white recording company tended to her needs owing to their selfish motives. She unravels her heart elaborately to Cutler and says,

> They don't care nothing about me. All they want is my voice…. As soon as they get my voice down on them recording machines, then it's just like if I'd be some whore and they roll over and put their pants on. Ain't got no use for me then. (2)

She has no delusions about her worth to the white supremacists or the four band members. Ma talks about Irvin's disregard for her in these words, "Irvin…don't care nothing about me…. He's been my manager for six years… and the only time he had me in his house was to sing for some of his friends" (2). His priority is not Ma but the commercial value of her songs.

Ma Rainey achieves professional success owing to her talent and the demand for her music. If we closely analyze Ma's statements then we can gauge the various strands of her life. The persistent realization that she is not required by her colleagues as an individual but as a mechanical tool is implicit in her outpourings. She sees herself as a whore in the larger scheme of things where her presence is only for momentary and monetary pleasures. "What she expresses is disrespect on two fronts- gender and race" (6). She lacks that finality and fulfillment in her professional career which is essential for work satisfaction .Her self- description is horrendous and psychologically challenging because it's heart rending for anyone to be unwanted or seen as a ploy.

Bell hooks mentions the myth of Sapphires. She writes, "As Sapphires, black women were depicted as evil, treacherous, bitchy, stubborn, and hateful, in short all that the mammy figure was not." (8). Ma Rainey was perceived by the white supremacists in the image of a Sapphire because she deviated from the stereotypical frame of a submissive black mammy who did not have a voice of her own. Ma had a voice with which she claimed the due that had been denied to her sex and race for centuries in America. Her wrath, impulses, continuous demands and other associated emotions were seen as spiteful and devious by the whites. Daphne Duval Harrison can be considered to explain Ma's volatile behavior:

> Black women's quest for independence is constrained by racial and sexual barriers and sometimes leads to types of behavior that appear to be arrogant, promiscuous, or violent, but are in fact manifestations of a large repertoire of defense mechanisms employed to gain or defend respect in a hostile environment. (9).

The other female character of the play- Dussie Mae, the lover of Ma Rainey has been described by Wilson as, "a young, dark- skinned woman whose greatest asset is her sensual energy which seems to flow from her. She is dressed in a fur jacket and a tight- fitting canary- yellow dress." (2). Like the portrayal of Ma, Wilson has also described Dussie Mae in stereotypical frame as a woman who uses her charms and sensuality to entice the attraction of people for her own well being. At the very structural level his descriptions echo the jezebel image of black womanhood. Sensuality is the central characteristic of her personality. Dussie Mae is cast in the stereotypical frame of a woman who lacks necessary talent and hence tries to climb social ladder by resorting to her sexuality and sensuality. At the very structural level her characterization is stereotypical and demeaning. Taylor, Jr. explains the jezebel myth by quoting Lisa M. Anderson "…the jezebel represents dangerous sex; falling prey to her charms means trouble to her and her male victim" (1). He opines, "Dussie Mae wants to survive on her own, but she lacks the talent and "know- how" of Ma. She clings to any opportunity that will elevate her status." She is seen as flirting with Levee and roving around the studio exploring more of the unseen world of power that the whites enjoyed and Ma's partial autonomy.

She gives way to Levee's advancements owing to her need for safety and security in life. But, "In an effort to prove his manhood, Levee uses Dussie Mae as a pawn in his conflict with Ma. For Levee messing with Ma's lover is a challenge to Ma's supremacy". (1).Thus, it is not attraction that draws Levee to Mae but his spite to overthrow Ma from every pedestal.

Conclusion

The discussion shows that black womanhood was devalued in the twentieth century America. Women were merely used as pawns in the industrial splurge or were only reduced to domestic helps. The stereotypes associated with women were rampant and hence black women were forced to live at the bottom of social hierarchy. Black women were seen in claustrophobic moulds of either a mammy or a jezebel. These two moulds were binary opposites- one was

assumed to be free of any desire and completely devoted to the service of white patriarchy while the other was a symbol of sensuality that also catered to patriarchy by offering her sexuality. These women were encased in European stereotypes for women as either devoted mothers or sirens. This dichotomy was in itself a ceiling upon the black womanhood where their genial impulses were crushed to the bottom. They were not expected to explore the different layers of womanhood. They were seen as inputs of production who must submit to the dictates of white industrialist patriarchs. The women in the play are also seen under the European rubrics of womanhood depriving them of their unique identity of being an African American. The play posits to the assumed and inherent sexism prevalent in the dominant culture in America.

Works Cited

1. Taylor, James Lawrence, Jr. *Understanding Wilson's Blues women: A Dramaturgical Exploration of August Wilson's Blues women*. 2000. School of Theatre, Ph. D dissertation. pp 46, 88, 108. Print.
2. Wilson, August. *Ma Rainey's Black Bottom*. Plume. 1985. pp 18-19, 25, 45, 73, 79, 87-89. Print.
3. Nadel, Alan. "*Ma Rainey's Black Bottom*: Cutting a Historical Record Dramatizing a Blues CD". *The Cambridge Companion to August Wilson*, edited by Christopher Bigs by, Cambridge University Press, 2007. pp 3, 105. Print.
4. Davis, Angela Y. *Blues Legacies and Black Feminism*. Vintage Books, 1999. pp xii, 11. Print.
5. Kim Marra. "Ma Rainey and the Boyz: Gender Ideology in August Wilson's Broadway Canon". *August Wilson: A Casebook*, edited by Marilyn Elkins, Garland Publishing, 2000. pp 132, 142. Print.
6. Green, Tara T. "Speaking of Voice and August Wilson's Women". *August Wilson and Black Aesthetics*, edited by Dana A. Williams and Sandra G. Shannon, Palgrave Macmillan, 2004. pp 145-146, 148. Print.
7. Herrington, Joan. *I Ain't Sorry for Nothin' I Done: August Wilson's Process of Playwriting*. Limelight Editions, 1998. pp 41. Print.
8. hooks, bell. *Ain't I a Woman: Black Women and Feminism*. Pluto Press, 1982. pp 85. Print.
9. Harrison, Daphne Duval. *Blues Queens of the 1920s: Black Pearls*. Rutgers University Press, 2000. pp 6. Print.

●

CUSTOMER PREFERENCE FOR SOME FMCG PRODUCTS (SOAP, SHAMPOO AND DETERGENT) IN VARANASI

P. KHARE*, PROF. S. H. ALI** AND PROF B. B. KHARE***

Consumer packed goods or fast moving consumer goods are the 4th largest contributor to Indian economy. FMCG are essential items purchased for our daily life. These products have high turnover rate and short shelf life. Some of the FMCG products are soap, shampoo, detergents, cosmetics, pharmaceuticals, beverages, packed food, tobacco, stationary etc. There are a number of FMCG players in the world coming with new innovative products to cater the changing preferences of customers such as- colgate-palmolive, Coca-Cola, Henkel, Hindustan Unilever, Nestle, ITC, Dabur etc.

Profit margins of these products are relatively low but these products work on a low margin high volume basis. These products are purchased frequently and are low involvement products. Food segment is the major contributor to this segment and contributes about 40%-45%. With the increase in disposable income customer preference is shifting towards premium products irrespective of the price. Rural demand is also increasing with the rise in the awareness through different media. India is having a huge opportunity to cater untapped rural segment so they are customizing products specially to serve needs of rural customers with innovative technique.

Consumer preference

Consumer preference involves ranking or prioritizing goods or services .These are those features which consumers wants in their preferred goods and services. This could result in high level of satisfaction from the particular consumer behavior to generate demand through preferring a product. Consumer preference signifies how a consumer ranks set of goods one over the other. They rank goods or services by the amount of satisfaction or utility derived from it. Since the consumer already have a set of expectations based on certain criteria such as price quality, image, convenience, habit etc. which leads to particular preference for the product. Being aware of the customer preference allows the marketers to formulate and apply marketing plan and strategies.

Importance of Consumer preference

Identifying the sets of needs and priorities of customers and the basic needs of business entity. It will help the business with:

1. Attracting customers
2. Setting reasonable price
3. Increasing the spending frequency of customers.
4. Enhancing customer service of business
5. Increasing sales

Review of Literature

Indian FMCG market has witnessed a change in the customer preference over last decades which are due to the increase in income level, lifestyle, increased awareness etc. A lots of studies is already being conducted in this field to know the customer preference for the survival of FMCG companies and factors affecting the preference of customers. Singh (2013) focused his studies on the factors affecting success of FMCG for knowing the preference of customers for buying the product and found that the gender is the most crucial factor in buying decision which affects the success of the companies.

Ismail *et.al.* (2012) studied the factors affecting the preference of youth and their decision regarding International brands over local brands and revealed that a large percentage of customers have used international brands and they have showed a positive attitude towards it. According to Srivastava (2013) reliability and product attributes are the factors which affect behavior of low income group and price conscious customers. Offers and promotion schemes also have an impact on buying behavior. Kumar and Dangi (2013)studied brand preference among the rural customers and revealed that customer prefer branded product due to increase in disposable income and

∗Assistant Professor, Shri Guru Nanak Girls Degree College, Lucknow, India
∗∗ Professor, Department of Business Administration, K.M.C.U.A.F, University, Lucknow, India
∗∗∗ Professor & Head, Department of Statistics, Institute of Science, Banaras Hindu University, India

change in attitude. According to a study conducted by Sulekha and Mor (2013)consumer buying behavior for FMCG products depends on retailers for brand awareness and they are price sensitive and also focus on quality performance, so marketers should use rational appeal to promote their product. According to Bronnenberg *et.al.* (2012) customers willingness to pay for brand due to their past experience and brand preference also plays an important role in categories with highlevels of advertising. Ali et al. (2012) focused on trust factor for retailers to gain customer base and low cost strategy along with promotional tools was recommended for companies to promote goods. According to Shukla (2013) advertisement affects customer preference they buy the product on the same price with promotional scheme.

A lot of studies were also conducted on the consumer behavior to predict the preference of customers which was also affected by promotional activities conducted by organization to gain and maintain already existing customers. Karthikeyan & Panchanatham (2013) from their study on impact of sales promotion on FMCG customers found that free gifts followed by a saver pack attracts to most of the consumers for buying a FMCG products. Sonkusare (2013) focused the study on television advertising and consumer buying behavior of female consumers of FMCG and found that it is most crucial factor which is responsible for women proper decision making source of information along with word-of-mouth advertising.

Further, Katiyar & Katiyar (2014) studied the factors influencing the consumer buying behavior of bathing soap, for the purpose of predicting their preference and found that both urban and rural consumer have same perception. They focus on attributes and they make their perception based on their experience. Thanigachalam and Vijayrani (2014) examined the behavior of consumers for FMCG products in rural and urban area. The study helps in understanding the factor influencing the consumer behavior for purchasing FMCG product. Qasim and Agarwal (2015) analysed behavior of consumer for selected FMCG products (non –alcoholic beverage) and revealed that tastes, health aspects, brand and sensory appeal plays an important role for preferring a product. Mahalingam & Kumar (2012)analysed consumer behavior towards selected FMCG in Ciombatore city and concluded that new product introduction in market helps the companies to survive and there is a vast opportunity for branded product in market.

According to Jha (2013) rural consumers have become value conscious and there is a need for innovative promotional strategies for rural consumer, they prefer quality and popular brands. Nasrudeen and Ramlingam (2014) examine the buying preference of rural consumers, according to them buying preference of rural consumers are affected by utility factor and low-cost of FMCG products. According to Pongiannam and Chinnasamy (2014) advertisement creates response among consumers, it helps in capturing consumers, creating demand and change their preference. FMCG are used for physical appearance, health protection and carrying out many daily activities. Customer tendency for spending on FMCG is increasing .This is due to more health, sanitation appearance consciousness and increase in level of income.

Patil (2017) pointed out that brand preference for FMCG products differ in both rural and urban area. Consumer behaviour regarding purchase quantity of the products is same in both rural and urban area. Customers prefer to buy the product in small quantity rather than in large quantity. Sachet is popular form of packaging among fast moving consumer goods in Lataur district. Rohatagi (2017) studied the preference of customers and revealed that it is influenced by various factors in Delhi region such as availability, price, perceived quality, awareness, packaging. These factor influence preference of customers in local/regional brands of the product available in the market. Jesintha (2017) examined the brand preference of FMCG products. The study revealed that regional product have low penetration rate in comparison to personal care products. Price revealed to be most influencing factor influencing for purchase behaviour while awareness is least influential factor for purchasing.

Objectives and Hypothesis

The present study is conducted on three FMCG products i.e. soap shampoo and detergent to know the consumer preference for different brands of product and expenditure towards them .The study is confined only to Varanasi city. In the present paper our objectives are as follows:

- To examine the customers preference for FMCG products in Varanasi district.

- To conduct a comparative study of rural and urban FMCG customers of Varanasi city on different perspective.
- To study the monthly expenditure pattern of customers for FMCG products.
- To the study the pattern of quantity monthly used for FMCG products.

Hypothesis

H_1: There is no significant difference in proportion of customers using the brand of the product in rural and urban area.

The hypothesis to be tested in this case is for first, second and third preference of Soap, Shampoo and Detergent for all brands of product used by the customers of urban and rural area.

Material and Methods

The study consists of mainly in two phases. The initial phase is exploratory in nature and the primary data is collected for the analysis to know the consumers preference. In the later phase descriptive research the questioner was modified for the purpose of collecting primary data from customers. A sample size of 250 respondents was collected from rural and urban areas of Varanasi district. The convenience sampling was used to select respondents for the study and the data was collected by making personal interview. The respondents were the customers of FMCG products (soap, shampoo, detergents). Questionnaire was used as research tool to collect required data.

Statistical Tools

The SPSS software was used for the analysis of the data. The data was presented in a tabular form according to the purpose of the study. Some Statistical tools for testing the hypothesis and for the presentation of the data is used. For testing the equality of proportion using brand of a products in urban and rural area, Z-test is used. The Z-test statistic is given as follows:

$$Z = \frac{p_1 - p_2}{\sqrt{\frac{p_1 q_1}{n_1} + \frac{p_2 q_2}{n_2}}}$$

-

where, p_1 and p_2 represents the proportion used by urban and rural area for a particular brand of a product, $q_1 = 1 - p_1$ and $q_2 = 1 - p_2$ and n_1, n_2 denote the total sample size taken for urban and rural area for a given product.

There are some limitation in this study which is given as follows:

- The study is confined only to rural and urban region of Varanasi district.
- Respondents do not disclose their personnel information and perception towards different brands accurately.

Demographic Profile of Consumers

Table1. Percentage distribution of the customers according to sex, type of family, age distribution, educational level and occupation.

Sex:	250+	Education level:	250+
Male	54.8		
Female	45.2	10th Class	8.03
Type of Family:		12th Class	9.64
Joint	24.4	Graduate	59.44
Nuclear	75.6	Post Graduate	28.89
Age Group (in years):		Occupation:	
0-20	15.6	Student	33.2
20-40	52.8	House Wife	9.6
40-60	28.8	Business	5.2
60-80	2.8	Service	52.0

+ Total no. of customers under study.

The data in the present study has 54.8% males and 45.2% females having almost equal representation in the study. The majority of customers (75.6%) belong to nuclear families. The age of distribution of customers shows maximum 52.8% belong to the age interval 20-40 years. In this study we find 59.44% graduate and 22.89%. post graduate customer had participated in the study. The majority of the customers are in service (52%) or students (33.2%) (Table 1).

Results and Discussions

Table 2. Percentage distribution of customers for different brands of Soap according to first, second and third preference.

Name of Soap	First preference (in %)		Second preference (in %)		Third preference (in %)	
	Rural(148)$^{+}$	Urban(102)$^{+}$	Rural (148)	Urban (102)	Rural (148)	Urban (102)
Dove	33.11	29.41	14.19*	6.86	6.76*	1.96
Lux	10.14	17.65*	11.49	11.77	10.81	8.83
Pears	18.92	11.77	18.24	22.55	10.13	4.9
Lifebouy	4.05	5.88	6.76	6.86	6.08	6.86
Fiama di wills	0.68	0.98	0	0.98	6.76	3.92
Santoor	4.73	2.94	4.05	3.92	5.41	3.92
Liril	2.7	2.94	4.05	8.83	5.41	14.71*
Dettol	10.8*	4.9	17.57	14.71	9.46	8.83
Breeze	1.35	1.96	2.03	0.98	0	0
Godrej	0.68	0.98	0.68	0.98	0	1.96
John & baby	3.38	3.92	5.4	1.96	8.78	5.88
Cinthol	0.68	7.85**	3.38	4.9	2.03	9.8**
Vivel	2.03	0.98	2.03	1.96	6.08	9.81
Margo	0.68	0.98	3.38	5.88	6.08	3.92
W.S	1.35	2.94	1.35	1.96	0	0.98
Medimix	2.02	0.98	1.35	0	5.41	4.9
Santoor	2.02	0.98	2.02	2.94	2.7	3.92
Anyother	0.68	0.98	1.35	0.98	5.4	4.9
None	0	0.98	0.68	0.98	2.7	0

*p<0.05, **p<0.01,***p<0.001

Soap

First Preference: The maximum use of Dove (33.11%), Pears (18.92%), Dettol (10.81%) and Lux (10.14%) are prevalent in rural area while in urban area Dove (29.41%), Lux (17.65) and Pears (11.77%) are being used in urban area.

Second Preference: The maximum use of Pears (18.24%), Dettol (17.57%), Dove (14.19%) and Lux (11.49%) are prevalent in rural area customers, while the maximum use of pears (22.55%), Dettol (14.71%) and Lux (11.77%) are being used in urban area.

Third Preference: The maximum use of Lux (10.81%), Pears (10.13%), Dettol (9.46%) and Johnson baby (8.78%) are being preferred in rural area customers while maximum use of Liril (14.71%), Cinthol (9.8%), Lux and Dettol (8.83%) are more preferred in urban area.

First Preference: The use of Lux is found to be significantly higher ($p<0.05$) in urban area than in rural area. The use of Dettol is found to be highly significant ($p<0.05$) in rural area than in urban area. The use of Cinthol used significantly higher ($p<0.01$) in urban area than in rural area. For the other soap, the percentage difference is found to be insignificant in rural area than in urban area.

Table 3. Percentage distribution of customers for different brands of Shampoo according to first, second and third preference.

	First preference (in %)		Second preference (in %)		Third preference (in %)	
Name of Shampoo	Rural(148)	Urban(102)	Rural (148)	Urban(102)	Rural(148)	Urban(102)
Sunsilk	8.11	25.49***	16.89*	8.83	7.43	16.67*
Chick	4.05	0.98	0	0.98	1.35	2.94
Vatika	1.35	2.95	4.73	3.92	4.05	3.92
Clinik plus	6.76	2.95	2.03	4.9	8.11	5.88
Dove	10.81	27.45***	14.19	22.55*	8.78	10.78
Garnier fructis	11.49	7.84	11.49	9.8	6.08	7.84
Pentene	4.73	4.9	14.19	14.71	17.57	12.75
Head &shoulder	8.78	11.76	12.16	13.73	10.14	12.75
Loreal	10.81	11.76	10.14	7.84	7.43	4.9
Meghdoot	11.49***	0	0	0	0	0
Clinic all clear	4.73**	0	4.73	7.84	8.11	13.73
Johnson & baby	3.38**	0	3.38*	0	2.03*	0
Lux	1.35	1.96	1.35	2.94	2.02	3.92
Santoor	1.35	1.96	0.68	1.96	0.68	3.92
Anyother	6.08**	0	2.02*	0	10.81***	0
None	4.73**	0	2.02*	0	5.41**	0

Second Preference: The proportion of use of Dove in rural area is highly significant ($p<0.05$) than in urban area. For the remaining soaps there is no significant difference found in urban area than in rural area.

Third Preference: The use of Dove is highly significant ($p<0.05$) in rural area than in urban area while the use of Liril ($p<0.05$) and Cinthol ($p<0.01$) are significantly higher in urban area than in rural area respectively (Table 2).

Shampoo

First preference:- The maximum use of Meghdoot (11.49%), Grainer Fruits (11.19%), Dove (10.81%) and Loreal(10.18%) and are prevalent in rural area while the maximum use of Dove (27.45%), Sunsilk (25.495), Head & Shoulder (11.76%) and Loreal (10.81%) are being preferred in urban area .

Second Preference: The maximum use of Sunsilk (16.89%), Dove & Pantene (14.19%), Head & Shoulder (12. 16%), Garnier Fructis (11.49%) and Loreal (10.18%) are prevalent in rural area while Dove (22.55%), Pantene (14.71%) and Head & Shoulder (13.73%) are mainly being used by the customers in urban area.

Third Preference: The maximum use of Pantene (17.57%), Head & Shoulder (10.14%), Dove (8.78%), Clinic Plus (8.11%) and Clinic all Clear (8.11%) are being used by the customers in rural area while Sunsilk (16.67%), Clinic all Clear (13.73%), Pantene and Head & Shoulder (12.75%) are being used by the customers in urban area.

On comparison of preference of customer in urban and rural area for different brands of Shampoo in different preference we observe that:

First preference: The use of Meghdoot, Clinic all clear and Johnson & baby Found to be significantly higher in rural area than in urban area customers while the use of Sunsilk ($p<0.01$) and Dove ($p<0.01$) are highly significant in urban area than in rural area.

Table 4. Percentage distribution of customers for different brands of Detergent according to first, second and third preference.

	First preference (in %)		Second preference (in %)		Third preference (in %)	
Name of Detergent	Rural(148)	Urban(102)	Rural(148)	Urban(102)	Rural(148)	Urban(102)
Surf excel	35.14	35.29	17.57	10.78	6.08	3.92
Rin	17.56	35.29***	25.68	25.49	8.78	4.9
Arial	14.19	8.83	12.84	20.59	8.78	4.9
wheel	5.4	8.83	16.22	19.61	12.84	20.59
Tide	15.54*	8.82	16.89	13.73	18.92	21.57
Nirma	5.41*	0.98	0.68	3.92	3.38	5.88
Fena	3.38	1.96	6.08	0	2.02	2.94
Ghari	1.35	0	2.02	4.9	3.38	7.84
Ezee	0	0	0	0.98	16.22	15.69
Mr.white	0	0	0	0	8.11	7.85
Anyother	1.35	0	0	0	5.41	3.92
None	0.68	0	2.02	0	6.08*	0

Second preference: The use of Sunsilk, Johnson & baby are highly significant in rural area than in urban area. While the use of Dove is significantly higher in urban area than in rural area customers.

Third preference: The use of Johnson & baby and Lux are highly significant ($p<0.05$) in rural area than in urban area, while only the use of Sunsilk is significantly higher ($p<0.05$) in urban area than in rural area customers (Table 3).

In the case of rural customers, surf excel (35.14%), Rin (17.6%), Tide (15.54%) and Arial (14.19%) are used in the families as first preference. As second preference Rin (25.68%), Surf excel (17.57%), Tide (16.89%), Wheel (16.22%) and Arial (12.84%). As third preference Tide (18.92%), Ezee (16.22%) and Wheel (12.84%) are preferred in rural area customers. In case of urban area Surf excel and Rin are used by the customers in rural area are equally preferred (i.e. Surf excel &Rin (35.29%), Arial & Tide (8.82%) by the customers of rural area. Hence we see that about 71% of customers are using surf excel and Rin in urban area as first preference while only about 25% are using Arial, Wheel and Tide in urban area as second priority to the first preference. As second preference in urban area the customers have used Rin (25.49%) while Arial (20.59%), Wheel (19.61%) and Tide (13.73%) as second priority in urban area. As third preference maximum Tide (21.57%), Wheel (20.59%) and Ezee(15.69%) are used by the customers in urban area. It is to be noted that Surf excel, Rin and Arial are used only 13.7% in urban area.

As a first preference, the use of Tide and Nirma are found to be highly significant in rural area than in urban area customer while the use of Rin is found to be highly significant in urban area than in rural area. The use of detergent in urban area and in rural area is not found to be significantly different for second and third preference (Table 4).

Table 5. The monthly consumption of Soap, Shampoo and Detergent are given below:

No of Products	No of Customers (Soap)	No of Customers (Shampoo)	No of Customers (Detergent)
0-2	17(6.8)#	47(18.8)	144(57.6)
2-4	46(18.4)	44(17.6)	77(30.8)
4-6	71(28.4)	81(32.4)	15(6.0)
6-8	78(31.2)	27(10.87)	3(1.2)
8-10	22(8.8)	37(14.8)	3(1.2)
10-12	13(5.2)	13(5.2)	8(3.2)
12-14	3(1.2)	1(0.4)	0(0.0)
Total	250	250	250
Mean	5.74	5.05	2.34
S.D.	2.56	0.74	1.03

Figures in parenthesis give percentage.

Monthly Consumption on Soap, Shampoo and Detergent by Customers

The maximum no. of customers has consumption of soap 6-8 (31.2 %), 4-6 (28.4 %) and 2-4 (18.4 %), the average no. of consumption by customers in a month is about 6. The maximum no. of Shampoo by the customers are 4-6 (32.4 %), 0-2 (18.8 %), 2-4 (17.6 %), 8-10 (14.8 %) and 6-8 (10.87 %). The average no. of consumption of shampoo by the customers are 5. The maximum no. of consumption of detergent 0-2 (57.6 %), 2-4 (30.8 %) and 4-6 (6%). The average no. of consumption detergents are about 2(Table 5 and figure1).

The average monthly expenditure on Soap, Shampoo and Detergent are Rs. 138.20, Rs. 134.2. While expenditure on Detergent is about Rs. 168. The maximum expenditure on Soap, Shampoo and detergent in the interval Rs. 50-200, Rs. 50-250 and Rs. 50-250 respectively (Table 6 and figure 2).

Practical Implication for the Study

The results of this present research study indicates that understanding the behaviour of the customer regarding FMCG products is helpful in catering market segment as their on-going preference Analysing preference for the product, consumption pattern and monthly expenditure for the product assist

Figure 1. Consumption of Soap, Shampoo and Detergent.

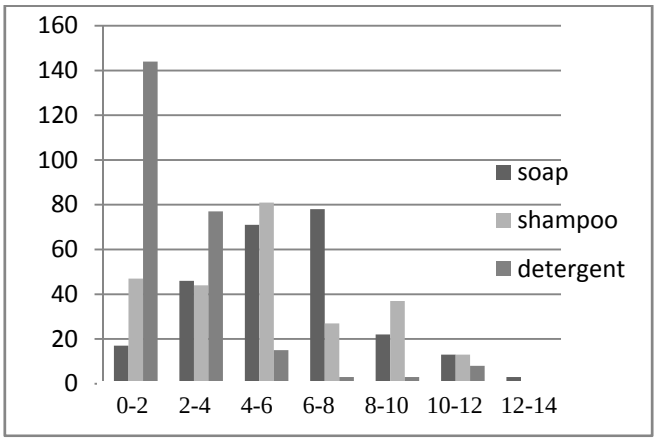

x-axis: No. of products in month, y-axis: No. of customers using products.

marketers to plan market strategy. Targeting the customers after understanding their preferences result in maximum market coverage.

Conclusion

In Case of rural area Dove, Pears and Lux were used by maximum no. of customers as first, second and third preference respectively. In urban area Dove, Pears and Liril were used by the maximum no. of customers as first, second and third preference respectively.

The Monthly Expenditure on Soap,

Shampoo and Detergent.

Table 6. The distribution of monthly expenditure on Soap, Shampoo and Detergent used by the customers:

Monthly expanse (in Rs.)	No. of customers (Soap)	No. of customers (Shampoo)	No. of customers (Detergent)
0-50	31	42	6
50-100	49	89	32
100-150	72	34	91
150-200	59	35	56
200-250	17	25	38
250-300	6	3	10
300-350	15	12	5
350-400	0	0	4
400-450	1	0	2
450-500	0	2	2
500-550	0	8	4
Total	250	250	250
Mean	138.2	134.4	168.2
S.D.	78.3	110.1	87.94

Figure2: Distribution of monthly expenditure (in Rs.) for Soap, Shampoo and Detergent.

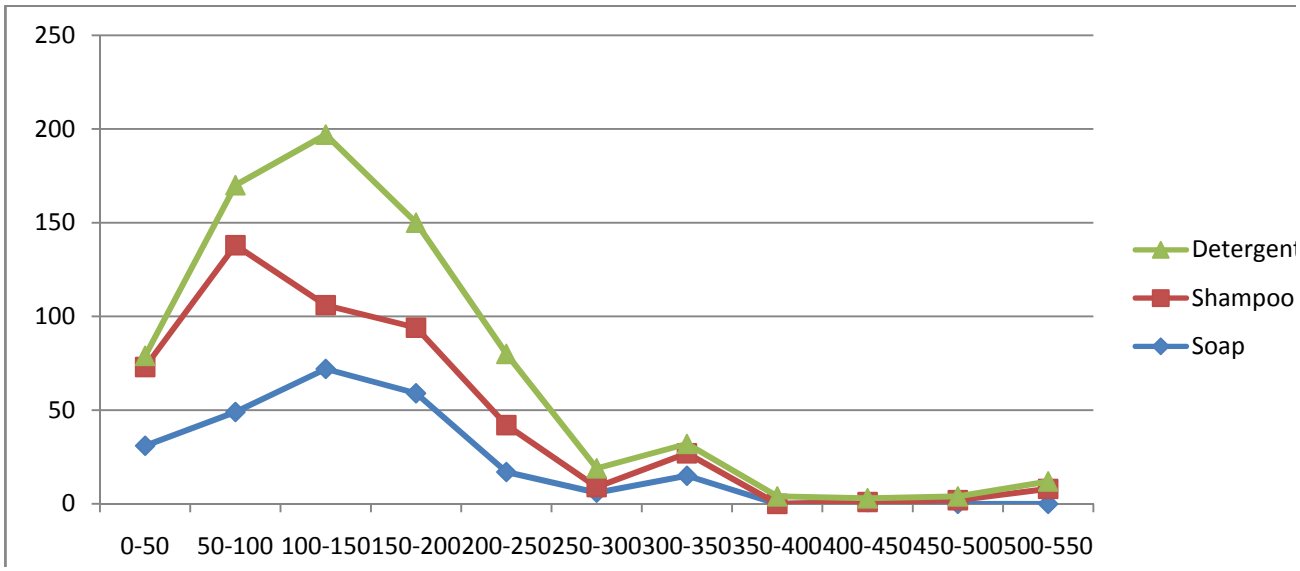

X-axis: monthly expenditure (in Rs.), y-axis: No. of customers.

In rural area maximum used brand of Shampoo are Garnier-Fructis, Meghdoot, Dove and Sunsilk as first preference while in urban area the maximum use of brand of the Shampoo are Sunsilk, Dove, Head & Shoulder and Loreal as first preference, as second preference mainly Sunslik, Dove, Garnier-Fructis, Pantene, Head & Shoulder and Loreal are being used by customers in rural area. In urban area Clinic Plus, Pantene, Head & Shoulder are being used by the customers as second preference. As third preference Pantene, Head & Shoulder, Sunsilk, Clinc Plus and Dove are equally preferred in rural area as well as urban area customers.

As first preference the use of Surf Exel, Rin, Ariel and Tide are found to be most prevalent in rural as well as urban area. The same pattern of the use of Detergent is found in rural and urban area customers as second preference. As a third preference the Detergent brands as Wheel, Tide and Ezee are more prevalent in urban as well as in rural area customers. The consumption Soap, Shampoo and Detergent is found to be 6, 5, and 3 (in no. of product). The average expenditure on Soap and shampoo is almost same while expenditure on Detergent is found to be higher.

References

1. Ali, Md. Abbas., Venkat, Thumiki, Ram. Raj. and Khan, Naseer (2012). Factors influencing purchase of FMCG buy rural consumers in South Asia. *International Journal of Business Research and Development*, vol. 1 (1), 48-57.
2. Bronnenberg, Bart. J., Jean, Pierre, Dubé, H. and Gentzkow, M (2012). The evolution of grant preferences: evidence from consumer migration. *American Economic Review*, vol. 102 (6),2472-2508.
3. Ismail, Z., Masood, S. and Tawab, M. Z (2012). Actors affecting consumer preference of International brands over local brands. *International conference on social Science and Humanity. IPEDR, IACSIT press Singapore*, vol. 31,54 -59.
4. Jesintha B.(2017). Market penetration of FMCG and regional products in the rural markets- With special reference to personal care products. *International journal of marketing and financial management.*5 (100), 31-38.
5. Jha, M (2013). A study on the rural consumer buying behaviour in Bihar. *International journal of Marketing, financial services & Management Research*, vol. 2(2), 172-182.
6. Karthikeyan, B. and Panchanatham, N (2013). Impact of sales promotion techniques on consumers towards GMCG. *International Research Journal of Business and Management*, vol. 5,128-135.
7. Katiyar, A., Katiyar, N (2014). An Empirical Study Of Indian Consumer Buying Behavior Of FMCG Products (With Special Reference Of Bathing Soap). *International Journal of management and commerce innovation*, vol. 2(1), 211-217.
8. Kumar, P. and Dangi, N (2013). Brand awareness and consumers preferences among rural cosumers. *Journal of Radix International Educational and Research Consortiu*, vol, 2 (9), 1-14.
9. Mahalingam, S. and Kumar P.N (2012). A study on consumer behaviour towards selected fast moving consumer goods in Coimbatore city. *Indian Journal of Education and Information Management.*1 (11), vol, 500-507.
10. Nasrudeen , R. M. and Ramalingam, L.P (2014). Buying preference of Rural consumers towards Fast moving consumer goods. *International journal of advance Research in computer science and management studies*, vol. 2(1), 1-10.
11. Patil Pramod Hanmantrao (2017). A study of brand preference among rural and urban consumers .*Research journal of economics & business studies.*6 (10). 1-5.
12. Pongiannam, K., Chinnasamy, J. K (2014). Do advertisement for fast moving consumer goods create response among the consumers? - An analytical assessment with reference to India. *International Journal of Innovation, management and technology*, vol. 5(4), 249-254.
13. Qasim, M. S. and Agarwal, S (2015). Consumer behaviour towards selected FMCG (Fast moving consumer goods in Delhi NCR). *International Journal of Informative & Futuristic Research*, vol. 2(7), pp. 2014-2048.
14. Rohatagi Devyani (2017). A study on preference for Indian Local/Regional FMCG brands among Delhi consumers. International journal of mechanical engineering and technology. 8(12), 129-137.
15. Shukla, Priteshkumar. Y (2013). A study on rural marketing strategy-with special emphasis on selecting costumers preference for Hindustan Uniliver Limited selected products in Valsad district. *Indian Journal of Research*, vol. 2(2), 49-52.
16. Singh, P (2013). Factors affecting success of fast moving consumer goods. *Shrinkhla*, vol. 1(3), 19-23.
17. Sonkusare, Geeta (2013). Impact of Telivision advertisement on buying behavior of women consumers (with special reference to FMCG products) Chandrpur city. *International Journal of Business and Management Invention*, vol.2 (3), 31-38.
18. Srivastava, S. (2013).Factors affecting buying behavior of consumers in unauthorized colonies for FMCG products. *Global journal of management and business studies*, vol. 3 (7), 785-792.

19. Sulekha and Mor, K (2013). An Investigation of consumer buying behavior for FMCG: and empirical study of rural Haryana. *Global Journal of Management and Business Research Marketing*, vol. 13(3), 44-49.

20. Thanigachalam, S. and Vijayrani, K (2014). Consumer behaviour towards fast moving consumer goods in Puducherry. *Asia Pacific Journal of Research*, vol. 1(18), 130-138.

●

HISTORICAL AND CULTURAL DIMENSIONS OF MITHILĀ ART HISTORY: AN OVERVIEW

DR. VINAY KUMAR*AND DR. U. K. SINGH**

It is essential by researcher to discuss geographic, social and cultural back-drop of the region which prompted the researcher to undertake the existing problem. Researcher born and brought up in the region of Mithilā has deeply been moved by the condition of women supporting and carrying out the natural phenomenon of human life in the region. The problem in hand originates from Mithilā and thereafter concerns to general state of affairs at national level. Though the word "Mithilā" is well known by the people residing in the North-Eastern region of India but the most important reference of Mithilā is in the Hindu epic, Ramayana wherein Lord Ram's wife Sita is said to be the princess of the land, ruled by King Janaka who ruled Mithilā from Janakpur.

Mithilā is a cultural region situated a little east of Vaishali, south of Nepal, north of Magadha and west of West Bengal. Some of the districts which are important from the art and archaeological point of view are Darbhanga, Madhubani (known for Mithila paintings), Samastipur, Mujaffarpur, East Champaran, North Munger, North Bhagalpur and Purnea. Mithilā, also known as *Videha* or *Tirhut*, refers to a broader cultural region than a distinct geographic entity. However, at present it includes the districts of Darbhanga, Madhubani, Bhagalpur, Saharsa, Supaul and Purnea in North Bihar and some districts in the *Terai* region of Nepal. In the field of art history, Mithilā, is not lacking in artistic achievement. References about the big royal palaces and ordinary huts, in the contemporary accounts and literature, show that the Mithilā was marked by both types of architecture. Though devastated by the ravages of Kośī and other rivers, the available pieces of broken images and dilapidated structures, discovered from different parts of Mithilā, speaks volume of the prevalence of developed art[1]. Some scholars like U. Thakur, D.N. Jha with S.J.H. Jafri and A. Kumar, H. Jha, R. Misra, P.K. Singh 'Maun', F.K. Misra, J. Misra, S.K. Misra, S. Misra, B.L. Das have highlighted the cultural history of Mithilā but from the view of art history it is a matter of further research work. Both Dharmasvāmī and Vidyāpati refer to the magnificence of the royal palaces of Mithila and writings of the contemporary *Smṛtikāras* also refer to the existence of such houses. Vidyāpati, in his *Kīrtilatā*, has given a graphic description of the royal palace and has given us an insight into the architectural design of the period. The following architectural terms in Vidyāpati deserve notice - (i) Krī āśaila (ii) Dhārāgṛha (iii) Pramadavana (iv) Puṣpavāṭikā (v) Yantravyajana (vi) Sṛṅgārasaṅketa (vii) Mādhavimaṇ (viii) Khaṭvāhindola (ix) Kusumasajjā (x) Catuḥ Sampallava and (xi) Citraśālī etc[2].

Vidyāpati also gives vivid description of Śiva temples, decorated with mast flags and pictures, at Jaunpur. The value of medieval style lay in harmony of structural achievement rather than glory and variety of the constituent units. This synthesis could be achieved even in temple architecture in Mithilā[3]. The lotus and pitcher supplied a constant motif in the construction of the Hindu temples in Mithilā. The people of Mithilā were skilled in temple building. Spooner[4] has presented a detailed study of these temples and has called them as "*Tirhut types of Temples*". Refuting Fergusson,s point, Spooner calls northern types as '*Tirhut* types' consisting of a cella, tower and porch. In many cases, the relationship between the divions of the cella wall and those of the *Śikhara* is faithfully maintained[5]. The *Tirhut* temple architecture stands for a plain undecorated walls, undecorated painted roofs and square in plan. There was a small square room to contain the sacred image, a sloped roof and a narrow portico. Series of temples, with utmost culmination of the temple architecture, illustrate the development of this style[6]. The literary concept of the Varṇa Ratnākara about the finely carved stone basement with accessories can be gleaned through the few remnants of the Karṇāta palaces (now in the Nepal territory)[7]. The ruins of the old temples and palaces can be seen even today at Bheet

∗Assistant Professor, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi.
∗∗ Assistant Professor, History of Art Department, Patna University (College of Arts and Crafts) . Patna.

Bhagwānpur, Andhrāthārhi, Bhagirathpur, Uchchaitha, Birpur (Begusarai) Bahera and a number of other places. The Tilkeśvara temple (Darbhangā) and Sun temple at Kandāhā (Saharsha) have not yet been studied from the artistic point of view[8]. These two are very old temples of Mithilā and speak volume about the architectural designs. The recent discovery of the remnants of a full-fledged temple at Bahera[9] shows that the architects conformed to the old rules and regulations. The Bahera and the Bhagirathapur discoveries give us an insight into the architectural development. Ornamental and decorated bricks (one or rare type at Bahera) and fine stone slabs and door frames go to suggest that this type of workmanship was not neglected in our part. It has been suggested that Bhagirathpur bricks bear the specimen of tantric *cakras* and some of them exhibit an example of artistic workmanship[10]. The long stretches of temple corridors, the symmetrical arrangements of the entrances, quadrangles and staircases, the construction of halls, the remarkable simplification, elongation of massive and squared figures, etc. illustrate the geometrical pattern of the artists. In the construction of forts[11], Mithilā did not lag behind. The Maheśvarā inscription (A.D. 1291) refers to the construction of a strong fort[12].

Art History of Mithilā

The sculpture in Mithilā is very important as a source of art history. The sculptures which have been found by exploration and accidentally by excavations of various kinds as well as archaeological in Mithilā can be divided into the following groups : (a) Viṣṇu - showing the cult of Vaiṣṇavism (b) Śiva - Showing the cult of Śaivism and other associated deities (c) Śakti- showing the cult of Śāktism[13]. Even the few images, noticed so far at Simaraongarh, are sculpturally superior. Images of almost all popular gods and goddesses are found and they are important from the artistic point of view. A number of Viṣṇu images, in various incarnations, have come to light from different parts of Mithilā. Besides a few sculptures of Buddha and Tāra (a Buddhist goddess), Gaṇeśa, Sūrya, Brahmā, Gaṅgā and Yamunā are also found. The discoveries of the image of Sūrya from a number of places and the exigency of the old sun temple at kandahā (saharsa) with an inscription[14] (dated Śāka 1357 i.e. 1435 A.D.) belonging to the time of Oinavāra ruler Narasimhadeva, prove that the Sun cult was prevalent in Mithilā. Generally speaking, Mithilā sculptures of this period are carved out of black chlorite (Kashṭi-pāthar) either of the fine or of coarse grain. Few bronze (ashṭa-dhātu) or metal images have been reported from this region. Out of these images, 'the pivot is the human figure, in the full bloom of youth radiant and vibrant, and combining in itself both spiritual and mundane suggestiveness of erotic nature derived from textual yoga or Tantric inspirations, doubtless canonized by the respective cults[15].

Painting

Painting is an important medium of expression of moods and sentiments. It is the spirit of a people and environment that determines the dominant trend in painting. Painting as an art form was prevalent in Mithilā. Besides the more known and prevalent forms, in the fields of painting Mithilā had two special contributions to her credit- (i) Aipana (Alpanā or *Aripaṇa*)[16] and (ii) *Kohabara*. Broadly speaking, the art of painting can be divided into two groups'– Bhittī citra (wall-painting) and *Bhūmi citra* (floor-painting). The *Aripana* belongs to this second group of painting. It is an important folk-art. On almost all auspicious occasions, the women of Mithilā sketch auspicious drawings in the court yard, door front and other places. They draw circular patterns of designs with a white liquid paste of ground rice. In various *Aipana* designs, painted in various colors Śiva-Pārvatī, Viṣṇ-Lakṣmī and various other gods and goddesses are produced with great originality and imagination. It represents the traditional folk art of Mithilā. The second important aspect of the folk art in Mithilā is known as *Kohabara* so frequently referred to in the poems of Vidyāpati. *Kohabara* indicates painting on the wall of a house where newly married couples enter after marriage for their first meeting. This house is specially made at the time of the marriage or a separate room in the house is set apart for the purpose and the walls of that particular room are painted with stories and legends, from folklore and mythology. This painting is done with Gairika, a mineral pigment, i.e., red colour which is taken as auspicious. W.G. Archer styled the wall-paintings of Mithilā as the "Maithila Paintings." Mithilā painting, as a domestic ritual activity, was unknown to the outside world until the massive Bihar earthquake of 1934. House walls had tumbled down, and the British colonial officer in Madhubani District, William G. Archer, inspecting the damage "discovered" the paintings on the newly exposed interior walls of homes. Archer - later to become the

South Asia Curator at London's Victoria and Albert Museum - was stunned by the beauty of the paintings and similarities to the work of modern Western artists like Klee, Miro, and Picasso. During the 1930s he took black and white photos of some of these paintings, the earliest images we have of them. Then in a 1949 article in the Indian art journal, *Marg*, he brought the wall paintings to public attention. It was W.G. Archer[17] with his perspective curiosity who first drew attention to the mural paintings of the village communities of Mithilā as mentioned above. The outside world has come to know about this painting from the villages of Rāntī and Jitvārapura in the district of Madhubani, and hence these murals have, of late, come to be popularly known as 'Madhubani Painting'. In fact, the more appropriate name of this school of painting would be Maithila Painting, as suggested by Archer.

As regards the origin and antiquity of the Madhubani Paintings it's very difficult to say when this wall-painting (*Bhitti-citra*) actually began. U. Thākur writes that the symbolic representations are very much similar to the designs of the Harappan potteries and motifs on punch-marked coins. The story goes that even the Ladies of King Janaka's household used to paint on walls. It is said, when Lakṣmaṇa went to the forest along with Rāma and Sītā, his consort Urmilā painted his image on the wall and worshipped it daily[18].

Madhubani painting is a symbolic expression of day-to-day experiences, feelings and thought. The symbols, those are used by Maithili painters, have their specific meanings. For instance, fish symbolize fertility, procreation and good luck, peacocks are associated with romantic love and religion, and serpents are the divine protectors. The paintings are characterized by vibrant use of colour, natural and geometric motifs, religious and secular figures. According to stylistic point of view Madhubani paintings can be classified into different categories like *bharani, kachani, gem, gobar, godna* and tantric. Among these *bharni, kachani aud godna* styles are very popular in Mithila region. Line paintings or *kachani* are done by Kayastha women. In those paintings artisans use maximum lines rather than colours. They depict village or religious scenes in their paintings. The *godna* painting which is done by *Harijan* women came forward in the 1980s. The women of the *Dusadh* and the *Chamar are* doing all forms of traditional paintings and art forms for ritual purposes and also for decorating their dwellings. Their pictorial alphabet began to include lines, waves, circles, sticks and snails, opening the way to stylization and more abstraction.

Thematically, Madhubani paintings are mostly based on religion and mythology. In the paintings of little tradition, local deities like Raja Salesh, Buddheshwar, Jutki Malini, Reshma, and the likes occurs in abundance. Great tradition is a tribute to the Hindu Gods like Krishna-Radha, Shiva- Parvati, Ganesha, Maa Durga, and the likes. However, natural scenes of villages, everyday life, flora and fauna which are so much a part of life of this school of painters also entered the domain of *godna* paintings. Everybody knows that Mithila is the birthplace of Sita and so that the artisan visualizes several scene of Ramayana in their canvas. Besides abstract human figure the motifs and design are seen in Madhubani painting such as; flora and fauna, curve linear devices, circle in series, series of short lines, peacock, fish, flower, birds, animal and other natural life. The central theme the Madhubani paintings is the Hindu Gods and Goddesses.

Painting on paper for sale has changed this dramatically. Aside from generating important new family income, individual women have gained local, national, and even international recognition. Artists are being invited to exhibitions across India, and to Europe, the United States, and Japan - no longer as folk artists, but now as contemporary artists. Where once their paintings were anonymous, now they are proudly signed. Along with economic success, opportunities for travel, education, radio, and now television are expanding women's consciousness and engagement with the multiple worlds around them. Gender relations are shifting. A few men continue to paint within what is still defined as "a women's tradition," but their work tends to be personal and anodyne. In contrast, the women's paintings are increasingly socially charged, critical, and edgy. These changes have provoked an argument in Mithila and beyond between cultural conservatives who claim that commercialization and the loss of its ritual functions has debased Mithila painting, versus those who see Mithila Painting as a contemporary art form rooted in the expanding experience, concerns, and freedoms of Mithila's women.

Performing Art

Music was a favorite amusement of the people of Mithilā during the period under review. The cultivation of music as an art is a very old practice in

Mithilā and it can be traced to the *Vedas*[19]. Music was a favourite pastime not only for the rulers of Mithilā rather it was widely cultivated by all sections of the society. Jyotiriśvara in his *Varṇa Ratnākara* refers to the art of music and dancing[20]. Vidyāpati himself was a great musician of repute. Rāgataranginī or Locana (A.D. 1650 1725)[21] presents a very authentic and interesting account of the history of the Mithilā School of music. Jaideva's *Geet Govinda* is not said to be a work of Mithilā, yet it greatly influenced the Mithilā music and, therefore, its importance cannot be overlooked[22].

Summing up

Mithilā had long been famous in India for its rich culture and numerous poets, scholars, and theologians - all men. For women, it has been a deeply conservative society, and until painting on paper began four decades ago, most women were confined to their homes and limited to household chores, child rearing, managing family rituals, and ritual wall painting. The temple architecture and sculpture reveals the fact that Vaisnism, Saivism and Sakti cult was popular in Mithilā which is also evident from Mithilā painting. This region also has a rich heritage and schools of performing art which is reflected from various literary sources and living traditions. Systematic archaeological exploration and documentation of this region is needed to conserve the rich heritage of Mithilā. Viewers of Mithila Painting: The Evolution of Art forms are encouraged to form their own judgments.

References

1. Chaudhary, R.K., 'Some Recent Archaeological Discoveries in North Bihar' in *JBRS*, Vol. XLIII. pp. 69
78. Thakur, U. 1988. *History of Mithilā*, Darbhanga, pp, 12-14.
2. Agrawal V.S. ed., *Kirttilatā*, Jhansi, 1962. pp. 32-34.
3. R.K., *Mithilā in the Age of Vidyāpati*, p.360.
4. *JBORS*, Vol. II, p.121ff.
5. *Ibid*., p.126.
6. *Ibid*., pp.121-134.
7. *JASB*, Vol. IV, pp.122-123.
8. Chaudhary, R.K., *opp. cit*., p.360.
9. Refer to the article, 'Some recent Archaeological Discoveries in North Bihar', in *JBRS*, Vol. XLIII
10. *JBRS*, Vol. XL, p. 347. ff.
11. Singh, U.K. 2009. *Prachin Bhartiya Durg Sanrachna*, Kala Prakashan, Varanasi, pp. 10-11
12. Chaudhary, R.K., *opp. cit*., p.362.
13. Miśra, V., *Cultural Heritage of Mithilā*, p. 253.
14. *JBORS*, Vol XX, p.151 ff. The text and the inscription can be seen in V.K. Miśra's *Cultural Heritage of Mithilā*, 1981, p. 201. Miśra , V.K. 1978. *Mithilā*, *Art and Architecture*, Allahabad, pp. 36-39.
15. *Ibid*., p. 202.
16. Miśra, V., *opp. cit*., p.255.
17. Thākura, U. 1982. *Madhubani Painting*, New Delhi, Abhinav Prakashan, p.54.
18. *Ibid*., p. 55 Refer to *Mithilā Mihir*, 1944, *Art*. "Vidyāpati O Hunak Sangeet Kala".
19. Miśra, V., *opp. cit*., p. 216.
20. Jyotiriśvara, *Varṇa Ratnākara*, Cal., p.44ff, Choudhary, R.K., *opp. cit*., p. 374.
21. Lochan krit *RāgaTaraṅgiṇī* (Maithili Akadami), Patna, Introduction, p. XVII.
22. *Mithilā Bharati*, Anka 4, 1977, "Mithilā Sangeet Paddhati", p. 80.

●

THE HISTORICITY OF ANCIENT VAISALI: A LITERARY AND ARCHAEOLOGICAL INTERPRETATION

DR. ASHOK KUMAR SINGH*

Vaisali (Lat.25° 58′ 20″ N ; long. 80° 11′ 30″ E) is one of the oldest cities of India, with an immense wealth of tradition and historical legend. It is now represented by relics of Basarh and the neighboring villages in the district of Muzaffarpur of north Bihar. In ancient times two main states, Mithila (Videha) and Vaisali (Licchavi) flourished in north Bihar. Vaisali was the name of the state as well as its capital. It was presumed that Vaisali was the capital of the republic Licchavi state since before the birth of Mahavira (*c*. 599 BC). It suggests that it was perhaps the first republic in the world.

Vaisali is not mentioned in the Vedic literature and its monarchical history is based primarily on the Epic-Puranic materials. This kingdom was founded fairly early in course of the Aryan expansion in north-eastern India and it can not be said that the city played no part in the early Vedic period of Indian history. According to the Ramayana, the Ikshvaku queen Alambusha had a son named Visala who founded the city and named it *Visala-Puri*. The Ramayana also mentions that when Rama and Lakshaman alongwith Viswamitra crossed the river Ganga and came to its northern bank on their way to Mithila, they had a view of the city of *Visala*. The name of king Visala is mentioned in *Varaha*, *Narad, Markandeya* and *Bhagawat* Puranas. F.E.Pargiter gives thirty four names of Vaisalian kings on the basis of Epics and the Puranas.

Jainism had its home in Vaisali as the twenty-fourth *Tirthankara*, Lord Mahavira was born here. Mahavira was the son of Siddhartha, a chieftain of the Jantrika clan of Kundagrama and his mother Trisala was the sister of the Chief of the Licchavi Republic. According to the *Jaina ācārāṅga Sutra*, Mahavira's parents were the lay supporters of the followers of Parswanath (*Jaina Sutras*, I, *SBE*, XXII : 194). The teachings of Mahavira, further strengthened the position of Jainism among the Vajjians. Gautam Buddha paid a visit to Vaisali on the invitation of its inhabitants. As we learn from the *Mahavagga*, the Buddha gave an audience to the courtesan Amb*ā*p*ā*li, a woman of unknown beauty and also the Licchavis of Vaisali. He is said to have resided at Kotigrama of the Buddhist may be identified with Kundagrama of the Jainas[1]. The second Buddhist Council was held at Vaisali a century after the Mahaparinibbana of Buddha and in the tenth year of the reign Kālāsoka. Vaisali had become a very important power under the Licchavis during the days of Buddha. It was the growing power that attracted the attention of the early Magadhan imperialist like Bimbisara and Ajatsatru. According to the Buddhist traditions, the city of Vaisali was encompassed by three walls at a distance of a g*ā*vuta (a quarter of a *yojana*) from one another and three gates with watch towers, fortification and residential buildings[2] .The *Mahavagga* (VIII.1.1.8) throws further light on ancient Vaisali. The Tibetan Dulva says that the Vaisali city was divided into three parts inhabited respectively by the rich, middle and lower classes.

According to the Jaina tradition, Kshatriya, Brahman and Vanik were upanagaras of the Vaisali. Literary traditions affirm that there were three city walls of ancient Vaisali. Out of these three, remains of two city walls made of mud ramparts have been found. The first is now known as *Raja-Visala-Ka Garh* at Basarh which is citadel site enclosed on all sides by mud walls and a big moat. The remains of second and much larger city wall have been traced extending in more than a mile and situated about half a mile south of *Raja-Visala-Ka Garh*. Vaisali had been an important centre of the two non-brahmanical religions.

Vaisali as administrative headquarters formed a part of the Magadhan Empire. It remained so under the Mauryas, the Sungas and the Guptas before the rise of Chandragupta I and the foundation of Gupta Empire. The Licchavi princes Kumaradevi was married to Chandragupta I. Afterwards Vaisali remained an administrative headquarters during the Gupta period.

The literary and archaeological sources give us good knowledge of the economic condition of the people of the region. Agriculture as usual was the chief occupation of people. But trade and commerce

*Asstt. Professor, Centre of Advanced Study, Department of AIHC & Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi.

also appear to have played a considerable part in this republican state. Vaisali is an important centre of trade was found to develop because it was connected with Rajagriha and the former was on the route running the latter to Sravasti, Kapilvastu and Mithila (*Digha Nikaya*, 72-137). Trade was carried on either by land route or by river route on boats. The Jatakas and other literary texts refer to *Sarthvaha* or *caravan* traders, and we also get seals of Sarthvaha from excavations. The Ganges formed one of the most important means of communication and trade for the districts through which it flowed *e.g.* from Rajgriha and Vaisali (*Vinaya Pitaka*, II : 210-211).The Ganges had to be crossed between Rajgriha and Sravasti by boat, some of the boats belonging to the King of Magadha and others to the Licchavis of Vaisali which lay on the road from Rajagriha to Sravasti (*Divyavadana*, 55-66). There was a road which connected Ukkattha (a town in Kosala near Himalayas) with Setavvya and with Vaisali. The pupils of Bavari when they proceed from Sravasti, passed through Setavvya, Kapilvastu, Kusinara, Pava and Vaisali while going to Rajgriha (*Sutta Nipata*, PTS, Verses 976-1148).

Vaisali was a great market town of eastern India and the chief market town of north Bihar with a port on the northern side of the Ganges and another on the eastern side of the Gandak. The discoveries of a large number of seals from excavations testify the fact. We may presume that the port on the Ganges controlled trade with southern Bihar and towns along the coast of Ganges. Chechar (Svetapura) might have been a great river port on the northern bank of the Ganges opposite of ancient Pataliputra[3]. The different traded items reached Vaisali for onward transmission by land route. A number of seals of bankers (*sresthi*), merchants (*Kulika*) and traders (*Sarthavaha*) were recovered from Vaisali mounds. The seals of their co-operations (*nigama*) have also been found from the excavations at Vaisali[4]. Several seals bear the inscription *prathma-kulika* (principal merchant) were also recovered from Vaisali.

The religious condition of Vaisali did not differ much from the rest of Bihar. Buddhism, Jainism, Shavism and Vaisnavism were the main religions which were popular there. The early pali literature, particularly the Jatakas, refer various *Yakshas* and their worship in Vaisali. The teacher of the Buddha, Ālāra Kālāma was a native of Vaisali (*Mahavastu*, II : 118). Mrs. Rhys Davids had also recorded that the Buddha found his first two teachers.

Ālāra and *Uddaka* at Vaisali. Buddhism became very popular in the land of Licchavis. Vaisali and the Vajji country were one of the important centre of Buddhism which was visited by Fahien and Yuan Chwang.

Shavism also became very popular at Vaisali. Several images of Shiva and the Gods of Shiva family found in this area besides motifs and legends appearing of the numerous seals recovered from Vaisali. These seals discovered by Bloch[5] and Spooner[6] contain many personal names of Saivite affiliations besides Saivism and Shaktism. Vaisnvism was equally popular at Vaisali, particularly in the Gupta and post Gupta periods.

Mother Goddess worship has a long tradition in north Bihar. The gold plaque of Lauriya Nandan Garh and references in the Jataka stories testify to the prevalence of the worship of Mother Goddess in the pre Mauryan period. Several Mother Goddess figurines from Basarh of the 3rd century BC have been recovered.[7] Recently a rare silver mother Goddess figurine was discovered from Pakkakot, District Ballia from pre Mauryan context[8]. A nude terracotta female figurine (Mother Goddess) was recovered from Agiabir, District Mirzapur from Gupta period.[9] A.K. Coomaraswamy accepts a long history behind these Mother Goddess worship and assemble them with the Goddess of fertility.[10] It is now very much presumed that the worship of goddess of fertility as a folk cult was very much prevalent in the middle Ganga plain during these periods.

Archaeological Evidences

Basarh

Basarh is situated about 35 km south-west of Muzaffarpur and about 29 km north of Hazipur, Alexander Cunnigham visited the site in 1861-62 and found the mound of *Raja-Bisal-Ka Garh* and on the basis of the accounts of Chinese pilgrims identified Basarh with the city of Vaisali of Buddhist tradition.[11] Cunningham mentioned that the remains of Basarh consisted of a large deserted fort and ruined brick stupa.[12] It was surrounded by a moat which was full of water at the time of his visit. Vincent Smith also considered Basarh to be the ancient city of Vaisali[13]. The area of the mound called *Raja-Bisal-Ka Garh* (Vaisali) as measured by Cunnigham is about 500 m x 240 m. The height of the mound above the surroundings is about 6 feet to 10 feet. T. Bloch of the Archaeological Survey of India was the first

archaeologist to conduct excavations here at the *Garh* site in 1903-04[14] and D.B. Spooner in 1913-14[15]. Bloch excavated at different eight places and exposed remains of brick building mostly irregular in plan and consisting of rooms or chambers of remarkably small size and a few larger ones. Another significant discovery made by Bloch was the hoard of 720 inscribed clay seals recovered from the excavations. The inscriptions and the motifs of these seals throw significant light on various aspects of the people of Vaisali and the area around it. Spooner carried out excavations of the same trenches of Bloch and recovered 235 inscribed clay seals. He also recovered a large number of terracotta figurines and some silver and copper punch marked coins.

Systematic excavation was undertaken at the site in 1950 by the Vaisali Sangha under the direction of Krishna Deva[16] and between 1958-62 by A.S Altekar on the behalf of Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna[17]. Krishna Deva excavated the *Garh* site and revealed two phases of the defenses; the first is of a mud rampart measuring more than 65 feet wide and over 09 feet high which was followed by a sort of mud brick rampart in the second phase. He associated the construction of mud rampart to Period IB (*C.* 300 BC-150 BC). He discovered the materials of four periods ranging from 300 BC to 500 AD[18].

Kashi Prasad Jayaswal Research Institute was the last to carry out excavations at Vaisali for four successive years between 1958 -1962. The excavation includes the areas of Kharauna Pokhar, *Raja Bisal-Ka-Garh*, Chakramdas, Lalpura, Kolhua and Virpur. Kharauna Pokhar has been identified with the ancient *Abhiseka-Puskarni* with whose water all the kings of republic were consecrated. It had a surrounding wall with concrete platforms with as many as six occupational levels. The excavation at the *Garh* area revealed three phase of defenses. The first belonging to Sunga period, the second to a period between BC 100 and 100 AD and the third to the late Kushana and early Gupta age. The excavation was conducted at different places which divided the deposits into five periods ranging from 600 BC to 600 AD[19]. Another important discovery was a stupa, originally of mud but later on encased in brick which has been taken to be the one built over the corporeal relics of the Buddha by the Licchavis (Pl. I) [20]. The diameter of the base of the stupa measured as 65 feet in diameter. Cunningham believes that the stupa was made by king Asoka (Pl. II). To the south of this stupa there is an uninscribed Asokan pillar still standing there with its capital surmounted by a lion (Pl. III). As other Asokan pillars it is made of Chunar sandstone, the shaft carved out of one single block of stone.

Pl. I : The Relic Stupa of Vaiśālī

Pl. II : Asokan Pillar at *Ānanda* Stupa, Vaiśāli

Pl. III : Close up View, Asokan Pillar, Vaiśāli.

References

1. Raychoudhary, P.C., 1958. *Muzaffarpur district Gazetteer*, p. 143.
2. Cowell, E.D. 1895-1907. *The Jatakas* (7 Vols. with Index), Cambridge, England. pp. 297 & 316..
3. Mishra, Y, 1979. *Svetapura Ki Khoj aur Ushka Itihas*, Patna.
4. *ASI-AR* (Archaeological Survey of India- Annual Report), 1913-14, p. 108.
5. *ASI-AR* (Archaeological Survey of India- Annual Report), 1903-04, p. 81.
6. *ASI-AR* (Archaeological Survey of India- Annual Report), 1913-14, p. 108.
7. Deva, Krishna & V.K. Mishra, 1961, *Vaisali Excavations 1950*, Vaisali Sangh, Vaisali, p.50.
8. Dubey, S.R,, Ashok Kumar Singh & G.K. Lama, 2012. *Pakkakot, Some New Archaeological Dimensions of Mid Ganga Plain*, Rishi Publication, Delhi, pp. 140-141.
9. Singh, P, & Ashok Kumar Singh, 2004. *Archaeology of Middle Ganga Plain- New Perspectives (Excavations at Agiabir)*, Indian Institute of Advanced Study and Aryan Books International, Shimla and Delhi, pp. 82-83.
10. Coomaraswamy, A.K., 1927. *History of Indian and Indonesian Art*, London, pp.20-21.
11. Cunnigham, A., 1963. *The Ancient Geography of India*, Indological Book House, Varanasi, p. 443.
12. Dey, N.L., 1927. *The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India*, London, p. 17.
13. *JRAS* (Journal of the Royal Asiatic Society), 1902 , pp. 167-288.
14. *ASI-AR* (Archaeological Survey of India- Annual Report), 1903-04: 81.
15. *ASI-AR* (Archaeological Survey of India- Annual Report), 1913-14, p. 98.
16. Deva, Krishna & V.K. Mishra, 1961, *Vaisali Excavations 1950*, Vaisali Sangh, Vaisali.
17. Sinha, B.P. & Sitaram Roy, 1969. *Vaisali Excavations 1958-1962*, Patna.
18. Deva, Krishna & V.K. Mishra, 1961,*Vaisali Excavations 1950*, Vaisali Sangh, Vaisali, pp. 2-3.
19. Kumar, D., 1986. *Archaeology of Vaisali*, Ramanand Vidya Bhavan, New Delhi.
20. Ghosh, A. 1989. *An Encyclopedia of Indian Archaeology*, Vol. II, New Delhi, p.408.

●

JUDICIAL TREND IN THE IMPLEMENTATION OF THE POCSO ACT, 2012

S. PASWAN*AND PROF. B. TRIPATHI**

Indifference and lack of awareness towards sexual abuse of children below eighteen years in India has encouraged the act to reach epidemic proportions in the last couple of decades. Largely due to the social stigma related to publicity and consequent defamation of the victim, parents and guardians have neglected the issues if at all reported by the child. Compared to the adult sex-crimes, child-abuse had failed to receive its due acknowledgement worldwide until the closing decades of the twentieth century which welcomed the intrusion of the United Nations. The organization pledged to if not eradicate, curb the increasing rates of child abuse by urging countries to engage in a discursive approach towards the problem and implement suitable laws. In response to the plea, Indian Judiciary recognized sexual abuse of children including rape and other precise offenses as distinct criminal acts based on the POCSO (Protection of Child from Sexual Offences) Bill[1] in 2011. Nonetheless, it was also the result of the joint prowess of various NGOs working at the grassroots of the society and the Ministry of Women and Child Development who coaxed and guided the silenced voices of underage children out in front of the court of law.

An Overview of POCSO Act, 2012

On 11th December 1992 the United Nations' General Assembly held a Convention on the Rights of Children setting a stock guideline to be followed by all means by all State parties vis-à-vis the well-being of children. India signed its presence and displayed her support finally adopting the concept and announcing the POCSO Bill on March 23rd 2011 in the Rajya Sabha.

The UN Convention on the Rights of Children accentuated the suitable nurturing of the child, protecting and/or defending its right to privacy and anonymity by every individual concerned, throughout the all-inclusive judicial procedure comprising the child. The Convention also prioritizes comfort and safety of the child proving his or her physical, intellectual and emotional welfare and steadiness. The POCSO Bill pursues punishment ordained by IPC meted out to any person committing the following crimes:

(i) Penetrative Sexual Assault mentioned in Chapter II, Section A of the Act
(ii) Aggravated Penetrative Sexual Assault mentioned in Chapter II, Section B
(iii) Sexual Assault mentioned in Chapter II, Section C
(iv) Aggravated Sexual Assault mentioned in Chapter II, Section D
(v) Sexual Harassment mentioned in Chapter II, Section E
(vi) Use of Child for Pornographic Purposes mentioned in Chapter III
(vii) Abetment of and Attempt to Commit and Offence mentioned in Chapter IV
(viii) Failure to Report or Record a Case mentioned in Chapter V
(ix) Flase complaint or False Information mentioned in Chapter V

After being introduced in the Rajya Sabha, the bill was directly referred to the chairman of the standing committee of Human Resource Development, Shri Oscar Fernandes. The 240th report followed discussion and debates undergone by the committee concerning the POCSO Bill, 2011which was finally submitted and the bill was recommended by the house under the condition to integrate the suggestions mentioned in the report and clarify definitions of terms like "child", "special court", "gang", "shared household", and "aggravated penetrative sexual assault". Ultimately on 22nd May 2012[2] after necessary reconsiderations and modifications the POCSO bill, 2011 was passed as an act by the joint session of the Indian Parliament.

Let us now consider a few case-studies highlighting the Hon'ble Supreme Court's involvement in explaining and/or interpreting the various ambiguities generating from the

∗Research Scholar, Faculty of Law, Banaras Hindu University, Varanasi.
∗∗Professor, Faculty of Law, Banaras Hindu University, Varanasi.

implementation of the POCSO Act, 2012. This discursive approach serves to aid the study and further discussion of the judicial trends the POCSO Act, 2012 has wades through. The cases are studied in the chronological order of their declaration of their judgements in order to understand the nature of the trend and how the interpretations extend the scope of the act.

Interpretation of the term "child"

The case of **Ms. Eera (through Dr. Manjula Krippendorf) versus State**[3] was dealt with by the the Supreme Court of India[5] represented by Deepak Misra, J. and judgement was issued on 21 July 2017. The appeal interprets the Section 2(d) of the POCSO Act, 2012 against the chief argument concerning the definition of the word "child" as mentioned in it. According to the appellant the word represents anyone below the age of 18 years. Furthermore, the appellant emphasizes on the connotative expanse of the "mental age" of a person so that a mentally retarded individual can be incorporated within the term "child". Mr. P. K. Dey appearing on behalf of the State submits:

> there is a distinction between two terms, namely, "age" and "years", for "age" signifies mental or biological/physical age whereas "years" refer to chronology and hence, it is possible to interpret the word "age in a particular provision to mean mental age without offending the term of the word "year" which means year and "year" has been defined in the General Clauses Act, 1897 as period of 365 days.[4]

Mr. P. K. Dey also refers to the Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015 focussing on the issue concerning the legislative intention which "is explicit with regard to mental capacity of a person which would have a relevant factor to determine the forum or trial". (Ms. Eera vs. State, 2017) However, after studying similar case-scenarios the Supreme Court explains that Mr. Sanjay R. Hegde, the learned Amicus Curaiae's argument regarding the interpretation of Section 2 (1) (d) of the Protetion of Children from Sexual Offences Act, 2012. The court says that it cannot embrace "mental" age as a part of interpretation of the further connotations of the term "child" since it is "beyond the 'Lakshman Rekha'- that it is not part of this Court's function to add or amend the law as it stands."[5] The court further asks the appellant not to go beyond the literal meaning of the word "child".

Whether Sexual intercourse with wife below 18 is "rape"

The case of **Independent Thought versus Union of India and Anr**.,a writ petition[6] was dealt with by the Supreme Court of India[7] represented by Deepak Misra, J. and judgement was issued on 11 October 2017. Judgement passed by Madan B. Lokur J. in reference to a petition filed by a society (remains unnamed) on 6th August, 2009 reviews the POCSO Act, 2012 significantly. The society works to improve the condition of children and their rights by providing technical and manual support to NGOs, government and multilateral bodies in different parts of India. The society has engaged with legal interpretations, training on various child-welfare aspect and research in the same field. It has petitioned under Article 32 of the Constitution in public interest pertaining to the grave issue concerning the fact that whether consensual/non-consensual sexual intercourse with married girls between the ages of 15 and 18 years would be considered rape. Lokur opines:

> Exception 2 to Section 375 of the Indian Penal Code, 1860 (the IPC) answers this in the negative, but in our opinion sexual intercourse with a girl below 18 years of age is rape regardless of whether she is married or not. The exception carved out in the IPC creates an unnecessary and artificial distinction between a married girl child and an unmarried girl child and has no rational nexus with any unclear objective sought to be achieved.[8]

Further while explaining Lokur quotes from the Preamble of the POCSO Act, 2012: "sexual exploitation and sexual abuse of children are heinous crimes and need to be effectively addressed". This, Lokur finds directly in conflict with Exception 2 to Section 375 of the IPC. It permits sexual exploitation/abuse of a girl child and fails to consider it as a crime. To be precise, this section nullifies the whole concept of POCSO Act, 2012 in favour of a husband sexually exploiting his underage wife. However, there arise more issues along with the line of debate in reference. Lokur states further:

> The duality therefore is that having sexual intercourse with a girl child between 15 and 18 years of age, the husband of the girl child is said to have not committed rape as defined in Section 375 of the IPC but is said to have committed aggravated penetrative sexual assault in terms of Section 5(n) of the POCSO Act, 2012.

However, Deepak Gupta J. rules in favour of striking down the irrational and whimsical law of Exception 2to Section 375 IPC in so far as it relates to a girl child below 18 years. Furthermore, after thoroughly considering the POCSO Act, 2012 he observed that

> "Sexual intercourse or sexual acts by a man with his own wife, the wife not being 18 years, is not rape".

Emphasis on Speedy Trial and Child-Friendly Courts

The case of **Alakh Srivastava versus Union of India & Ors.**,[9] was dealt with by the Supreme Court of India[10] represented by Deepak Misra, CJI and judgement was issued on 1st May 2018. The case had two folds—the first being the treatment of an eight month old female child who had fallen victim to a crime committed under the POCSO Act, 2012 and the other one being the prompt judicial actions, trials and monitoring of the same in a child-friendly court with emphasis with the spirit of the provision contained in the Act. The CJI Deepak Misra submits that the treatment and welfare of the child has already been addressed by the vide orders dated 31st January, 2018, 1st February, 2018 and 12th March, 2018. Explaining and interpreting the POCSO Act, 2012 in quest for amelioration of the second prayer CJI Misra observes that Ms. Srivastava has submitted a statistical report of the cases under POCSO Act, 2012 pending in most of the states in India. Misra refers to the Madhya Pradesh and Uttar Pradesh for example. "The pendency of such cases in the State of Uttar Pradesh is approximately 30884 and in the State of Madhya Pradesh, approximately 10117." (Alakh versus Union of India, 2018) Misra stated that the Supreme Court of India is also conscious of the Act where it says "as far as possible" and issues the six directives for the High courts and Special courts dealing with cases registered under POCSO Act, 2012. Following is an overview of the directives exclusively related to the POCSO Act, 2012:

(i) The High Courts shall ensure that such cases are tried and disposed by Special Courts. The presiding officers should be sensitized in the matter of child comfort.

(ii) The Special Courts should be established if not already done to deal with such cases.

(iii) Unnecessary adjournments should be discouraged completing the trial in a time-bound manner in such cases.

(iv) The Chief Justices of the High Courts are requested to form a Committee of three Judges to control and supervise the progress in such cases. In High Courts where three judges are not available, it will be a one Judge Committee.

(v) The Director General of Police or equivalent ranking officers shall form a Special Task Force whose duty will be to ensure the proper conduction of the investigation and production of witnesses on the trial dates in such cases.

(vi) High Courts shall ensure child friendly atmosphere in the Special Courts in such cases.[11]

Supreme Court of India Defending Misuse of POCSO Act, 2012

The forth case is in fact an order of the Supreme Court of India dated 14th November 2018. It concerns the case of **Prahlad versus State of Rajasthan**[12] debated and explained by N. V. Ramana J. Mohan M. Shantanagoudar J. Mukeshkumar Rasikbhai Shah J. According to the records the 8 year old daughter of Prabhu Lal was playing with other kids at the informant's residence on 5.7.2013. The accused had taken her on the pretext of buy her chocolates from a local shop. She went missing thereafter. There were no adults in the house and the victims' absence was only reported to the informant upon his arrival that night. After a failed search attempt, the victim's body was recovered in the following morning. Allegation of rape and murder was filed by the father of the victim on 6.7.2013 against the accused. The Trial court convicted Prahlad, the accused in this case who has enjoyed the status of a brother to the mother of the victim. Under Section 302 of IPC and Section 3 and 4 of the POCSO Act, 2012, the Trial Court has passed the judgement dated 18.9.2015 and have sentenced the accused to capital punishment. Accordingly, the Trial Court has also made reference to the High Court under Section 366 of Cr. P. C. for the confirmation of the sentence.

The Supreme Court sets aside the capital punishment interpreting the case based upon the proof procured during investigation emphasizing on the medical and forensic evidences. Although evidence was collected via a number of public witnesses as well

as material evidences none of them testified to the Section 3 and 4 of the POCSO Act, 2012. Public Witness 10 Dr. O.P. Dayma, a member of the Medical Board aided with the help of other two experts examined the dead body preparing slides from the preserved smears from the vagina of the victim. The post-mortem report revealed five injuries on the victim's body but the test result of the vaginal smear showed no evidence corresponding to the Section 3 and 4 of the POCSO Act, 2012. The cause of death according to PW10 was acute haemorrhage shock. PW10 also stated that the genitals of the child was healthy during her decease and that there was no sign of sperm ejaculation.

The Supreme court pronounces that the results of the Forensic Science Laboratory is not enough to prove the fact that the child was a victim of penetrative sexual assault or aggravated penetrative sexual assault. Therefore, the offence of rape of an underage child and its reprimand as stated under the POCSO Act, 2012 does not hold true for the accused. The judges jointly orders the capital punishment to be set aside and as because the offence of murder is proved beyond doubt the accused is sentenced to life imprisonment.

Confidentiality and Anonymity of Victims Under POCSO Act, 2012

The final case considered in this paper in that of judgement passed with reference to the case of **Nipun Saxena & Anr. Versus Union of India & Ors**.[13]. It focuses on the issue of protection of the privacy and/or anonymity of the rape and child sexual abuse victims so as to spare them from social ostracizing, harassment and "unnecessary ridicule"[11] The case taken up by the Supreme Court of India[14] and is treated according to the issue raised. Deepak Gupta J. divides the judgement of the case in two parts- the first dealing with the rape-victims under the IPC 1860 and the victims of child-abuse under POCSO Act, 2012.

Madan B. Lokur J. and Deepak Gupta J. deals with various reasons for the necessity of privacy in the case of rape victims. However, the second part emphasizes on the need declaring: "the reasons which we have given in 1st Part of the judgment dealing with the adult victims, apply with even greater force to minor victims."[15] According to the judgement a minor who has fallen victim under the POCSO Act, 2012 require protection of identity even more than an adult victim pertaining to the fact that the adult victims will be able to handle the trauma of ostracization whereas it will be difficult for the minor to deal with the same. It is largely encouraged by the fact that most of the crimes against minor go unreported and that the perpetrator of the offence happens to be a family member or a close family-friend. In order to avoid social harassment the crimes are strangled and never hit light. The judgement quotes the UN Convention, 1992 on Rights of Children recognizing the need of extra care and protection for a child. However, only if the identity of the child victim under POCSO Act, 2012 is not procured even by the investigating team, the Investigating Officer of the Special Court can allow the photograph of the child to reach public domain for the sake of identification. The judgement also says, "It is absolutely clear that the disclosure of the identity can be permitted by the Special Court only when the same is in the interest of the child and in no other circumstances."[14] The phrase "interest of the child" is also debated and decisions made accordingly say, "it is neither feasible nor would it be advisable to clearly lay down what is the meaning of the phrase "interest of the child".[…] we do not want to tie down the hands of the Special Court, who may have to deal with such cases. Each case will have to be dealt within its own factual scenario."[14]

The judgement also considers the Sub-section (2) of Section 23 which clarifies the fact that media is not allowed to "disclose identity of a child including name, address, photograph, family details, school, neighbourhood or any other particulars which may lead to the disclosure of the identity of the child."[15] The phrase "any other particulars" is ordered to be given maximum breadth and is forbidden to be read as *ejusdem generis.*The judgement also differentiates between children belonging to a village and to a metropolitan city under Section 23(2) of POCSO Act, 2012. That is because the name of the village –in case it is a small one--would be enough to spot the victimized child unlike in metropolitan cities.

The judgement also debates another important issue: whether the child's identity would be disclosed if dead. The Supreme Court believes that the deceased should be given the due respect as to the living: "In the case of dead victims, we have to deal with another factor. We have to deal with the important issue that even the dead have their own dignity."[14]An overview of the directions based on the various debates of the case strictly related to the POCSO Act, 2012 is listed below:

(i) It is forbidden to bring any kind of material in public knowledge which in any media which threatens the very spirit of confidentiality and anonymity maintained under POCSO Act, 2012.

(ii) Even if the victimized child is deceased or mentally ill the identity is not to be disclosed even under authorization of family members unless decided by the Session Judge.

(iii) "FIRs relating to offences under Sections 376, 376A, 376AB, 376B, 376C, 376D, 376DA, 376DB or 376E of IPC and offences under POCSO shall not be put in the public domain."[14]

(iv) Disclosure of the identity can only be permitted by the Special Court if it is found to be "in the interest of the child."[14]

Conclusion

The above discussion of literature, explanation and interpretation of the POCSO Act, 2012 by the Hon'ble Supreme Court of India has allowed Indian Judiciary to extend the scope of the Act simultaneously defending it from being wrongly interpreted and misused. The judicial trend of the Act in question which is that of a dynamic nature assures the much needed speedy trials and child - friendly courts throughout the country alongside reaffirming faith in justice.

References

1. The Gazette of India published the POCSO Act on June 20, 2012
2. Kaushiki Sanyal in "Standing Committee Report Summary: The Protection of Child from
3. Govt. of NCT of Delhi & Anr.
4. Criminal Appeal Nos. 1217-1219 of 2017 {arising out of S. L. P. (Crl) Nos. 2640-2642 of 2016}.
5. Criminal Appellate Jurisdiction of the Hon'ble Supreme Court.
6. Writ Petition no. 382 of 2013 {arising out of S. L. P. (Crl) Nos. 2640-2642 of 2016}.
7. Civil Original Jurisdiction of the Hon'ble Supreme Court.
8. Independent Thought versus Union of India, 2017
9. Writ Petition (C) No. 76 of 2018
10. Civil Original Jurisdiction of the Supreme Court of India
11. Point no. 23. Pg 14-17 of Writ Petition (C) No. 76 of 2018.
12. Criminal Appeal Nos. 1794-1796 of 2017.
13. Writ Petition (Civil) No. 565 of 2012
14. Civil/Criminal Original Jurisdiction
15. Point No. 28. Page 24. Writ Petition (Civil) No. 565 of 2012

●

YOUTH POWER: NEED OF TODAY'S INDIA

DR. D. K. SINGH*

In words of **Mannheim**: 'Dynamic Societies will rely mainly on the Cooperation of Youth'. According to Moller: 'In any community, the presence of a large number of adolescents and young adults influences the temper of life and the greater likelihood of cultural and political change'[1].

Science and technology, they say, is changing the face of earth. It is true that the progress of science and technology has helped man to advance in more ways than one. But, surprisingly and understandably it has not helped mitigate the suffering and ignorance of the majority inhabitants on Earth and to strengthen human brotherhood and tolerance. The advance of science, knowingly or unknowingly, has made this world a place of incessant were activity and conflicts and today nuclear weapons threaten to wipe out human culture and civilization[2]. The need of the hour is a major shake-up and change in the mind and outlook of man. This great task has to be entrusted to the youth who are the most powerful force in this world. Indian society basically believes in the philosophy of peace and non-Violence. The individual is enjoined to attain salvation through spiritual perfection rather than through material advancement. They have to work hard with clear-cut objectives to spread the message of human brotherhood, tolerance and peace and to mitigate the hardship and suffering of people. Self-discipline and self-reliance are most important ingredients of youth power which helps them to face challenges of the changing society[3]. There will be no spiritual, moral and intellectual powers in the mind of the young people without these essential qualities. An in disciplined and under-nourished youth can only be a power for the vested interest to reckon with. To accomplish this task, the youth has to rise above the clashes of culture, creed race, religion and region, which are unsuitable to the modern civilization of man, and march ahead awakening the people against injustice, cruelty, corruption, exploitation, inequality and other enemies of a progressive society[4]. Unless and until this background work is done, it will be very difficult to achieve the good, Youth power is supreme in the life of a nation, for it is the energy, the fire of enthusiasm, the discipline and dedication of the youth that protects today's society and builds up a better tomorrow. Distortion of youth power, covertly and overtly, to achieve selfish good will erode a nation's potential and growth, crippling the formation of a new generation. Hence, the citizen and the nation should be vigilant to avoid distortion and misuse of youth power. It should be borne in mind that the modernization initiated during British rule introduced a process of differentiation in Indian society, which in turn, freed the youth to some extent from the rigid controls of traditional society. However, colonial power ill India never directly encouraged the youth and youth organizations with a set or policies and programmes[5].

Power of Youth

The youth is the spring of life. It is the age of discoveries and dreams. India has the largest youth population in the world today. The average age of India's population is below 25 years. Approximately 77 crore of our people, or about 7000 of the population, fall below the age of 35. It is likely that all through the first half of the 21st century[6]. India will maintain this exceptionally young demographic profile while the entire developed world, including China, is expected to grow older and older. This opens up the possibility of a demographic dividend. It is potentially the single most important comparative advantage we enjoy which could be leveraged to catapult India to the front ranks of human civilization[7].

At the same time, it is possible that this demographic advantage could turn into our single greatest disadvantage if the youth of India are not included in. and harnessed to the process of development. Therefore, in order to realize this demographic dividend, focused strategies and investments will be required to develop our vast human capital. It is not enough for our people to be young. It is also necessary that they be educated, skilled and trained to give their best to the country[8]. The entire world accepts India as a source of technical manpower; they look at our youth as a source of talent at low cost for their future super profits. If Indian youth make up their mind and work in close unity with working class people, they can hold the political

∗Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi.

power in their hands. Indian youth hasthe power to raise our country's status from a developing nation to a developed nation. The youth stands for aspirations. Aspirations are manifestations of the dynamism of a society. Indeed, aspirations can be said to be the desired future state of being with respect to standards of living, social status, marriage and family, education and career. They are the motivating and compelling forces which propel youth towards attaining new goals in life[9]. The youth hopes for a world free of poverty, unemployment, inequality and exploitation of man by man. A world free of discrimination on the grounds of race, colour, language and gender. A world full of creative challenges and opportunities to conquer them. However, with the acceptance of democracy and a policy of planned society change, youths in India have been accorded a new philosophy, ideology and social recognition. It was realized that unless the youth and youth organizations were given their due role in the plans and programmes, it was impossible to achieve sustained development and thereby build a nation in accordance with the principles of equality, individualism, scientific temper and dignity of labour as laid down in the Constitution of India. There is a close relationship between youth and democracy[10]. Democracy accords greater freedom and autonomy to the individual to develop and shape his/her life goals with relative independence. In democracy youth as compared to adults and children, are more likely to utilize the available opportunities to achieve a relatively responsible and matured self or youth-hood[11]. Indeed, democracy may be called the nursery of youth. As dynamic beings, youth constitute the backbone of a democracy. Youth act as both an experimental group in times of crisis and leaders in time of stability. It is true that, the growth and stability of democracy depends an able leadership and youth's active involvement as vigilant citizens of a nation[12]. The place of violence and greed in the present-day world should be mentioned here. Examples of unscrupulousness, brutality and general disregard for human personality are provided in plenty by the grown-ups. Development of new industrial techniques, greater specialization and division of labour, and changes in the pattern of education has led to the breakdown of traditional value system[13].

Role of Youth

The role of youth is most important today. Vision 2020 can be better described as vision 20/20. That is the perfect vision in American style and this 20/ 20 vision can be achieved only by the young generation of India[14]. It is well known that India is home to a significant proportion of the youth of the world today. The youth, both as individuals and organizations, have a very constructive role in nation building. Government of India has placed a special premium on the youth and their role in development. The community development programme which was launched in the 19503 was based on the principle of people's participation, especially the youth. In order to harness and exploit youth power for national development. the Ministry of Education started a scheme Known as village Apprenticeship "Training Scheme in 1956 under which practical training Was given to university students in development activities carried out as a part of the community project and the national extension service[15]. National Education Programme for the youth in the age group 15-25 was started in 1974-75 and war integrated with the national adult education programmes[16]. The youth and youth organizations have been receiving greater attention from the government. In order to strengthen the management and administration of the Nehru Yuva Kendra, Nehru Yuva Kendra Sangathan, an autonomous organization was formed in February1987[17]. The imperative need for a great creative effort born out of devotion of intelligent and laborious hours of youth has become inevitable and necessary[18]. The creative effort for which the world is crying has to come from the powerful intellectual faculty of the youth, the courageous youth, the frank and fearless youth, the clear. minded and talented youth of the world who are builders of a new society, a new social and economic order with a common brotherhood, a new outlook and above all, a new spirit to save the human society from degeneration and destruction[19]. The creative effort of the youth has to play a pre- ominant role in creating, spearheading and spreading a silent revolution in the human society driving away the notorious notions and evil-like qualities such as idleness, selfishness, ignorance, arrogance, indiscipline and other social disorders. That creative effort of the youth, which will over-line these qualities, has to save the younger generation from the world of misunderstanding, suspicions, prejudices, superstition and complacency by improving purity of mind and quality of thought[20]. It has to destroy the cruel class, caste, colour and race tyrannies, which are unnatural, man-made and ugly deformities in human society, and are eroding the values and growth of human society[21]. The youth has to rise to the occasion

and build a creative effort to meet the challenges before them. They have to dedicate themselves in making this effort. Particularly so in a society where the youth is caught in the cobwebs of a much misunderstood social set up[22]. The youth has to overcome difficulties in order to undertake the task of making a new socio-economic order that will ensure a peaceful life to all human beings in society. Let the youth of the country go deep into their minds and hearts to know exactly where they are and how much more help and encouragement they need to mould the required creative effort[23]. Let them work with dynamism and determination, vigour and vitality coupled with single" minded devotion to shape the effort which in turn works for the new nation. Participation and active involvement of the youth with a fire of enthusiasm and a social objective is a must for the successful implementation of social and economic policies and programmes of the nation, particularly in the area of social welfare, child welfare, suppressed and depressed classes welfare, solving the problems of physically and mentally handicapped and economically backward people without which social change and development in the human society will be imperfect and incomplete[24]. The youth of the society who are the makers of the new generation will be able to shoulder this social responsibility and to carry out the inescapable social obligation with unequivocal results only if they get the quality of social consciousness as an important ingredient of their personality. If we scan through the history of our past civilization, and of the development of advanced nations or through the process of present development, we see that the quality of social consciousness has played a notable role in human evolution and advancement[25].

The youth of today have to do a lot to reform themselves and the society as a whole by releasing themselves from the shackles of burning political fragmentism, prejudices, narrow loyalties and other evils and to achieve the goal of stabilizing the quality of consciousness in them[26]. It is high time for us to awake, arise and dedicate ourselves to achieve this goal so that the quality of social awareness will grow in the mind of the young generation. The youth of the world must realize that education never ends with the college or Institution or University, but it only begins here. They have to learn a lot from outside by self-effort from the social policy of the nation, from the outlook of the family, from the experience of friends and also from the library and other sources to equip themselves fully and fruitfully and face the challenges and commitments of changing times. It is necessary that education should be patterned to help youth in this direction. The spirit of Roosevelt should come to youth in right earnest to exploit education for human excellence. To attain perfection in this direction, youth have to learn a lot from the old values, old generations and from the developed areas of the world. They have to search for purity of knowledge and quality of life. Searching for pure knowledge and acquiring it is a search for power and for truth which in turn is a search for human excellence[27].

It is a pre-requisite that the society needs more and more young men and women with action, balanced and well developed brains and flexible attitude to create and expedite the tempo of social evolution and technological development. The youth should realize that man is not born an intellectual but becomes one, out of exploitation of education for human excellence and hard work[28].

Martin Luther said, 'I have a Dream' and the dream came true. If he had not thought of that dream he would have accomplished nothing in life. Another problem is the indifferent attitude towards things, situation and politics. The new cool formula of 'let things be' is proving fatal to India's development. Lack of unity and spirit is the major setback. It's time the youth, realize their power, their role, their duties and their responsibility and stand up for their rights. The youth of our country are in search of a bright future and seek to build a new India. It is our duty to provide the necessary opportunities and facilities and also to address the problems facing them.

India has emerged as a global leader in knowledge based industries and in the IT sector. However, to sustain this position we have to continue with our efforts. In this context, the Institute should train youth in the practical application of technology to address developmental needs of the country. The footprints of today will shape our tomorrow, just as the actions of our forefathers have given us our rich heritage. Ours is a proud heritage with a rich and diverse culture Even as we move towards the future, we must preserve and strengthen our links with the past. For meeting the future with confidence and fulfilling the dream of a modern India, the youth must inculcate in themselves a sense of discipline, a spirit of tolerance, a quest for knowledge, a positive mind and respect for fellow human beings[29].

Conclusion

In the words of James 'Youth is the joy, the little bird that has broken out of the eggs and is eagerly wanting to Spread out its wings in the open sky of freedom and hope.' The youth hopes for a world free of poverty, unemployment, inequality and exploitation of man by man. A world that is free of discrimination on the grounds of race, colour, language and gender. A world that is full of creative challenges and opportunities to conquer them. The youth has to realize their power, their role, their duties and their responsibility and stand up for their rights. But these are not just empty hopes. Modern science and technology and increasing vistas of socio-economic cooperation among nations have brought these hopes within the reach of realization. In recent times, terrorism has emerged as one of the gravest threats to peace and development policy. The youth is drawn towards acts of terrorism. In some cases it is not terrorism but a freedom struggle. This is how our neighbours are trying to justify their policy of cross border terrorism in Jammu & Kashmir. Youth organizations should carry out an awareness campaign to expose justification or condoning of terrorism anywhere and under whatever pretext. Thus, the youth can play a vital role in elimination of terrorism. If the energy, intelligence and resources of youth are fully and properly utilized the country will prosper. The youth will have to compete with a sporting spirit and this spirit of oneness will win. They will have to aspire for entrepreneurship rather than conventional employment. The hopes of young people can be fulfilled only in conditions of peace, in a civilized and cooperative world order. They are full of vibrant ideas, when properly motivated and sufficiently guided. They have energy to try out new things and the patience to learn from their mistakes. Giving them opportunities to plan, to decide and to work prepares them to face harsher realities in life. Youth participation is important because youth are the country's power. They recognize problems and can solve them. The youth is a strong force in social movements.

What should be the vision of young generation for India 2020? Vision says that:

1. Instead of Brain drain, we can be the magnets for bright minds world over.

2. Our Judicial system could be a model for fairness, promptness and incorruptibility.

3. Our legislature could be an acme of integrity, for- sightedness and purposefulness.

4. Our habitats could be clean with the abundant municipal services.

5. Our youth can be the Olympic Champions.

6. We can save 100% literacy.

7. The per capita income can go up in geometric proportions.

8. We can have full employment.

9. We can earn the reputation of being the most transparent and honest nation.

10. We can most competitive nation.

India can become a developed nation only if everyone contributes to the best of his or her capacity and ability. The youth is wholly experimental and with the full utilization of its talents, India will become a complete nation.

References

1. Eisenstadt, S.N. 'Archetypal Patterns of Youth', in Peter K. Maaing and Marcello Trnzi (eds.). Youth and Sociology. New Jersey: Prentice-Hall. 1952
2. Freidman, F.G. Youth and Society. MacMillan, 1971
3. Gandhi, P.K. Rural Youth in Urban India. Delhi: Seema Publications, 1983;
4. Garg, B.G. 'Tota1 Literacy: What is New?', Indian Journal of Adult Education, Vol. 52. No. 4, Oct-Dec., (1991).
5. Geertz, C. (ed), Old Societies and New Stages: The Quest for Modernity in Asia and Africa. London: The Free Press of Glencoe, 1963,
6. Gore, M.S. Indian Youth: Processes of Socialisation. New Delhi: VishwaYuvak Kendra, 1977.
7. 'Govt. of India: India A Reference Annual'. Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India: New Delhi, 1991.
8. Jayaswal, R. Modernization and Youth in India. Jaipur: Rawat Publishing House, 1992.
9. Kakar, S. and Choudhary, K. Conflict and Choice : Indian Youth in Changing Society. Bombay: Somayya Pub., 1970.
10. Kashyap, S.C... 'Youth Unrest: A Conflict of Generations', in (ed.), L.M. Singhvi: Youth Unrest: A Conflict of Generations. Delhi : National Publishing House, 1972
11. Khan, A.J. 'Illiteracy: An Impediment for Development', Indian Journal of Adult Education, Vol. 52. No. 4, Oct.-Dec., (1991)
12. Kuppuswamy, B. Social Change in India. New Delhi : Vikas, 1972

13. Kuriakose, P.T. An Introduction to Youth Work in India. New Delhi: Young Asia Publishing, 1972.

14. Lakshamiinarayana, H.D. College Youth: Challenge and Response. Delhi : Mittal Publishing, 1985

15. Lerner, D. The Passing of a Tradition Society. Free Press, 1964.

16. Mehta, P. (ed.), The Indian Youth: Emerging Problems and Issues. Bombay: Somaiya, 1971.

17. Nair, P.S. et al. Indian Youth: A Profile. New Delhi: Mittal Publications, 1989.

18. Prasad, C. 'Youth Development Education: Aims and Scope', Social Change, June, New Delhi.

19. Ramsey, Problems of Youth. Dickenson Publishing Company INC.

20. Reddy, P.H. Indian youth and Identify Crisis, Education Psychology Review, VIII(2), pp. 135-48

21. Apter, David. Politics of Modernisation. Chicago: University of Chicago Press.

22. Ashirwad, N. 'Drive Against Illiteracy : Quest for a New Approach', Yojana, Dec. 16-31, (1990): 15-16

23. Atal, Y. Local Communities and National Politics. New Delhi : National Publishing house, 1990

24. Black, C.E. The Dynamics of Modernisation : A Study of Comparative History. New York: Harper and Row, 1966.

25. Chandrasekharia, K. A Profile of Rural youth. New Delhi (Sponsored by UGC).

26. Damle, Y.B. 'Youth and Identify', in Mehta, P. (ed.), The Indian Youth: Emerging Problems and Issues. Bombay : Somayya, 1971

27. 'College youth in Poona : A study of elite in the making Poona', Deccan College, 1966

28. Desai, B.G. The Emerging Youth. Bombay : Popular Prakashan, 1967

29. Dube, S.C. 'Modernisation and its Adaptive Demands on Indian Society', in ore et al. (eds). Papers in the Sociology of Education in India. Delhi : NCERT, 1967

●

FOOD PROCESSING INDUSTRY (FPI)

DR. VIJAY KUMAR SINGH*

Food processing Industry is the product of agriculture and Industry. Most of the agricultural products are not consumable in their original form, for which they are processed. Wheat is converted into flour, Paddy into rice, sugarcane into jagery, Sugar, ethanol, alcohol etc. These products can be further processed such as flour into bread etc.

Right from the cultivation and harvest of crop, upto the consumption of product by consumer, there is certain degree of value addition in every product. As it goes from producer, to wholesaler, to retailer and finally to consumer, every stage adds some value to the product. Value addition can be done by Sorting, grading, packaging, branding etc.. food processing not merely adds value to the agro products, but also increases their utility.

India is net exporter of agricultural products. But value addition of Indian product remains quite low. We export most of goods in their raw form. India is largest producer of Pulses, Mangoes, Banana, Milk, ginger. Indian Manufacturers haven't moved much ahead in value chain. Say If mangoes are processed in to Mango Juice or pulp; it will result in more value addition, industry, employment, GDP and foreign exchange, but we export mainly mangoes as it is.

India's economy is under transition, Income classes are moving upward. Every year millions of households are coming out of poverty to be part of middle class. Per capita income is Increasing as GDP growth rate is much higher than population growth rate. This is complimented by growing urban culture, nuclear families, working couples. This makes case for processed food compelling. Consumption in India is gradually tilting towards packaged and ready-to-eat foods. Demand is bound to increase, but it has to be seen that to what extent opportunity is seized by Indian industry and how much is left for foreign companies.

FPI is employment intensive industry; it can be an answer to jobless growth of past decade. Currently, only 3 % of employment is in FPI, while in developed countries it handles 14% population. Again, much of the employment will be created into rural India. This can remedy problem of distress migration. Growth in direct employment in the organized food processing sector stands at 6 % between 2011-12.Also, strategic geographic location and proximity to food-importing nations (Middle East and Africa) makes India favorable for the export of processed foods.

Indian youth is turning away from agriculture because of low profitability. FPI is perhaps best bet to seize opportunity. It can give us a genre of progressive rural entrepreneurs. Prosperous countryside will have multiplier positive impact on socio-economic and political problems. In short, FPI can narrow gap between rural and urban India.[1]

Issues

Indian agriculture is infested with post-harvest wastage problem. In category of fruits and vegetables it is about 30-40%. Overall, cost of wastage is estimated at about 18% ranging from 50000 crores to 1 lakh crore. Wastage is attributable to several factors including non-availability of facilities for sorting, grading, packaging, storage, transportation, cold chain and low level of processing of agricultural produce. Food processing can halve this loss. Consequently farmer will able to get more value and consumer will get products cheaper.

One of the major cause for post is lack of Infrastructure. India is biggest producer of numerous fruits and vegetable. Most of these are perishable and have very low shelf life. This is the major reason for high percentage of wastage. Their shelf life can be increased by adequate investment in infra such as cold storage, reefer vans, radiation plants etc.

India is currently having severe shortage of cold storage facilities. Significant majority of cold storage facilities were created between 2000 and 2011, assisted to some extent by government interventions.

Cold stores are to some extent product specific. Majority of the cold stores in India are dedicated to

*Assistant Professor, Economics, T.D.P.G. College, Jaunpur

potatoes. There are some that provide storages for chilies, dry fruits, spices, vegetables etc. Cold storage for meat, fish, milk and milk products and for other commodities such as spices account for only 1 percent of the total cold storage capacity. These cold storages are also usually smaller in capacity.

Nearly 96 per cent of cold storages are in the private sector and about 75 percent capacity of cold storages is used to store only potatoes while another 23 per cent fall under the multi-product category.

Any product needs to be mobilized from producer to consumer to be consumed. This route is called supply chain. This movement involves both time and costs. Lengthier supply chains will push prices upward and result in more wastage. Adequate storage facilities, direct farming, contract farming and negotiable warehouse receipt system are mechanisms to streamline, strengthen and shorten the supply chain.

Value addition

Indian food is known worldwide for its unique taste and aroma. India's regional and cultural diversity is perfectly reflected in food. Every state in India has something unique to offer. For e.g. South Indian, Gujrati, Bengali, Rajasthani and Punjabi delicacies are different and are admired in many parts of the world. But they haven't been able to make inroads in other countries the way Mc Donald's, Domino's etc. has done in India. This is because lack of creativeness, innovation, branding and most importantly shallow pockets of Indian manufacturers.

Forward backward integration (in supply chain)

Any product needs to be mobilized from producer to consumer to be consumed. This route is called supply chain. This movement involves both time and costs. Lengthier supply chains will push prices upward and result in more wastage. Adequate storage facilities, direct farming, contract farming and negotiable warehouse receipt system are mechanisms to streamline, strengthen and shorten the supply chain.

Pepsico instead of procuring potatoes (for chips) from farmers get potatoes captively from its own lands, it will be called backward integration. On other hand if farmer puts up a processing plant for chips, or a cold storage, this will be called forward integration.

Forward and backward integration, also called vertical integration, is common in any business and it saves the costs associated with supply chain. Business which pursues integration strategy, earns a competitive edge. For example Reliance Industries owns oil and exploration business, refining business, retail outlets for petro products, and is India's biggest polyester manufacturer. Consequently RIL has almost monopoly in these sectors.

In farming and food processing, vertical integration can work wonders. For this farmer needs financial and technical support. Agriculture in India already is over employed. This with seasonal nature of majority of farming crops should give farmers a compelling reason to get into food processing business.

Initiatives by government

Scheme of Cold Chain, Value Addition and Preservation Infrastructure (Cold chain facility)

It aims to facilitate the establishment of a strong cold chain facility for agricultural, horticultural, dairy, fish & marine, poultry & meat products by establishing linkage from farm gate to the consumer, end to end, to reduce losses through efficient storage, transportation and minimal processing.

Its components are:

→ Processing Centre at the farm level.

→ Centers to have facility for weighing, sorting, grading waxing, packing, pre-cooling, Control Atmosphere (CA)/ Modified Atmosphere (MA) cold storage, normal storage and Individual Quick Freezing (IQF).

→ Mobile pre-cooling vans and reefer trucks.

→ Distribution hubs with multi products and multi Control Atmosphere (CA)/ Modified Atmosphere (MA) chambers/ cold storage/ Variable Humidity Chambers, Packing facility, Cleaning in Process (CIP) Fog treatment, Individual Quick Freezing (IQF) and blast freezing.

→ Irradiation facility

Mega Food Park

The Scheme of Mega Food Park aims at providing a mechanism to link agricultural production to the market by bringing together farmers, processors and retailers so as to ensure maximizing value addition, minimizing wastage, increasing farmers

income and creating employment opportunities particularly in rural sector. The Mega Food Park Scheme is based on "Cluster" approach and envisages creation of state of art support infrastructure in a well-defined agri / horticultural zone for setting up of modern food processing units in the industrial plots provided in the park with well-established supply chain. Mega food park typically consist of supply chain infrastructure including collection centers, primary processing centers, central processing centers, cold chain and around 30-35 fully developed plots for entrepreneurs to set up food processing units.

The Mega Food Park project is implemented by a Special Purpose Vehicle (SPV) which is a Body Corporate registered under the Companies Act. State Government, State Government entities and Cooperatives are not required to form a separate SPV for implementation of Mega Food Park project. Subject to fulfillment of the conditions of the Scheme Guidelines, the funds are released to the SPVs. To view status of 42 Mega Food Parks funded under the scheme.[2]

Agri Export Zones

To increase export of agro products, new concept of Agri Export Zones was brought in 2001. APEDA has been nominated as the Nodal Agency to coordinate the efforts on the part of Central Govt. negotiations.

Entire effort is centered on the:-

1. Cluster approach of identifying the potential products.

2. The geographical region in which these products are grown.

3. Adopting an end-to-end approach of integrating the entire process right from the stage of production till it reaches the market. (farm to market)

There would also be a need to identify/enlist difficulties/ problems encountered at each stage. Identification of such potential crops is responsibility of state governments. Projects in such areas for identified crops will be eligible for financial assistance and certain fiscal incentives.

Modernization of Abattoirs (slaughterhouse)

This is a comprehensive scheme, which includes establishment of modern abattoirs and modernization of existing abattoirs. Modernization of abattoirs will also include up scaling of infrastructure of existing abattoirs. The scheme is implemented with the involvement of local bodies and has flexibility for involvement of private investors on PPP basis.

The scheme envisages a grant of 50% of the cost of plant and machinery and technical civil works subject to a maximum of Rs.15.00 Crores in general areas and 75% of the cost of plant and machinery and technical civil work and other eligible items subject to a maximum of Rs. 15.00 Crores in difficult areas.[3]

Summary

Food processing seems to have promising future, provided adequate government support is there. Food is the biggest expense for an urban Indian household. About 38 % of the total consumption expenditure of households is generally spent on food. As mentioned, food processing has numerous advantages which are specific to Indian context. It has capacity to lift millions out of under nutrition.

Food processing is one of the largest global sectors at $7 trillion annual production. Look around and you'll find companies of Cold drinks, Wafer chips, Juice, restaurant chains to be among biggest ones. Italian pasta and pizza is now consumed in almost all countries, so are the burgers and sandwiches. Sugar free products, cornflakes, oats, ketchups etc. are among most demanded consumer goods. Currently only 2 % of India's vegetable and fruits production is processed. In comparison USA and China processes their 90% and 40% produce. Other developing countries, such as Thailand, Philippines, and Brazil are processing as high as 30, 78 and 70% of their produce.

India's Food Processing Industry is estimated at $135 billion industry which is growing at about 8% annually. This signals toward phenomenal shift toward food processing from traditional ways which is good.

Food processing has potential to turnaround whole economy. Indian economy is still agrarian, because about 55% population is directly dependent upon agriculture. Foreign Investers directly target farming sector as it attempts to create more types of products out of single crop. This will increase demand for farmers and hence more remunerative prices.

Importance of this sector is significant and it deserves a priority treatment by government.

Government has challenge to develop industry in a way which takes care of small scale industry along with attracting big ticket domestic and foreign investments. Accordingly sector has been made part of ambitious 'Make in India' initiative.

References

1. http://mofpi.nic.in/Schemes/cold-chain
2. http://mofpi.nic.in/Schemes/mega-food-parks
3. http://mofpi.nic.in/Schemes/agro-processing-cluster

●

BATH IN KUND TO BEGET SON: SCIENCE OR BELIEF

DR. KIRAN MISHRA*

India is the country of festivals. The whole year Hindus celebrate many festivals. Among those Lolark Shashti is one. On this pious day people, either woman or couple take a dip into the Lolark pond with a wish to get a child, preferably son. Since many decades India is facing a big social problem of decreasing sex ratio.Son preference has become dominant feature of the society. People wish to have sons by hook or crook. Lolark shashthi, Jivitputrikavrat, Sankashthi Ganesh Chaturthi, Halshsashthi vrat, Dala chhat, all these festivals are celebrated in order to get son or for the long life and prosperity of son and husband. Girls and women are almost neglected in the stories popular behind those festivals. This kind of male dominance (being nourished and flourished by women themselves) is there in the Indian society.

Lolark is one of the synonyms of sun. It is the established scientific truth that sun is the ultimate source of energy and the particular pond is also considered as sun pond. There are various mythologies associated with this pond. Present paper is an attempt to look into those myths with a scientific rational outlook. Since there are various scientific explanations behind many rituals performed in day today life. The paper attempts to look into the pious tradition with a scientific approach because it might not only be the matter of belief but there might be some scientific explanations too. An attempt has been made in the present paper to investigate those rational and scientific explanations if any, behind such belief which is nourishing the century long desire of son and contributing the decade long social problem of decreasing sex ratio.

Not only India but also the entire world has been a male dominated society. It is well recognised that societies which discriminate by gender tend to experience less rapid economic growth and poverty reduction than societies which treat men and women more equally. Son preference and sex selection is product of gender discrimination. The underlying causes of bias against women and girls are incredibly complex issues. There is a complex web of socioeconomic and cultural factors that result in son preference. The reasons behind this dominant cultural factor are various. People think sons alone have the obligation to provide security to the parents in old age; undertake the responsibility of younger sibling's education and marriage; bear the burden of family debt; perform the last rites for parents; bring in dowry; bring in return on investment made on their education; carry on the family business and protect the ancestral property. But daughters are always considered as liability and "neighbour's plants" since any investment on them, especially on education will benefit only the husband and the in-laws and heavy dowry has to be paid for them. Moreover, their entire marriage expenses are borne by their parents. The society does not accept the practice of parents living in daughters' homes in old age. With these views people prefer to have son.

After having the PCPNDT Act, exercising choice to have male child and planning accordingly has been criminalised. Therefore, the elites have started opting either IVF technique or surrogacy. But the middle class and lower middle class people tend to be governed with superstitions, faiths and beliefs. There is a complex web of socioeconomic and cultural factors. One of the strings of that complex web is visible in the holy city of Varanasi. Every year Lolark Shasthi festival is celebrated near the Tulsi Ghat. Like previous years, recently on 15th September 2018 on the occasion of Lolark Shashti, many, almost 2 lakh issueless, mostly sonless couples took dip into the holy Lolark Kund to get blessed with a child favourably son.[1] The popular custom is to leave their wet clothes after taking the dip into the water along with a fruit or vegetable in the pond in the hope of having a male child. A year or a few years later when their wishes are fulfilled, the blessed couples return with their children; the child's head is tonsured and the hair dedicated and offered to the Sun.[2]

Lolark kund

Varanasi is dooted with many holy kunds or ponds. These kunds are thought to be very sacred and

∗Assistant Professor, Sociology, Faculty of Law, Banaras Hindu University

are visited by many pilgrims from different places. It is believed by the people that by taking a bath in the holy kunds one can get rid of all the sins and their wishes will get fulfilled. These kunds are associated with many ancient legends and have been built by famous people. Many beautiful temples are located on the banks of these kunds which are mainly dedicated to Lord Shiva and several other deities. Various religious fairs and festivals are also celebrated here by the devotees with much devotion and fervour.[3]

Lolark kund is considered to be the most ancient. It is rectangular tank of 15m height below the ground level. The Kund is where the image of the Sun shines in glory as a reflection in the water. It is nearly 50-foot deep and is accessed by a series of steps that plunge rather dangerously down. Steps are leading down from three places towards the pond. On the fourth side, the Kund takes the shape of a well. For most of the time, the Kund is covered with a protective shield to avoid people from accidentally or voluntarily falling into it. When the tank is covered, water is drawn by people who manage the site and is made available to the devotees. Hindu devotees come here during Lolark Shasthi which falls during the monsoon season, on the sixth day of the bright half of the month of Bhadrapada to worship the Sun God.[4]

Mythologies

One were to have even moved heaven and earth, one would not have been able to fill the Lolark Kund in Varanasi with the water that this holy tank has. For, this water has not come from the mountains or the plains or the myriad rivers or the oceans or any other source that exists in the realm of heaven and earth. It is from a world that lives beyond the deep of the deepest sea- the *pataal* world. And, like in most cases of divine intervention in Varanasi, the Lolark Kund too has a Lord Shiva connect.[5]

The kund finds a reference in the earliest *Puranic Mahatmyas* of Kashi, and in a period when few such places were even listed in such texts. There is generous praise for Lolark in the *Kashi Khand*, which is one of the seven sections of *Skand Puran*. It appears that Lolark was known even before Asi, and before the likes of Lords Vishnu and Shiva became household deities of Varanasi. Besides, there is the story behind the name. Lolark is another nomenclature for the Sun. It is said that when the Sun beheld Kashi, his heart trembled with ecstasy. It is also believed that when sun got excited it dropped its semen into the holy water of the kund.[6]

Lolark, thus, means the 'Trembling Sun'. The Shiva connection is that this deity of all deities, the Mahadev, had despatched the Sun as his emissary to Kashi, to spread light, energy, vitality and virility. The Sun then went on to divide himself into 12 parts, called the *Adityas*, the mythical offsprings of Aditi and Prajapati and settled across the place. Interestingly, while the Hindu calendar is lunar-based, the 12 Suns later got identified with the months of the solar calendar. Lolark is one of the *Adityas*. Aditya is believed to prevent and cure leprosy or sterile women and to favor blessings on couples particularly those wanting to bring forth male progeny for various reasons.[7]The Trembling Sun is supposed to slash down, like a divine sword, the sins of people.

On Lolark Shashti, many issueless couples take dip in the holy Kund early in the morning to get blessed with a child. The childless couples also leave their wet clothes after taking the dip into the water along with a fruit or vegetable behind as a remembrance, in the pond in the hope of having a male child. Some couples even discard their jewellery. On the fulfilment of the wishes; the pilgrims again visit this Kund. Temple of Lord Surya is also located in the vicinity of the Kund.[8]

The powerful sun

Sun is the most conspicuous and powerful object in the physical world. It has always attracted the attention and obtained the homage of almost all the races and civilisations since their inceptions.[9]People have personified and worshipped it as god.The sun figured in the stories of virtually every culture worldwide. In many places and eras, the sun was considered the most visible proxy of the divine and the most potent bestower of Spirit. It was regarded as the first entity in "the Void" and the progenitor of all life and matter. The sun also represented the archetypical Man, as human beings were perceived as "solar entities."[10]

The sun was considered the "Savior of the World," as it rose and brought light and life to the planet. It was revered for causing seeds to burst and thus giving its life for plants to grow; hence, it was seen to sacrifice itself in order to provide fertility and vegetation. The sun is the "tutelary genius of universal vegetation," as well as the god of cultivation and the benefactor of humankind. When the sun "dies" in winter, so does the vegetation, to be "resurrected" in the spring. The various personifications of the sun thus

represent the, “image of fecundity which perpetuates and rejuvenates the world’s existence. In the ancient world, light was the subject of awe, and the sunlight’s ability to make plants grow was considered magical and miraculous.[11]Thus, the sun was very important to the ancients, so much so that around the world for millennia a wide variety of peoples have built solar temples, monuments and entire religions with priestesses and priests of the Sun, along with complex rituals and accoutrements. Within these religions is contained the ubiquitous myths, a template or archetypical story that personifies the heavens and Earth, and rolls them into a drama about their interrelationship.

Conclusion

Science has always agreed that Sun is important for the mankind. Beliefs, rituals, stories and myths associated with the worship of sun cannot be nullified. Hazy picture of scientific explanation is visible behind the whole scene. Although it appears to be magical and miraculous it will be wrong to give any state forward inference that bathing in kund to get son or to continue progeny is only the belief.

References

1. Amar ujala Varanasi edition 14 sep. 2018
2. Lolark Kund, Varanasi, Where couples take a dip for children ; YouTubewww.youtube.com
3. Lolark Sasthi - Wikipediaen.wikipedia.org
4. Solar deity - Wikipediaen.wikipedia.org
5. Clown times, fuLrku nifr;k dk cPpk gkxk okjk.klh dq ykykdq dq.M esa Luku lA - YouTubewww.youtube.com
6. Lolark Chhath In Varanasi ykykdq NB- YouTubewww.youtube.com
7. ^perdkjh* dqM] tgk Luku djus lq feyrk gS Lrku dk lq[k - YouTube www.youtube.com
8. Blog by RAJESH SINGH; The writer is senior political commentator and public affairs analyst
9. "Sun worship." Encyclopæ dia Britannica. Chicago: Encyclopædia Britannica, 2009
10. Son of god, Sun of god; Summary from the Christ conspiracy 1999
11. Frazer, James G. ,The worship of the sun among the Aryan peoples of antiquity; chapter 12of the worship of nature,1925

●

SOCIAL TRANSFORMATION AND AGRARIAN STRUCTURE OF INDIA: A SOCIOLOGICAL ANALYSIS

DR. DINESH KUMAR SINGH*

The Indian Society is core of the agricultural activities; because a large number of populations are depend on it. Land is the major source of the economy. After getting independence we adopt the socialist model for the development and we introduced the planned changed with in five year plans. Our primary concern was to be self-reliance and for that we changed agrarian structure of the society. The term agrarian structure denotes a framework of social relationships in which all agricultural activities such as production, marketing and consumption are carried out. The institution or the framework of social relationships determines how and by whom land is cultivated, what kind of crops can be produced and for what purpose, how food and agricultural incomes can be distributed, and in what way or in what terms the agrarian sector is linked to the rest of economy or society.

Agrarian structure or its various dimensions and dynamics such as land reforms, Green Revolution and agriculture labour have been the major concerns of Indian social scientists, particularly sociologists and social anthropologists. They have tried to understand and analyse them in different forms by using different concepts right from the time of independence. To present a systematic and detailed picture of the Indian agrarian structure and its various dynamics it has been proposed to divide the trajectory of the problem into three phases: pre-colonial phase, colonial phase, and post-colonial phase.

1. Agrarian Structure during the Pre-colonial Period

The discourses on the pre-colonial Indian agrarian structure are quite homogenous in terms of the ideas and lessons that they provide. The main concepts which were developed and used to understand the pre-colonial Indian agrarian structure are: 1. Oriental Despotism (Montesquieu, Hegel, Bernier and James Mills), 2. Asiatic Mode of Production (Karl Marx) and 3. PrebendalPatrimonialism (Max Weber). The concepts are, more or less similar, similar to each other in terms of their contents and meanings. They bring out following features of the pre-colonial Indian agrarian structure:

1. Absence of private property in land
2. Possession and use of land on communal basis
3. State or king as the absolute owner of land
4. Torrid climatic environment
5. State controlled irrigation or public hydraulic works
6. Division of agrarian society into self-sufficient, autonomous and isolated village communities or village as idyllic little republics
7. All kinds of relationships organized around the institution of caste or, to put in different words, caste system as the basis of self-sustaining and self-producing Indian village communities
8. Surplus labour as tribute to the despotic king
9. Absence of classes leading to servile social equality
10. Absence of hereditary nobility
11. General slavery or exploitation of the people directly by the despotic state or king without any relationship of dependence and exchange at the lower levels and juridical restraints

These structural features made Indian society, which was overwhelmingly agrarian, ever static and historyless. Marx writes, 'Indian society has no history at all, at least no known history. What we call its history is but the history of the successive invaders who founded empires on the passive basis of that unresisting and unchanging society' (Marx 1968: 185).

Colonial ethnographers and British administrators-cum-sociologists such as Baden Powell, Henry Maine and Charles Metcalfe followed both in words and spirits such an 'orientalist' understanding of Indian social formation and its

*Assistant Professor, Department of Sociology, Faculty of Social Sciences, Banaras Hindu University

agrarian structure. To quote Metcalfe, 'The village communities are little republics, having nearly everything they want within themselves, and almost independent of foreign relations. They seem to last where nothing else lasts. Dynasty after dynasty tumbles down; revolution succeeds revolution; Hindu, Pathan, Mughal, Maharatta, Sikh, English are masters in turn; but the village communities remain the same' (quoted from Cohn 1987: 213).

However, historical research by Indian scholars, particularly in post-independent India, has convincingly contested this orientalist understanding of Indian socio-economic structure, and proved that

1. Everyone had no equal rights over land or land produce. The village did not hold its land in common. Common were its officials and servants (Neale 1962: 21).
2. The land rights could even be purchased and sold. The agrarian society was internally differentiated in terms of class, and was unstable and not self-sufficient.[8]
3. There was a sizeable population who worked as labourer (Dharma Kumar 1992).
4. The authorities discriminated between the different sections of landowners while fixing the revenue demands. The large landowners were required to pay less (Dharma Kumar 1992).
5. Pre-colonial agrarian relations were also not free of conflicts and tensions (Habib 1963; Moore 1966; Dhanagare 1983).Production of crops, particularly cash crops, for market (Habib 1982).

2. Agrarian Structure during the Colonial Rule

The British colonial rule did many things and introduced many measures to reorganize rural/agrarian society in a framework that make governance easy, profitable and manageable. Most important noteworthy measures with far reaching consequences are following:

a) The Land Tenure/Revenue System

A) The Permanent Settlement System

Under this measure, the intermediary Zamindars (the tax collecting officials in earlier regime) was granted ownership right over land from which they previously only had the rights to collect revenues.

B) The Ryotwari System

Under this, the actual land tillers were given formal property rights over land. The Royat was a tenant of the state, responsible for paying revenue directly to the state treasury, and could not be evicted as long as he paid his revenue.

C) The Mahalwari or Malgujari System

Under this system, the village was identified as unit of assessment. Though an individual cultivator in a village was made owner of the land, the villagers were asked to pay the revenue collectively. A member of the dominant family of the village was generally given the responsibility of collecting the revenue.

These colonial measures introduced 'more intensive and systematic exploitation' (Guha 1983: 7) and forced the peasants to become increasingly involved with the market, even when they did not have the capacity to produce surplus. These measures brought about major changes in the agrarian structure. The most significant ones are following:

b) Commercialization of Agriculture

It means a shift in the agrarian economy from production for consumption (food crops) to production for market (cash crops). The demand of raw material in British industries and the manifold increase in the land revenue compelled the peasantry to shift to cash crops (Blyn 1966). One obvious consequence of this shift in cropping patterns was a significant increase in the vulnerability of local population to famines (Kumar 1982; Sen 1976).

c) Commodification of Land

Due to colonial policies land began to acquire the features of a commodity. The moneylender, who until then lent keeping a peasant's crops in mind, began to see his land as a mortgageable asset against which he could lend money.

d) De-industrialization of the Indian economy

The influx of cheap goods from England after the industrial revolution hastened the process of de-industrialization by ruining the village artisans that also resulted into the massive pressure on cultivatable land.

e) Land Alienation

It was a pan-Indian phenomenon irrespective of the system of revenue settlement: Zamindary,

Ryotwari, or Mahalwari (Dhanagare 1983). In the past the professional moneylenders generally did not evict the peasant from his land but made him tenant if he did not pay back the debt, whereas the landlords evicted him from the land and made him landless. Thus tenancy and landlessness grew significantly (Bhattacharya 1985; Bailey 1958).

f) Conservation and/or Dissolution of the elements of Pre-colonial Agrarian Structure

There is almost a consensus among scholars that while colonial rule destroyed some pre-colonial elements of agrarian structures, it also preserved many. It broke down earlier structures without reconstituting them, and, as UtsaPatnaik argues, the 'bourgeois property relations' developed without corresponding development of capitalist relations of production and forces of production in agriculture[7]. Alavi argues that colonial rule brought about peripheral capitalism in India which generated a disarticulated form of 'generalised commodity production' because the surplus agriculture produce was reinvested not in the local economy but in the metropolitan centers (Alavi 1990: 170).

3. Agrarian Structure in Post-colonial India

Independence from the colonial rule marked the beginning of a new phase in the history of agrarian structure. The main objective of the Indian state was to transform the stagnant and backward economy and to make sure that the benefits of transformation and growth were not monopolized by a particular section of the society. Keeping this in background the govt. of India introduced various measures. Significant ones are following:

a) Land Reforms

Land reforms in independent India finds its raison d être in the constitution which begins with the Preamble that is based on the four cornerstones of justice, liberty, equality and fraternity, and further strengthened by certain specific provisions, particularly the directive principles of state policy, which set out that the state shall, in particular, direct its policies such that:

1. The citizens, men and women equally, have the right to an adequate means of livelihood;
2. The ownership and control of the resources of the community are so distributed as to subserve the common good;
3. The operation of the economic system does not result in the concentration of wealth and other means of production to the common detriment.

Land reforms measures were among the most significant efforts of the state to achieve these goals. The govt. of India directed its states to abolish intermediary tenures, regulate rent and tenancy rights, confer ownership rights on tenants, impose ceilings on holdings, distribute the surplus land among the rural poor, and facilitate consolidation of holdings. A large number of legislations were passed by the state governments over a short period of time.

The actual implementation of these legislations and their impact on the agrarian structure is, however, an entirely different story. Most of these legislations had loopholes that allowed the landlords to tamper with the land records, evicting their tenants, and using other means to escape the legislations[4].

Despite over all failure, land reforms succeeded in weakening the hold of absentee landlords over rural society and assisted in the emergence of a class of substantial peasants and petty landlords as the dominant political and economic group (Bell 1974: 196; Chakravarti 1975: 97-8; Byres 1974). However, it was only in rare cases that the landless, most of whom belonged to class of dalits, received land. The beneficiaries, by and large, belonged to middle level caste groups who traditionally cultivated land as a part of the calling of their castes. Otherwise, the land holding structure continued to be fairly iniquitous.

b) Provisions for institutional Credit

The govt. of India introduced various provisions of Institutional credit to weaken the hold of traditional moneylenders over the peasantry. According to the RBI Report 1969, approximately 91per cent of the credit needs of the cultivators were being met by informal sources of credit. 69.7 per cent of it came from usurious moneylenders. The govt. asked cooperative credit societies and commercial banks to lend to the agricultural sector on priority basis. However, the studies showed that much of their credit went to the relatively better off sections of agrarian society and the poor continued to depend on the servile exploitative sources (Thorner 1964; Oommen 1984; Jodhaka 1995).

c) The Community Development Programme (CDP)

This programme, which was patterned on American experiences, was launched on 2 October

1952, and its objective was to provide the substantial increase in agricultural production and improvement in basic services, which would ultimately lead to overall development of the all sections of agrarian society. However, it failed in its objective and resulted in helping only those who were already powerful in the village.

d) The Green Revolution

Green Revolution is an agricultural development project that includes higher yielding variety seeds (HYV) and other fertility enhancing inputs i.e. chemical fertilizer, controlled irrigation facilities and pesticides. The components of the project consisted of providing cheap institutional price incentives, marketing and research facilities.

The idea of Green Revolution was based on the 'trickle down' theory of economic growth. It carried the conviction that agriculture could be peacefully transformed through the quite working of science and technology without the social costs of mass upheaval and disorder[3].

The Green Revolution led to a substantial increase (at the rate of 3 to 5 per cent per annum) in the agricultural production (Byres1972). However, it did not mean same thing to all sections of the agrarian society. While bigger farmers had enough surplus of their own to invest in the new capital-intensive farming, for smaller farmers it meant additional dependence on borrowing, generally from informal sectors (Jodhaka 1995: A124; Harriss 1987: 231). The Green Revolution also resulted into a totally new kind of mobilization of surplus producing farmers who demanded a better deal for the agricultural sector[9].

Did the benefits of Green Revolution 'trickle down' to agricultural labourers? It has been one of the most debated questions in the studies on agrarian change in independent India. It is an almost accepted fact among the scholars that the Green Revolution has made the countryside prosperous in general terms, however, it has also increased economic inequalities in the villages[1]. The wages of agricultural labour has gone up but, due to increase in the prices, their purchasing power has gone down (Bagchi1982; Dhanagare 1988). The proportion of agriculture labour to total population increased mainly due to depeasantisation (Aggarwal 1971). The Green Revolution also helped in making the agricultural labour free from relations of patronage and institutionalized dependency[2]. It increased the 'proletarianisation' of labour (Brass 1990). Over all, it has been assessed that due to the Green Revolution a smaller class of big peasants established dominance over the larger class of agriculture labour.

The changes brought about by the Green revolution and other measures of the govt. of India in the agrarian structure generated a debate among the Marxist scholars on the nature of mode of production in Indian agriculture. The debate was started by Rudra's (1970) claim that agrarian India is still feudal. Most of the participants in the debate, such as Chattopadhyay (1972a, 1972b), Gough (1980), Banaji (1972, 1973, 1977), Harriss (1982) and Breman (1985) argue that capitalist mode of production indeed is on its way to dominating the agrarian economy of India and most certainly that of the regions which has experienced the Green Revolution. Some others, like Bhaduri (1973a, 1973b), Pradhan Prasad (1973, 1974), N. K. Chandra (1974) and RanjitSau (1973, 1975, 1976) hold a different view about the nature of agrarian society. They opine that agrarian mode of production in India exhibits some features of capitalism; however, its basic nature is semi-feudal[6,7].

References

1. Bardhan, P. 1970. Land, Labour and Rural Poverty: Essays in Development Economics. Delhi: Oxford University Press.
2. Beteille, A. 1974. Studies in Agrarian Social Structure. Delhi: Oxford University Press.
3. Frankel, F. R. 1971. India's Green Revolution: Economic Gains and Political Costs. Bombay: Oxford University Press.
4. Joshi, P. C. 1976. Land Reforms in India: Trends and Perspectives. New Delhi: Allied Publishers.
5. Lehman, D. (ed.). 1974. Agrarian Reform and Agrarian Reformism: Studies of Peru, Chile, China, and India. London: Faber and Faber.
6. O'Leary, B. 1989. The Asiatic Mode of Production: Oriental Despotism, Historical Materialism and Indian History. Oxford: Basil Blackwell.
7. Patnaik, U. (ed.). 1990. Agrarian Relations and Accumulation: The 'Mode of Production Debate in India'. Delhi: Oxford University Press.
8. Raychaudhury,T. and Irfan Habib (ed.). The Cambridge Economic History of India, vol.1. Delhi: Orient Longman.
9. Shanin, T. (ed.), 1987. Peasants and Peasant Societies. London: Blackwell.

ON SOME ASPECTS OF VEDĀNTISM AND SŪFISM: A STUDY IN COMPARATIVE RELIGION

DR. WAHID NASARU*

The tradition of Vedānta and Sūfism both as doctrines and practices are firmly founded on the priori that there is a dimension of existence which is beyond conceptual comprehensions. A mystic and spiritual dimension that is more experienced than explained. Mystical traditions of Vedānta and Sūfism although sprouting from two distinct belief systems address the same universal human problem of being, truth and absolute reality. Both aspire and expect from its adherents to search for truth through intuition and personal experience while rejecting sources of knowledge other than divine to be authentic. Present paper is an attempt to deconstruct the phenomena of mystical practices of Vedānta and Sūfism which defy to be subjected to explaination and empirical applications thus are resilient to be reduced to be confined to time and space; as an absolute is by its nature eternal and infinite beyond the realm of time and space. Although not claiming to be strictly a comparative study, the paper takes these mystical traditions as a general human phenomenon with a few commonalities, in cosmogony, ritual practices structural organization despite a marked difference between the universalizing Islam and ethnic religion Hinduism. However in a crude sense both are cults and fringe religions in a sense that the cults arise to meet demands not being satiated by the existing exoteric forms held by the majority.

Mystical traditions of Vedānta and Sūfism, although sprouting from two distinct belief systems of Hinduism and Islam, address the problems of being, truth and absolute reality. Despite developing in entirely two different socio-cultural and geographical settings at two different time frame works, vow for the search of truth through intuition: rejecting sources of knowledge other than divine to be authentic.

The traditions of Vedānta and Sūfism: - both as doctrine and practice are firmly founded on the priori that there is a dimension of existence which is beyond conceptual comprehensions. The mystic or spiritual dimension that is more experienced than explained. Explanations and empirical applications reduce an object to a thing in space and time. It will be absurd to reduce absolute reality to a thing which by its very nature is eternal and infinite, beyond the realms of time and space. It defies conceptualization and even imagination. One can only be bewildered (Ibn Arabi) creation, creator, God, Brahman are veiled in mysteries and all scientific (empirical) approach proves a failure to demystify these realities. Transcendence or the concept of beyond are beyond appropriation in absolute terms. While deliberating upon the concepts with regard to religion, some methodological problems are bound to arise, which need to be explained if not solved entirely.

Western social thought is oblivious to the sacred mystery of being and does not acknowledge intuition or mystical experiences as valid sources of knowledge and that these don't have knowable structure which defies analysis. On the contrary Advaitini and s Sūfis reject logic and reasoning and consider intuition and knowledge as the sole source to see the reality. It is the domain of the knowledge where the actions and consequences are assumed to be true if they are universely believed to be true. As John Dewy states that religious beliefs are not statements of the fact but are aspirations and are far from illusiory. They exist and in their interaction with actual conditions of life have consequences-they are real that way.[1] With this argument a functional theory of religion can be formulated. The approach therefore, should be to investigate not what religion or religious belief or a practice is, but what it does to its practitioner and the collectivity, where it is practiced. These consequences can be operationalised during investigation.

The Vedānta and Sūfism as a focus of enquiry has been immensely deliberated and the share bulk of the literature is intriguing as well as frustrating. The original sources of Vedānta doctrine are Vedās, Upanishads and a treasure of commentaries written in archaic Sanskrit. Carried first through oral tradition (Surthiparampara) and then put in writing over a long

*Sr. Assistant Professor, Sanskrit Centre of Central Asian Studies, University of Kashmir, Srinagar.

period of time. The sacred language has turned into an archaic relic as far as its spoken dimension is concerned. That a very large volume perhaps even the greater volume of the primary and secondary material, indispensable to social science research, is still unpublished. The major portion of commentaries and critique is yet to be translated so as to be available to researchers not knowing Sanskrit. On the other hand Sufi literature and its critique is besieged with the problem of being multi lingual and spanned across the personal and public library of sub continent, Asia, Africa and Europe. The primary documents are in Arabic and Persian languages and mostly in manuscript form and yet to be explored. Absence of such material hampers to trace the origin and development of tradition in a scientific way.

Same applies to the aspects of philosophy, metaphysics, art, poetry, ritual practices, which in Vedānta case spread over thousands of years and for Sūfism it is transcontinental. Both need volume of expertise and knowledge of languages. We owe much to the orientalists who painstakingly brought these masterpieces of literature to the fore for contemporary readers and researchers. For the present paper entitled "**On Some Aspects of Vedānta and Sūfism: A study in Comparative Religion**", the literature reviewed although but a drop in the ocean, facilitated the construction of a conceptual framework and a theoretical background. Besides holy texts of Vedās, Quran and their Exagetical commentaries the review includes Das Gupta, Surendra Nath (1922, 1924), Arthur Llewllyn Basham (1954). Dawson Paul, Geden (1972), Roy Parret (2000), Ganga ja Nath (1903-1936), Ghate V.S (1926), Cough (1923), Griffith R.T (1920), Hirayana M.(1960), Keith Arthur Baredale (1925), Mahadevan (1938,1975), Max Muller (1887.1956), Andrew Fort and Patricia Mumme (1966), Radha Krishnan S. (1951), Roy Parett (2000), William Indrich (1980), Aditya K.Gupta (2013), Micheal Comans (2000).

For sūfi philosophical dimensions the works reviewed are Nasr Syed Husain (1991), Shimmel Annemarie (1975,1985), Sells Micheal (1996), A. G. Arberry (1948,19052,1990), Birchardt Titus (1983), Smith, Grace Martin, Earnest (1994), von Schlligal (1990), Oral Nicholson (2009), Martin Lings (1956), Afifi Abul Ala (1939), Gibb (1945) and Hourani Albert (2009). In addition the reputed English translations of the master pieces such as Kashf Al-Mahjub of Hujwiri, Mantakotayir of Fareed-ud-din Attar, Fasusul-Hikam of Ibn Arabi, Insaan-i-Kamil of Jilly, Fatu-al-Ghayib of Abdul Qadir Jeelani and Tohfa Mursala by Mubarak Makhzoomi were of immense help to formulate conceptual background of the tradition.

Vedānta and Sūfism encompass a broad range of ideology and beliefs by virtue of having branched out in many orders and suborders. Every other order is linked to extraordinary experiences and states of mind which render application of a single theoretical model impossible. An attempt is made to use a contextual approach converging it with sociological functionalism. The former has a potential to take historical-cultural contexts in consideration and the latter is a proved approach for consequences. The multiplicity of orders is a barrier to define the abstract concepts because same concepts most often convey multiple meanings. Another methodological problem arises because of tradition's generic nature, resulting in clubbing of separate practice and beliefs into one concept which otherwise have grown into separate socio-cultural environs. As a continuous process (especially for Vedānta) through the generations, nay ages, their meanings have undergone changes. In addition their applications are as varied as the cultures these have sprouted from.

The Christian overtures employed in transliteration and translation of archaic texts not only by western scholars but nonwestern scholars as well, pose another methodological problem. There is a dearth of similar terms in Hinduism and Islam. Secondly the state of consciousness experienced by an Advaitini or a Sūfi are distinct when compared to the sensory experiences of the majority. Such experiences although fundamental to a mystic, but often contradict with ecclesiastic or theological interpretations. A typical example is of the concepts like presence of God, unity of God, consciousness of God and union with God. In most of the studies such concepts have been used interchangeably resulting in constant tension between an order and the theological interpretations.

There is a consensus that Vedānta and Sūfism are mystic traditions of Hinduism and Islam, closer to the meanings of 'Musterion' or 'Mysterion' of New Testament. It literally means anything hidden. In other biblical versions it is applied to the hidden will of God or hidden sense of things, secrets behind sayings. If Advaitini finds secret meanings in Vedās, Sūfi too is engrossed in the riddles of Quranic verse. This is the

fundamental but not the last plank where both traditions stand together. The main objective of the paper is to present a synoptic view of these rich traditions to infer more questions than answers. It tries to situate the twin doctrines of Vedānta and Sūfism as a contested subject which despite a campaign of malice are being practiced and continue to admit new adherents.

The paper does not claim to be technically a comparative study which demands a specific comparative methodology characterized by the accommodation of the religious facts, determination of their real agreements and differences in addition to their demonstrable interdependence. Besides both traditions Vedānta of Hindus and Sūfism of Islam are taken as a general human phenomenon in an attempt to discuss a few commonalities, general patterns and their associations with their cultural and ecological features. Secondly both traditions are seen as a part of larger cultural or a social system. The paper subscribes to the view point that there is a marked difference between a universalizing and ethnic religious tradition. Sūfism falls in the former and Vedānta in particular and Hinduism in general falls in the category of ethnic religion like Judaism or Shinto. By ethnic shall we mean that it belongs to a specific people or a group of people[2]. Both the traditions again fall in the category of extraordinary religion.[3]i.e Their everyday culture and concerns, growing at the borders of life and seek to cross over to contact God. In a crude sense both Vedānta and Sūfism are more cults, fringe religion in the sense that the cults arise to meet demands not being satisfied by the existing exoteric forms held by the majority.[4] The objective of the present paper is to understand human behavior in mono cultural context without underrating diversity.

Both are one way or the other mystical; the experiences of which are ineffable and indispensible by virtue of the involvement of numinous to attain an unexpected knowledge and understanding of universe through a changed self.

Sūfism and Vedānta before establishing themselves as metaphysical doctrine are mystical dimensions of two great traditions: Islam and Hinduism; impacted by their historical and geographical and cultural settings. Mysticism on the other hand is taken as a religious belief based on union with a deity or divine being which lets a seeker transcend the physical experience divine enlightenment. Both Hinduism and Islam have their forms of mysticism; placing an emphasis on spiritual dimension and mysteries of scripture over dogma and rigid legal derivatives. The paper further subscribes to the view point that mysticism of all religious address the fundamental quest of human mind to seek the ultimate truth. The commonalities in the quest is the common heritage of human civilization. Secondly the development and growth of Vedānta and Sūfism along with their divergent schools of thoughts, variation in their modes of thought and virtue, upholds the argument that religion and its scripture too is subject to change by the way of interpretations of the original scripture to find a new meaning. It is one of the reasons that such mystical trends emerge when the customary and traditional practice seem spiritually stifling.

As mysticism is not bound by a specific religion is more prone to syneretism and by its very nature turns radical towards strict dogma and rituals in vogue. Sir William Jhones (1807) while reflecting upon Sūfism states that they were free thinkers and that they had much more in common with Greek Philosophy and mystical Speculations of Indian Vedānta.[5] For an observer the mystical doctrines of Vedānta and Sūfism looked same in substance of their meaning and differed only in expression.[6]

Sources

The sources upon which Sūfism and Vedānta draw are sacred scripture as both are mystical paths of literate tradition. For advaita Vedānta the sources to legetamise their metaphysical inferences in Vedās. Upanishads Brahma Sūtra. A group of sacred hymns composed in aarchaic Sanskrit probably during 1500-1200 B.C.[7] The entire focus of Vedic literature is considered to be the product of device revelation. These were handed down orally for generations in the form of memorized texts through Snavana and SurtiParampara before being committed to writing. Without the twin foundation of Vedas, Quran and Hadiths (saying of prophet, the vast beautiful structure of Hindu and Islamic mysticism could neither have been erected nor preserved).[8] Vedānt literally means end of Vedas. Veda and Vedanta. It is by text and explanations considered to be the concluding part of Vedas. Out of the accumulated treasures of Vedas the Upanishads 1. ChandogayPanishad 2. Bradara Nayaka Upanishad 3. Mundokoya Panishad 4. Taittniyo Panishad 5. Katho Panishad 6. Praso Panishad 7. Maitri Upanishad 8. Mubti Upanishad are the fountain head of Vedānta a philosophical school embodying the

crux of vedic thought rightly held that Vedānta is the fruit of vedic seed which are garnered in the Upanishads or Vedānta exists in the Vedās like oil exists in the Tila corn. (Tilesu-TailamivaVede-Vedantah Supratisthitah). The Upanishads of many parts being in aphoristic style and difficult to understand Badrayana culled out Brahmasutra also known as Vedānta Sūtra, Sririka Sūtra, Bikshu Sutra, Uttarmimamsa Sutra which contains essence of Vedānta.

With Upanishads, The Brahmans and Aryakas, complete the three tier commentaries of Vedās which otherwise contain hymns or Samithas.[9] As far its oral tradition or Shruti Parampara, shruti denotes, "What is heard" and smirti means "What is remembered".

Aphoristic and metaphorical style of vedic texts on one hand and the time gaps for commentaries and exegetical works on the other, result in the varied interpretations, often contradictory. The exercise developed into different schools of thought (Darshan) in Indian philosophy. Upanishads turned into an Umbrella term for many sub traditions and doctrines ranging from dualism to non-dualism. However, all the schools built upon "Prasthantrayi" principle where there is a consensus that the Vedas are the revealed verse and the ultimate source of knowledge. Prasthantrayi is a collective term for principle Upanishads, the Brahama Sūtra and Bhagwat Gita. Out of well established six schools (Dasshans, Astika) Advaita Vedānta presents striking similarity in doctrine, metaphysics and practices with Islamic mysticism tradition Sūfism. Other schools are Dvaita, Daitadvaita, Shudhadvaita, Nyaya, Sambhya, Yoga.

The similarity in thought process has strengthened critique with regard to Sūfism that the latter was influenced significantly by the former. Western and orthodox muslim scholarship is replete with this mindset and Vedānta connection to Sūfism is the important component of their tirade against Sufism as un Islamic. Infact before constructing analogies, it is imperative that there must be something similar in the state of knowledge and of society where the same causes produce the same effects. The term Advaita first occurs in Vedānta.e context of Mundubya Upanishad.[10] Others consider the term from Vedic era and the sage Vayanavalkya (8-7th CE) told to have coined it in connection to the verse of Bhidranyaka Upanishad. Its central philosophy that what created all existence is also present in all; reflected in all beings and inert matter and that (Brahman) is both efficient and instrumental cause of the creation that creative principle was and is everywhere, always.[11]Apparently Wahdatul Wajood term appears to be the carbon copy of this philosophical derivative. The source of Sufism is Quran and Hadith (theaying of the prophet). Quran by all believers is regarded as sacred scripture of islam considered as infallible word of god revealed to His messenger Mohammad. The text first compiled in its authorative form in the 7th century consisting of 114 Suras composed of Ayats of varying length in Arabic. By virtue of being sacred it is regarded as immutable in both form and content. Traditionally its translations were forbidden and even today translations and commentaries are termed as paraphrases, in vogue to facilitate understanding. Besides there are dozens of exegetical works of the Quran and collections of sayings of the prophet which are equally revered and referred by the Sūfis and non sūfis alike. The interpretative aspect of the scripture turns into a fault line between sūfi masters and orthodox established schools. The historical obscure controversial development of Sufism too was a factor to draw a wedge between exoteric and ecsotatic dimensions of Islam. The former emphasizing outward observance of scripture and ritual and latter for deep insight into scripture and essence of ritual. The growth and development of Sūfism has been summoned by Ibn Khaldun as Sūfism belongs to the sciences of the religious law that originated in Islam. It is based on the assumption that the practices its adherents had always been considered by the important early Muslims, the men around Mohammad and the men of second generation, as well as those who cave after them, as the path of truth and right guidance. The Sūfi approach is based upon constant application to divine worship, complete devotion to god, aversion to false splendor of the world, abstinence from the pleasure, retirement from the world to solitude for divine worship. These things were general among men around Mohammed and the early muslims. The special name was given to those who aspired to divine worship.[12] Ever since not a single Sūfi master (and there is a long list) be it early ones or the late comers, has challenged the authenticity of Quran or Hadith as guiding principles. Revelation however is taken by a sūfi; a locus of divine-human encounter. An emphasis on religious credentials has always been on a prerogative to its masters and adherents and works of sūfis like Saraj. SulamiKalabadhi, Suharwandi and others took pains to link sufi doctrine to Quran and the prophet to demonstrate their close relation to

revelation and its messenger.[13] Sūfis practice ritual and their rites the same way and in the same direction, but for them this outward symbolic concentration serves as a support for inward concentration. Those making all ritualistic movements during prayers however, are symbolic representation of revelation which says that rememberance of god is greater than ritual.QXXIX:45, firmly believing that the inward turning towards centre is greater than turning towards outer centre.[14] Same applies to almost all verses of Quran and the sayings. That Sufism simultaneously excludes atheism and agnostism but also exoterism for being exonable and which claims to be self sufficient with its narrow vision while taking a aphorism of Quran and other verses in their literal sense. The casual Exoteric interpretations have turned sacred into the domain of profanity by virtue of tendency to take revelations at their face value. Although Sūfism does not exclude outward as such as outward too is one of divine names.

He is the first
and the last
The evident
And the hidden
And He has full knowledge
Of all things. QLVII.3

As the outward is one with the inward, the outward for Sūfi becomes symbolic but the essence lies in the inward centre. The Quran is the book of the whole community yet ironically it has turned into the book of minority.[15] The spiritual elect only adhere to its message in essence. In its practical applications also it is Sūfi who turns into the real straight path seeker, invoked in most often repeated customary five time prayers. Quran.1:6.

Show us the straight path

The exoteric interpretation for straight path regulated by Sharia (legal code drawn from the quran). While as Sūfi Interprets it is a path leading to Him and His Divnity. Emphasis on essence of revelation and hadith seperatessufisecsoterism from exoterism, widening meanwhile a gap of the doctrinal and metaphysical derivatives. However, this emphasis establishes a special affinity between sūfi and the revelation. Sūfi's decision to seek the right path pushes him to eternal instead of ephemeral. His practices turn his belief into action and which is not only mental but painstakingly vigorous which ultimately leads to Him. Adherence to their essence instead of outward literal places sufi at the citadel of foremost who by virtue of his practices presses eagerly forward on the straight path as compared to majority.

Unto all (in faith)
Hath Allah promised good
But those who strived and fight
Hath he distinguished
Above those who sit at home
By a great reward.

Q.VI.95

Same is revealed and interpreted in verses LVI.8.40, LXXVI.5-6, LXXXIII:8-28. Taking Quran as Al-furqan meaning criterion of values and discernment, laying foundations for a hierarchy in virtues. Difference on the emphasis of certain attributes of Allah appears to be the second most important factor for the wedge between customary Islam and Sufism. The orthodox scholarship reduces God-Man relationship to a Sovereign-Subject Relationship to the utter disregard to the other attributes of Allah. Although Allah Almighty is undoubtedly the sovereign and supreme authority of the universe, but the relationship is much wider, deeper and fuller and there is an ethereal quality about it.[16] Before obeying His commands as revealed in Quran, he must know Him in essence through his attributes and sacred names also revealed in the Book. Through his understanding He is his Friend (Habib), guardian, protector, sustainer and preserver besides supreme authority. The relationship is to be felt and experienced and this is not physical but falls in the domain of spirituality, to attain proximity to Him and become entirely His. The mere interpretation not akin to established explanation does not amount to heresy and apostasy which unfortunately it did. It should have been taken as enrichment instead of aberations. Infact if Quran is taken as a word (last word) of God, it would be periodically interpreted and newer explanations would come forth till dooms day. Secondly exoterist interpretations take their conclusions as fixed points, which otherwise is itself subject to changes by way of new explanations and even changes in the meanings of the words of scripture. The exoterist narrative closes the doors of discourse on one hand and down grade the spiritual or mystical dimension of life, the very foundation of all religions including Islam.

Arguments and counter arguments which resulted in the exegetics of Vedas, flourished in different schools of though but in case of muslims, it turned into aberations. When an advaitini reaches mokhsa (liberation) and his self merges with Brahman (supreme self) he declares:

AhmBrahmansmi

I am Brahman

Or

Tat tvasmasi

That Thou Art

Or

AyatamaBrahaman

This atman is Brahman

Or

Praganananenu Brahmana

Prajajanum is Brahmana.

But sufihistory is replete with trials of apostasy. Hallaj pays for uttering:

Anal Huq

I am God.

So paid the noble souls of Suharwardi, Sarmad, Darashikoh and others. The intellects of all time Imam Gazali, Ibn Arabi, Shams Tabrez were spared, but faced literal tirade. An array of Sufi poets not only Persian but Syrian, Arabs, Spaniads and many more if not executed in person but were repeatedly murdered in anti sufi tirades on pulpits. The discourses with regard to verse and hadith by Abdul Qadir Jedani, Ibn Farid, Ibn Farabi and the like are superb commentaries. Hujwiri, depicting their faith in Quran and sayings of the prophet on one hand and giving a rebuttal to the argument that muslim community had lost creative potential and nothing but darkness and apostasy prevails in muslim history. Sufis emerge as torch bearers of Islamic spirit and growth. As the prophet's sayings has always been an inspiration to strength his resolve to tread the path of righteous.

1. Some people of my community will always be supreme and their success and dominance will continue till dooms day.1

Bukhari, Sahih, Kitab al-Munaqi

2. A group in my community will always be successful and those who will not support them, can put them to no loss…till the end of the world.

Jam-e-Jirmidhi, Kitab Al-Fitan

3. A group in my community will always be successful and victorious in the matter of truth till the end of the world.

Hakim, Mustadarak

With regard to unresolved exoteric/esoteric dilemma Martin Lings symbolically states:- Considering revelation (Quran) a flowing tidal wave from the ocean of eternal infinitude to the shores of our finite world. Sūfis endeavor is to plunge into the ebb of one of these waves and to be drawn back with it to its eternal and finite source. The outhoxy are exclusively concerned with the water, which the waves deposit in recepticles-which constitutes the formal aspect of religion. By comparison sufi is interested in ebbing wave.

Sharing all those rites with the Orthodoxy although performed esoterically but with the firm belief that the waters left in the recepticles by the tidal wave is the same water that ebbs. This way his outward symbolic concentration serves as a support for inward concentration![17]

Bibliography

1. Abdul Kareem Jilli, Insan-al- Kamil, Trans, R.A. Nicholson, Stidies in Islamic Mysticism, Adam Publisher, 2015.
2. Aditya. K. Gupta, Vedanta and Society: A Reflection on Vivekananda Philosophy, Swrup Publishers, New Delhi, 2013.
3. Afifi Abul Ala, The Mystical Philosophy of Muhyid-Din-Ibnul Arabi, Cambridge, 1939.
4. Al Hujwiri, The Kashp Al Mahjoob, Trans. R. A. Nicholson, Adam Pubishers and Disstributors, 2009.
5. Al Sarraj, Kitab Al Luma, Trans, Nicholson……
6. Andrew O Fort and Patricia Mumme (ed) Living Liberation In Hindu Thought.
7. Arberry A. J., An Introduction to the history of Sufism, Orient Longman , London, 1950.
8. Attar Fariddudin, The Conference of the Birds, Trans. C.S.Nott, London, 1967.
9. Barchardt Titus, An Introduction to Sufi Doctrine, Sohail Academy, Lahore.
10. Chodkiewiez Michel, The Seal of the Saints, Prophethood and Sainthood in the Doctrine of Ibn Arabi (trans) Leiden Sherrord, Cambridge Islamic Texts Society, 1990.

11. Cough A.E., The Philosophy of Upanishads, Trubner And Co. London, 1933.

12. Das Gupta, Surendar Nath, A History of Indian Philosophy, Vol.I.II.III.IV.V., Cambridge University Press, 1922.

13. Deussen, Paul, A.S. Geden (trans) The Philosophy of Upanishads, Oriental Publishers, 1972.

14. Farouqi B.A., Mujaddid's Conception of Tawheed, Lahore, 1940.

15. Gibb, Modern Trends in Islam, 1945…….....

16. Hiranya. M., The Essentials of Indian Philosophy, George Ellen and Unwin Ltd, London, 1960.

17. Hoffman, Valerie, Sufism, Mystics and Saints In Modern Egypt, Colombia University of South Carolina Press, 1995.

18. Ibn Arabi, Journey to the Land of Power: A Sufi Manual on Retreat, Trans, Rabia Haris, Rochester. V.T., Inner Tradition, 1981.

19. Keith Arthur Berriedale, The Religion and Philosophy of Veda and Upanishads, Harvard University Press, Cambridge, 1925.

20. Keshwaraz, Fatimah, Reading Mystical Poetry: The Case of Jalal -Al – Din Rumi, University of South Carolina Press, 1997.

21. Mahadevan, Spiritual Perspectives : Essays in Mystisicm And Metaphysics, Arnold Heineman, New Delhi, 1975.

22. Martin Lings, What is Sufism, George Ellen and Unwin Ltd. London, 1975.

23. Max Muller F., (ed) The Hymns of Rigveda. Vol.I.II., Trubner and Co., London, 1887.

24. Muslim Saints and Mystics, Arkana, London, 1990.

25. Nasr Syed Hossein, Sufi Essays, Albani State University of New York Press, 1991.

26. Qushayri, Al, Principles of Sufism, Trans, B.R.Von, Schllegel, Barkely, Mizan Press, 1990.

27. Radha Krishnan S., Indian Philosophy, Vol.I.II. The McMillan Co. New York, 1951 The Six Systems of Indian Philosophy, Chowkamba, Sanskrit Series, Varanasi, 1971.

28. R.A. Nicholson, Studies in Islamic Mystisicm, Adam Publishers, 2015.

29. Roy. W. Perett (ed), Philosophy of Religion, Garland Publishig Inc., New York, 2000.

30. Sells Michael A., Early Islamic Mystisicm : Sufi, Quran, Miraj, Poetic and Theological writings, Paulist Press, 1996.

31. Shimmel Annemarie, Mystical Dimensions of Islam, Chapal Hill University of North Carolia Press, 1975.

32. William M Indich, Consiousness in Advaita Vedanta, Motilal Banarasi Das, 1980.

33. Yoga: A Philosophy of Religion, Kegan Pal, London, 1924.

34. Zaehner R.C., Hindu and Muslim Mystisicm, New York, Shocken Books. 1961.

End Note

1 John Dewy, A common Faith, New Heaven, Yale University press, 1934.

2 Anne Sofie Granslund; Vikings: The Norse Atlantic Sag.

3 Catherine Albanese, America: Religion and Religions.

4 Phillip Jenkins: Dream Catchers: How Mainstream America Discovered Native Spirituality. Oxford University Press 2005

5 "The sixth Discourse on the Persians" in Works, (London, 1807) 3. PP.130-132.

6 Sir William Jones, "On the mystical poetry of Persians and Hindus", WORKS. 4. PP. 220-221.

7 Britanica Ready Reference Encyclopedia BritanicaIne vol.10, 2005. P. 88.

8 Arthur. J. Arbury, Introduction to the History of Sufism, Longman Group, London, 1942, P.2. See also Abdullah Suharwardi, Traditions of the Prophet.

9 Klostemaine Klaus, K., a Survey of Hinduism, State University of New York Press 2007, P.46.

10 Richard King 1995.P.268,

11 Frits Staal, Discovering the Vedas, Origins, Mantaras, Rituals, Insights, Penguin Books,2008, P.365.alsoMayeda, 1999, PP.18-20

12 Ibn Khaldun; The Muqaddimah: An Introduction to History trans. Franz Rosenthal,ed.N.J.Dawood, Bollingen Series, Princeton University Press, 1969. PP.358, 359-367.

13 Carl. W. Earnest, Sufism; An Introduction to the Mystical Tradition of Islam.

14 Martin Lings, what is Sufism. Reprint Kitab Mahal Srinagar 2016.p.31.

15 Quran Majeed LVII. 30.

16 Syed Ahrar Hussain "Translations Note" in abdul Hasan ali Nadvi, Appreciation and Interpretation of Religion in the Modern Age, Academy of Islamic research and publications, Delhi,1982. PP.1-8.

17 Martin Lings, what is Sufism. (Reprint) Kitab Mahal Srinagar, 2016, p.3.

●

CATEGORIZATION OF MICROBES ACCORDING TO TRIDOSHA (AYURVEDA)

S. K. MAURYA*AND DR. N. S. TRIPATHI**

Microbiology is a branch of science that deals the study of microbes. Microbes are too small microorganism due to which we are unable to see with naked eye directly and special methods are needed to investigate them especially by the use of microscope. In daily life and in clinical practice we are forced to be using our imagination to understand how our behavior influences and is influenced microorganism. They have been here longest, they are the most numerous and there distribution defines the limit of biosphere, encompassing environments previously thought incapable of sustaining life. Here, we are concerned with the tiny friction of microorganism that form associations with human beings and these encompass the cellular entities, *bacteria*, *archaea*, *fungi* and *protozoa*, and the sub-cellular entities, *viruses*, *viriods* and *prions*.[1]

Classification and Infection of Microbes

Microbes are classified into bacteria, archaea, fungi, protozoa, sub-cellular entities, viruses, viriods, prions, etc. Microbe's are generally causes a number of infections. Infections and microbes were considered as separate phenomena until the late nineteen century when Pasteur reconciled previous observations on the physical requirements for the transmission of infection with the nature of microbes and established the necessity of the chain of transmission in infection.[2] Some infections can be prevented by interrupting transmission and by immunization. The role of specific microbes in specific infective conditions may be established by propagating the microbe in pure laboratory culture and subsequently reproducing the disease in a suitable model.[3] Molecular biology has opened up new ways of identifying microbes and establishing causality in infection.[2] Transmission of infection is related to the reservoir, immediate source and mode of transmission of the casual agent. Approximately 10^{14} bacterial, fungal and protozoan cell live on and in healthy human bodies. Most are harmless or even beneficial. Those that cause disease in otherwise healthy individuals are termed pathogens.[8] The normal microbiota constitutes the reservoir and immediate source for endogenous infection. Infections in which the source of the casual organism is external are termed exogenous infections. Many infections can now be treated with antimicrobial agents that possess selective toxicity. None the less, infection remains the most common cause of morbidity and premature death in the world.[4]

Agent of infection includes cellular organisms belonging to two of the three recently defined domains of life, the Bacteria and the Eukariya. The later include fungi and protozoa. The sub-cellular entities viruses, viriods and prions also cause infection but depend on host cells and tissues for propagation. Bacteria and eukaryotes micro- organisms can be detected by light microscopy, whereas electron microscopy is required for virus. Adult stages of multicellular eukaryotic agents of infection or infestation, such as *helminthes* (worms) and insects are generally visible to the naked eye.[6]

Identification of microbes

Most pathogenic bacteria can be recognized as either Gram-positive or Gram – negative after staining. These properties reflect, respectively, the relatively thick *peptidoglycan* layer and the thin peptidoglycan plus other membrane cell wall structure possessed by cells belonging to these to groups. The mycobacteriums, which include the global pathogens causing tuberculosis and leprosy, have a different staining property, described as *acid fast.* In addition to the cell well, key bacterial structures with biological and medical significance include the *nucleoid, inclusion granules* and spores within the cell, and *flagella, fimbriae or pilli* and capsules on cell surface. Bacterial endospores are highly resistant bacterial cells that result from a differentiation process in some Gram-positive bacteria. Virus are obligate intracellular parasites that use the host cell's machinery to replicate.[7] They contain a nucleic acid core comparing DNA or RNA (not both) in single – or double – stranded form. The core is surrounded by a protein

∗Research Scholar, Department of Kriya Sharir, Fac. of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi.
∗∗Assistant Professor, Department of Kriya Sharir, Fac. of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi.

capsid comprising multiple capsomeres; an envelope derived from the host cell membrane surrounds the capsid of some virus.[1]

Tridosha-the main pathogenic factors

Everything in the universe, according to the ancient Indian scholars, is composed of *'pancha-mahabhuta'*, that is, five primary things namely, *'kshiti'* (earth), '*apa'* (water), *'tej'* (energy), *'marut'* (air) and '*byom'* (space); they also held this view that all living beings, microscopic or macroscopic in form, including human being, is made out of *'pancha-mahabhuta'*, in different permutations and combinations. The food we take is also made out of *'panchamahabhuta'* and in the ultimate analysis, the human being is a product arising out of digestion and assimilation of foodstuff. The foodstuff on digestion, is broadly transformed into two portions – one is called the '*ahara-prosad'* or essential portion and the other the *'kitta'* or non essential portion. The essential portion gradually turns into seven 'dhatu' or elements known as the '*rasa'* (chyle), *'rakta'* (blood), *'mamsa'* (protein), *'meda'* (fat), '*ashthi'* (bone), *'majja'* (marrow) and *'sukra'* (reproductive elements irrespective of the sexes). The seven elements contribute to the growth and volume of the body, provide its nutrition and also support it. So, these elements are collectively described as the '*sapta-dhatu'* or seven supporters ('*sapta*' meaning seven and '*dhatu'* the supporter). Generation and transformation of '*sapta-dhatu'* take place one after another in sequential steps from '*rasa'* to '*rakta'* to *'mamsa'* to *'meda'* to *'ashthi'*, to *'majja'* and to *'sukra'*. Such a process is an integrated part of human existence from conception till death (**Athato Deha Jijnasa Chapter 2**).[10]

The three doshas viz. *Vata*, *Pitta* and *Kapha* are the main factors of the development, nourishment, and maintenance of the body as well as the main pathogenic factors responsible for different types of diseases. Being responsible for different types of diseases, they are generally (always even when they are not vitiated), rather, called dosha, in the same way as a teacher is known as a teacher, even when he is not performing the job of a teacher. The wrong utilization of food, regimen etc. vitiates these doshas. The characteristics features of *Kapha* is, unctuous, smooth, soft, sweet, firm, dense, slow, stable, heavy, cold, viscous, clear, etc. *Pitta* is hot, sharp, liquidity, fleshy smell, katu and amla, etc. and micro, ununctuous, light, mobile, abundance, swift, cold, rough, non-slime, etc. are the features of *vata*.[11]

Conclusion

As the microbes are divided into their characteristics features like size, shape, structure, disease, and their symptoms same as the controlling factors (*Vata*, *Pitta*, and *Kapha*) of the human body also divided into their features and their manifestation in human body. When we expose to microbial environment then these microbes create a number of diseases same as the symptoms of disturbed state of *Tridosha*. According to this characteristics features we can categorize microbes according to *Tridosha*. As an example, the size of microbes are very small and micro in nature and same as the nature of *Vata* is micro due to this the nature of size of the bacteria can categorize into *Vatic* bacteria.

References

1. Lopez-Garcia P and Moreira D (2008) Tracking Microbial biodiversity through Molecular and Genomic ecology. Research in Microbiology 159:67-73.
2. Brock TD, editor; Milestones in Microbiology, Washington, DC, 1999, American Society for Microbiology.
3. Bulloch W; The history of Bacteriology, Oxford, 1938, oxford university press.
4. Collard P; The Development of Microbiology, Cambridge, 1976, Cambridge university press.
5. Cox FEG, editor; illustrated History of tropical Disease, London, 1996, Welicome Trust.
6. Blair DF; How bacteria sense and swim, Annual Review of Microbiology 49:489-522, 1995.
7. Cabeen MT, Jacobs – Wagner C: Skin and bones, the bacterial cytoskeleton, cell wall, and cell morphogenesis, journal of cell Biology 179:381-387, 2007
8. Frey D,Oldfield RJ, Bridger RC:A Colour Atlas of pathogenic Fungi, London,1979, wolfe, Medical
9. Shastri Pandit Kashinath, Chaturvedi Dr. Gorakhnath. Hindi Commentary: Charak Samhita Chikitsasthan 3/110-111. Chaukhambha Bharati Akadami Publication, Varanashi, Reprint Edition, 2007; 124
10. Shastri Ambikadatta. Hindi Commentary: Sushrit Samhita Nidansthan 5/32-33. Chaukhambha Sanskrit Sans than Publication, Varanasi, Reprint edition, 2010; 325.
11. Ayurvadiya Kriya Sarira by Dr. Yogesh Chandra Mishra-14, Edition: First. 2008, 23-35.

●

MANAGEMENT OF ROCK ART TOURISM

DR. S. K. TIWARY*

Long ago, the ancient inhabitants of the world created a system of communication that is now referred to as "Rock Art." It once played an essential role in the transmission, reception and storage of information. Although it's difficult to understand the meaning of most rock art today, it was deeply significant to those who created it. Some rock art is believed to have been ceremonial and contained sacred knowledge.

Rock art represents an irreplaceable cultural heritage, and the state is not necessarily its most ardent protector. Independent, preferably international peer review is essential. The rock art is not the property of any state or private. It is the property of all of humanity past, present and future. It is to be treated as such, and not as a hostage of an inexperienced, secretive and deceptive technocracy. The entire rock art site is a sacred monument. As a fact of history, it is inseparable from the human race. In this context rock art reflect the relationship between people and the land. We should at least endeavor to make and have records of this art and culture for the edification and knowledge of the future generation.

Rock Painting was nothing but a mere delight or pleasure derived through the practice of art. It was the pleasure of self-expression, which inspired them; they had no idea to be an artist but to show the true communication between the people and nature, between the animal and non-animal beings. G.Baldwid Brown has rightly remarked that it was a pleasure of self-realisation, within his own estimation, and that might bring to him an added sense of satisfaction or even of pride when what he had done of made won for him the fore during regard of his fellows (Mayron, 1964: 23). The meaning of art is explored in a branch of philosophy known as aesthetics and even disciplines such as history and psychoanalysis analyze its relationship with humans and generations.

Rock Art Classification

Rock painting, sadly is not a much sought after subject among archaeo-scientinsts, art historians and artist in India. Painting art can be classified based on the carrier/support used for their preparation as given below in chart no. 1.

Chart No. 1.

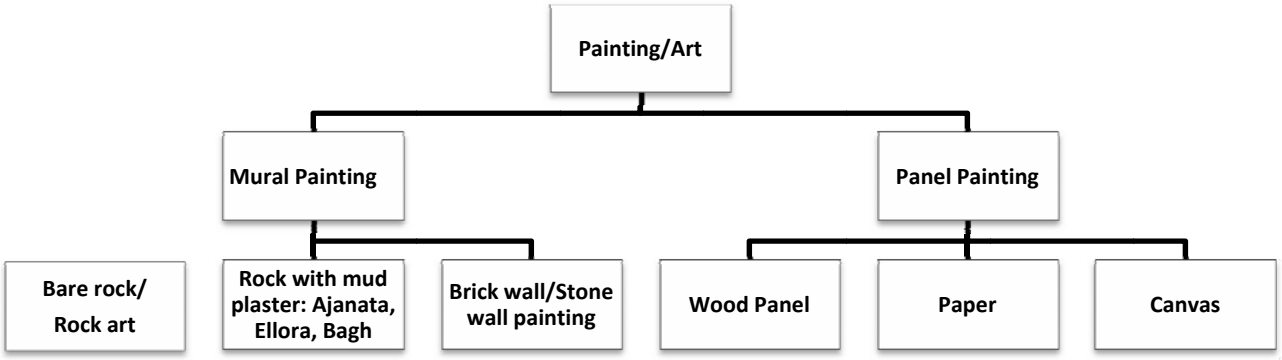

*Assistant Professor, Department of Ancient Indian History Culture and Archaeology, Faculty of Arts, Banaras Hindu University

Rock art is divided into four types:

(a) Petroglyphs or the extractive art (Designs, carved, abraded or otherwise cut into cliffs, boulders, bedrock, or any natural rock surface, like: Relief art[1], Engravings[2], Hammering, Chiseling, Abrading, Incising[3], Pecking[4], Battering[5], Gouging[6], Scratching, Cup-marking[7], Bruising, Dotting and Etching) (McDonald, ed ,2006:60)

(b) Pictographs or the pigment art (Rock paintings-designs painted in similar locations). It does not include geoglyphs, or petroforms-designs formed by rock alignment on the ground. (Polly S., et.al, 1985:237) Technically, Pictographs may be further divided into four groups; transparent colour, opaque colour, dry colour and stencilled pictographs. Pictographs are also known as "rock paintings".

(c) Geoglyphs or intaglios are made by placing rocks on the ground to form an image or by clearing the ground of rocks to outline an image. It is huge designs made on the ground and are best seen from the air. The ground is cleared of rocks to make huge figures or shapes. These are not as common worldwide, they occur in the southwest of the US in California and Arizona, or in South America. Like this evidence, we have noticed at Bhojpur, M.P. near Bhoj historical temple. From this site, we have noticed the elevation plan of the temple on the bedrock. This is a very good example from India. According to another definition that "a Large motif (usually > 4m.) or design produced on the ground, either by arranging clasts (Positive geoglyph, stone arrangement/alignment, petroforms, earth mound) or by removing patinated clasts to expose unpatented ground (Negative geoglyphs).

(d) Petroglyphs-cum-Pictographs mean all those rock art, in which after the pigments are filled on and in the petroglyphs or in the removed rock surface. Like this art we have seen in Odisha rock art and Hazaribagh region of rock art. Chart no. 2.

Chart No. 2 Rock Art Classification

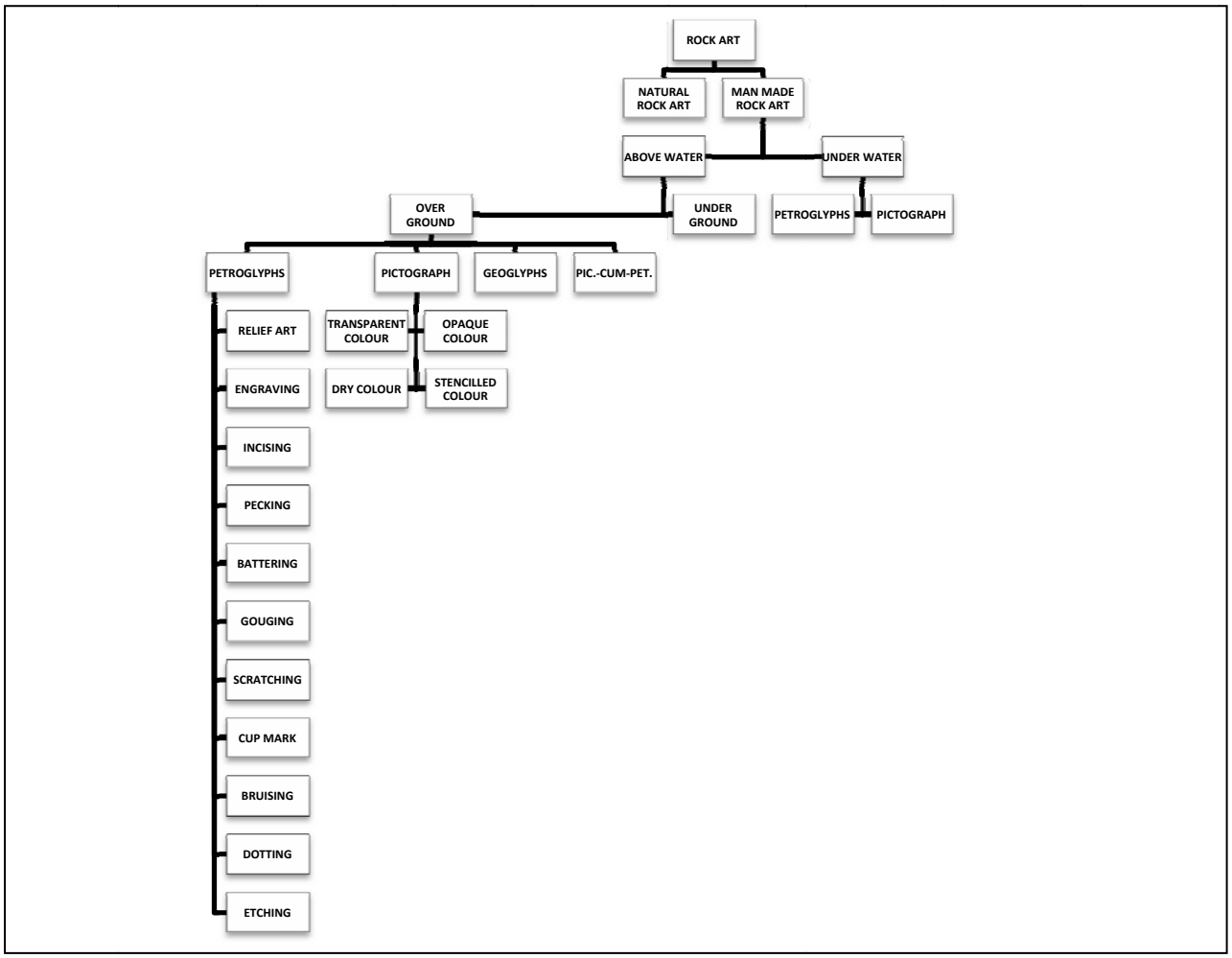

Such a categorization of Rock Art becomes a necessary to have a micro-analytical study of the art and may help in its interpretation, tourism awareness and solving conservation problems as well.

Rock Art Tourism

Rock art tourism, as with any other cultural activity, is influenced by a wide range of interests and agendas ranging from political ideology to bureaucratic pragmatism and has not been high on the list of either academic or business priorities. There are nevertheless opportunities for this situation to change if rock art researchers, managers and tourism operators work together more efficiently (Janette, 2006:379-399).

Public interest in rock art tourism has risen over the past three decades in tandem with the worldwide increase in cultural tourism that is estimated at more than 240 million international travelers a year. In the Bhopal between 1996 and 2003, for example, there was a 10% increase in the number of adult tourists visiting historical and cultural sites. Here I have highlighted the parallel largely independent evolution of cultural tourism as both a product and cultural heritage management issue. Although the product and its management operate in parallel, there is little real evidence of true partnerships between them.

Management of Rock Art Tourism

This divide is apparent in rock art tourism as well. It has meant that mainly heritage managers and impact assessors have addressed issues of theory, conservation methods, ethics and ownership in rock art tourism development, while those developing rock art tourism products have focused on co modification, pricing, promotion and other income-generating factors. This should come as no surprise.

Approach to the Site Arrangements for Visiting

For the approach point of view whole site should not be opened for the visitors in one time, here we should make some provision for those area of the rock art site only open for same period not for every area and for every time (S. B. Ota pers. discus.). As we declare a one site as a world heritage and Indian heritage sites, in this way we should maintain the ecological balance of the area, and then try to protect and preserve it. If the site is open at all times, there should be adequate signposting; if the site is kept locked, there should be clear arrangements for the collection and return of a key; if it is open only by appointment, there should be a specialist guide or a specially trained local guide who has had clear instructions on what to do and say.

Trail Entrances

A well maintained, clearly marked trail is important for preserving the natural environment and establishing a managed presence along routes leading to rock art sites. It is always a good idea to include a visitor register at the trail head. Registers give a little formality to the entrance and are a visual focal point to mark the beginning of a trail. Visitor registers are useful to enforcement officers and can also include visitor feedback information.

Movement at and around the site

There should be an adequate and well-maintained road preferably paved to limit dust, with off-road parking; the parking should not encroach on the site: vehicles should not park closer than about 100 m from the edge of the site; the parking area should be marked by a barrier between it and the start of the path. We should try to provide approach to the main group of rock shelters. These approach paths were to be unobtrusive and not more than a meter and a half in width with a row of stones on either side of the path. It has to be ensured that the path was periodically cleared of growth of vegetation and the stones on either side were duly given coat of lime wash from time to time.

Public Amenities

There should be a litter bin at the parking lot and it should the emptied regularly; consider the need for toilets and the supply of refreshments and other facilities such as a shop, public telephone, rest room, etc., depending on the number of visitors expected; consider the need to establish an interpretive centre separate from the site, stairs for their friendly climb (Fig.4) where people can see displays and where you may be able to store material, provide accommodation, etc.

Community involvement

The state and the archaeological researchers took it upon themselves to manage what they perceived as an abandoned historical legacy (Fig.5) and saw no need to consult the local communities regarding its significance and management (Taruvinga, 2003: 3-10). The lack of community involvement impacts negatively on legislation. The assumption we are making is that if the legislation had

the support of local communities, then we would not have so much vandalism of rock paintings elsewhere. People would feel ownership of the sites. If we are including them, this will not only make them happy and feel their own culture. They will come forward for the preservation and landscape (Fig.1) of the site and cultural landscape. This will also enhance the beauty of Archaeological-Cultural and Tribal Tourism.

Tourism Management through Digital Technology

Today the technological aspects are rising in part of work like documentation, monitoring, measurement and all. Such as Computer technique provides a number of tools like Auto CAD, Digital Cameras, and CD-Rom, which create image enhancements with Auto CAD, a computer aided drafting, programming through one can create maps and plot archaeological feature on a maps (Donna, 1995:35-38). Above all techniques can be useful for rock art study, research to access and massage information. However since one purpose of rock art recording is to preserve a record of its existence before it is destroyed by human, animal or natural force, caution should be used when considering how best to preserve that record for future use. Through this we can measure the tourist flow their path and their activities. This will not only protect the site and tourist this will also protect and prevent the natural things around the site.

Visitor Management Programme

General concepts of visitor management and site protection may be adapted from many sources and combined to form a plan for managing a particular site. The single most important guiding principal in managing rock art sites is to become proactive instead of reactive to anticipated threats. Rock art sites of the any country receive a significant number of visitors must be managed for the type visitation they receive and the type of damage that results (Godwin, 1992), if our goal is to preserve the irreplaceable cultural resources found at the sites.

Management programs are mandatory whenever visitors know the locations of rock art sites (Fig.2) or if sites can easily be found. At Petit Jean State Park, America the most effective method for managing most sites is not to reveal their locations to the public. This may seem odd to some cultural resources managers but it has become standard practice in many parks, especially where large numbers of rock art sites are at risk.

Management through Education and Etiquette Suggestions among People

For the awareness point of view this topic should be add in the school course from the primary level with picture, and small detail of the rock painting (Odak, 1991:3-7). More and more Rock art sites should be declare protected by either Archaeological Survey of India or State Government after implementing strong rules. In neighbor area of rock art or in its vicinity, no factories should be allowed to build up, especially those discharging harmful gases and wastewater, in order to stop the source of pollution and keep the environment clean.

There should be etiquette suggestions at the site that can be included on interpretive panels or in brochures that can be made available to visitors. Interpretive Panels Interpretive panels serve several functions. They can provide visitors with an overall impression of the significance and heritage of a site and introduce the concept of protecting cultural resources. They can also remind visitors that many Indians identify rock art sites as sacred places. These messages need to convey the idea that the site is a special part of the heritage of all humanity.

For the awareness, we should develop general educational programme, in which programmes like debate, school children competition- debate on cultural heritage, competition on painting can be held, and try to teach them the importance about our cultural heritage not only for the school children but school teachers as well as college students and professors. This goal may be achieved by organising exhibitions, lectures with colour slides, video films and group discussion with the public. (D. Dayalan pers. discus.) Use of audio-visual aids, which include leaflets, placed at the sites or at the nearby visitor's centers, can provide information and enhance protection. More informative signs, especially those interpreting imagery paintings are appreciate by visitors.

SIGNAGE with Guidelines for Visitors

We can aware the visitors through signages (Fig.3) and can develop awareness among them. The signages will be helpful not only to aware the visitors but to control them ethically. The signages will be follows as:

a. Warning signs informing visitors of penalties for vandalism should be located at or near the parking area. Posting these signs at rock art sites may offer an

Fig.1- Landscape view of rock art sites, Adhaura block of Kaimur district, Bihar

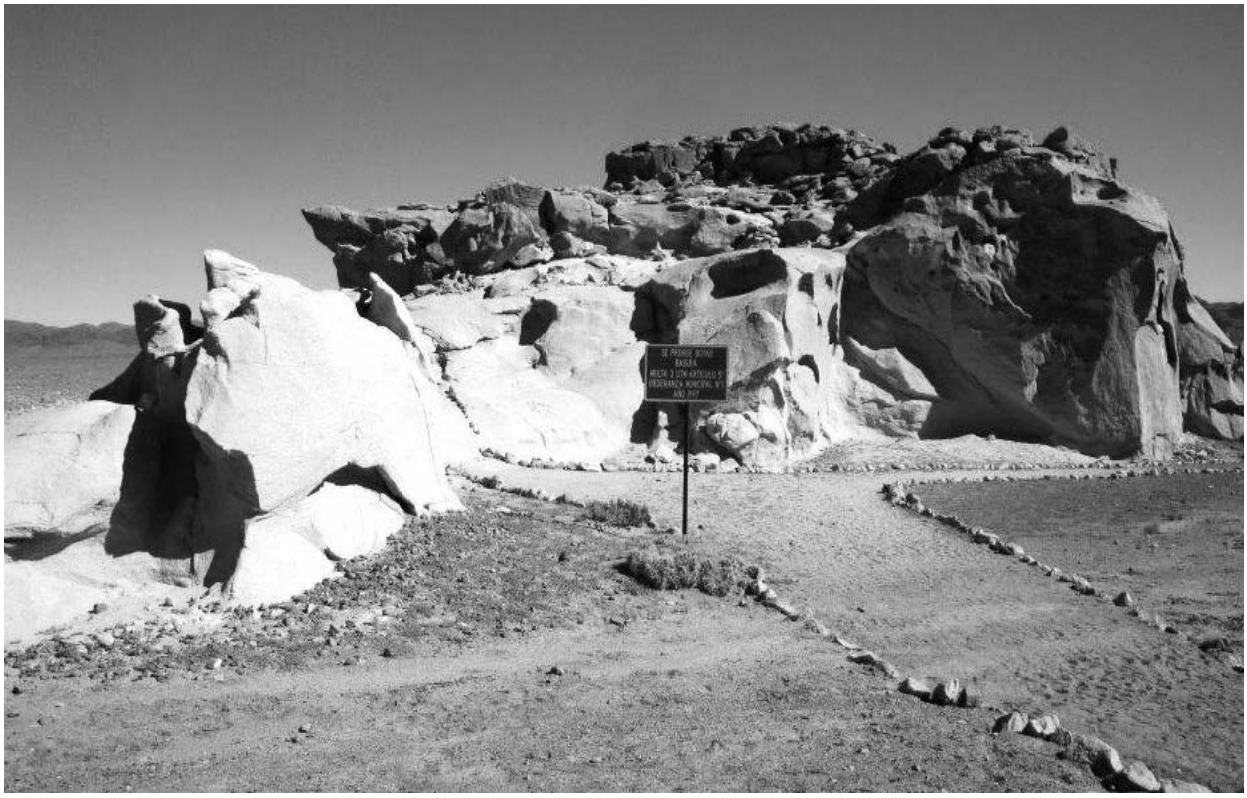

Fig.2- General Notice about the rock art site track

Fig.3- Information about the rock art site located on the map

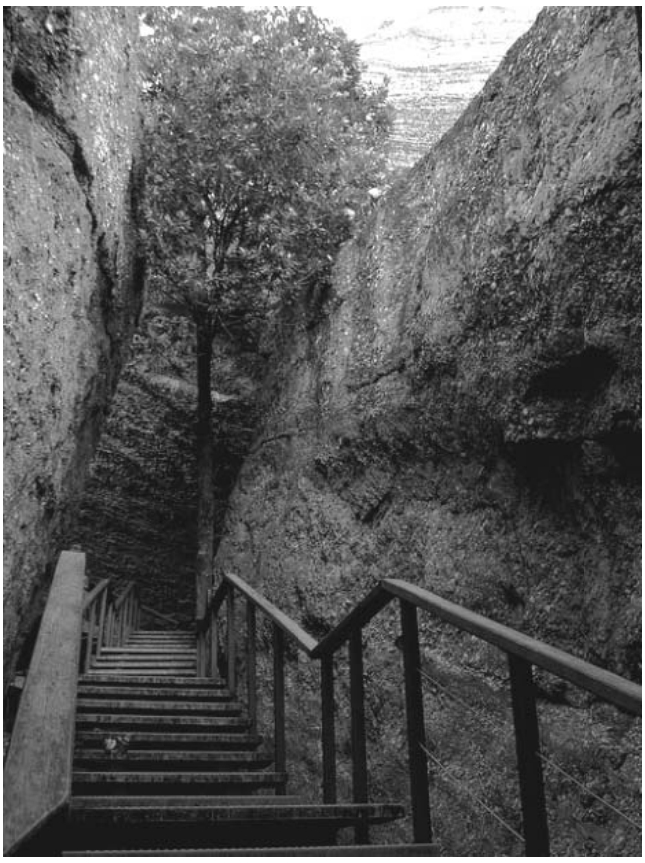

Fig.4- Wooden stairs made for the visitors to the site

Fig.5- Legacy of rock art among the local inhabitants

irresistible challenge to some people and lead to more damage than would otherwise occur.

b. Marking sites with signs that proclaim: "*This site is being monitored*" can go a long way toward protecting a site and reminding people that monitoring is taking place.

c. Signs posted at parking areas should not only mention warnings and penalties but should incorporate site visiting etiquette and brief descriptions of the significance of nearby sites.

d. Be our eyes and ears. If you observe behavior that may damage the rock art, please report it to the nearest employee immediately. (Be sure to include a phone number or other contact information).

e. Fires are not allowed at this site. Report any fire or charcoal to the staff or nearest office so that we may clean it up.

f. Stay on the trail and avoid kicking excessive dust into the air. Dust will damage the rock art and make it harder for everyone to see.

g. Throwing stones, dirt or other debris may damage the rock art and disturb archeological deposits.

h. Always stay plus minus 2 meters away from the rock face and never touch. (This is not always Possible, but uses your discretion). Your hands although dry do contain salts and acids. This could attract itself to the paintings. There might be artifacts lying up close to the face.

i. Limit the amount of movement within the shelter, you kick up dust and this does attach on the Surface and forms a cement layer over the paintings.

j. Never ev`1er throw any liquid substance onto the paintings to bring them out. You will help to destroy the painting in no time what so ever.

k. Never remove anything from the shelter. Any object within the shelter could be vital information on as to who occupied the shelter, could give age, and other information on the shelter. If you pick something up off of the ground - take a good look at it, check it out. Let the others in your group check it out too, and then put it back where you found it.

l. You are just a visitor to a past; these Shelters are very important part of our history.

m. Don't drive right up to a rock art site. Walk the last half or quarter mile. It is good exercise; you might see some wildlife or other interesting stuff along the way, hold your kids hand and do some bonding.

n. Never carry glassware with you and whatever you carry in, carry out. And if you want to really help, carry out some trash that someone not as considerate as you left behind.

o. Do take photographs or make sketches of the 'glyphs.

p. Do show the pictures to all of your friends and family.

q. Do look up information about rock art on the internet and in books.

r. Do not make 'rubbings'. Most people don't know how to do rubbings properly and then don't know what to do with them later. Besides, the 'glyph could easily be damaged.

s. Don't climb above the shelter and cave. You may dislodge loose stone that will fall and damage them.

t. Do have a good time, be safe and act responsibly. Enjoy the outdoors and remember, it is about appreciating and preserving prehistoric rock art, not about indulging ourselves.

The **social factors** that have to be managed - usually by site managers - when offering rock art sites to tourists include:

- Rights and participation of descendant communities who maintain traditions that inspired the art,
- Interpretation of the meanings and motivations that inspired the artists,
- provision of information about the rock art,
- Public expectations and attitudes towards rock art,
- Impact of visitors and facilities on the ambience of the site,
- Training of guards, guides and custodians,
- Rights of property owners,
- Rights of researchers,
- Management policies and legislation,

Economic factors that are managed - mainly by tourism entrepreneurs and business managers - to ensure the sustainability of rock art tourism includes:

- ✓ Location of the site in relation to roads and sendees,
- ✓ Type of ownership of the site and tourism facility,
- ✓ Nature and level of income generated by tourism,
- ✓ Tourism marketing strategy,
- ✓ Co modification of rock art products,
- ✓ Extent to which local people lose or derive income from rock art tourism.

Other points related to tourism

- Presentation of rock art sites to visitors as part of a guided pilgrimage and wilderness experience,
- Signage,
- Establish carrying capacity of each site and control access,
- Access routes and paths,
- Information nodes for visitors,
- Integration of product with regional and national tourism bodies.

SIGNAGE: How to Minimize the Problem Regarding Rock Art?

I. Minimize the number of vehicles going to the site. Stay on existing roads. Do not "pioneer" vehicle trails or parking areas.

II. Do not camp or build fires within one-quarter mile of rock art.

III. Do not disturb lithics, firepits, rock arrangements or other artifacts and site features.

IV. At rock, art sites stay on trails where they exist. Do not disturb rocks, vegetation, or micro-biotic soil crusts.

V. Do not climb or disturb rocks in chimneys, slots, or gaps in the rock cliffs at rock art sites.

VI. Do not hike or climb above rock art panels.

VII. Do not touch *in any way* the rock art *or the cliffs within 100 feet of rock art.*

VIII. Where possible stay at least 10 feet from the rock art.

IX. Do not attempt to remove graffiti, chalking, lichen, or bird droppings from rock art.

X. Do not apply any substance including liquid, powder, plastic, cloth, paper, or even strong floodlight, to or over rock art.

XI. Do not allow pets, children or careless associates to behave improperly around rock art.

XII. Follow the rules of the site landowner or public land manager where they are more restrictive than above.

XIII. If some of the above seem overly restrictive due to site location, rock type, salvage status or other factors remember the essence of etiquette and ethics is to behave better than strictly necessary.

XIV. Use binoculars to study, and telephoto lens or freehand sketches to record panels and panel details. Study the panel as an integral part of the site.

XV. Be constantly aware of the effects of your actions and others at rock art sites. Make your behavior a model. Speak out when needed to prevent damage to rock art.

XVI. Take time to appreciate the intricacy and detail of each rock art panel itself rather than trying to see the maximum number of panels. Do not interpret the panel, just sit quietly and watch. Give the rocks time to speak to you.

Management and Awareness among Government Departments, Public

In recent years, under the banner of the Southern African Rock Art Project (SARAP), the Grace Communion International (GCI) has organized workshops focused on management, conservation, interpretation, and tour guiding of rock art sites. These have been held at the World Heritage sites of Mapungubwe and the Cederberg in South Africa. The GCI recently began a partnership with the Institute for Professional Practice in Heritage and the Arts (IPPHA) at the Australian National University, to provide a workshop on the conservation and management of rock art as part of SARAP. Australia and the India face many of the same issues in the preservation of rock art. Both have a rich heritage of rock art sites and indigenous communities closely associated with them, and both suffer from lack of public awareness of the significance of these sites. We all should get together for such workshop.

Different management approaches for heritage sites, often values - based, have been developed in Australia, Canada, New Zealand, the United Kingdom, and the United States of America, although these are increasingly being tested and implemented in other parts of the world in a wide variety of contexts. In many countries, the tradition has often been what we will call a conventional approach, in which decision - making follows a top - down model, with decisions depending on more or less centralized government bodies. This model offered overall protection for the sites, including legal and administrative frameworks for their conservation, which are extremely important; however, this system was also sometimes found to be limited, as it tended to consider the significance of places only from the point of view of “experts”. Management of cultural heritage essentially is the use of methods and tools developed for the protection, conservation, use, and enhancement of sites. These include strategic planning, both for day to day activities and for medium and longer term initiatives within a specific site or group of sites. Management and planning should aim at managing change, rather than trying to freeze a site in a given moment. The main idea is therefore to find the most appropriate solutions for the well being of a site and its users, taking into consideration its broader context, and keeping in mind its sustainability.

The first step is the proper identification and safeguarding the rock art heritage located in the little

known areas and to record their names on a map with others. For future referencing, it is essential to compile a detailed and **illustrated inventory of rock art** in accordance with the location and state of the preservation of the sites in a state or region. Such a work should include all the known sites and particulars of their art and archaeological contents. Drawings of the paintings should be prepared.

Bodies like the A.S.I. and Department of Anthropology, Government of India, should serve as the nodal agencies in such a project. Universities and State Department of Archaeology, RASI, I.G.N.C.A. and other qualified Institutions could also be assigned a specific area comprising rock art sites to collect and documents in installments. The work can also be undertaken as a project under the U.G.C., N.C.F. or the I.C.H.R. If possible, UNESCO could also be approached for the purpose.

Role of Private Companies in the Preservation of Rock Art

Private companies have also played a meaningful role in the efforts to manage rock art in South Africa by removing rock paintings where it was necessary. An example of assistance provided by a private company was the installation and costs of an artificial drip-line of stainless steel in the roof of the Beersheba Shelter in East Griqualand. Companies like Mondi Forests, Anglo-American, AngloGold, De Beers and others have funded or still continue to fund the Rock Art Research Institute (RARI) at the University of the Witwatersrand and other rock art related projects. In KwaZulu-Natal, Lotto approved funding in 2003 for the Rock Art Research And Recording Unit (RARARU) and the Rock Art Mapping Project. Similarly we can promote our rock art sites with the help of our companies.

Like the management of any business organization, the successful management of rock art tourism is dependent on the different individuals and communities involved in the enterprise agreeing on the broad values and on the conservation principles that need to be met.

- Facilitate and encourage the tourism industry to promote and manage rock art tourism in ways that respect and enhance the heritage and living cultures of descendant communities;

- Facilitate and encourage a dialogue between conservation interests and the tourism industry about the importance and fragile nature of rock art, associated artifacts and oral histories including the need to achieve a sustainable future for them.

- Trained managers to monitor and measure change at rock art sites open to the public and report on the results.

- Proper security for the visitors should manage with the wild insect and animals and also from the ducat.

Rock Art Protection through Mandatory Legislations and Executive Measures

It was a general trend to exclude indigenous people in rock art management. This was manifested in the legislation of many countries around the world, which had an interest in managing this fragile, irreplaceable heritage. This one sided approach to rock art management did not achieve the desired result of proactively managing rock art, and protecting it against defacement. The early forms of cultural legislation in Australia and other countries were intended to protect ‘cultural relics’. This legislation was criticised on the grounds that, by implication, the indigenous people were denied their rights to their cultural heritage, as the value of such sites was conceived of in national and historical terms, without acknowledging contemporary Aboriginal interest. The original constitution of Australia did not give any right to the Commonwealth government to make special laws for people of Aboriginal race. Under Section 51 (xxvi), the Commonwealth had powers to make laws with respect “the people of any race, other than the Aboriginal race in any State, for whom it is deemed necessary to make special laws”. The amendment was made in 1967 when the words “other than the Aboriginal race in any State” were removed, allowing the Commonwealth government to take responsibility for Aboriginal matters, especially in heritage matters.

This change of thinking in Australia and indeed other countries in the 1970s and 1980s, led to a move towards more participatory approaches in the management of cultural resources. Cultural legislation acknowledging the spiritual significance of rock art sites to the Aboriginals, the American Indians, etc. was declared. Australian examples are provided by legislation from South Australian (Aboriginal Heritage Act no. 12 of 1988), Western Australia (Aboriginal Heritage Act 1972) and Northern Territory Governments and Commonwealth’s Aboriginal and Torres Strait Islander Heritage Protection Act, 1984. Legislation motivated by a more participatory

approach has enhanced the community involvement of different indigenous groups in the management of their cultural resources. Such legislation meant that indigenous people had a legal standing when they felt that their views were not properly addressed.

In India there are already legislations for the protection of cultural heritage sites but they need some change or modifications and implements strictly. Having identified the environmental factors that need to be understood before a rock art site is opened for tourism, managers need to assess the social consequences of public or private ownership and cultural property rights. The ICOMOS Cultural Tourism Charter (ICOMOS, 2002) recognises this in the following principles:

- Since domestic and international tourism is among the foremost vehicles for cultural exchange, conservation should provide responsible and well-managed opportunities for members of the host community and visitors to experience and understand that community's heritage and culture at first hand.

- The relationship between heritage places and tourism is dynamic and may involve conflicting values. It should be managed in a sustainable way for present and future generations.

- Conservation and tourism planning for heritage places should ensure that the visitor experience would be worthwhile, satisfying, educational and enjoyable.

- Host communities and indigenous peoples should be involved in planning for conservation and tourism.

The Committees measures

For the protection and development of the world rock art a committee has been developed, which is known as a Rock Art Committee (RAC) the aim of the Rock Art Committee is to promote international co-operation and to provide advice to ICOMOS and to UNESCO organs on their activities in the field of rock art. CAR initiates and co-ordinates worldwide actions in favour of the knowledge, the protection and rehabilitation of humankind’s rock art heritage, through the following activities and interventions aimed at raising the awareness of States to this heritage:

- By promoting international co-operation in this field,
- By establishing links between researchers and specialists,
- By providing advice to international organisations,
- By promoting and producing publications,
- By creating a world inventory of rock art,
- By developing traditional methods and modern digital techniques for documentation and preservation of rock art, including those, which are inexpensive, non-tactile and non-intrusive, as well as protective devices.

CAR has developed a draft *Charter for Rock Art* in view of its ratification as an ICOMOS doctrinal text. Furthermore, in co-operation with ICOMOS International and the UNESCO World Heritage Centre, the Committee is developing a series of Regional Thematic Studies and Pre-Nomination Guidelines as new tools to ensure a better representation of rock art sites on the Word Heritage List in future.

Some other projects and action like Rock Care - Tanum Laboratory of Cultural Heritage. This is reflected in the Air Pollution Project of the National Heritage Board that was carried out between 1988 to 1996. The results from the analyses of the effects of environmental pollution that were undertaken, indicated that almost 75% of the rock art sites were suffering from negative effects. The project, Rock Care - Tanum Laboratory of Cultural Heritage, indicates the focus of the work that aims at the following objectives:

- To arrange seminars and meetings so that the Rock Care project can use the help of a network of international expertise.
- To develop new methods for the presentation of rock-arts and to improve access to the sites.
- To produce further methods for protection against environmental destruction and deterioration.
- To develop new methods for documentation and to make an effort for comparable results between different countries.

To prevent those negative impacts, the CAR and the president of ICOMOS Sweden initiated a public debate in the newspapers, and on radio and television. Public opinion in favour of stopping the motorway is increasing. The Swedish National Heritage Board has

produced a video "*The Rock Carvings of Tanum - World Heritage at Risk*" presenting this priceless cultural heritage. The ICOMOS International Scientific Committee on Rock Art - CAR recognizes these problems and the urgent need for counteractions. Several immediate measures are planned to enhance co-operation, the spread of expertise and the development of long-term strategies. A first step is to produce a global report on the state of rock art based on reports and interventions by the active members: *Entering 2000 - the State of Rock Art*. The report has been presented at the Annual Valcamonica Symposium. The committee has started work to set up a web page connected with the ICOMOS server and open to the public in order to inform about its activities and to encourage co-operation among members. Further, it has initiated the development of a charter for rock art research and management including ethical rules. Another important issue to deal with is the management of sites open to the public. Due to a lack of accurate documentation and adequate information for visitors, opening up site for visitors might turn out to be a counterproductive step. An example is the habit of infilling engravings with red paint to make them more visible to visitors, a frequent use in Scandinavia. If done with inadequate skill, this method can "deform" the engraved images and therefore also degrade the visitor experience. Further, it can destroy substrates on the rock surface that are possible to date. Thus, competent specialists should apply the method only with the uttermost caution.

The Committee considers it most important not to deliberately invite visitors to sites that have not been secured in terms of their documentation and preservation. It is recommended that the basic procedure always be the following:

1. Survey of area and documentation of panels using appropriate techniques and methods.

2. Inventory and mapping of damage and signs of erosion, exfoliation and cracks etc.

3. Application of adequate conservation methods. (If the site is in great need of such treatment, it should not be opened to the public)

4. Construction of wooden walkways, signposts and production of interpretation maps, folders etc. (Walkways and signposts should be constructed in harmony with the requirements of the site, in order not to disturb the landscape and the visitor experience. If the site belongs to a certain group of people like the indigenous population, it is a fundamental prerequisite that they are invited and consulted at every step of this process).

5. Opening of the site or panel to the public (This measure should always be preceded by a close analysis of the "carrying capacity" of the site that should never be exceeded.)

An alternative to opening a site to the public is to leave the actual site or panel in its natural setting undisturbed by visitors and instead present it to the public in the form of copies made by casts, as is the case of Mont Bego in France. (Guti é rrez, 1996: 209 – 225) However, since taking casts implies the use of certain chemical substances that might prove to be harmful to the bedrock, a safer method might be to use enhanced photographs or similar images. In order to eliminate the negative elements of casts, it is advisable to use other non-tactile/physical methods for copying, such as a laser-scanner. Such an application based on the use of an easily movable, high-speed laser-scanner for field documentation is being developed in the Rock Care Project of the Swedish National Heritage Board.

The use of protective coverings based on geo-textile materials is another important and less expensive method that has been developed in the EU Interring project "Rock Carvings in the Borderlands", a joint Swedish-Norwegian project. The coverings can be easily applied and removed when necessary. Their main use is to reduce the oscillation of temperature, and especially their passage through zero degrees. This will minimise the length of time below freezing and prevent exfoliation and other sorts of deterioration. This will considerably prolong the life of some of the panels. Full-scale testing has been taking place in Sweden for a couple of years, and this year an evaluation of the results will be made.

Discussion

Problems of rock art tourism are connected with all kind of archaeological sites. These sites can be said to be easier to protect because of their global status, regardless of the threats discussed above. The situation for the many more common sites and areas is often more troublesome. In some countries, there is a whole suite of problems connected with the conservation and tourism management of rock art. These include a series of factors ranging from negative effects of infrastructure development to a lack of legislation and financial resources. The Centre for the Conservation of Historic-Cultural Heritage in Irkutsk (Siberia) should

be mentioned for Russia as the organisation, which commenced a rock art conservation project along with their area of responsibility for extensive recording, and an inventory of rock art sites. This started in 1987 at rock art sites of the Upper Lena River and in 1992 it commenced for the Lake Baikal area. Experts in rock art, conservation, biology, and geology work together in the Rock Care team. A management strategy was developed based on international experience in the field of rock art conservation.

The situation in India can be summarized as follows which I have personally felt while my exploration in Kaimur range of Bihar and Uttar Pradesh, Leh, Laddakh, Satpura range of Madhya Pradesh and Chhotanagpur range of Jharkhand the following problems in the rock art management:

- A lack of legislation and activity of heritage protection organizations,
- The need for introduction of the internationally approved standards and expertise,
- An increase of public awareness: popularization of rock art as an integral part of cultural heritage,
- Development of ethics and strategies in rock art protection.

This summary of the situation is applicable to many other areas and sites in the world too.

Above all the steps, which has been taken in world we should also apply in India but keep in mind that all the rules should maintain the Indian phenomena's. The immense heritage of rock art is vulnerable to natural processes of wear, obliteration and destruction, which are further accelerated by human acts. Every day bits and pieces of rock surfaces are falling apart. Development projects, road construction, home building, and agriculture can hardly be stopped, but measures need to be taken to document and record rock art in its current state to assure that its testimony will remain for future generations. After all this work, a tourism conservation, rock art site management and conservation, landscaping of the sites, it is essential to know that all application in this work should be reversible.

Lastly, protection of rock art sites is a great task and government alone cannot meet this challenge properly. Can we develop a mechanism for public-private partnership, and someone from our side may play a role of liaison between them for co-operation? The importance of sites is only emphasis with the applications of these technologies. Protection of rock art sites is a great task and government alone can't meet this challenge properly. It is time to realize and meet our responsibility for preservation and further study of rock art as being an important part of our proud cultural heritage. We should at least endeavor to make and have records of this art and culture for the edification and knowledge of the future generation.

Notes

1. Relief in sculpture, three-dimensional projection from a flat background. In alto-relievo, or high relief, the protrusion is great; basso-relievo, or bas-relief, protrudes only slightly,

2. *Engravings* are pictures, patterns, or designs cut into rock faces by pecking, scraping or grinding with a tool.

3. Incised in archaeology and the plastic arts refers to cutting into the surface of a medium, for example stone or wood. It often refers to the use of a "V" shaped tool to carve out the design. Writing carved into stone tablets or columns is often referred to as "incised".

4. To make (a hole) by striking repeatedly with the beak or a pointed instrument.

5. A uniformly steep slope in a retaining wall or pier; inclination is expressed as 1 foot horizontally per vertical unit (in feet).

6. A scooped out or deeply carved indentation in soft rock, made with a gouging tool. (Photo III)

7. Cup-and-ring art is ore reverent, being found across northern Britain. It uses mostly curvilinear motifs, including simple ups, grooves, rings, and variations of these. These carvings are found in a much greater variety of locations, including on outcrops, boulders, cliffs and rock shelters, but are also associated with airns, stone circles, and standing stones. Most are found on horizontal or gently sloping surfaces, and natural features such as fissures may be incorporated into the design. They are fluid' in their design and they tend to be found in open,' public' positions.

References Cited

1. Donald Jo, 2006, Archaeology in Practice, Edi. Jane Balme and Alister Paterson, Blackwell Publilishing, Rupika Press Pvt. Ltd. India, p.p.-59-96.

2. Mayron Robert, 1964, Prehistoric art, New York, p.23.

3. Odak, Osaga, 1991, *Towards The Teaching Of Rock Art In Academic Institutions*, Rock Art Society of India, Purakala Vol. 2, No. 1, New Delhi, pp. 3-7.

4. Polly, Schaafsma, 1985, Form, Content and Function: Theory and Method in North American, p. 237

5. Discussion with Dr. D.Dayalan, Superintending Archaeologist, Temple Survey, South Indian Zone, Chennai during structural conservation camp at Sanchi, M.P.

6. Discussion with S.B.Ota, Regional Director, Central Zone, Archaeological Survey of India, during structural conservation camp at Sanchi, M.P.

7. Donna Yodar, 1995, *Computerized Management of Rock Art*, Purakala, vol. 6, No.1-2, pp. 35-38.

8. Godwin, Luke. 1992. Carve your name with pride? Visitor behaviour of Blacks Palace art site complex, Central Queensland Highlands. *Rock Art Research:* 9 (2).

9. Taruvinga, P., and Ndoro, W. , 2003 The Vandalism of the Domboshawa Rock Painting Site, Zimbabwe: Some Refl ections on Approaches to Heritage Management. Conservation and Management of Archaeological Sites 6 (1), pp. 3-10.

10. Guti é rrez , M. de la Luz , Hambleton , E. , Hyland , J. , and Stanley - Price , N. , 1996 The Management of World Heritage Sites in Remote Areas: The Sierra de San Francisco, Baja California , Mexico. Conservation and Management of Archaeological Sites 1 (4), pp. 209 – 225.

11. ICCROM (International Centre for the Study of the Preservation and Restoration of Cultural Property) 1999 Conservation and Management of Rock Sites in Southern Africa, COMRASA 99. Zimbabwe Rock Art Management Training Manual. Rome: ICCROM.

12. ICOMOS (International Council on Monuments and Sites) 1964, The Venice Charter: International Charter for the Conservation and Restoration of Monuments and Sites. http://www.icomos.org/docs/venice_charter.

13. Janette Deacon, Dec. 2006, Rock Art Conservation and Tourism, Journal of Archaeological Method and Theory, Vol. 13, No. 4, Advances in the Study of Pleistocene Imagery and Symbol Use, Part 1, pp. 379-399.

●

''प्रज्ञा'' पत्रिका अंक 64, भाग 2, वर्ष 2018–19 का लोकार्पण करते हुए कुलपति प्रो. राकेश भटनागर

स्थान – कुलपति कार्यालय, 22 जुलाई 2019

मध्य में – कुलपति, प्रो. राकेश भटनागर

कुलपति के बायें– प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, मुख्य सम्पादक, **'प्रज्ञा'** जर्नल, प्रो. अशोक सिंह, प्रमुख, कला संकाय; प्रो. मुकुल राज मेहता, दर्शन एवं धर्म विभाग; प्रो. आनंद प्रसाद मिश्र, भूगोल विभाग

कुलपति के दायें– डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी, ज्योतिष विभाग, प्रो. जय शंकर झा, अंग्रेजी विभाग, प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय, अंग्रेजी विभाग एवं (पीछे) डॉ. ज्ञान प्रकाश मिश्र, पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दूओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन

OBJECTIVES OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.